[1994] 3 उम० नि० प० 343

एस० आर० बोम्मई और अन्य

बनाम

भारत संघ और राज्य

11 मार्च, 1994

न्या० एस० रत्नवेल पांडियन, ए० एम० अहमदी, कुलदीप सिंह, जे० एस० वर्मा, पी० बी० सावंत, के० रामस्वामी, एस० सी० अग्रवाल, योगेश्वर दयालु और बी० पी० जीवनरेड्डी।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356—प्रकृति, परिधि, उपयोज्यता (लागू होना) और प्रभाव—राज्यों में सांविधानिक मशीनरी के विफल होने की दशा में राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापन का जारी किया जाना—राष्ट्रपति का यह समाधान कि "ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है"—निर्वचन—स्थितियां, जिनमें यह कहा जा सकता है कि राज्य का शासन "नहीं चलाया जा सकता है"—किसी राज्य द्वारा संविधान के धर्मनिरपेक्षता जैसे आवश्यक लक्षण और आधारभूत तथ्यों की उपेक्षा, सम्मिलित है या नहीं—राष्ट्रपति के समाधान के न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि—इस संदर्भ में परिसंघीय संरचना और केन्द्र-राज्य संबंधों को ध्यान में रखा जाना—प्रख्यापन जारी किए जाने का प्रभाव—क्या विधान-सभा और राज्य सरकार का विघटन आवश्यक है—संसद् द्वारा प्रख्यापन के अनुमोदन/अननुमोदन का प्रभाव—न्यायालय की प्रख्यापन को अविधिमान्य और विखंडित करने की शक्ति की परिधि और उसका प्रभाव—विधानसभा की बहाली—प्रख्यापन के दौरान पारित विधियों और आदेशों का विधिमान्यकरण—कर्नाटक, मेघालय, नागालैण्ड, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान के मामलों में जारी किए गए प्रख्यापनों के गुणागुण के आधार पर विधिमान्यता।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356(1)—उक्त अनुच्छेद के अधीन शक्ति की प्रकृति और परिधि—अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति सशर्त शक्ति है; क्या राष्ट्रपति के विवेकानुसार प्रयुक्त की जाने वाली आत्यंतिक शक्ति नहीं है—शर्त यह समाधान किए जाने में निहित है कि उक्त खण्ड द्वारा अनुध्यात प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 और 352, 355, 357 तथा 360—अनुच्छेद 356 की प्रकृति—यह एक आपात उपबंध है, जिसका आपवादिक परिस्थितियों में प्रयोग किया जाना है—आपात उपबंधों से संबंधित भाग 17 में अनुच्छेद 355, 356, 357 और 360 में सामान्य सूत्र विद्यमान है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1), 154, 155, 159 और 163—राज्यपाल की रिपोर्ट देने की बाध्यता—राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से शक्ति का प्रयोग करता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356—राज्यपाल की रिपोर्ट—पटल पर परीक्षण—सदन के पटल पर राज्य में सत्तारूढ़ दल के बहुमत समर्थन का परीक्षण—आवश्यकता—क्या पटल पर परीक्षण राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजने की पूर्वापेक्षा है—ऐसे सभी मामलों में, जिनमें कुछ विधायकों द्वारा मंत्रिमण्डल को समर्थन वापस ले लिए जाने का दावा किया जाता है, मंत्रिमण्डल की शक्ति का परीक्षण करने का समुचित उपाय सदन के पटल पर परीक्षण करना है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1)—"राज्य का शासन ''नहीं चलाया जा सकता है"—इस संदर्भ में "केन नाट" (चलाया नहीं जा सकता) शब्दों का अर्थ—उक्त शब्दों से गतिरोध की स्थिति का स्पष्ट रूप से बोध होता है—उक्त शब्दों से "समर्थन न होना" या "शक्ति या क्षमता न रखना" अभिप्रेत है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1) और 365—अनुच्छेद 356 के अधीन प्रख्यापन—ऐसी स्थितियां, जिनमें "राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है"—अनुच्छेद 365 में ऐसी एक स्थिति का उपबंध किया गया है—केन्द्र में ऐसे राजनीतिक दल का सत्ता में आना, जो राज्य में सत्तारूढ़ दल से भिन्न है—राज्य सरकार की विचारधारा संविधान के अनुरूप होनी चाहिए—संविधान के किसी आधारभूत लक्ष्य का भंग या उस पर आपत्ति, क्या उसके अंतर्गत है—केन्द्र-राज्य संबंध—सरकारिया आयोग की सिफारिश महत्त्वपूर्ण हैं।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1)—"या अन्यथा" शब्द का अर्थ—"अन्यथा" पद का बहुत व्यापक अर्थ है और उसे न्यायालयों में साक्ष्य की ग्राह्यता से संगत सिद्धांतों पर परीक्षण के योग्य सामग्री तक ही निर्बन्धित नहीं किया जा सकता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1)—उक्त अनुच्छेद के अधीन राष्ट्रपति का समाधान—समाधान का अर्थ—यह समाधान संघ मंत्रिपरिषद् का आत्मपरक समाधान है—समाधान करने में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अनुपालन आवश्यक है—समाधान वस्तुपरक सामग्री पर आधारित होना चाहिए।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1)—उद्घोषणा के जारी किए जाने की पुरोभाव्य शर्तें—अनुच्छेद 356 के शीर्षक की संगति—उद्घोषणा के जारी किए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्तें ये हैं : (क) राष्ट्रपति का राज्य के राज्यपाल से प्राप्त रिपोर्ट के आधार पर या अन्यथा समाधान हो जाना चाहिए; (ख) कि वास्तव में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1)—"इस संविधान के उपबंध"—उक्त उपबंध की परिधि के अंतर्गत उद्देशिका, मूल अधिकार और निदेशात्मक सिद्धांत भी आते हैं।

संविधान, 1950, उद्देशिका और अनुच्छेद 356—भारत के संविधान का परिसंघीय स्वरूप—क्या वह वास्तव में परिसंघीय है—उसके द्वारा केन्द्र सरकार को अधिक शक्तियों का उपबंध किया गया है किन्तु राज्य अपने क्षेत्र में सर्वोच्च हैं—विशेष लक्षण की व्याख्या—संविधान का विशेष लक्षण परिसंघ-वाद है—परिसंघीय स्वरूप पर अनुच्छेद 356 के अधीन

कार्यवाही का प्रभाव —परिसंघ-वाद, परिसंघ या सरकार का परिसंघीय रूप—उक्त संकल्पनाओं की व्याख्या—न्यायालय को संविधान के उपबंधों का इस प्रकार निर्वचन नहीं करना चाहिए जिससे कि राज्यों की शक्तियां कम हो जाएं।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356—संविधान का परिसंघीय स्वरूप—सावधानीपूर्वक कोताही से (बहुत कम) प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् उसका केवल आपवादिक परिस्थितियों में ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

संविधान, 1950—उद्देशिका और अनुच्छेद 15, 16, 25, 26, 27, 28, 30, 51-क और 356—धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) अर्थ और भूमिका—धार्मिक सहनशीलता और सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार—निश्चयात्मक (सकारात्मक) धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना—धर्मनिरपेक्षता के मुकाबले धर्म—धर्मनिरपेक्षता संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग है।

संविधान, 1950—उद्देशिका, अनुच्छेद 356, 15, 16, 25, 26, 27, 28, 30 और 51-क [सहपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, धारा 123(3) और 3-क]—धर्मनिरपेक्षता—राजनीतिक दलों द्वारा राजनीति को धर्म के साथ सम्मिश्रित नहीं किया जा सकता—यदि किसी राज्य में सत्तारूढ़ दल धर्मनिरपेक्षता का ध्वंस करने के लिए आशयित कार्य करता है, तो वह कार्य असंवैधानिक और अनुच्छेद 356 (1) के अधीन कार्यवाही किए जाने के अधीन होगा और तब यह कहा जा सकता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है—ऐसे समाधान का न्यायिक पुनर्विलोकन क्या सम्भव है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356, 32 और 226—उक्त अनुच्छेदों के अधीन उद्घोषणा—न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन—न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और विस्तार—मामले की न्याय्यता—ऐसी स्थितियों का निर्धारण करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानकों के अभाव के उत्पन्न होने वाली कठिनाई—यद्यपि राष्ट्रपति के समाधान का न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता है तथापि वह सामग्री, जिस पर यह समाधान आधारित होता है, अवैधता, विद्वेष, बाह्य विचारणाओं, शक्ति के दुरुपयोग या शक्ति के साथ कपट, असंगति या अयुक्तिसंगतता के आधारों पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है—किंतु असंगति का आधार कायम रखे जाने योग्य नहीं है जब तक कुछ सुसंगत सामग्री मौजूद है—सामग्री की सत्यता, शुद्धता या पर्याप्तता पर गुणागुण के आधार पर विचार नहीं किया जा सकता है—और न पूर्णतः राजनैतिक प्रश्नों का ही न्यायालयों द्वारा पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

प्रशासनिक विधि—न्यायिक पुनर्विलोकन—पुनर्विलोकन विनिश्चय करने की प्रक्रिया का होता है, न कि गुणागुण के आधार पर स्वयं विनिश्चय का। राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद् की सलाह पर जारी की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 356—उक्त अनुच्छेद के अधीन उद्घोषणा—राष्ट्रपति का आत्मपरक समाधान—न्यायिक पुनर्विलोकन—प्रशासनिक विधि के सामान्य सिद्धांत और

अनुपयुक्तता के सिद्धांत की उपयोज्यता (लागू होना)—प्रशासनिक कार्यवाही की विधिमान्यता का अधिनिर्णय करने के लिए बेरियम केमिकल्स वाले मामले में और पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में अधिकथित कसौटी अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति के समाधान का परीक्षण करने के लिए लागू नहीं की जा सकती है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356, 74 (2), 142, 32 और 226 सहपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872, धारा 123—अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा—न्यायिक पुनर्विलोकन—अनुच्छेद 74 (2) के अधीन वर्जन का स्वरूप और उद्देश्य—वह राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद् द्वारा दी गई सलाह तक ही सीमित है—किंतु वह सामग्री जिसके आधार पर सलाह दी गई, न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है—सरकार अपनी कार्यवाही को न्यायोचित ठहराते समय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार का दावा कर सकती है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356, 32, 226 और 142 (2) सहपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872, धारा 106—उक्त अनुच्छेदों के अधीन उद्घोषणा—न्यायिक पुनर्विलोकन—सबूत का भार—मामले को प्रथमदृष्ट्या सिद्ध करने का भार प्रथमतः उद्घोषणा को चुनौती देने वाले व्यथित पर रहता है—इस भार के निर्मोचन पर, उस सामग्री/सूचना को प्रस्तुत करने का भार भारत संघ पर होगा जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपना समाधान किया—जहां उद्घोषणा में कारण दिए गए हैं, वहां न्यायालय पहले, भारत संघ से ऐसी सामग्री/सूचना प्रस्तुत करने के लिए कहने से पूर्व, ऐसे कारणों की सुसंगति पर विचार करेगा—बंद कमरे में सामग्री की परीक्षा—भारत संघ को कारण वर्जित करने की प्रथा का अनुसरण करने की सलाह।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1), 32, 32 (3) और 226—उक्त अनुच्छेदों के अधीन उद्घोषणा—न्यायिक पुनर्विलोकन—उद्घोषणा की विधिमान्यता को संसद् के अनुमोदन से पूर्व चुनौती दी जा सकती है—न्यायालय की अंतरिम अनुतोष अनुदत्त करने की शक्ति—न्यायालय नए सिरे से निर्वाचनों को निर्बन्धित करते हुए अंतरिम आदेश पारित कर सकता है, जब तक कि उद्घोषणा को दी गई चुनौती का अंतिम रूप से विनिश्चय नहीं कर दिया जाता—किंतु न्यायालय उद्घोषणा के जारी किए जाने या उद्घोषणा के अधीन किसी अन्य शक्ति के प्रयोग को निषिद्ध नहीं कर सकता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356, 32, 136 और 226—अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा—संसद् द्वारा अनुमोदन के पश्चात् न्यायिक पुनर्विलोकन—मात्र संसदीय अनुमोदन का अनुज्ञेय सीमा तक न्यायिक पुनर्विलोकन को अपवर्जित करने का प्रभाव नहीं होता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 136, 32—न्यायिक पुनर्विलोकन—परिधि—राजनीतिक पहलू को अंतर्वलित करने वाले सांविधानिक उपबंध का निर्वचन—न्यायालय का कर्तव्य विधि को घोषित करना, सांविधानिक मूल्यों को कायम रखना और सांविधानिक परिसीमाओं को प्रवृत्त करना है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 136, 32 और 226—न्यायिक पुनर्विलोकन—यह संविधान का आधारभूत लक्षण है—उच्चतम न्यायालय का समकक्ष प्राधिकारियों की शक्ति की परिधि और परिसीमाओं का पता लगाने और विधि को निश्चित करने का उत्तरदायित्व है।

प्रशासनिक विधि—न्यायिक पुनर्विलोकन—न्याय्यता से भिन्न—न्यायिक पुनर्विलोकन को न्याय्यता से प्रभेदित किया जाना चाहिए—दोनों संकल्पनाएं एक जैसी नहीं, बल्कि भिन्न हैं।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356 (1), 164 (1) और 174 (2) (ख)—अनुच्छेद 356 (1) के अधीन उद्घोषणा—प्रभाव—विधान सभा का विघटन और राज्य सरकार की बर्खास्तगी—इस संबंध में परम्परा का महत्त्व—वह क्रम जब विघटन/बर्खास्तगी का अवलंब लिया जा सकता है—क्या वह उद्घोषणा का स्वतः परिणाम है या उसको, राज्य विधानमण्डल को अंतराल (बीच की अवधि) के दौरान निलम्बन रखते हुए, संसद् के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदन के पश्चात् ही अवलंब लिया जा सकता है—विधानपरिषद् की बाबत, जहां द्विसदनीय विधानमण्डल है, अनुच्छेद 356 (1) (ख) के अधीन शक्ति के प्रयोग की परिधि—राष्ट्रपति की, राज्य सरकार को बर्खास्त किए बिना, उसकी कुछ कृत्यों और शक्तियों को धारित करने की शक्ति की परिधि।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356(1) और (3)—खण्ड (1) के अधीन उद्घोषणा—खण्ड (3) के अधीन संसद् द्वारा उद्घोषणा का निरनुमोदन/अननुमोदन, या न्यायालय द्वारा उद्घोषणा का अविधिमान्य होने के आधार पर विखण्डित किया जाना—ऐसी भिन्न स्थितियों में प्रभाव—संसद् द्वारा अननुमोदन का मंत्रिपरिषद् और राज्य-विधानसभा को बहाल करने का प्रभाव नहीं होगा और नए सिरे से निर्वाचन अपरिहार्य हो जाएगा—यदि न्यायालय द्वारा उद्घोषणा को अविधिमान्य पाया जाता है, तो संसद् द्वारा अनुमोदन के बावजूद न्यायालय द्वारा यथापूर्व स्थिति बहाल की जा सकती है और विधानसभा तथा राज्य सरकार को पुनर्जीवित किया जा सकता है—किए गए कार्यों, आदेशों और पारित विधियों को न्यायालय द्वारा संसद् अथवा राज्य विधानमण्डल द्वारा विधिमान्य ठहराया जा सकता है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 168, 172, 324 (1), 329 (ख), 32, 136 और 226—एक बार आरम्भ की गई निर्वाचन प्रक्रिया को उसकी चरम परिणति तक ले जाया जाना चाहिए और सभी निर्वाचन विवादों का लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार समाधान किया जाना चाहिए।

संविधान का निर्वचन—ऐसे उपबंध का, जिसकी संपूर्ण सांविधानिक स्कीम को स्थापित और ध्वंस करने की शक्यता हो, इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए, जिससे आधारभूत सांविधानिक संतुलन बना रहे।

संविधान का निर्वचन, सहपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872, धारा 114—उपधारणा—हेतु, असद्भाव या शक्तियों के दुरुपयोग की उपधारणा नहीं की जा सकती है।

संविधान का निर्वचन—न्यायालयों को सांविधानिक उपबंधों में रिक्तियों की पूर्ति नहीं करनी चाहिए, जब भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है तथा स्पष्टतः, अनवधानता से किया गया कोई लोप नहीं है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356—राज्यों में सांविधानिक तन्त्र के विफल होने की दशा में उपबंध—राज्य विधान-सभाओं का विघटन—राष्ट्रपतीय उद्घोषणा—राष्ट्रपति का आत्मपरक समाधान—सुसंगत सामग्री का अस्तित्व या राज्यपाल की रिपोर्ट पुरोभाव्य शर्त—राष्ट्रपतीय उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्त नहीं—यह साबित करने का भार संघ सरकार पर है कि सुसंगत सामग्री अस्तित्व में थी—न्यायालय सरकार द्वारा प्रस्तुत सामग्री की शुद्धता पर या कार्यवाही जो उचित ठहराने में सामग्री की पर्याप्तता पर विचार नहीं करेंगे—न्यायिक जांच यह देखने तक सीमित है कि क्या वह कार्यवाही से सुसंगत थी—भले ही सामग्री का कोई भाग असंगत हो, न्यायालय तब तक, हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, जब तक कोई सुसंगत सामग्री मौजूद है—यदि न्यायालय उद्घोषणा को विखंडित कर देता है, तो उसे बर्खास्त सरकार को पुनः सत्तासीन (बहाल) करने का अधिकार है।

संविधान, 1950—अनुच्छेद 74 (2) के साथ पठित अनुच्छेद 356—और साक्ष्य अधिनियम, 1872, धारा 123—राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल होने की दशा में उपबंध—राज्य विधान-सभाओं का विघटन—अनुच्छेद 74(2) द्वारा, उस सामग्री की संवीक्षा वर्जित नहीं की गई है, जिसके आधार पर राष्ट्रपति को सलाह दी गई हो—न्यायालयों का यह जांच करना न्यायोचित है कि क्या ऐसी कोई सामग्री थी, जिसके आधार पर सलाह दी गई थी, और क्या वह ऐसी सलाह से सुसंगत थी और राष्ट्रपति उसके आधार पर कार्यवाही कर सकते थे—तथापि यह बात साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार के दावे के अध्यधीन है।

संविधान, 1950, अनुच्छेद 356—राज्यों में सांविधानिक मशीनरी के विफल होने की दशा में उपबंध—राज्य विधान सभाओं का विघटन—यदि राज्य सरकार धर्मनिरपेक्षता-विरोधी नीतियों का अनुसरण करती है, तो वह स्वयं को अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही के अध्यधीन बना लेती है।

न्यायिक पुनर्विलोकन—प्रकृति और परिधि—क्या प्रशासनिक विधि और सांविधानिक विधि में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति की प्रकृति और परिधि में अन्तर नहीं है—प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में विकसित न्यायिक पुनर्विलोकन के परिमापी (प्राचल), सांविधानिक विधि के क्षेत्र के विरुद्ध नहीं हैं; वे सांविधानिक विधि के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र को भी उसी प्रकार लागू हो सकते हैं।

जनता पार्टी ने, कर्नाटक राज्य विधानसभा में बहुमत का दल होने के नाते, पूर्वतर मुख्यमंत्री, श्री हेगड़े के, जो मार्च, 1985 से अपने त्याग पत्र तक मंत्रिमण्डल के प्रधान थे, तारीख 1-8-1988 को त्यागपत्र के पश्चात्, श्री एस० आर० बोम्मई के नेतृत्व में सरकार बनाई थी। सितंबर, 1988 में, जनता पार्टी और लोकदल (ब) का जनता दल नामक एक नए दल में विलय हो गया। 13 सदस्य और बढ़ाए जाने के साथ ही मन्त्रिमंडल का तारीख 15-4-1989 को विस्तार किया गया। उसके दो दिन पश्चात्, अर्थात् तारीख 17-4-1989

को, जनता दल के एक विधायक श्री के० आर० मोलेक्करी ने दल-बदल किया और मंत्रिमंडल के प्रति अपना समर्थन वापस लेते हुए, राज्यपाल के समक्ष एक पत्र प्रस्तुत किया। अगले दिन, उन्होंने राज्यपाल के समक्ष 19 पत्र प्रस्तुत किए, जो अभिकथित रूप से 17 जनता दल विधायकों और एक भारतीय जनता दल विधायक के, जो मंत्रिमण्डल का समर्थन कर रहा था, एक विधायक द्वारा और एक निर्दलीय किंतु सह-विधायक द्वारा हस्ताक्षरित किए गए थे, जिनमें मंत्रिमण्डल को दिया गया समर्थन वापस ले लिया गया था। इन पत्रों की प्राप्ति पर, राज्यपाल ने अभिकथित रूप से विधान-मण्डल (विधायी) विभाग के सचिव को बुलाया और उक्त पत्रों की प्रामाणिकता सत्यापित कराई। तारीख 19-4-1989 को राज्यपाल ने यह वर्णित करते हुए, राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी कि जनता पार्टी में मतभेद थे, जिनके कारण श्री हेगड़े को त्यागपत्र देना पड़ा, और नया दल अर्थात् जनता दल बनने के पश्चात् भी, मतभेद और दल-बदल का उपक्रम (सिलसिला) जारी रहा। अपने कथन के समर्थन में, उन्होंने प्राप्त 19 पत्रों के प्रति निर्देश किया। उन्होंने आगे यह कहा कि उक्त विधायकों द्वारा समर्थन वापस ले लिए जाने के तथ्य को देखते हुए, मुख्यमंत्री, श्री बोम्मई को विधानसभा में बहुमत नहीं रह गया था और इसलिए, संविधान के अधीन, ऐसी मंत्रि परिषद् की, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त नहीं था, कार्यपालिका द्वारा राज्य का प्रशासन चलाया जाना उचित नहीं था। उन्होंने यह भी कहा कि कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था। अतः उन्होंने राज्यपाल से यह सिफारिश की कि उन्हें अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि राज्यपाल ने 19 पत्रों की प्राप्ति के पश्चात् या राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट भेजने से पूर्व, श्री बोम्मई के मत को अभिनिश्चित नहीं किया। अगले दिन, अर्थात् तारीख 20 अप्रैल, 1989 को 19 विधायकों में से, जिन्होंने अभिकथित रूप से उक्त पत्र लिखे थे, सात विधायकों ने उन्हें पत्र लिखे, जिनमें यह शिकायत की गई थी कि पूर्वतर पत्रों पर उनके हस्ताक्षर दुर्व्यपदेशन द्वारा अभिप्राप्त किए गए थे और उन्होंने मंत्रिमण्डल को अपने समर्थन की पुष्टि की। राज्य मंत्रिमण्डल की उसी दिन बैठक हुई और उसने एक सप्ताह के अन्दर, अर्थात् तारीख 27 अप्रैल, 1989 को विधान सभा का सत्र संयोजित करने का विनिश्चय किया। मुख्यमंत्री और उनके विधि-मंत्री उसी दिन राज्यपाल से मिले और उन्होंने उन्हें विधान सभा सत्र आहूत करने के विनिश्चय के बारे में सूचित किया। याचिका में यह प्रकथन भी किया गया है कि उन्होंने उप-राज्यपाल के समक्ष सरकारिया आयोग की इस सिफारिश को भी उपदर्शित किया (था) कि मंत्रिमण्डल की शक्ति का परीक्षण सदन के पटल पर किया जाना चाहिए। मुख्यमंत्री ने, यदि आवश्यक हो, विधान सभा सत्र निर्धारित तारीख से पूर्व किसी तारीख को आहूत (संयोजित) करके भी, सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने की पेश-कश की। उन्होंने राष्ट्रपति को भी उसी आशय का टेलेक्स संदेश भेजा। किंतु, राज्यपाल ने उसी दिन, अर्थात् तारीख 20 अप्रैल, 1989 को, विशेष रूप से मंत्रिमण्डल को भी अपने समर्थन का आश्वासन देते हुए और अपने पूर्वतर पत्र वापस लेते हुए, सात सदस्यों के पत्रों के प्रति निर्देश करते हुए, राष्ट्रपति को एक अन्य रिपोर्ट भेजी। तथापि, रिपोर्ट में उन्होंने यह राय व्यक्त की कि सात विधायकों के पत्र मुख्यमंत्री द्वारा, उन पर दबाव डाल कर, अभिप्राप्त किए गए थे, और उन्होंने यह भी कहा कि विधायकों की खरीद-फरोख्त जारी थी और वातावरण दूषित हो रहा था। अंत में, उन्होंने अपनी इस राय पर पुनः बल दिया कि मुख्यमंत्री विधानसभा में अपना बहुमत खो चुके थे और उन्होंने अनुच्छेद 356 (1) के अधीन कार्यवाही के लिए अपने पूर्वतर अनुरोध को पुनः दोह-

राया। उसी दिन, राष्ट्रपति ने पहले ही ऊपर उद्धृत वर्णनों सहित, प्रश्नगत उद्घोषणा जारी की। तत्पश्चात्, उद्घोषणा का, अनुच्छेद 356 (3) द्वारा यथापेक्षित, संसद् द्वारा अनुमोदन कर दिया गया। श्री बोम्मई और मंत्रिपरिषद् के कुछ अन्य सदस्यों ने विभिन्न आधारों पर कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष उक्त उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती दी। अन्यों के साथ-साथ, भारत संघ ने भी याचिका का विरोध किया। उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीश वाले न्यायपीठ ने, अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिनिर्धारित करते हुए, याचिका खारिज कर दी कि राज्यपाल की रिपोर्ट में वर्णित तथ्य असंगत नहीं माने जा सकते थे और राज्यपाल के इस समाधान को कि कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था, स्वीकार किया जाना था, क्योंकि उनका वैयक्तिक सदभाव प्रश्नगत नहीं किया गया था और उसका समाधान सभी सुसंगत तथ्यों के युक्तियुक्त निर्धारण पर आधारित था। न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि सदन के पटल पर बहुमत का परीक्षण न तो अनिवार्य था और न बाध्यकर ही, और वह राष्ट्रपति की रिपोर्ट भेजने के लिए पूर्वापेक्षा नहीं था। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि राज्यपाल की रिपोर्ट को विधिक विद्वेष के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी क्योंकि उद्घोषणा संघ की मंत्रि-परिषद् के समाधान पर जारी की जाती है। न्यायालय ने राजस्थान राज्य वाले मामले में अधिकथित कसौटी का भी अवलंब लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रकट की गई सामग्री के आधार पर, राष्ट्रपति द्वारा किए गए समाधान को दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है। मेघालय : इस मामले में अनुच्छेद 356 (1) के अधीन तारीख 11 अक्तूबर, 1991 को जारी की गई उद्घोषणा को चुनौती दी गई है। इस मामले के तथ्य इस प्रकार हैं। रिट याची जी० एस० मसार मेघालय यूनाइटेड पार्लियामेंट्री पार्टी (एम०यू०पी०पी०) के रूप में ज्ञात मोर्चे (फ्रण्ट) से संबंध रखते थे, जिसे विधान सभा में बहुमत प्राप्त था और जिसने मार्च, 1990 में श्री बी० बी० लिंगदोह के नेतृत्व में सरकार बनाई थी। तारीख 25-7-91 को, किंदिया आर्थी नामक व्यक्ति को, जो सुसंगत समय पर सदन का अध्यक्ष था, यूनाइटेड मेघालय पार्लियामेंट्री फोरम (यू०एम०पी०एफ०) के रूप में ज्ञात विरोधी दल के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया। इस समूह में बहुमत कांग्रेस दल का था। अपने निर्वाचन पर, श्री आर्थी ने विधानसभा में सदस्यों के बहुमत के समर्थन का दावा किया और राज्यपाल से सरकार बनाने हेतु उन्हें आमंत्रित करने का अनुरोध किया। तदुपरि राज्यपाल ने तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री लिंगदोह से सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने के लिए कहा। तदनुसार तारीख 7 अगस्त, 1991 को विधानसभा का एक विशेष सत्र संयोजित किया गया और मंत्रिमण्डल में विश्वास का प्रस्ताव रखा गया। 30 विधायकों ने प्रस्ताव का समर्थन किया और 27 विधायकों ने उसके विरोध में मतदान किया। तथापि, प्रस्ताव पर मतदान के परिणाम की घोषणा करने के बजाय, अध्यक्ष ने यह घोषित किया कि उन्हें सत्तारूढ़ सांझे (मिले-जुले) मोर्चे के पांच निर्दलीय विधायकों के विरुद्ध एक परिवाद (शिकायत) प्राप्त हुआ था, जिसमें यह अभिकथन किया गया कि वे दल-बदल निरोध विधि के अधीन विधायकों के रूप में निरर्हित थे और चूंकि वे मतदान करने के लिए हकदार नहीं रह गए थे, अतः वह मतदान करने के उनके अधिकार को निलम्बित कर रहे थे। इस घोषणा पर, सदन में शोर-शराबा आरम्भ हो गया और उसे (सदन को) स्थगित किया जाना पड़ा। तारीख 11 अगस्त, 1991 को अध्यक्ष ने विधायकों में से एक विधायक श्री शेला द्वारा फाइल किए गए परिवाद पर, अभिकथित

दल-बदलुओं--पांच निर्दलीय विधायकों को, 'कारण बताओ' सूचनाएं जारी कीं। पांच विधायकों ने इस बात से इनकार करते हुए सूचना का उत्तर दिया कि वे किसी दल में सम्मिलित हो गए थे और यह दलील दी कि वे निर्दलीय बने हुए थे। उत्तरों की प्राप्ति पर, अध्यक्ष ने इस आधार पर पांचों विधायकों (विधानसभा सदस्यों) की निरर्हित करते हुए, तारीख 17-8-91 को एक आदेश पारित किया कि उनमें से चार तत्कालीन मंत्रिमण्डल में मंत्री थे और उनमें से एक उप-सरकारी मुख्य सचेतक था। तत्पश्चात्, पुनः राज्यपाल की सलाह पर, मुख्यमंत्री श्री लिंगदोह ने ,मंत्रिमण्डल में विश्वास का मत प्राप्त करने के लिए तारीख 9 सितम्बर, 1991 को विधानसभा का सत्र आहूत किया। तथापि, अध्यक्ष ने उनके द्वारा निरर्हित पांचों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों को सत्र की सूचनाएं भेजने से इनकार कर दिया और उसके साथ ही विधानसभा में उनके प्रवेश को प्रतिषिद्ध करने के लिए व्यवस्था की। तारीख 6 सितम्बर, 1991 को पांचों विधानसभा सदस्यों ने इस न्यायालय का अवलंब लिया (में समावेदन किया)। न्यायालय ने उनमें से चार की बाबत अध्यक्ष के तारीख 7 अगस्त, 1991 और 17 अगस्त, 1991 के आदेशों के प्रवर्तन पर रोक लगाते हुए, अंतरिम आदेश पारित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि एक सदस्य ने ऐसे आदेश के लिए आवेदन नहीं किया। अतः अध्यक्ष ने एक प्रेस-वक्तव्य जारी किया, जिसमें उन्होंने यह घोषित किया कि वह तारीख 17 अगस्त, 1991 के अपने आदेश में किसी न्यायालय का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। अतः राज्यपाल ने तारीख 8 सितम्बर, 1991 के अपने आदेश द्वारा अनिश्चितकाल के लिए विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को राज्यपाल की प्रेरणा पर विधानसभा पुनः संयोजित (आहूत) की गई। इसी बीच, चार निर्दलीय विधानसभा सदस्यों ने, जिन्होंने अंतरिम आदेश अभिप्राप्त किए थे, अध्यक्ष के विरुद्ध इस न्यायालय में अवमान याचिका फाइल की, जिन्होंने (अध्यक्ष ने) न केवल इस न्यायालय के अंतरिम आदेश की अवज्ञा करते हुए, प्रेस-वक्तव्य में घोषणा की थी, बल्कि निर्दलीय विधानसभा सदस्यों को सदन में प्रवेश करने से रोकने के लिए भी कदम उठाए थे। तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को इस न्यायालय ने यह निदेश करते हुए एक अन्य आदेश पारित किया कि राज्य के सभी प्राधिकारियों को तारीख 6 सितम्बर, 1991 के न्यायालय के अंतरिम आदेश का अनुपालन सुनिश्चित करना चाहिए। इस निदेश के अनुसरण में पांच निर्दलीय विधानसभा सदस्यों में से चार सदस्यों को तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को संयोजित विधानसभा सत्र में भाग लेने का आमंत्रण प्राप्त हुआ। चार निर्दलीय विधानसभा सदस्यों सहित, कुल मिलाकर 56 विधानसभा सदस्यों ने सत्र में भाग लिया। मंत्रिमण्डल में विश्वास का प्रस्ताव मतदान के लिए रखे जाने के पश्चात् अध्यक्ष ने यह घोषणा की कि 26 विधानसभा सदस्यों ने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया और 26 सदस्यों ने इसके विरुद्ध मतदान किया तथा उन्होंने चारों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों के मत अपवर्जित कर दिए। तत्पश्चात्, यह घोषित करते हुए कि दोनों पक्षों को बराबर मत मिले थे, उन्होंने स्वयं अपना मत प्रस्ताव के विरोध में दिया और यह घोषित किया कि प्रस्ताव असफल हो गया था और उन्होंने अनिश्चितकाल के लिए सदन स्थगित कर दिया। किन्तु 30 विधानसभा सदस्य अर्थात् 26 सदस्य और 4 निर्दलीय विधानसभा सदस्य, जिन्होंने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया था, सदन में बने रहे और उन्होंने विधानसभा के कारबार का संचालन करने के लिए अपने बीच में से अध्यक्ष का निर्वाचन किया। नए अध्यक्ष ने यह घोषित किया कि मंत्रिमण्डल में विश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया था क्योंकि 30 विधानसभा सदस्यों ने सरकार के पक्ष में मतदान

किया था। वे अध्यक्ष में अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने के लिए भी अग्रसर हुए। तत्पश्चात्, 30 विधानसभा सदस्यों ने यह कहते हुए राज्यपाल को एक पत्र भेजा कि उन्होंने मंत्रिमण्डल के पक्ष में मतदान किया था और उन्होंने अध्यक्ष में अविश्वास का प्रस्ताव भी पारित किया था। किंतु तारीख 9 अक्तूबर, 1991 को राज्यपाल ने मुख्यमंत्री को एक पत्र भेजा, जिसमें उनसे तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को सत्र में जो कुछ हुआ था, उसे देखते हुए त्यागपत्र देने के लिए कहा गया। दुर्भाग्यवश, राज्यपाल ने उक्त पत्र में यह मत भी व्यक्त किया कि चार निर्दलीय विधानसभा सदस्यों के संबंध में उच्चतम न्यायालय के आदेशों का अध्यक्ष द्वारा संज्ञान न किया जाना अध्यक्ष और न्यायालय के बीच का मामला था। तत्पश्चात् मुख्य मंत्री ने राज्यपाल के पत्र के विरुद्ध इस न्यायालय में समावेदन किया और इस न्यायालय ने तारीख 9 अक्तूबर, 1991 को, राज्यपाल से इस प्रश्न पर कोई विनिश्चय करने से पूर्व, कि क्या सरकार विश्वास के प्रस्ताव पर हार गई थी। अन्य बातों के साथ-साथ, इस न्यायालय के आदेशों और चार निर्दलीय विधानसभा सदस्यों द्वारा डाले गए मतों को, ध्यान में रखने के लिए कहा इसके बावजूद, राष्ट्रपति ने तारीख 11 अक्तूबर, 1991 को अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी कर दी। उक्त उद्घोषणा में यह कहा गया कि राज्यपाल से प्राप्त रिपोर्ट और उनके द्वारा (राष्ट्रपति द्वारा) प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर राष्ट्रपति का यह समाधान हो गया था कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। सरकार बर्खास्त कर दी गई और विधानसभा विघटित कर दी गई। इस न्यायालय ने तारीख 12 अक्तूबर, 1991 के आदेश द्वारा तत्कालीन अध्यक्ष के तारीख 17 अगस्त, 1991 के आदेश को अपास्त कर दिया। तथापि, तत्पश्चात् संसद् के दोनों सदनों की बैठक हुई और उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा का अनुमोदन कर दिया। नागालैंड : नागालैंड राज्य में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करते हुए, अनुच्छेद 356(1) के अधीन तारीख 7 अगस्त, 1988 को राष्ट्रपतीय उद्घोषणा जारी की गई। सुसंगत समय पर, नागालैंड विधानसभा में 60 सदस्य थे, जिनमें से 34 सदस्य कांग्रेस (इ) के थे, 18 नागालैण्ड नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी के थे, एक सदस्य नागा पीपूल्स पार्टी का था और 7 सदस्य निर्दलीय थे। सतारुढ़ दल के नेता श्री सीमा राज्य सरकार के प्रधान के रूप में मुख्यमंत्री थे। तारीख 28 जुलाई, 1988 को, सत्तारुढ़ दल के 34 सदस्यों में से 13 सदस्यों ने विधानसभा के अध्यक्ष को सूचित किया कि उन्होंने सतारुढ़ कांग्रेस (इ) दल से पृथक् दल बना लिया था और उनसे सदन में उनके लिए पृथक् स्थान आवंटित किए जाने का अनुरोध किया। विधानसभा का सत्र तारीख 28 अगस्त, 1988 को आरम्भ होना था। तारीख 30 जुलाई, 1988 के अपने विनिश्चय द्वारा अध्यक्ष ने यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान की दसवीं अनुसूची के अर्थान्तर्गत दल में विभाजन हो गया था। तारीख 31 जुलाई, 1988 को दल-बदल करने वाले 13 विधानसभा सदस्यों में से, जिन्होंने एक पृथक् दल बना लिया था। एक श्री वामूजो ने राज्यपाल को यह सूचित किया कि उन्हें विधानसभा के तत्कालीन 59 सदस्यों में से 35 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और वह सरकार बनाने की स्थिति में थे। तारीख 3 अक्तूबर, 1988 को, राज्य के मुख्य सचिव ने श्री वामूजो को इस आशय का पत्र लिखा कि उनकी जानकारी के अनुसार, श्री वामूजो ने उन विधानसभा सदस्यों को दोषपूर्वक परिरुद्ध कर लिया था, जिन्होंने नया दल बनाया था। श्री वामूजो ने उक्त अभिकथन का प्रत्याख्यान किया और मुख्य सचिव से स्वयं सदस्यों से वास्तविकता को

सत्यापित करने के लिए कहा। सत्यापन पर सदस्यों ने मुख्य सचिव को यह बताया कि उनमें से किसी को भी परिरुद्ध नहीं किया गया था, जैसा कि अभिकथन किया गया था। तारीख 6 अगस्त, 1988 को राज्यपाल ने 13 विधानसभा सदस्यों द्वारा नए दल बनाए जाने के बारे में भारत के राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी। उन्होंने यह भी कहा कि उक्त विधानसभा सदस्यों को धन का प्रलोभन (लालच) दिया गया था। उन्होंने यह भी कहा कि उक्त विधानसभा सदस्यों को श्री वामूजो और एक अन्य व्यक्ति द्वारा जबरदस्ती परिरोध में रखा गया था और सत्तारूढ़ दल में विभाजन की बात सही नहीं थी। उन्होंने यह भी कहा कि अध्यक्ष ने 13 सदस्यों के नए समूह को मान्यता प्रदान करने में जल्दबाजी की और यह टिप्पणी की कि राज्य में 'खरीद-फरोख्त' चल रही थी। उन्होंने नागालैंड में विद्रोह के प्रति भी विशेष निर्देश किया और यह भी कहा कि विधानसभा के कुल सदस्यों का विद्रोहियों से संपर्क था। उन्होंने यह आशंका व्यक्त की कि यदि स्थिति को इसी प्रकार बना रहने दिया गया, जैसी कि वह उस समय थी, तो उससे राज्य की स्थिरता प्रभावित होगी। इसी बीच मुख्यमंत्री ने राज्यपाल को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया और राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किए जाने की सिफारिश की। तत्पश्चात् राष्ट्रपति ने आक्षेपित उद्घोषणा जारी की और सरकार बर्खास्त कर दी तथा विधानसभा का विघटन कर दिया। नए समूह के नेता श्री वामूजो ने गुवाहाटी उच्च न्यायालय में उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती दी। एक खण्ड न्यायपीठ द्वारा याचिका की सुनवाई की गई, जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति और न्या० हंसारिया थे। न्यायपीठ में अनुच्छेद 74(2) के प्रभाव और प्रवर्तन पर मतभेद था और इसलिए मामला तृतीय न्यायाधीश को निर्देशित कर दिया गया। किंतु इससे पूर्व कि विद्वान् न्यायाधीश मामले की सुनवाई करते, भारत संघ ने विशेष अनुमति प्रदान किए जाने के लिए इस न्यायालय में समावेदन किया और उच्च न्यायालय में कार्यवाहियों पर रोक लगा दी गई। खण्ड न्यायपीठ इस बात पर सहमत था कि उद्घोषणा की विधिमान्यता पर न्यायालय द्वारा विचार किया जा सकता था और उसे न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं थी। मध्य प्रदेश : उद्घोषणा राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को प्रेषित तीन रिपोर्टों का परिणाम थी। प्रथम रिपोर्ट तारीख 8 दिसम्बर, 1992 की थी। उसमें हिंसा, आगजनी और लूट-पाट के व्यापक कार्यों के परिणामस्वरूप विधि और व्यवस्था की तेजी से गिर रही स्थिति के प्रति निर्देश किया गया था। उन्होंने राज्य सरकार की, राजनीतिक नेतृत्व के सहयुक्त साम्प्रदायिक संगठनों को प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन के कारण स्थिति को शान्त करने के लिए समर्थ होने में "विश्वास का अभाव" व्यक्त किया, जिससे यह उपदर्शित होता था कि राज्य में प्रशासनिक तंत्र भंग हो गया था। इस रिपोर्ट के पश्चात् तारीख 10 दिसम्बर, 1992 को दूसरी रिपोर्ट भेजी गई, जिसमें तब तक शांतिपूर्ण अन्य क्षेत्रों में भी हिंसा फैल जाने के प्रति निर्देश किया गया था। उनके द्वारा एक अन्य रिपोर्ट, भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड, भोपाल (बी० एच० ई० एल० भेल) के कार्यकारी निदेशक से उनके द्वारा तारीख 11 दिसम्बर, 1992 को प्राप्त पत्र की प्रति सहित, तारीख 13 दिसम्बर, 1992 को भेजी गई। इस पत्र में भेल कारखाने में और उसके आसपास के क्षेत्रों में जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करने में विधि और व्यवस्था तंत्र के पूर्णतः विफल हो जाने के प्रति और भेल क्षेत्र में कार-सेवकों को जगह देने के लिए कारखाने के प्रशासन पर दबाव डालने के प्रति निर्देश किया गया था। राज्यपाल ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिन्दू परिषद् पर लगे प्रतिबंध को

दुर्भाग्यपूर्ण वर्णित करने वाले, मुख्यमंत्री मध्य प्रदेश के श्री सुन्दरलाल पटवा के कथन के प्रति भी निर्देश किया। मुख्यमंत्री के कथन को देखते हुए, राज्यपाल ने उक्त संगठनों को प्रतिबंधित करने के केन्द्र के विनिश्चय को निष्ठापूर्वक लागू करने के लिए राज्य सरकार की सद्भाविकता के बारे में संदेह व्यक्त किया, विशेष रूप से इस कारण कि मुख्यमंत्री श्री पटवा सहित भारतीय जनता पार्टी के नेताओं ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मूल्यों और परम्पराओं के प्रति सदा अपनी निष्ठा व्यक्त की थी। इस संदर्भ में उन्होंने विश्व हिन्दू परिषद् के, प्रतिबंध के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिए 13 दिसम्बर, 1992 को काला दिवस मनाने और तारीख 14 दिसम्बर, 1992 से 20 दिसम्बर, 1992 तक इस घृणास्पद विधि के विरुद्ध 'विरोधी' सप्ताह मनाने के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया। उन्होंने इस संबंध में अपनी यह व्यग्रता व्यक्त की कि ये सभी कदम उस समय की स्थिति के संदर्भ में खतरे से भरे हुए थे। अतः राज्यपाल ने यह सिफारिश की कि उक्त तथ्यों और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अपनी भावी योजना को कार्यान्वित करने के लिए नए सिरे से रणनीति अनुध्यात कर रहा था तथा प्रतिबंधित संगठनों के नेताओं के, विशेष रूप से राज्य प्रशासन की मौनानुकूलता से, भूमिगत होने की संभावना को देखते हुए स्थिति ऐसी उद्घोषणा तुरन्त जारी किए जाने की अपेक्षा करती थी। अतः उद्घोषणा जारी की गई। हिमाचल प्रदेश : राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट मिलने पर जारी की गई थी, जो रिपोर्ट उन्हें तारीख 15 दिसम्बर, 1992 को भेजी गई थी। अपनी रिपोर्ट में राज्यपाल ने, अन्य बातों के साथ-साथ, यह कहा था कि मुख्यमंत्री और उनके मंत्रिमण्डल ने हिमाचल प्रदेश के कार-सेवकों को अयोध्या में तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को कारसेवा में भाग लेने के लिए उकसाया था। केवल यही नहीं, बल्कि कुछ मंत्रियों ने कारसेवा में भाग लेने के लिए सार्वजनिक रूप से अपनी इच्छा भी व्यक्त की थी, यदि दल की उच्च सत्ता उन्हें ऐसा करने के लिए अनुज्ञात करे। परिणामस्वरूप भारतीय जनता पार्टी के कुछ विधानसभा सदस्यों सहित, अनेक कार-सेवकों ने अयोध्या में कार-सेवा में भाग लिया। सत्तारूढ़ भारतीय जनता पार्टी के एक विधान सभा संदस्य ने खुले रूप में यह भी कहा था कि उसने बाबरी मस्जिद ध्वंस में भाग लिया था। उसके पश्चात् राज्यपाल ने यह कहा कि मुख्यमंत्री श्री शान्ताकुमार तारीख 13 दिसम्बर, 1992 को, अर्थात् उनके द्वारा राष्ट्रपति को पत्र भेजे जाने से दो दिन पूर्व, उनसे मिले थे और उन्हें यह सूचित किया था कि वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्वहिन्दू परिषद् और तीन अन्य संगठनों पर भारत सरकार द्वारा अधिरोपित प्रतिबंध के आदेशों को कार्यान्वित करना चाहते थे और उन्होंने इस संबंध में पहले ही निदेश जारी कर दिए थे। तथापि, राज्यपाल ने यह राय व्यक्त की कि (चूंकि) मुख्यमंत्री स्वयं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक सदस्य थे, अतः वह निदेशों को ईमानदारीपूर्वक और प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने की स्थिति में नहीं थे और राज्य में अधिकांश लोग भी ऐसा ही महसूस करते थे। उन्होंने यह भी कहा कि कुछ मंत्री उक्त तीनों साम्प्रदायिक संगठनों पर लगाए गए प्रतिबंध की सार्वजनिक रूप से आलोचना कर रहे थे और जब मुख्यमंत्री और मंत्रिमण्डल के उनके सहयोगी स्वयं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य थे, तब प्रशासनिक तंत्र के लिए प्रतिबंध को ईमानदारीपूर्वक और प्रभावी रूप से लागू करना सम्भव नहीं था। इस रिपोर्ट के आधार पर ही प्रश्नगत उद्घोषणा जारी की गई। राजस्थान : राष्ट्रपति की उद्घोषणा प्रधानमंत्री को प्रेषित राज्यपाल की इस रिपोर्ट के अनुसरण में जारी की गई थी कि राजस्थान सरकार ने अयोध्या की घटना में "एक स्पष्ट भूमिका" निभाई थी; कि

भारतीय जनता पार्टी का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल पर नियंत्रण था, जो प्रतिबंधित संगठन थे और प्रतिबंध को बिल्कुल भी लागू नहीं किया जा रहा था। एक मंत्री ने त्यागपत्र दे दिया था और उसके साथ, 22 विधानसभा सदस्यों और भारतीय जनता पार्टी के 15,500 कार्यकर्ताओं ने अयोध्या में कार-सेवा में भाग लिया था। राज्य से उनके प्रस्थान पर उन्हें शानदार विदाई दी गई और उनके लौटने पर सरकार चला रहे राजनैतिक दल, अर्थात् भारतीय जनता पार्टी के प्रभावशाली लोगों द्वारा उनका शानदार स्वागत किया गया। एक सप्ताह से अधिक समय तक विधि और व्यवस्था की स्थिति में गिरावट रही थी और विधि व्यवस्था की स्थिति बिगड़ने का प्रबल लक्षण अल्पसंख्यक विरोधी कार्यों के रूप में दिखाई दिया। उन्होंने यह राय व्यक्त की कि प्रशासन के लिए तत्कालीन राजनीतिक तंत्र में प्रभावी रूप से, वस्तुपरक रूप से और विधि के नियम के अनुसार कृत्य करना सम्भव नहीं था और इसलिए ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती थी। उक्त तीनों उद्घोषणाओं की विधिमान्यता को संबंधित राज्यों के उच्च न्यायालयों में रिट याचिकाओं द्वारा चुनौती दी गई। मध्य प्रदेश सरकार और विधानसभा की बाबत उद्घोषणाओं को चुनौती देने वाली याचिका उच्च न्यायालय द्वारा मंजूर की गई और भारत संघ ने उच्च न्यायालय के उक्त विनिश्चय के विरुद्ध इस न्यायालय में अपील फाइल की है। तारीख 16 अप्रैल, 1993 के आदेश द्वारा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की सरकारों और विधानसभाओं की बाबत उद्घोषणाओं को चुनौती देने वाली रिट याचिकाएं, जो संबंधित उच्च न्यायालयों में लम्बित थीं, इस न्यायालय को अंतरित कर दी गई। अपील और याचिकाओं का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित—चूंकि न्यायालय के समक्ष विद्वान् महान्यायवादी और भारत सरकार के विद्वान् काउंसेल द्वारा इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं उठाया गया था कि प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में उनकी मंत्रिपरिषद् की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है, अतः विवाद न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और विस्तार के अवधारण तक ही, अर्थात् दूसरे शब्दों में न्याय्यता के क्षेत्र तक ही, सीमित हो जाता है। न्यायालय में बहस इसी क्षेत्र तक सीमित रही। विद्वान् महान्यायवादी और भारत सरकार के विद्वान् काउन्सेल ने इस मत का समर्थन किया कि इस संबंध में ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में अधिकथित विधि सही थी और उस पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं थी, जबकि संबंधित राज्य सरकारों के, जिन्हें अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति के प्रयोग द्वारा अधिक्रान्त कर दिया था, काउंसेलों ने यह दलील दी कि उक्त विनिश्चय पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता थी। उक्त विवाद्यक पर विचार करने से पूर्व, इस प्रश्न का निपटारा करना उचित होगा कि क्या संविधान के अनुच्छेद 74 (2) द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मंत्रिपरिषद् की सलाह के लिए कारण और भागरूप सामग्री विधारित करना अनुज्ञात किया गया है। अनुच्छेद 74 (1) में यह आदिष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति को उसके कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान (अध्यक्ष) प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। तथापि परंतुक द्वारा राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् ने ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा करने के लिए हकदार बनाया गया है किंतु जब एक बार मंत्रिपरिषद् उक्त

सलाह पर पुनर्विचार कर लेता है, तब वह उसके अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है । उसके पश्चात्, अनुच्छेद 74 (2) में यह उपबंध किया गया है कि इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी। इस उपबंध द्वारा जिस चीज की जांच वर्जित की गई है वह यह है कि "क्या कोई सलाह दी गई थी और यदि दी गई थी, तो क्या", इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रश्न पर विद्वान् बंधुओं द्वारा व्यापक रूप से विचार किया गया है, जिन्होंने अपने निर्णयों में उसके पक्ष और विपक्ष में कही गई बातों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है औरइसलिए उसी पथ पर पुनः चक्कर लगाना आवश्यक नहीं है । यह कहना ही पर्याप्त है कि (चूंकि) कारण सलाह के भागरूप होंगे, अतः न्यायालय उनके प्रकट किए जाने की मांग करने से प्रवारित होगा । किंतु इस बात पर न्यायालय सहमत है कि अनुच्छेद 74 (2) ऐसी सभी सामग्री के प्रस्तुत किए जाने के लिए कोई वर्जन नहीं है, जिस पर मंत्रिपरिषद् की सलाह आधारित थी । निस्संदेह, साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 और 124 के अधीन उपलब्ध विशेषाधिकार एक भिन्न आधार पर स्थित है और उसका संविधान के अनुच्छेद 74 (2) से असंबद्ध (बाह्य) रूप में दावा किया जा सकता है । उस सीमा तक, जिस तक राजस्थान राज्य वाले मामले में किया गया विनिश्चय इस मत के विरुद्ध है, ससम्मान उससे असहमति व्यक्त की जाती है । (पैरा 31, 32)

अब न्यायिक पुनर्विलोकन के विस्तार और परिधि के प्रश्न, अर्थात् न्याय्यता के क्षेत्र पर विचार करना उचित होगा। जहां तक संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति के आत्मपरक समाधान का संबंध है, भाग 18 में जिसमें आपात उपबंधों का उल्लेख किया गया है, विभिन्न परिस्थितियों में आपात शक्तियों के प्रयोग का उपबंध किया गया है । अनुच्छेद 352 में यह उपबंध है कि यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि गंभीर आपात विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो वह उद्घोषणा में उसके प्रवर्तन के क्षेत्र को विनिर्दिष्ट करते हुए, उस आशय की घोषणा कर सकेगा । "यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है" पद के प्रयोग के होते हुए भी, जिससे यह ध्वनित होता है कि विनिश्चय राष्ट्रपति के आत्मपरक समाधान पर निर्भर करेगा, काउंसेल ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि ऐसे विनिश्चय को न्यायिक संवीक्षा की विषय-वस्तु, नहीं बनाया जा सकता है और उसका स्पष्ट कारण यह है कि गंभीर आपात का अस्तित्व (होना) या अन्यथा (न होना) न्यायिक संवीक्षा की परिधि के अंतर्गत नहीं आता है क्योंकि न्यायालय ऐसा संवेदनशील (नाजुक) कृत्य करने के लिए साधनसंपन्न नहीं है । इसी प्रकार अनुच्छेद 360 के अधीन भी आपात शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति के इस समाधान पर निर्भर है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व (स्थिरता) या प्रत्यय (विश्वसनीयता) संकट में है । ऐसी घोषणा को अंतर्विष्ट करने वाली उद्घोषणा जारी करने का विनिश्चय भी राष्ट्रपति, अर्थात् मंत्रिपरिषद् के आत्मपरक समाधान पर आधारित है, किन्तु न्यायालय राज्य वित्तीय विषयों के संबंध में विशेषज्ञता के अभाव में ऐसे आत्मपरक समाधान की जांच करने की स्थिति में नहीं होगा । अतः इन उपबंधों में न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि पर प्रकाश डाला गया है । (पैरा 33)

अनुच्छेद 356 के पार्श्व-टिप्पण में यह उपदर्शित होता है कि उक्त उपबंध द्वारा प्रदत्त शक्ति राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में प्रयोक्तव्य है । उक्त

अनुच्छेद के मुख्य भाग में उसी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि उसके द्वारा राष्ट्रपति को, उनका यह समाधान हो जाने पर कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, अर्थात् सांविधानिक तंत्र के विफल होने पर, उसके उपखंड (क), (ख) और (ग) तथा खण्ड (1) में उपबंधित रीति में कार्यवाही करने के लिए सशक्त बनाया गया है। यह कार्यवाही उन्हें संबंधित राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या "अन्यथा" करनी होगी, यदि उनका सांविधानिक तंत्र के विफल रहने के बारे में उससे समाधान हो जाता है। अनुच्छेद 356(1) द्वारा राष्ट्रपति को असाधारण शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, जिनका उन्हें केवल उसी स्थिति में कोताही से और अत्यंत सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए, यदि उनका राज्यपाल की रिपोर्ट से या अन्यथा यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें संबंधित राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। 'अन्यथा' पद का बहुत व्यापक अर्थ है और उसे न्यायालयों में साक्ष्य की ग्राह्यता से संगत सिद्धांतों की कसौटी पर परखे जाने के योग्य सामग्री तक ही निर्बंधित नहीं किया जा सकता। उस सामग्री के स्वरूप को वर्णित करना कठिन होगा, जो अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राष्ट्रपति के समक्ष रखी जा सकेगी या जो कार्यवाही करने से पूर्व उनके सम्मुख आ सकती है। इसके अतिरिक्त, चूंकि राष्ट्रपति से अपने आत्मपरक समाधान के लिए अपने कारण अभिलिखित करने की आशा नहीं की जाती है, अतः न्यायालय के लिए यह अभिनिश्चित करना भी राजनैतिक जंगल में प्रवेश करने के समान ही कठिन होगा कि उक्त उपबंध के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए राष्ट्रपति ने किस बात (चीज) को महत्त्व दिया। दि बेरियम कॅमिकल्स लिमिटेड बनाम दि कंपनी ला बोर्ड और अन्य वाले मामले में और पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में प्रशासनिक कार्यवाही की विधिमान्यता को न्याय निर्णीत करने के लिए उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित कसौटी अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति के समाधान की परख करने के लिए लागू नहीं की जा सकती है। यहां यह बात अवश्य ही ध्यान में रखी जानी चाहिए कि अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति असाधारण प्रकृति की शक्ति है जिसका घोर आपात स्थितियों में ही प्रयोग किया जाना है और इसलिए ऐसी शक्ति के प्रयोग की प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में प्रयुक्त शक्ति से बराबरी नहीं की जा सकती है और इसलिए उसकी समान (एक ही) मापदण्ड द्वारा परख नहीं की जा सकती। अनेक काल्पनिक बातें विचार-प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाती हैं और उक्त विचारणाएं अंतिम विनिश्चय को नियंत्रित करती हैं, जो न केवल उन घटनाओं पर आधारित होगा, जो विनिश्चय से पूर्व घटित हो चुकी हैं, बल्कि वह संभाव्यतः बाद में घटित होने वाली घटनाओं पर भी निर्भर करेगा और इसलिए राष्ट्रपति के समाधान के प्रयोग को प्रशासनिक नियंत्रण के प्रयोग में कार्यपालक अधिकारियों द्वारा अभिलिखित समाधान के साथ बराबरी की दृष्टि से देखना पूर्णतः गलत होगा। वह राय, जो राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अन्यथा बनाएगा, उनके राजनीतिक निर्णय पर आधारित होगी और ऐसे राजनीतिक विनिश्चय की संवीक्षा करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानक (नियम) प्रतिपादित करना कठिन है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उन चीजों की प्रकृति से ही, जो अनुच्छेद 356 के अधीन विनिश्चय करने के कार्य को प्रभावित करती (लागू होती) हैं, यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि राष्ट्रपति का विनिश्चय न्याय्य है। ऐसा करने का अर्थ राजनैतिक जंगल में प्रवेश करना और राजनैतिक प्रज्ञा को चुनौती देना होगा, जिससे न्याया-

लयों को बचना चाहिए। राष्ट्रपति के समाधान की तह में जाने का लोभ बड़ा हो सकता है किंतु न्यायालयों के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय नियम के अभाव में उक्त लोभ का संवरण करना ही उचित होगा। अतः न्यायालय अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति को प्रदत्त सांविधानिक शक्ति के प्रयोग को निषिद्ध नहीं कर सकता, जब तक कि उसे विद्वेषपूर्ण दर्शित नहीं कर दिया जाता। न्यायालय की अधिकारिता के प्रयोग से पूर्व, पर्याप्त सावधानी बरती जानी चाहिए और जब तक कि सशक्त और स्पष्ट प्रथमदृष्ट्या मामला सिद्ध नहीं हो जाता है, राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका, से आरोप का उत्तर देने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए। इस संबंध में न्या० रामस्वामी के मत से सहमति व्यक्त की जाती है। न्या० वर्मा के मत से भी सहमति व्यक्त की जाती है, जब वह यह कहते हैं कि ऐसे मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित परिधि को देखते हुए, ऐसे मामलों में आशंका के रूप में कार्यवाही अनुज्ञेय नहीं होगी। अतः संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा के संबंध में उपलब्ध पुनर्विलोकन की सीमा के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में व्यक्त मत से ससम्मान सहमति व्यक्त की जाती है। दूसरे शब्दों में, उसे इस सीमित आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि कार्यवाही विद्वेषपूर्ण है या स्वयं अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य है। (पैरा 34)

पूर्वोक्त कसौटी को लागू करते हुए इस मत से सहमति व्यक्त की जाती है कि जारी की गई उद्घोषणाएं और मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान तथा कर्नाटक राज्यों के विरुद्ध की गई पारिणामिक कार्यवाही न्याय्य नहीं है, जबकि मेघालय के संबंध में जारी की गई उद्घोषणा को चुनौती दी जा सकती है किंतु उस संबंध में कोई आदेश या निदेश देना आवश्यक नहीं है क्योंकि उन पश्चात्वर्ती घटनाओं को देखते हुए, जो नए निर्वाचन के पश्चात् राज्य में घटित हो चुकी हैं, विवाद्यक समाप्त हो चुका है। अतः न्या० वर्मा और रामस्वामी द्वारा प्रस्थापित अंतिम आदेश पर ससम्मान सहमति व्यक्त की जाती है। यहां यह भी कहना उचित होगा कि पंथ-निरपेक्षता (सर्वसम्प्रदाय-समभाव) की संकल्पना पर तीनों विद्वान् बंधुओं (साथियों) द्वारा व्यक्त मत से सहमति व्यक्त की जाती है। (पैरा 35)

अब प्रश्न उस स्थिति को अवधारित करने के लिए लागू की जाने वाली कसौटी का है, जिसमें न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है या, दूसरे शब्दों में, संविवाद न्याय्य है। अनुच्छेद 365 में धारणा-उपबंध इस बात का संकेत देता है कि उसकी परिधि के अन्तर्गत आने वाले मामलों की, वस्तुपरक मानक लागू करके, न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है। वे तथ्य, जिन्हें यह विधिक कल्पना लागू होती है कि सांविधानिक तंत्र विफल हो गया है, विनिर्दिष्ट हैं और उनका अस्तित्व वस्तुपरक अवधारण के योग्य है। अतः यह अभिनिर्धारित करना युक्तिसंगत है कि अनुच्छेद 365 के अंतर्गत आने वाले मामले न्याय्य हैं। अनुच्छेद 356 में "या अन्यथा" पद से ऐसी सामग्री की व्यापक शृंखला उपदर्शित होती है, जिस पर राष्ट्रपति द्वारा राय बनाए जाने के लिए विचार किया जा सकता है। स्पष्टतः, उक्त सामग्री में ऐसी सामग्री सहित, अनेक काल्पनिक बातें भी अंतर्विष्ट हो सकती हैं, जो सामग्री कठोर अर्थ में विधिक साक्ष्य नहीं है, जिसकी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता को न्यायालय में नहीं परखा जा सकता है। ऐसे मामले में बनाई गई अंतिम राय अधिकांशतः आत्मपरक राजनैतिक निर्णय होगी। ऐसी सामग्री की संवीक्षा करने और ऐसे संविवाद का

समाधान करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानक नहीं हैं। अपनी प्रकृति के कारण ही ऐसा संविवाद न्याय्य नहीं हो सकता है। ऐसा प्रतीत होगा कि इस कारण ऐसे सभी मामले न्याय्य नहीं हैं, इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऐसी स्थितियों की, जिनमें कुछ काल्पनिक बातों और अनुमानों सहित, अनेक तथ्यों और परिस्थितियों से, आत्म परक रूप में सांविधानिक तंत्र के विफल होने का अनुमान किया जाना है, जिनके परिणामस्वरूप आत्मपरक राजनीतिक विनिश्चय किया जाता है, न्यायिक रूप में प्रबंधनीय मानकों के अभाव में, न्यायिक संवीक्षा अनुज्ञेय नहीं है। ये राजनीतिक विनिश्चय, केवल पश्चात्वर्ती निर्वाचन-अधिमत द्वारा ही शोधन(शुद्धि) की परिकल्पना करते हुए, न्यायिक अ-हस्तक्षेप की अपेक्षा करते हैं, जब तक कि उसे पहले संसद् में शुद्ध नहीं कर दिया जाता। दूसरे शब्दों में, केवल ऐसे मामले, जो यह विनिश्चय करने के लिए कि क्या सांविधानिक तंत्र विफल हो गया है, पूर्णतः आत्मपरक मानकों को लागू किया जाना अनुज्ञात करते हैं न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन हैं और शेष मामले, जिनमें आत्मपरक समाधान का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र कुछ काल्पनिक बातों या अनुमानों पर निर्भर करता है, न्याय्य नहीं है क्योंकि संविवाद का समाधान करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानक नहीं है। और, वे मामले केवल राजनीतिक संवीक्षा और शुद्धि के अध्यधीन ही हैं, चाहे विद्यमान राजनीतिक परिदृश्य में उसका महत्त्व कुछ भी क्यों न हो। यही संविधान की स्कीम प्रतीत होती है। (पैरा 43 से 46)

अनुच्छेद 355 से यह स्पष्ट है कि वह राज्य सरकार के कृत्यकरण में हस्तक्षेप हेतु शक्ति का कोई स्वतंत्र स्रोत नहीं है बल्कि वह अनुच्छेद 356 और 357 के अधीन अपनाए जाने वाले अध्युपायों के औचित्य की प्रकृति का है। तथापि इस संबंध में इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अनुच्छेद 355 में तीन स्थितियों के प्रति निर्देश किया गया है,-(i) बाह्य आक्रमण, (ii) आंतरिक अशान्ति, और (iii) संविधान के अनुसार राज्यों की सरकारों का न चलाया जाना। अनुच्छेद 356 में केवल एक स्थिति, अर्थात् तृतीय स्थिति के प्रति ही निर्देश किया गया है। इसके विपरीत अनुच्छेद 352 में, जिसमें आपात (स्थिति) की उद्घोषणा का उपबंध किया गया है, केवल एक स्थिति का उल्लेख है, अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है। "आंतरिक अशान्ति" पद से "सशस्त्र विद्रोह" की तुलना में निश्चित रूप से व्यापक अर्थ का बोध होता है और उसमें "सशस्त्र विद्रोह" से उत्पन्न स्थिति भी सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, आंतरिक अशान्ति के लिए आपात (स्थिति) की उद्घोषणा केवल उस स्थिति में की जा सकती है, यदि वह सशस्त्र विद्रोह के द्वारा उत्पन्न होती है, ऐसी उद्घोषणा किसी अन्य स्थिति द्वारा कारित आंतरिक अशान्ति के लिए नहीं की जा सकती है और न अनुच्छेद 356 के अधीन ही ऐसी उद्घोषणा जारी की जा सकती है, जब तक कि आंतरिक अशान्ति ऐसी स्थिति को जन्म नहीं देती है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। मात्र आंतरिक अशान्ति से, जो सशस्त्र विद्रोह नहीं है, अनुच्छेद 352 के अधीन आपात (स्थिति) की उद्घोषणा को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता और न ऐसी अशान्ति से अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा का जारी किया जाना ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है, जब तक कि उसके द्वारा राज्य की सरकार का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना निर्योग्य या निवारित नहीं कर दिया जाता है। अनुच्छेद 360 में हस्तक्षेप द्वारा वित्तीय आपात (स्थिति)

की उद्घोषणा परिकल्पित की गई है, जब उनका यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है। उसमें यह घोषित किया गया है कि ऐसी उद्घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उसका संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है। इस प्रकार संविधान के उसी भाग में दूसरे अनुच्छेदों में भी आपात उपबंध अंतर्विष्ट हैं। आपात उपबंधों से संबंधित भाग-18 के इन सभी अनुच्छेदों में एक सामान्य सूत्र यह है कि उक्त उपबंधों का केवल उसी स्थिति में अवलंब लिया जा सकता है जब आपात स्थिति हो और वह उनमें वर्णित प्रकार की हो, न कि किसी अन्य प्रकार की। अनुच्छेद 352, 356 और 360 के अधीन आपात की उद्घोषणा राष्ट्रपति के, सुसंगत पुरोभाव्य शर्तों के होने के संबंध में, समाधान पर भी निर्भर है। अनुच्छेद 355 के अधीन संघ पर अधिरोपित कर्तव्य भी उसमें वर्णित दोनों अवस्थाओं में उद्भूत होता है। (पैरा 57 और 58)

नजीरों से एक निष्कर्ष, जो निरापद रूप से निकाला जा सकता है, यह है कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा शक्ति का प्रयोग कम से कम इस प्रश्न पर विचार करने की सीमा तक न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है कि क्या उद्घोषणा जारी किए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्तों को पूरा कर दिया गया है या नहीं। इस परीक्षा में अनिवार्यतः इस बाबत संविक्षा भी अंतर्वलित होगी कि क्या राष्ट्रपति के इस समाधान के लिए सामग्री मौजूद थी कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। इस तथ्य पर बल देना अनावश्यक है कि हर प्रकार की सामग्री इस प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं है बल्कि केवल वह सामग्री सुसंगत है, जिससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। इस बात को भी ध्यान में रखा जाना है कि उक्त अनुच्छेद में यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्रपति का "यह समाधान होना है" कि प्रश्नगत स्थिति उत्पन्न हो गई है। अतः प्रश्नगत सामग्री ऐसी होनी है, जो किसी भी युक्तिमान् व्यक्ति को प्रश्नगत निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित करे। अनुच्छेद में प्रयुक्त पद है "यदि राष्ट्रपति का·····समाधान हो जाता है।" "सैटिस्फाइड (समाधान) शब्द को शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 1792 में इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"4. पर्याप्त सबूत या सूचना (जानकारी) देना, संदेह या अनिश्चितता से मुक्त करना, समाधान करना; 5. (किसी आक्षेप, प्रश्न का) पर्याप्त रूप से उत्तर देना; किसी अनुरोध को पूरा करना या उसका अनुपालन करना, (किसी संदेह, कठिनाई का) समाधान करना; 6. (किसी वस्तु स्थिति, धारणा या कल्पना आदि की) अध्यपेक्षाओं का उत्तर देना; (शर्तों को) मान लेना। अतः सामग्री से असंबद्ध, राष्ट्रपति की वैयक्तिक सनक, इच्छा, मत या राय या उनके शब्द से नहीं, बल्कि उनके समक्ष प्रस्तुत सामग्री से निकाला गया विधिसम्मत निष्कर्ष ही, इस प्रयोजन के लिए सुसंगत है। दूसरे शब्दों में, वस्तुस्थिति के संबंध में राष्ट्रपति का समाधान होना है या सूचना का पर्याप्त सबूत होना है या उसे संदेह या अनिश्चितता से मुक्त होना है, जिससे यह उपदर्शित हो कि प्रश्नगत स्थिति उत्पन्न हो गई है। अतः, यद्यपि सामग्री की पर्याप्तता या अन्यथा (अपर्याप्तता) को प्रश्नगत नहीं किया जा

सकता, तथापि ऐसी सामग्री से निकाले गए निष्कर्ष की विधिसम्मतता का निश्चित रूप में न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है। (पैरा 80)

इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखे जाने योग्य है कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा प्रयुक्त शक्ति, संविधान के अनुच्छेद 74(1) के अधीन मंत्रिपरिषद् द्वारा प्रदत्त सलाह पर (आधारित) है। हमारी पद्धति के अधीन मंत्रिपरिषद् किसी न किसी राजनीतिक दल से संबंधित होगी ही। बहुसंख्यवादी जनतंत्र और परिसंघीय संरचना को देखते हुए, जिन्हें हमने संविधान के अधीन स्वीकार किया है, केन्द्र में और राज्यों में सत्तासीन दल या दलसमूह (मिली-जुली सरकार की दशा में) अलग-अलग हो सकते हैं। अतः अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति के प्रयोग को उसमें वर्णित स्थिति तक कठोरतापूर्वक सीमित किए जाने की आवश्यकता है, जो उक्त प्रयोग के लिए पुरोभाव्य शर्त है। इसीलिए संविधान-निर्माताओं ने उस स्थिति को विनिर्दिष्ट करने के लिए (पर्याप्त) परिश्रम किया है, जो (केवल जो) उक्त शक्ति के प्रयोग को संभव बनाएगी। यह स्थिति उस स्थिति से कम नहीं है, जिसमें "राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।" उससे कम स्थिति उद्घोषणा के जारी किए जाने के कार्य को संभव नहीं बना सकती है। "नहीं बना सकती है" (कैन नॉट) शब्दों से स्पष्टतः गतिरोध की स्थिति का बोध होता है। शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 225 में "कैन" शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"समर्थ होना; शक्ति या क्षमता (सामर्थ्य) रखना।" अतः "नहीं बना सकती है" से "समर्थ न होना" या "शक्ति या क्षमता (सामर्थ्य) न रखना" अभिप्रेत होगा। स्ट्राउड-कृत "जुडिशियल डिक्शनरी, पंचम संस्करण, में "कैन नॉट" शब्दों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उनके अंतर्गत विधिक अयोग्यता (असमर्थता) और भौतिक असंभवता आती है। अतः ऐसी स्थितियां, जिनका उपचार किया जा सकता है या जो संविधान के अनुसार राज्य के शासन को निःशक्त नहीं करती हैं या उसमें हस्तक्षेप नहीं करती हैं — उक्त अनुच्छेद के अधीन उद्घोषणा (के) जारी किए जाने के कार्य को संभव (उचित) नहीं बनाएगी। यह बात भी ध्यान में रखे जाने योग्य है कि उक्त अनुच्छेद के अधीन अनुध्यात स्थिति ऐसी स्थिति (होती) है, जिसमें राज्य का शासन "संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।" वस्तुतः, उक्त पद में विभिन्न स्थितियों की परिकल्पना की गई है। अनुच्छेद 365 में, जो "प्रकीर्ण" शीर्षक वाले अध्याय XIX में है, ऐसी एक स्थिति अनुध्यात की गई है। उसमें यह कहा गया है—"जहां इस संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ की कार्यपालिक शक्ति का प्रयोग करते हुए, दिए गए किन्हीं निदेशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल रहता है, वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।" निस्संदेह, संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ द्वारा दिए गए निदेशों का अनुपालन करने या उन्हें प्रभावी बनाने में असफलता, "राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है" पद द्वारा अनुध्यात एकमात्र स्थिति नहीं है। अनुच्छेद 365, अपेक्षाकृत, धारणा उपबंध की प्रकृति का (अधिक) है। तथापि, अनुच्छेद 365 में वर्णित स्थितियों से भिन्न स्थितियां ऐसी होनी चाहिए, जिनमें राज्य के शासन का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सम्भव नहीं है। (पैरा 81-83)

इसके अतिरिक्त यद्यपि अनुच्छेद 74(2) द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन वर्जित किया गया है, जहां तक मंत्रियों द्वारा दी गई सलाह का संबंध है, तथापि उसके द्वारा उस सामग्री की संवीक्षा वर्जित नहीं की गई है, जिसके आधार पर सलाह दी गई है। न्यायालय न तो मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह में और न ऐसी सलाह के कारणों में ही हितबद्ध हैं। तथापि, न्यायालयों का यह परिवीक्षा (जांच) करना न्यायोचित है कि क्या ऐसी कोई सामग्री थी, जिसके आधार पर सलाह दी गई और क्या वह ऐसी सलाह के लिए सुसंगत थी तथा राष्ट्रपति उसके आधार पर कार्य कर सकते थे। अतः जब न्यायालय ऐसी सामग्री के अस्तित्व की बाबत जांच करना आरम्भ करते हैं, तब अनुच्छेद 74(2) में अन्तर्विष्ट प्रतिषेध ऐसी किसी सामग्री के तात्त्विक अस्तित्व के बारे में जानकारी रखने के उनके अधिकार को अस्वीकृत नहीं कर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संघ सरकार साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार का अभिवाक् नहीं कर सकती है। जैसे और जब प्रकटन के विरुद्ध ऐसे विशेषाधिकार का छल किया जाता है, न्यायालय गुणागुण के आधार पर उक्त धारा के परिभाषी (प्राचल) के अंतर्गत ऐसे दावे की परीक्षा करेंगे। (पैरा 93)

चूंकि अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा को उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) द्वारा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखे जाने की भी अपेक्षा की गई है और वह दो मास की समाप्ति के पश्चात् प्रवर्तन में नहीं रह जाती है, जब तक कि उक्त अवधि की समाप्ति से पूर्व संसद् के दोनों सदनों द्वारा, संकल्पों द्वारा, उसका अनुमोदन न कर दिया गया हो, अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर कि क्या उद्घोषणा की जानी चाहिऐ थी या नहीं की जानी चाहिए थी, प्रत्येक सदन के पटल पर विचार किया जाना चाहिए और दोनों सदन उस सामग्री पर विचार करने के लिए हकदार होंगे, जिसके आधार पर मंत्रिपरिषद् ने उद्घोषणा जारी करने के लिए राष्ट्रपति को सलाह दी थी। अतः प्रश्नगत सामग्री की बाबत दावाकृत गोपनीयता अनुल्लंघनीय नहीं रह सकती है, और सामग्री के अप्रकटन का अभिवाक् नहीं किया जा सकता है। जब उसकी अविधिमान्यता के संबंध में प्रथम दृष्ट्या मामला साबित करके उद्घोषणा को चुनौती दी जाती है, तब यह समाधान करने का भार संघ सरकार पर होगा कि ऐसी सामग्री थी, जिससे यह दर्शित होता था कि संविधान के उपबंधों के अनुसार शासन नहीं चलाया जा सकता था। चूंकि ऐसी सामग्री अनन्यतः संघ सरकार की जानकारी में होगी, अतः साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के उपबंधों को देखते हुए, ऐसी सामग्री के अस्तित्व को साबित करने का भार संघ सरकार पर होगा। एक और प्रश्न, जो इस संबंध में उठाया जा सकता है, यह है कि क्या अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा की विधिमान्यता को, अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) के अधीन संसद् के दोनों सदनों द्वारा उसका अनुमोदन कर दिए जाने के पश्चात् भी चुनौती दी जा सकती है। इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा और संसद् द्वारा अधिनियमित विधान के बीच अन्तर करने का कोई कारण नहीं है। यदि उद्घोषणा अविधिमान्य है, तो वह मात्र इस कारण विधिमान्य नहीं हो जाती कि उसका संसद् द्वारा अनुमोदन कर दिया गया है। उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती देने के आधार, किसी विधान की विधिमान्यता को चुनौती देने के आधारों से भिन्न हो सकते हैं। तथापि इससे उपलब्ध सीमित आधारों पर उद्घोषणा की आक्षेपणीयता पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। (पैरा 94-95)

अनुच्छेद 356 के उपबंधों पर शुद्धतः विधिक दृष्टिकोण से विचार करना और उनके अर्थ का केवल अधिकारिता संबंधी बारीकियों से ही निर्वचन करना अक्षम्य भूल होगा। संविधान अनिवार्यतः राजीतिक दस्तावेज है और अनुच्छेद 356 जैसे उपबंधों की, संपूर्ण सांविधानिक स्कीम को अस्त-व्यस्त और ध्वंस करने की, शक्यता है। अतः, ऐसे उपबंधों के अधीन निहित शक्ति के प्रयोग को, आधारभूत सांविधानिक संतुलन को बनाए रखने के लिए, सीमित किया जाना है, जिससे कि संविधान विकृत और नष्ट न हो जाए। निर्वचन के नियम को मोड़े बिना ही (उसे तोड़ने का तो प्रश्न ही नहीं है), इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, यदि निर्वचन संविधान के अन्य उतने ही महत्वपूर्ण उपबंधों के प्रति जागरुक है। जनतंत्र और परिसंघवाद हमारे संविधान के आवश्यक तत्त्व हैं और उसके आधारभूत ढांचे के भाग हैं। अतः कोई भी निर्वचन, जो अनुच्छेद 356 का किया जाए, उनके ताने-बाने को परिरक्षित रखने में सहायक होना चाहिए, न कि उसका ध्वंस करने में। अनुच्छेद 356 के अधीन, विधितः राष्ट्रपति में निहित, किंतु वस्तुतः मंत्रिपरिषद् में निहित, शक्ति में संविधान के दोनों आधारभूत तत्त्वों को प्रभावहीन बनाने की क्षमता प्रच्छन्न रूप से मौजूद है और इसलिए उस सामग्री की संवीक्षा आवश्यक है, जिसके आधार पर सलाह दी जाती है और राष्ट्रपति अधिक सूक्ष्मता और सावधानी के साथ अपना समाधान करते हैं। स्वयं को ऊपर चर्चित न्यायिक पुनर्विलोकन के अभिस्वीकृत प्राचलों, अर्थात् अवैधता, अयुक्तियुक्तता और विद्वेष, तक सीमित रखते हुए, न्यायालयों द्वारा ऐसा किया जा सकता है। सामग्री की ऐसी संवीक्षा भी न्यायिक रूप से प्रकटनीय (ज्ञेय) और प्रबंधनीय मानकों के अधीन होगी। इस संबंध में परिसंघवाद और जनतंत्र के सिद्धांतों के प्रति निर्देश करना उचित होगा जो संविधान में सन्निहित हैं। संविधान के अनुच्छेद 1 में यह कहा गया है कि भारत राज्यों का संघ होगा। इस प्रकार राज्य सांविधानिक रूप से मान्य एकक (यूनिट) हैं, न कि मात्र सुविधाजनक प्रशासनिक खण्ड। संघ और राज्य, दोनों ही, संविधान के उपबंधों से उद्भूत हुए हैं। विद्वान् लेखक एच० एम० सीरवई ने अपनी टीका "कान्स्टीट्यूशनल ला आफ इण्डिया (भारत की सांविधानिक विधि), पृष्ठ 166, तृतीय संस्करण, में यह मत व्यक्त करके हमारे संविधान की परिसंघीय प्रकृति की संक्षिप्ति दी है कि संविधान में परिसंघीय सिद्धांत प्रमुख हैं और परिसंघवाद का सिद्धांत निम्नलिखित कारणों से अल्पप्रभाव नहीं (हुआ) है : (क) संविधान के परिसंघीय होने के लिए यह बात आपत्तिजनक नहीं है कि राज्य, परिसंघ के भाग होने से पूर्व, स्वतंत्र राज्य नहीं थे। एक परिसंघीय स्थिति मौजूद थी; सर्वप्रथम तब, जब ब्रिटिश संसद् ने भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिसंघीय समाधान अंगीकृत किया, और दूसरे, जब संविधान सभा ने संविधान में परिसंघीय समाधान अंगीकृत किया; (ख) संसद् की, राज्यों की सहमति (सम्मति) के बिना, उनकी सीमाओं में परिवर्तन करने की शक्ति परिसंघीय सिद्धांत का भाग है, किंतु वस्तुतः संसद् ने स्वयं अपनी ओर से राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन नहीं किया है। संविधान-बाह्य आन्दोलन द्वारा राज्यों ने संसद् को राज्यों की सीमाओं मे परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया है। अतः व्यवहार में, परिसंघीय सिद्धांत का उल्लंघन नहीं किया गया है; (ग) संसद् (अर्थात् परिसंघ) को विधायन (विधान) की अवशिष्टीय शक्ति का आवंटन, संविधान के परिसंघीय स्वरूप को अवधारित करने के लिए असंगत है। यद्यपि अमरीकी और आस्ट्रेलियाई संविधानों द्वारा अवशिष्टीय शक्तियां, परिसंघ को नहीं, बल्कि राज्यों को परिदत्त की गई हैं, तथापि उक्त संविधान असंदिग्ध रूप से परिसंघीय हैं; (घ) बाह्य संप्रभुता संविधान के परिसंघीय स्वरूप से संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी संप्रभुता संपूर्ण देश से संबंधित

होनी चाहिए। किंतु विधायी शक्तियों के वितरण, द्वारा आंतरिक संप्रभुता का विभाजन परिसंघवाद का आवश्यक तत्त्व है, और हमारे संविधान में वह तत्त्व मौजूद है। सीमित अपवादों के साथ, आस्ट्रेलियाई संविधान द्वारा राज्यों और राष्ट्रकुल (कामनवेल्थ) को अति-व्यापी विधायी शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, जब कि संविधान की अनुसूची 7 की सूची 2 द्वारा राज्यों को विधायन की अनन्य शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, और इस प्रकार तद्द्वारा हमारे संविधान के परिसंघीय स्वरूप पर बल दिया गया है, (ङ) युद्ध या बाह्य आक्रमण से, जो भारत की सुरक्षा को संकट प्रस्तुत करता है, उत्पन्न होने वाली आपात शक्ति के अनुच्छेद 352 में अधिनियमन द्वारा उस चीज को मात्र विधितः मान्यता प्रदान की गई है, जो युद्ध या युद्ध के आसन्न खतरे के समयों में संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे बड़े परिसंघीय देशों में वस्तुतः होती है, क्योंकि युद्ध में ये परिसंघीय देश इस प्रकार कार्य करते हैं मानो वे एकात्मक हों। हमारे संविधान में राज्यों को प्रदत्त अनन्य विधायी शक्तियों के होने से यह उपबंध करना युक्तिसंगत हो जाता है कि युद्ध या बाह्य आक्रमण द्वारा सर्जित आपात (स्थिति) के दौरान, संघ को अनन्यतः राज्यों को समनुदेशित विषयों पर विधान बनाने और समरूपी (तदनुरूप) कार्यपालिक कायवाही करने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। अतः, आपात-उपबंध परिसंघवाद के सिद्धांत को कम नहीं करते हैं, यद्यपि आपात को तब भी जारी रख कर, जब वह अवसर (कारण) जिसने उसे कारित किया, अस्तित्व में नहीं रह गया था, उक्त उपबंधों का दुरुपयोग परिसंघीय शासन के सिद्धांत को कम करता है। 44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 352 में किए गए संशोधनों ने, काफी सीमा तक, ऐसे दुरुपयोग की संभावनाओं (अवसरों) को कम कर दिया है और ऐसे खण्डों का विलोप करके, जिनके द्वारा राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा और उसके जारी रखे जाने को निश्चायक (अंतिम) बनाया गया था, 44वें संशोधन ने न्यायिक पुनर्विलोकन के अवसर का उपबंध किया है, जिसे, ऐसा निवेदन किया गया है, न्यायालयों द्वारा आसानी से अस्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए, जब सामान्य जानकारी (के विषय) के रूप में आपात स्थिति अस्तित्व में नहीं रह गई है। राष्ट्रपति के निश्चायक समाधान का यह विलोप न केवल युद्ध या बाह्य आक्रमण से उत्पन्न होने वाली आपात स्थिति की उद्घोषणा के दुरुपयोग द्वारा प्रेरित है, बल्कि प्रधानमन्त्री की वैयक्तिक स्थिति को संरक्षण प्रदान करने के लिए 1975 में जारी की गई आपात स्थिति की पूर्णतः अन्यायोचित उद्घोषणा द्वारा कहीं अधिक प्रेरित है, (च) मूलतः आन्तरिक अशान्ति के आधार पर, किंतु अब केवल सशस्त्र विद्रोह के आधार पर, आपात स्थिति की उद्घोषणा करने की शक्ति, परिसंघवाद के सिद्धांत को कम नहीं करती है क्योंकि ऐसी शक्ति असंदिग्ध रूप से परिसंघीय संविधानों में मौजूद रहती है। देब साधन राय बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य वाले मामले ने यह सिद्ध कर दिया है कि आन्तरिक हिंसा से सामान्यतः परिसंघीय सरकार की अपनी विधियों को लागू करने और आवश्यक कार्यपालिक कार्यवाही करने की शक्तियों में हस्तक्षेप होगा। परिणामतः, ऐसे हस्तक्षेप को संयुक्त राज्य अमरीका के संपूर्ण बल द्वारा दबाया जा सकता है और आस्ट्रेलिया में भी यही स्थिति है (छ) अनुच्छेद 355 के उपबंध, जिनके द्वारा संघ पर बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति के विरुद्ध राज्य का संरक्षण करने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है, परिसंघीय सिद्धांत से असंगत नहीं हैं। युद्ध-शक्ति सभी परिसंघीय सरकारों में संघ की होती है, और इसलिए बाह्य आक्रमण के विरुद्ध राज्य की प्रतिरक्षा किसी भी परिसंघीय सरकार में आवश्यक है। जहां तक आन्तरिक अशान्ति का संबंध है, ऊपरनिर्दिष्ट देब वाले मामले में

निष्कर्षित स्थिति से यह दर्शित होता है कि राज्य द्वारा आवेदन के अभाव से परिसंघीय सिद्धांत तात्त्विक रूप से प्रभावित नहीं होता है। ऐसा आवेदन संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया में अपना महत्त्व खो चुका है; (ज) चूंकि परिसंघीय सिद्धांत का यह मर्म है कि परिसंघीय और राज्य विधियां एक ही व्यष्टि पर प्रवर्तित (लागू) होती हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलना चाहिए कि विधिमान्य परिसंघीय विधि और विधिमान्य राज्य विधि के बीच मतभेद की दशा में, परिसंघीय विधि को अभिभावी रहना चाहिए और हमारे संविधान में, पूर्वोल्लिखित अपवाद सहित, जो वर्तमान विचार-विमर्श को प्रभावित नहीं करता है, अनुच्छेद 254 में ऐसा उपबंध किया गया है; (झ) ऊपर (ज) में जो कुछ कहा गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्यों में परिसंघीय विधियां अवश्य ही कार्यान्वित की जानी चाहिए और परिसंघीय कार्यपालिका को, उक्त विधियों के प्रवर्तन सहित, राज्य में परिसंघीय विधियों के अधीन समुचित कार्यपालिक कार्यवाही करने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। ऐसा प्रत्येक राज्य में समानान्तर परिसंघीय विधि प्रवर्तन तंत्र (मशीनरी) स्थापित करके किया जाता है या विद्यमान राज्य मशीनरी का उपयोग करके—यह ऐसा विषय है, जिसे व्यावहारिक समीचीनता की बात लागू होती है, जो परिसंघीय सिद्धांत को प्रभावित नहीं करती है। संयुक्त राज्य अमरीका में, परिसंघीय विधि की अवज्ञा को संयुक्त राज्य अमरीका के सशस्त्र बलों और राज्यों की नेशनल मिलीशिया के प्रयोग द्वारा दबाया जा सकता है। हमारे संविधान ने संघ सरकार को, संघ विधि को प्रभावी बनाने के लिए राज्यों को निदेश देने हेतु सशक्त करने और संघ विधि के कार्यकरण में बाधा (अवरोध) निवारित करने की पद्धति अंगीकृत की है। ऐसी शक्ति, यद्यपि वह भिन्न रूप में है, सारतः वैसी ही है, जैसी कि संयुक्त राज्य अमरीका में परिसंघीय सरकार की अपनी विधियां लागू करने की, और यदि आवश्यक हो, तो बल द्वारा लागू करने की शक्तियां। अतः राज्य सरकारों को निदेश देने की शक्ति से परिसंघीय सिद्धांत का उल्लंघन नहीं होता है; (ञ) अनुच्छेद 356 (अनुच्छेद 355 के साथ पठित), जिसमें सांविधानिक तंत्र की विफलता का उपबंध किया गया है, अनुच्छेद 4 पर आधारित था। अमरीकी संविधान की धारा 4 और अनुच्छेद 356 अनुच्छेद 4 के समान ही, परिसंघीय सिद्धांत से असंगत नहीं है। ये उपबंध अंतिम अवलंब के रूप में आशयित थे, किंतु उनका घोर दुरुपयोग किया गया है। और इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे परिसंघीय सरकार के रूप में संविधान के कार्यकरण को प्रभावित करते हैं। किंतु 44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 356 को अभी हाल ही में किए गए संशोधन और उसके पश्चात् किए जाने वाले इस निवेदन से कि राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत भारत में लागू नहीं होता है, यह दर्शित होता है कि अब न्यायालय, राजनीतिक प्रश्न के अमरीकी सिद्धांत द्वारा अबाधित रूप में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने की शक्ति के विद्वेषपूर्ण या अनुचित प्रयोग को निवारित करने में सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं; (ट) इस मत को कि राज्यों को महत्त्वपूर्ण विषय समनुदेशित किए गए, सूची II में राज्यों को समनुदेशित अति महत्त्वपूर्ण विषयों को देखते हुए, स्वीकार नहीं किया जा सकता है, और राज्यों की कराधान-शक्तियों को भी यही बात लागू होती है, जो संघ की कराधान शक्तियों की पारम्परिक रूप से अपवर्जक बनाई गई हैं, जिससे कि सामान्यतः राज्यों का स्वयं अपना स्वतंत्र राजस्व-स्रोत बना रहे। सूची II में करों से संबंधित विधायी प्रविष्टियों से यह दर्शित होता है कि राज्यों को उपलब्ध राजस्व-स्रोत उत्तरोत्तर और अधिक सारभूत हो जाएंगे। राज्यों की अनन्य कराधान शक्तियों के अतिरिक्त, राज्य,

संघ द्वारा संगृहीत समुचित करों के लिए या संघ द्वारा संगृहीत करों में अंश (शेयर) के लिए हकदार हो जाते हैं। (पैरा 103 और 104)

इस प्रकार उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह दर्शित होता है कि राज्यों का एक स्वतंत्र सांविधानिक अस्तित्व है और उन्हें, संघ के समान ही, लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। वे केन्द्र के न तो अनुगामी हैं और न अभिकर्ता ही। इस तथ्य से कि आपात स्थिति के दौरान और कतिपय अन्य परिस्थितियों में उनकी शक्तियों का केन्द्र द्वारा उल्लंघन और अतिक्रमण किया जाता है, हमारे संविधान का आवश्यक परिसंघीय स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में शक्ति का अतिक्रमण संविधान का सामान्य तत्त्व नहीं है। ये अपवाद हैं और उनका विशेष परिस्थितियों की अत्यावश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही यदा-कदा अवलंब लिया जाता है। अपवाद नियम नहीं होते हैं। (पैरा 106)

अतः अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) और (3) का सामंजस्यपरक नीति में निर्वचन करना आवश्यक है, क्योंकि खण्ड (3) के उपबन्ध, स्पष्टतः, खण्ड (1) के अधीन राष्ट्रपति की शक्तियों पर संसद् द्वारा (जिसमें संबंधित राज्यों से सदस्य भी होते हैं) नियन्त्रण के रूप में अभिप्रेत (आशयित) हैं। नियंत्रण उस स्थिति में निरर्थक और निष्प्रभाव हो जाएंगे, यदि राष्ट्रपति, उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के उपखण्ड (क), (ख) और (ग) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय, अनुत्क्रमणीय (न उलटने योग्य) कार्यवाहियां (कार्य) करता है। अनुच्छेद 174(2)(ख) के अधीन राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग करते हैं। अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना होगा कि किसी भी दशा में, राष्ट्रपति कम से कम तब तक विधान सभा को विघटित करने की राज्यपाल की शक्ति का प्रयोग करेगा, जब तक कि संसद् के दोनों सदन, उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के अधीन उनके द्वारा जारी की गई उद्घोषणा का अनुमोदन नहीं करते हैं। उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) के अधीन संसद् द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदन से पूर्व सभा का विघटन स्वतः अविधिमान्य होगा। तथापि, राष्ट्रपति को उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के उप-खण्ड (ग) के अधीन विधान-मण्डल को निलंबित करने की शक्ति प्राप्त होगी। अतः न्यायालय का निष्कर्ष, प्रथमतः, यह है कि राष्ट्रपति को अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के उप-खण्ड (क) के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करके, राज्य की विधानसभा को विघटित करने की शक्ति प्राप्त नहीं है, जब तक कि उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) के अधीन संसद् के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है। उन्हें उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के उपखण्ड (ग) के अधीन केवल विधान सभा को निलंबित करने की ही शक्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरे, न्यायालय उद्घोषणा को अविधिमान्य घोषित कर सकता है, चाहे संसद् द्वारा उसका अनुमोदन किया जाता है या नहीं। उद्घोषणा के अविधिमान्यकरण का आवश्यक परिणाम यथापूर्व स्थिति को बहाल करना होगा और इसलिए मंत्रिपरिषद् और विधान सभा को बहाल करना होगा, जैसी कि वे उद्घोषणा के जारी किए जाने की तारीख को थी। इस अन्तराल के दौरान बनाई गई विधियों सहित, की गई कार्यवाहियां न्यायालय द्वारा या संसद् द्वारा या राज्य विधानमण्डल द्वारा विधिमान्य की जा सकती हैं या (विधिमान्य) नहीं भी की जा सकती है। तथापि, यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यह कार्य न्यायालय का होगा कि वह स्थिति की अध्यपेक्षाओं को पूरा करने के लिए अनुतोष को समुचित रूप प्रदान करे। वह सभी मामलों में, विधान-

सभा और मंत्रिमण्डल की बहाली का अनुतोष मंजूर करने के लिए आबद्ध नहीं है। किसी विशेष मामले में अनुदत्त किए जाने वाले अनुतोष का प्रश्न न्यायालय की वैवेकिक अधिकारिता से संबंध रखता है। (पैरा 121 और 122)

इस संबंध में जो अगला महत्त्वपूर्ण प्रश्न उद्भूत होता है, वह यह है कि क्या न्यायालय का अंतरिम अनुतोष अनुदत्त करना न्यायोचित होगा और ऐसे अनुतोष का स्वरूप क्या होगा और वह किस प्रक्रम पर अनुदत्त किया जा सकेगा। अंतरिम अनुतोष की मंजूरी, उस सत्वरता सहित, विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करेगी, जिसके साथ न्यायालय में समावेदन किया जाता है और उसमें उद्घोषणा की अविधिमान्यता के संबंध में प्रथमदृष्ट्या साबित किया गया मामला और उद्घोषणा के अनुसरण में, किए जाने के लिए अनुध्यात उपाय, आदि भी सम्मिलित हैं। किन्तु, यदि अन्य शर्तों को पूरा कर दिया जाता है, तो उस स्थिति में न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोजन ही निरर्थक हो जाएगा, यदि अपेक्षित अन्तरिम अनुतोष अनुदत्त करने से इन्कार किया जाता है। वह न्यूनतम अनुतोष, जो इन परिस्थितियों में अनुदत्त किया जा सकता है, नई विधानसभा गठित करने के लिए नए सिरे से निर्वाचन के आयोजन को निर्बंधित करने वाला व्यादेश है। इस बात का कोई कारण नहीं है कि ऐसा अनुतोष अनुदत्त क्यों नहीं किया जाना चाहिए, यदि अन्तर्वलित लोक हित को ध्यान में रखते हुए, चुनौती की यथासंभव शीघ्र सुनवाई करने के लिए पूर्वाधानी बरती जाती है। चुनौती के निपटारे में विलम्ब की संभावना सांविधानिक अधिकार और सांविधानिक उपबंधों को निरर्थक बनाने का आधार नहीं हो सकती है। तथापि, यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि वह अनुवर्ती अनुतोष, जो ऐसी चुनौती पर अनुदत्त किया जा सकता है, सांविधानिक प्राधिकारी को अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से और अपने कृत्यों का निर्वहन करने से निवारित करना नहीं है। अतः उद्घोषणा के जारी किए जाने को निषिद्ध करना या उसके प्रवर्तन को निषिद्ध करना, पूर्णतः अननुज्ञेय होगा, जब तक कि उसकी विधिमान्यता पर अंतिम अधिनिर्णय नहीं सुना दिया जाता है। अतः आशंका कार्यवाही के सामान्य नियमों की, उद्घोषणा को चुनौती से संबंधित मामलों में कोई संगति नहीं है। अन्त में, न्यायालय का समुचित मामलों में न केवल नए सिरे से निर्वाचन आयोजन को निवारित करना न्यायोचित होगा बल्कि वह न्यायिक पुनर्विलोकन को सांविधानिक उपचार को प्रभावी बनाने के लिए और संविधान के निष्प्रभाव होने से निवारित करने के लिए उपयुक्त अंतरिम अनुतोष अनुदत्त करके ऐसा करने के लिए कर्तव्याबद्ध होगा। (पैरा 123)

संविधान के विभिन्न उपबन्ध, विवक्षा द्वारा, धार्मिक राज्य की स्थापना का प्रतिषेध करते हैं और राज्य को किसी विशेष धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थ के साथ स्वयं को जोड़ने या उसके प्रति पक्षपात करने से निवारित करते हैं। राज्य को सभी धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों और पंथों के साथ समान व्यवहार करने के लिए व्यादिष्ट किया गया है। धर्म-निरपेक्षता (पंथ-निरपेक्षता) से प्रायः धर्म से शून्य भौतिक विचारणाओं द्वारा मार्गदर्शित जीवन और आचरणपद्धति का बोध होता है। इस पद्धति का आधार यह है कि केवल भौतिक साधन ही मानवता को आगे बढ़ा सकते हैं और धार्मिक विश्वासों से मानवीय उन्नति में बाधा पड़ती है। इस विचारधारा का अभी हाल ही में विकास हुआ है और यह स्पष्ट है कि वह पश्चिम में धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य की उस संकल्पना से भिन्न है, जिसकी जड़ें

शताब्दियों पुरानी हैं। धर्म के संबंध में एक भिन्न मत, जीवन के प्रति "धर्म-निरपेक्ष (लौकिक) दृष्टिकोण" के अर्थ में समझी जाने वाली "धर्म-निरपेक्षता" का आधार है। सामान्य रूप से समाज या उसे गठित करने वाले व्यक्ति की धर्म को सामान्य जीवन के अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों से अधिकाधिक (उत्तरोत्तर) अलग करने की प्रवृत्ति होती है। हम में से अनेक, हिन्दू, मुसलमान और अन्य, अपनी जीवन-पद्धति और अधिकांश विषयों में, अधिकतर ऐसे विचारों और आचरण तथा व्यवहार द्वारा शासित होते हैं, जो हमारे धर्म से संबद्ध हैं या जिनकी जड़ें हमारे धर्म में हैं। धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण हमें इस दृष्टिकोण से अलग कर देता है, जिससे कि अपने साथियों के साथ अपने संबंधों में या अन्य सामाजिक समूहों के साथ व्यवहार में, हम धर्म और धार्मिक प्रथाओं (आचरण) का बहुत कम ध्यान रखते हैं और अपने जीवन और कार्यों को सांसारिक (लौकिक) विचारणाओं पर अधिक आधारित करते हैं और धर्म तथा उसके प्रभाव को उसके समुचित क्षेत्र, अर्थात् आध्यात्मिक जीवन की उन्नति और व्यक्ति के कल्याण, तक सीमित रखते हैं। इस प्रकार की धर्म-निरपेक्षता, मानवों और राष्ट्र के रूप में हमारी प्रगति के लिए आवश्यक है क्योंकि उससे हम जातिवाद, सम्प्रदायवाद और ऐसे ही अन्य विचारों से, जो हमारे विकास में बाधक हैं, उत्पन्न होने वाले संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण को दूर करने में समर्थ होते हैं। धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य की संकल्पना उस प्रकार की "धर्म-निरपेक्षता" (पंथ-निरपेक्षता) से बिल्कुल भिन्न है, जिसके प्रति न्यायालय ने निर्देश किया है। निस्सन्देह, दोनों संकल्पनाएं इस अर्थ में अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर) हैं कि व्यक्तियों के ऐसे समाज या समूह की कल्पना करना कठिन है, जिसे धर्म-निरपेक्ष राज्य की सहायता के बिना धर्म-निरपेक्ष दर्शन या धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके। धर्म-निरपेक्ष राज्य को परिभाषित करना सरल नहीं है। पश्चिम की उदार जनतांत्रिक परम्परा के अनुसार, धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य धर्म का विरोधी नहीं होता है, किन्तु वह धर्म के विषयों में स्वयं को तटस्थ रखता है। तत्पश्चात्, "पंथ-निरपेक्षता" की भारतीय संकल्पना के प्रति निर्देश करते हुए, विद्वान् विधिवेत्ता ने यह कहा—"जीवन की पंथ-निरपेक्ष पद्धति का आन्दोलन के नेताओं द्वारा बार-बार प्रचार किया गया, जिससे कि धार्मिक मामले पूर्णतः व्यक्तियों की अन्तरात्मा (अन्तःकरण) से संबंधित मामले माने गए। देश का विभाजन होने से धर्म-निरपेक्षता (पंथ-निरपेक्षता) के महत्त्व को अत्यधिक बल मिला। विभाजन के होते हुए भी, बड़ी संख्या में मुस्लिम अल्पसंख्यक, जो जनसंख्या का 1/10 भाग थे, स्वतन्त्र भारत के नागरिक बने रहे। नागरिकों के अन्य महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक समूह भी हैं। इन परिस्थितियों में, स्वतन्त्र भारत के लिए पंथ-निरपेक्ष संविधान अपरिहार्य हो गया, जिसके अधीन सभी धर्म समान स्वतन्त्रता का और सभी नागरिक समान अधिकार का, उपभोग कर सकें तथा जो विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक राष्ट्र के रूप में संयुक्त रख सके। तत्पश्चात्, विद्वान् विधिवेत्ता ने यह उपदर्शित किया कि हमारे संविधान में, निस्सन्देह, चर्च (धार्मिक सत्ता) और राज्य के बीच पूर्ण पृथक्करण का अभाव है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका में है और उसके साथ ही, हमारी कोई स्थापित चर्च (धार्मिक सत्ता) नहीं है, जैसा कि ब्रिटेन में या कुछ अन्य देशों में है। हमारे देश में, सभी धर्म समानता के आधार पर स्थित हैं और इसलिए यह प्रतीत होगा कि हमारे देश को धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य के रूप में वर्णित करना गलत होगा। उन्होंने डा० राधाकृष्णन् को उद्धृत किया, जिन्होंने यह कहा कि "भारतीय राज्य की धार्मिक निष्पक्षता से धर्म-निरपेक्षता (पंथ-निरपेक्षता) या अधार्मिकता का भ्रम नहीं होना चाहिए।

उन्होंने यह भी उपदर्शित किया कि संविधान सभा की कार्यवाहियों से यह दर्शित होता है कि संविधान में धर्मनिरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) शब्द जोड़ने के दो प्रयास असफल रह चुके हैं। इसके साथ ही, उन्होंने यह प्राख्यान किया—"तथापि, यह नहीं कहा जा सकता था कि भारतीय राज्य की धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य वाली कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं नहीं थी" और उन्होंने संविधान के कुछ उपबन्धों को उपदर्शित किया है, जिनके प्रति न्यायालय द्वारा पहले ही निर्देश किया जा चुका है। उसके पश्चात् उन्होंने यह कहा है कि ऐसे राज्य के अर्थ में, जो सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता है और उनके प्रति उदारता दर्शित करता है, धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य का आदर्श, एक रीति में, सही रूप से धर्म-निरपेक्ष (पंथ-निरपेक्ष) राज्य की तुलना में, जिससे उनका अभिप्राय ऐसे राज्य से था, जो धर्म और राज्य के बीच पूर्ण पृथक्करण सर्जित करता है, भारतीय परिवेश (पर्यावरण और जलवायु) के लिए अधिक उपयुक्त है। न्या० चिन्नप्पा रेड्डी ने, भारतीय संविधान और धर्म-निरपेक्षता (पंथ-निरपेक्षता) पर अम्बेडकर स्मारक व्याख्यान देते हुए, यह मत व्यक्त किया कि "....भारतीय सांविधानिक धर्म-निरपेक्षता धर्म का समर्थन बिल्कुल भी नहीं करती है किन्तु उसने व्यक्तिगत अन्तःकरण और गरिमा के प्रति सम्मान की भावना से धर्म के प्रति अनुज्ञेय दृष्टिकोण अपनाया है। धर्म को मानने और उसका आचरण करने आदि के अधिकार को मान्यता प्रदान करते हुए भी, उसने सभी लौकिक (पंथ-निरपेक्ष) कार्यकलापों को धर्म की और ऐसी प्रथाओं की परिधि से अपवर्जित किया है, जो लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के विरुद्ध है और मानव अधिकारों तथा गरिमा से, जो संविधान द्वारा गारण्टीकृत अन्य मूल अधिकारों में सन्निविष्ट हैं, असंगत हैं। हमारे संविधान के अधीन पंथ-निरपेक्षता पर उपर्युक्त विचार-विमर्श से एक बात मुख्यतः प्रकट होती है और वह यह है कि राज्य का विभिन्न धर्मों, धार्मिक सम्प्रदायों और पंथों के प्रति दृष्टिकोण कैसा भी क्यों न हो, धर्म को राज्य के किसी धर्म-निरपेक्ष (लौकिक) कार्यकलाप से मिश्रित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः लौकिक कार्यकलापों में धर्म का अतिक्रमण कठोरतापूर्वक (पूर्णतया) प्रतिषिद्ध किया गया है। यह बात संविधान के उपबन्धों से स्पष्ट है, जिनके प्रति न्यायालय द्वारा पहले ही निर्देश किया जा चुका है। राज्य की धर्म या धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना उसे धार्मिक या साम्प्रदायिक राज्य नहीं बना देती है। जब राज्य नागरिकों को अपने-अपने धर्म को मानने और उसका आचरण करने की अनुज्ञा देता है, तब वह, अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से, उन्हें राज्य के गैर-धार्मिक और लौकिक कार्यकलापों में धर्म (का पुट) जोड़ने की अनुज्ञा नहीं देता। धर्म की स्वतन्त्रता और सहिष्णुता केवल आध्यात्मिक जीवनयापन (पालन) को अनुज्ञात करने की सीमा तक है, जो लौकिक जीवन से भिन्न है। पश्चात्कथित, राज्य के कार्यों के अनन्य क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। यह बात लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 की उप-धारा (3) से भी स्पष्ट है, जो किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश जाति, समुदाय या भाषा के आधार पर किसी व्यक्ति के लिए मत देने या मत देने से विरत रहने की अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपील या धार्मिक प्रतीकों के उपयोग या उनकी दुहाई को प्रतिषिद्ध करती है। उक्त धारा की उप-धारा (3क) द्वारा, किसी अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उस अभ्यर्थी के निर्वाचन की संभाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए या किसी अभ्यर्थी के निर्वाचन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए शत्रुता या घृणा की भावना के, भारत के नागरिकों के विभिन्न वर्गों के बीच

धर्म, मूलवंश, जाति, समुदायों या भाषा के आधार पर, संप्रवर्तन या संप्रवर्तन के प्रयास को प्रतिषिद्ध किया गया है। उक्त उप-धारा (3) और (3क) के उपबन्धों का भंग उक्त धारा के अर्थान्तर्गत भ्रष्ट आचरण माना जाता है। विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि धारा 23(3) द्वारा जो चीज प्रतिषिद्ध की गई है, वह धर्म की दुहाई नहीं है बल्कि अभ्यर्थी के धर्म की दुहाई और उक्त धर्म के नाम पर मत मांगने की बात है। उनके मतानुसार, उसके द्वारा अभ्यर्थी को उस धर्म के नाम पर मत मांगने से प्रतिषिद्ध नहीं किया गया है, जिससे अभ्यर्थी संबंध नहीं रखता। ससम्मान, न्यायालय इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ है। धारा 123 की उपधारा (3) और (3क) को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों उपबन्धों द्वारा किसी धर्म की दुहाई या किसी धर्म के नाम पर मत मांगना प्रतिषिद्ध किया गया है। अन्यथा पढ़ने का अर्थ उक्त उपबन्धों के आशय और प्रयोजन को ध्वंस करना होगा। इसके अतिरिक्त, यह मान लेने पर भी कि विद्वान् काउंसेल द्वारा किया गया निर्वचन सही है, वह पंथ-निरपेक्षता की उस अन्तर्वस्तु को नियंत्रित नहीं कर सकता है, जो हमारे संविधान द्वारा स्वीकार की गई है और उसमें अन्तर्निहित है। राष्ट्रीय सहिष्णुता और सभी सामाजिक समूहों के साथ समान व्यवहार और उनके जीवन तथा सम्पत्ति का संरक्षण तथा उनके पूजा-स्थलों का संरक्षण हमारे संविधान में सन्निविष्ट धर्म-निरपेक्षता (पंथ-निरपेक्षता) का आवश्यक भाग है। हमने उक्त लक्ष्य न केवल इस कारण स्वीकार किया है कि यह न्यायालय की ऐतिहासिक विरासत है और राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की आवश्यकता है, बल्कि इसलिए भी कि वह विश्वबंधुत्व और मानवता का दर्शन है। यह न्यायालय का आधार-भूत विश्वास है। ऐसी कोई भी मान्यता और कार्यवाही, जो पूर्वोक्त मत (विश्वास) के विरुद्ध है, हमारे संविधान के उपबन्धों की अवज्ञा में किए जाने वाले आचरण का प्रथमदृष्ट्या सबूत है। अतः, यदि राष्ट्रपति ने इन राज्यों में मंत्रियों के पूर्वोक्त प्रमाणपत्रों (कार्यों) के आधार पर कार्य किया था, जिनके अदृष्ट और प्रपतनकारी परिणाम हुए, तो यह तर्क नहीं दिया जा सकता है कि यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई सामग्री नहीं थी कि इन राज्यों में सरकार (शासन) संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती थी। ऐसी मान्यताओं और कार्यों के, जो स्पष्टतः संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हैं, परिणामों को, जो कुछ इस समय हो रहा है, केवल उसके द्वारा ही नहीं मापा (आंका) जा सकता है। आगे होने वाली घटनाओं और उनके विविध परिणामों का, घटित होने वाली घटनाओं के आधार पर, सदा युक्तियुक्त पूर्वानुमान किया जा सकता है और यदि ऐसे पूर्वानुमान से यह निष्कर्ष निकाला गया था कि इन परिस्थितियों में, राज्यों का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था, तो उस निष्कर्ष को दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। अतः न्यायालय का यह मत है कि मंत्रियों सहित, तीनों राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था के उत्तरदायी भाग की पूर्वोक्त मान्यताओं और कार्यों के रूप में राष्ट्रपति के पास अपना यह समाधान करने के लिए पर्याप्त सामग्री थी कि उक्त तीनों राज्यों का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। अतः जारी की गई उद्घोषणा अविधिमान्य नहीं कही जा सकती है। अतः, न्यायालय के निष्कर्ष संक्षेप में, इस प्रकार हैं :—

1. अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना की विधिमान्यता, इस प्रश्न पर विचार करने की सीमा तक न्यायिक रूप से पुनर्विलोकनीय है कि क्या वह किसी सामग्री के आधार पर जारी की गई थी या क्या सामग्री सुसंगत थी या

क्या उद्घोषणा शक्ति के विद्वेषपूर्ण प्रयोग में जारी की गई थी। जब उद्घोषणा को चुनौती में प्रथमदृष्ट्या मामला साबित कर दिया जाता है, तब यह साबित करने का भार संघ सरकार पर होता है कि सुसंगत सामग्री वस्तुतः अस्तित्व में थी। ऐसी सामग्री राज्यपाल की रिपोर्ट हो सकती है या रिपोर्ट से भिन्न कोई चीज हो सकती है। 2. अनुच्छेद 74(2) उस सामग्री की संवीक्षा के विरुद्ध वर्जन नहीं है, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपना समाधान किया था। 3. जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करते हैं, तब वह उसके उपखण्ड (क), (ख) और (ग) के अधीन सभी या किसी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। यह विनिश्चय करना उनका काम है कि स्थिति की अत्यावश्यकताओं को देखते हुए, वह उक्त शक्तियों में किस शक्ति/किन शक्तियों का प्रयोग करेंगे और किस प्रकार। 4. चूंकि अनुच्छेद 356 के खंड (3) में अंतर्विष्ट उपबंध उसके खंड (1) के अधीन राष्ट्रपति की शक्तियों पर नियंत्रण होने के लिए (के रूप में) आशयित हैं, अतः राष्ट्रपति के लिए, जब तक संसद् के दोनों सदन उद्घोषणा का अनुमोदन न कर दें, अनिवार्य कार्यवाही करने के लिए, पश्चात्कथित खंड के उपखंड (क), (ख) और (ग) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करना अनुज्ञेय नहीं होगा। इसी कारण राष्ट्रपति का, कम से कम जब तक संसद् के दोनों सदन उद्घोषणा का अनुमोदन न कर दें, अनुच्छेद 356(1) के साथ पठित, अनुच्छेद, 174(2)(ख) के अधीन राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग करके, विधान सभा का विघटन करना न्यायोचित नहीं होगा। 5. यदि जारी की गई अधिसूचना अविधिमान्य मानी जाती है, तो इस तथ्य के होते हुए भी कि उसका संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिया गया है, न्यायालय का उद्घोषणा जारी किए जाने से पूर्व विद्यमान स्थिति को बहाल करने और इसलिए विधानसभा और मन्त्रिमंडल को बहाल करने का अधिकार प्राप्त होगा। 6. समुचित मामलों में, न्यायालय को, संपन्न कार्य से बचने और न्यायिक पुनर्विलोकन के उपचार को निरर्थक न होने देने के लिए, उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती के अंतिम निष्कारे के लंबित रहते, विधानसभा के लिए नए सिरे से निर्वाचनों के आयोजन को अंतरिम व्यादेश द्वारा, निर्बंधित (अवरुद्ध) कराने की शक्ति प्राप्त होगी। तथापि, न्यायालय उद्घोषणा के जारी किए जाने के कार्य या उद्घोषणा के अधीन किसी अन्य शक्ति के प्रयोग को निषिद्ध नहीं करेगा। 7. यथापूर्व स्थिति को बहाल करते हुए, न्यायालय को अनुतोष को समुचित रूप देने और उस तारीख तक राष्ट्रपति द्वारा की गई कार्यवाहियों को विधिमान्य घोषित करने का अधिकार होगा। संसद् और राज्य के विधान मंडल को भी राष्ट्रपति के उक्त कार्यों को विधिमान्य करने का अधिकार प्राप्त होगा। 8. पंथ-निरपेक्षता (धर्म-निरपेक्षता) संविधान के आधारभूत ढांचे का एक भाग है। किसी राज्य सरकार के ऐसे कार्यों के बारे में, जो हमारे संविधान में यथा सन्निविष्ट पंथ-निरपेक्षता को ध्वंस या नष्ट करने के लिए आशयित हैं, विधिपूर्ण रूप से यह माना जा सकता है कि वे ऐसी स्थिति को जन्म देंगे, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। (पैरा 156-163, 165 और 167)

भारत के संविधान में परिकल्पित संघीय रूप एक आधारिक लक्षण है, जिसमें भारत संघ संविधान के अनुच्छेद 1 में वर्णित क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर स्थायी और अखण्डनीय है। राज्य, संविधान और अनुच्छेद 2 से 4 के अधीन बनाई गई विधि से, जिसमें सीमा की अखण्डता का कोई बंधन नहीं है, सृष्ट है किन्तु यह एक स्थायी अस्तित्व है जिसकी सीमाएं संसद् द्वारा बनाई गई विधि से परिवर्तित की जा सकती हैं। न तो संविधान की अनुसूची 7

की सूची 1 और 2 की विधायी प्रविष्टियों का सापेक्ष महत्त्व है और न ही अपने आप में संघ का आर्थिक नियंत्रण इस निष्कर्ष का निश्चायक है कि संविधान एकात्मक है। इनकी अपनी-अपनी विधायी शक्तियां संविधान के अनुच्छेद 245 से 254 तक में दी गई हैं। राज्य के रूप में संविधान का स्वरूप संघीय है और यह विधायी और कार्यपालिक शक्ति का प्रयोग स्वतंत्र रूप से कर सकता है। तथापि, राज्य संविधान द्वारा सृष्ट होने के कारण अलग होने का अधिकार नहीं रखता और यह प्रभुसत्तासम्पन्न होने का दावा नहीं कर सकता। संघ के रूप में राज्य संघीयकल्प है। दोनों संस्थाएं समन्वयकारी हैं और इन्हें अपनी-अपनी शक्तियों का प्रयोग समायोजन, सूझबूझ और समझौते से लोगों को सामाजिक-आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय देने के लिए, पंथ-निरपेक्षता सहित, सांविधानिक उद्देश्यों को कायम रखने और बढ़ावा देने के लिए करना चाहिए। (पैरा 258)

संविधान की उद्देशिका संविधान का एक अविच्छिन्न भाग है। सरकार का जनतांत्रिक स्वरूप, संघीय स्वरूप, राष्ट्र की एकता और अखंडता, पंथनिरपेक्षता, समाजवादी, सामाजिक न्याय और न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान के आधारिक लक्षण हैं। राज्यपाल का पद, राज्य सरकार द्वारा संविधान के क्रियान्वयन को निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठ रूप में भारत के राष्ट्रपति को संसूचित करने के लिए उनसे महत्त्वपूर्ण रूप से संबंधित और जुड़ा हुआ है। वह निष्पक्ष रूप से कार्य करते हुए राज्य में संविधान के क्रियान्वयन की सांविधानिक प्रक्रिया की सुरक्षा और पुष्टि को सुनिश्चित करता है। कार्यपालिका का प्रधान होने के रूप में उसे ईमानदारी से अत्यधिक सांविधानिक उत्तरदायित्व के साथ, राष्ट्रपति को यह सूचित करना चाहिए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें सांविधानिक तंत्र असफल हो गया है और राज्य संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है। इसे आवश्यक वस्तुस्थिति के विवरण के साथ निष्पक्षता से प्रेषित किया जाना चाहिए। (पैरा 259-260)

भारत संघ राज्य सरकार की सुरक्षा करेगा और इसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 356 के अधीन यह आदेशित है कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाई जानी चाहिए। राज्यपाल से रिपोर्ट प्राप्त होने पर या अन्यथा राष्ट्रपति (मंत्रि-परिषद्) का यह समाधान होने पर कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें किसी राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा रही है, वह अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए सशक्त है और संविधान के अनुच्छेद 356(1) के खंड (क) से (ग) में अधिकथित रीति के अनुसार राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। (पैरा 261)

। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग एक असाधारण प्रयोग है। जब अनुच्छेद 356 में अनुध्यात स्थिति में सरकार के प्रजातांत्रिक स्वरूप को कायम रखने के लिए आवश्यक हो और राजनैतिक प्रक्रिया को अशक्त होने से बचाने के लिए आवश्यक हो, तभी इस शक्ति का प्रयोग अन्य साधन अपर्याप्त होने पर किया जाना चाहिए। संविधान के अतिक्रमण का कोई एक या विशिष्ट कार्य, चाहे वह अच्छा हो, बुरा हो या उदासीन प्रशासन के संबंध में हो, आवश्यक रूप से सांविधानिक तंत्र की असफलता का प्रमाण नहीं है या उसे इस प्रकार नहीं कहा जा सकता कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग

किसी भी स्थिति में केन्द्र सरकार में सत्तारूढ़ दल के लिए राजनैतिक उपलब्धि प्राप्त करने हेतु नहीं किया जाना चाहिए। इसका प्रयोग कम से कम और सावधानी से किया जाना चाहिए जिससे कि राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कार्य करे। (पैरा 262)

विधिसम्मत शासन का सामाजिक समायोजन और विरोधी सामाजिक समस्याओं के समाधान के तंत्र (उपकरण) के रूप में चयन किया गया है, जिससे अनेक धार्मिक विश्वासों (निष्ठा), पंथ, जाति या धर्म के मानने वाले समाज के विभिन्न वर्गों को, सामाजिक, धार्मिक, भाषायी, या क्षेत्रीय अवरोधों को पार करके, बन्धुत्व की भावना का विकास करते हुए, एक रखा जा सके। नागरिकता या तो जन्म से होती है या अधिवास के आधार पर, न कि किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र या भाषा के आधार पर। पंथनिरपेक्षता के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू हैं। संविधान लौकिक भागों के मध्य इन्हें किसी ऐसे व्यक्ति की मान्यता तक सीमित रखते हुए संतुलन कायम करता है जो एक विशिष्ट धार्मिक निष्ठा या विश्वास को मानता है और उसे इस पर आचरण करने, इसे मानने तथा अपने धर्म का प्रचार करने की अनुज्ञा, लोक व्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य के अध्यधीन रहते हुए, देता है। पंथनिरपेक्षता का सकारात्मक पक्ष राज्य को प्रदत्त किया गया है, जिसे वह विधि द्वारा या कार्यपालिक आदेश द्वारा विनियमित करता है। राज्य को, राज्य के धर्म के रूप में किसी विशिष्ट धर्म को संरक्षण देने से प्रतिषिद्ध किया गया है और इसे तटस्थता बरतने के लिए आदिष्ट किया गया है। राज्य अपने लोगों में पूर्ण निष्ठा और विश्वास का वातावरण बनाने के लिए, तथा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिए और उसे पंथनिरपेक्षता के आधार पर व्यक्तिगत श्रेष्ठता, प्रादेशिक विकास, उन्नति और राष्ट्रीय अखण्डता बनाए रखने हेतु एक विवेकी व्यक्ति बनाने के लिए सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास करता है। चूंकि किसी विशिष्ट धर्म के मानने वाले व्यक्तियों या लोगों के समूहों के लिए धर्म एक संवेदनशील (नाजुक) विषय होता है, जो अन्य धर्म या उसे मानने वाले लोगों के समूहों का विरोधी हो सकता है, अतः उससे अनिवार्य रूप से सामाजिक और धार्मिक तनाव उत्पन्न होता है। यदि धर्म को इन सब पर अभिभावी होने दिया जाए तो सामाजिक भेदभाव राष्ट्रीय विघटन की ओर बढ़ने के लिए बाध्य होगा। पंथ-निरपेक्षता संविधान के आधारभूत लक्षणों में से एक है। राजनैतिक दल, व्यक्तियों या व्यक्तियों के एक ऐसे समूह, जो राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए निर्वाचन प्रक्रिया को प्रभावित करना चाहते हैं, को संविधान और पंथ-निरपेक्षता, प्रभुत्वसंपन्नता तथा राष्ट्र की अखंडता सहित सभी विधियों को मानना चाहिए। उन्हें राजनीति के साथ धर्म को नहीं मिलाना चाहिए। धार्मिक सहिष्णुता और भाईचारा संविधान के आधारिक लक्षण और आधारतत्व हैं। ये राष्ट्रीय अखंडता और वर्गीय या धार्मिक एकता की स्कीम के रूप में हैं। राजनैतिक दलों द्वारा धर्म पर आधारित विकसित किए गए कार्यक्रम और सिद्धांत राजनैतिक शासन में धर्म को मान्यता देने के तुल्य हैं। इसे संविधान में व्यक्त रूप से प्रतिषिद्ध किया गया है। यह संविधान के आधारिक लक्षणों का अतिक्रमण है। सकारात्मक पंथ-निरपेक्षता ऐसी नीति (पालिसी) को नकारती है और इसके अनुसरण में किया गया कोई कार्य संविधान के आधारभूत लक्षणों के अतिक्रमण में होगा। राजनैतिक दल द्वारा किया गया ऐसा कोई कार्य या उस दल द्वारा उसके कार्यक्रम या नीति के अनुसरण में चलाई जा रही राज्य सरकार द्वारा किए गए कार्य, संविधान और विधि का भी अतिक्रमण करने वाले

होंगे। जब राष्ट्रपति राज्यपाल से रिपोर्ट प्राप्त करता है या अन्यथा यह सूचना पाता है कि उस राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा रही है तो राष्ट्रपति उस रिपोर्ट पर विचार करके विधि के अनुसार अपना समाधान करने का हकदार है। (पैरा 263)

किसी भी व्यक्ति को, जो राष्ट्रपति की उद्घोषणा को आक्षेपित करता है, प्रथमदृष्ट्या यह मामला सशक्त रूप से साबित करना चाहिए कि राष्ट्रपति की उद्घोषणा असंवैधानिक या अविधिमान्य है और विधि के अनुसार नहीं है। न्यायालय का यह समाधान हो जाने पर कि प्रथमदृष्ट्या सशक्त रूप से यह मामला साबित कर दिया है और यदि यह मामला उच्च न्यायालय में है, तो उसे भारत संघ से अभिलेख मंगाने के लिए एक प्रारंभिक जांच आदेश करने से पहले कारण अभिलिखित करना चाहिए। सरकार भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन तथा संविधान के अनुच्छेद 74(2) के अधीन विशेषाधिकार का दावा करने की हकदार है। इस मामले में आगे कोई कार्यवाही करने से पहले न्यायालय को इस अभिलेख पर बंद कमरे में विचार करना चाहिए। अनुच्छेद 74(2) न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए कोई बाधा नहीं है। यह केवल ऐसी परीक्षा करने पर प्रतिबंध लगाती है कि क्या कोई सलाह दी गई है और यदि दी गई है, तो मंत्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को क्या सलाह दी गई है। अनुच्छेद 74(2) में प्रकटीकरण से केवल यह एक सीमित सुरक्षात्मक कवच का उपबंध है। किंतु ऐसी सामग्री, जिसके आधार पर मंत्रिपरिषद् द्वारा सलाह दी गई थी, न्यायिक संवीक्षा के अध्यधीन है। (पैरा 264)

जब इस न्यायालय द्वारा प्रारम्भिक जांच आदेश जारी कर दिया जाता है, तो भारत संघ अनुच्छेद 142(2) के अधीन इस न्यायालय की सहायता करेगा और वह ऐसी सामग्री को पेश करेगा, जो अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही का आधार है। जैसा कि पहले अभिनिर्धारित किया जा चुका है, भारत संघ को सामग्री पेश करने के लिए कहने से पहले न्यायालय के पास मजबूत प्रथमदृष्ट्या मामला होना चाहिए और जब यह अभिलेख पेश कर दिया जाता है तो इस पर बंद कमरे में बिचार किया जाना चाहिए। न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का एक आधारिक लक्षण है। उच्चतम न्यायालय/उच्च न्यायालय सजग प्रहरी के रूप में न्यायिक पुनर्विलोकन करने के लिए सांविधानिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व के अधीन है। न्यायिक पुनर्विलोकन विनिश्चय के गुणागुण से सम्बद्ध नहीं है बल्कि यह उस रीति से संबंधित है, जिसके अनुसार विनिश्चय किया गया था। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग इस शक्ति का सांविधानिक प्रयोग है। किसी प्रशासनिक विनिश्चय के संबंध में न्यायालयों द्वारा लागू किए गए वस्तुपरक आधारों पर सामान्य व्यक्तिपरक समाधान के आधार, जो अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा या न्यायिककल्प या अधीनस्थ विधायन के अधीन प्रशासनिक निर्णयों को लागू किए जाते हैं, अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति के विनिश्चय को लागू नहीं होते। (पैरा 265-266)

न्यायिक पुनर्विलोकन, न्यायालय द्वारा विचार किए जाने वाले सामान्य मामलों से भिन्न रूप में माना जाना चाहिए। दोनों संकल्पनाएं समानार्थी नहीं हैं। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति एक संघटक शक्ति है और इसका निर्वचन की न्यायिक प्रक्रिया द्वारा अधित्यजन नहीं किया जा सकता। तथापि, राष्ट्रपति द्वारा किए गए विनिश्चय की न्याय्यता न्याया-

लय द्वारा शक्ति का एक ऐसा प्रयोग है जो स्व-अधिरोपित न्यायिक अवरोध (संयम) के अधीन है। हमारे संविधान का यह एक आधारभूत सिद्धांत है कि चाहे कोई कितने भी उच्च पद पर क्यों न हो, वह संविधान के अधीन दी गई शक्ति का एकमात्र निर्णायक होने का दावा नहीं कर सकता। इसके कर्त्तव्य संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों की सीमाओं के भीतर होते हैं। संविधान के निर्वचन के मामले में अंतिम निर्णायक के रूप में उच्चतम न्यायालय यह घोषित करता है कि विधि क्या है। उच्च न्यायपालिका को यह अवधारण करने के लिए एक संवेदनशील कार्य सौंपा गया है कि संविधान द्वारा सरकार की प्रत्येक शाखा को क्या शक्तियां दी गई हैं और क्या उस शाखा द्वारा किए गए कार्य ऐसी सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। यह उच्चतम न्यायालय/उच्च न्यायालय का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है कि वह विधि को अधिकथित करे। संविधान का अंतिम रूप से निर्वचन करने वाले के रूप में उच्चतम न्यायालय का यह एक सांविधानिक कर्त्तव्य है कि वह सांविधानिक सिद्धांतों को बनाए रखे तथा सांविधानिक प्रतिबंधों का प्रवर्तन करे। इसलिए न्यायिक पुनर्विलोकन का विस्तार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा की संवैधानिकता की परीक्षा करने तक है। यह एक संवेदनशील बात है, जो राजनैतिक व्यंजना से भारित है, इसे चतुराई और बहुत सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिए। अंतिम रूप से इस उद्घोषणा की विधिमान्यता का विनिश्चय करने के लिए कठोर नियमों या सिद्धांतों का कोई नियत समूह नहीं है कि राष्ट्रपति का समाधान कब न्याय्य और विधिमान्य होगा। (पैरा 267-268)

न्याय्यता कोई ऐसी विधिक संकल्पना नहीं है, जिसकी अंतर्वस्तु नियत हो और न ही इसका वैज्ञानिक सत्यापन किया जा सकता है। इसका प्रयोग अनेक दबावों और विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप होता है। सामान्य ज्ञान की सीमा की दृष्टि से न्याय्यता पर विचार किया जा सकता है। शुद्ध राजनैतिक प्रकृति के प्रश्नों को न्यायिक पुनर्विलोकन से दूर रखा जा सकता है, यद्यपि ऐसे शुद्ध विधिक प्रश्न, जो राजनैतिक प्रश्नों में छिपे रहते हैं, सदैव न्यायालय द्वारा विचारणीय होते हैं। किसी विशिष्ट संविवाद को विनिश्चित करने के लिए न्यायालय के पास न्यायिकत: नियंत्रणीय स्तरमान (माप-दण्ड) होने चाहिए। स्वयं संविधान की स्कीम द्वारा सृजित राजनैतिक समकक्ष कार्यपालिका को व्यापकतम रूप में प्रदत्त आत्मपरक समाधान के आधार पर न्याय्यता अनेक आधारों में से एक है, जिसका ध्यान न्यायिक पुनर्विलोकन करते समय रखा जाना चाहिए। यह एक प्रारम्भिक उपधारणा है कि राष्ट्रपति द्वारा कृत्यों का नियमित रूप से निर्वहन किया गया है। (पैरा 269)

अनुच्छेद 74(1) का परन्तुक इस बात पर बल देता है कि राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह पर राष्ट्रपति ने सक्रिय रूप से विचार करके अपना यह समाधान किया है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती। "अन्यथा" शब्द राष्ट्रपति के समाधान के विस्तार और परिधि को और विस्तृत करता है। कुछ मामलों में ऐसा समाधान विनिश्चय के लिए न्यायिकत: नियंत्रणीय स्तरमान से रहित होता है। उच्च स्तरीय सांविधानिक तंत्र द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की उपधारणा नहीं की जा सकती। किंतु इसे कठोरता के साथ साबित किया जाना चाहिए। यह भी नहीं उपधारित किया जा सकता कि राष्ट्रपति की उद्घोषणा हल्के ढंग से जारी की गई थी। वैवेकिक समाधान का प्रयोग विभिन्न, विविध और बहुवर्णी

परिस्थितियों पर निर्भर करता है। संविधान द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग देश की सर्वोच्च कार्यपालिका, यथा भारत के राष्ट्रपति, को मन्त्रिपरिषद् की सहायता और सलाह द्वारा, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है, सौंपा गया है। प्रधानमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद् संसद् के प्रति सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हैं और लोगों के प्रति जवाबदेह हैं। सर्वोच्च कार्यपालिका में यह विश्वास रखना ऐसी परिस्थिति है, जिसे यह न्यायनिर्णीत करते समय ध्यान में रखना चाहिए कि क्या राष्ट्रपति का समाधान विधि के अनुसार न होने से दूषित है। अनुच्छेद 361 के अधीन जवाबदेही के सांविधानिक प्रतिषेध के रहते हुए, राष्ट्रपति पर असद्भाव या व्यक्तिगत विद्वेष का आरोप अनुज्ञेय नहीं है किंतु यदि शक्ति के असद्भावपूर्ण प्रयोग का सबूत उपलब्ध है, तो अनुच्छेद 61 के अधीन संविधान में समुचित उपाय उपलब्ध होंगे। (पैरा 270)

राष्ट्रपतीय उद्घोषणा जो वैवेचिक शक्ति के प्रयोग में जारी की गई है, जारी करने के विनिश्चय की जांच, विधिक असद्भाव या अत्यधिक अयुक्तता के आधार पर की जा सकती है। इस प्रकार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा के लिए उनके समाधान की जांच केवल असंवैधानिकता के उन आधारों पर की जा सकती है, जिनके आधार पर उनका समाधान हुआ है, न कि ऐसे आधारों पर कि सामग्री पर्याप्त नहीं थी या वह अपर्याप्त थी। इसलिए न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रारम्भिक मानदण्ड अनुच्छेद 356 के अधीन अपवादात्मक और असाधारण शक्तियों के प्रयोग के संबंध में विहित नहीं किए जा सकते। आनुपातिकता का सिद्धांत अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग को लागू नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति के कृत्य के संबंध में अंतिम अपील मतदाताओं से है और न्यायिक स्वप्रतिबंध (आत्म-नियन्त्रण) की सहायता ली जाती है, और उस दशा में न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रभावकारिता में लोगों का विश्वास और बढ़ेगा और न्यायिक उपचार अर्थपूर्ण होगा। (पैरा 271)

अनुच्छेद 356 के अधीन जैसे ही उद्घोषणा जारी की जाती है, अनुच्छेद 356 के उपखंड (3) के अधीन राष्ट्रपति इसके जारी होने के दो महीने के भीतर, यदि इसे इस बीच वापस नहीं ले लिया जाता है, संसद् के दोनों सदनों से इसका अनुमोदन कराएगा। एक सुसंगत सांविधानिक परिपाटी यह स्थापित हो चुकी है कि उद्घोषणा जारी करने पर राष्ट्रपति राज्य की सरकार के कृत्यों को ग्रहण करने (अपने हाथ में लेने) के उपरांत राज्यपाल को राज्य की सरकार के सभी कार्यपालिक कार्यों का प्रयोग नियुक्त सलाहकारों की सहायता और सलाह से करने का निदेश देता है। वह यह घोषणा करता है कि राज्य के विधानमंडल की शक्ति संसद् द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोग की जाएगी और वह संविधान के किसी ऐसे उपबंध को पूर्ण रूप से या उसके किसी एक भाग को निलम्बित करके जो किसी व्यक्ति या राज्य के प्राधिकारी से संबंधित है, जिसमें राज्य विधानमंडल का विघटन और राज्य सरकार का हटाया जाना भी सम्मिलित है, आकस्मिक और पारिणामिक, ऐसे उपबंध कर सकता है, जो उद्घोषणा के उद्देश्य को प्रभावी करने के लिए आवश्यक होते हैं। संसद् अनुच्छेद 357 के अधीन विधायी शक्ति का प्रयोग करती है और इसके बदले में राष्ट्रपति को अनुसूची 7 की सूची 2 में सम्बद्ध प्रविष्टियों द्वारा प्रदत्त शक्तियां सौंपती हैं। राज्य का राज्यपाल सलाहकारों की सहायता और सलाह से राष्ट्रपति की ओर से कार्यपालिक कृत्यों को

करता है। इस परिपाटी ने विधि का रूप धारण कर लिया है। यह सुसंगत विधि बिना किसी सांविधानिक रिक्ति के प्रवर्तन में रही है। राष्ट्रपति की उद्घोषणा के प्रवर्तन पर रोक मंजूर करना सांविधानिक और प्रशासनिक रिक्ति और असंगति को जन्म देगा। संघ और राज्य दोनों एक साथ संविधान की अनुसूची 7 की सूची 2 में दी गई विधायी और कार्यपालिक शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकते, इसलिए संघ और राज्य द्वारा एक साथ दो प्रकार के कृत्यों का किया जाना प्रजातांत्रिक सिद्धांत और सांविधानिक स्कीम के लिए अभिशाप है इससे असंगति और असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होगी। (पैरा 272)

संविधान में राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के अधीन विघटित (विधान) सभा को पुनरुज्जीवित करने या राज्य की हटाई गई (बर्खास्त की गई) सरकार को पुनः सत्ता में लाने के लिए कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं है। संविधान के अधीन स्थापित जनतांत्रिक संस्थाओं के कार्यकरण पर संविधान का निर्वचन करने में; अन्तरालों (रिक्तियों) को भरना या विघटित (विधान) सभा को पुनरुज्जीवित करने और राज्य की बर्खास्त सरकार को पुनः सत्ता में लाने के लिए निदेश देना अनुज्ञेय नहीं है। इसी प्रकार, राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के प्रवर्तन पर रोक मंजूर नहीं की जा सकती, जब तक, संसद् के दोनों सदन राष्ट्रपतीय उदघोषणा का अनुमोदन कर देते हैं। राज्य की विधानसभा का, विघटन बिना, निलम्बन कृत्यकरण-सम्बन्धी असामंजस्य सर्जित करता है, जिसके परिणामस्वरूप सांविधानिक संकट उत्पन्न होता है। राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के अनुसरण में हुए, विधान सभा के लिए निर्वाचनों पर रोक की मंजूरी से भी सांविधानिक संकट उत्पन्न होता है। अतः न्यायालयों को ऐसे निदेश जारी नहीं करने चाहिए और, संविधान में संशोधन का काम, यदि आवश्यक हो, संसद् के लिए छोड़ देना चाहिए। (पैरा 273)

सदन के पटल पर शक्ति-परीक्षण ऐसी एक विचारणा हो सकती है, जिसे राज्यपाल ध्यान में रख सकते हैं। किन्तु यह बात कि उसका अवलंब लिया जाए या नहीं, उस समय की राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर करेगी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, "खरीद-फरोख्त" की संभावना को भी ध्यान में रखा जाना है। सदन के पटल पर शक्ति परीक्षण करने के लिए राज्यपाल द्वारा शक्ति के प्रयोग के लिए निश्चित नियम विरचित या अवधारित करना संभव नहीं है। राज्यपाल को, संविधान और सरकार की संसदीय पद्धति को ध्यान में रखते हुए, अपने उत्तम निर्णय के अनुसार स्थिति से निपटने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए। यद्यपि इस देश के दो विशिष्ट न्यायाधीशों की अध्यक्षता में बने सरकारिया आयोग और राजमन्नार आयोग ने सदन के पटल पर परीक्षण की सिफारिश की, तथापि उसका केवल यही अर्थ हो सकता था कि वह एक विचारणा है, जिस पर राज्यपाल को ध्यान देना चाहिए। यह कहना पर्याप्त होगा कि राज्यपाल को स्थिति से अवगत रहना चाहिए किंतु इस प्रश्न के बारे में निर्णय करने के लिए वह एकमात्र निर्णायक होंगे कि सदन के पटल पर परीक्षण का अवलम्ब लेने के लिए परिस्थितियां अनुरूप हैं या नहीं। (पैरा 274)

राष्ट्रपतीय उद्घोषणा जारी करने और मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश की विधान-सभाओं का विघटन करने में राष्ट्रपति द्वारा किया गया समाधान दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह संविधान की धर्म-निरपेक्ष बातों के उल्लंघन के तथ्य पर

आधारित था, जो, स्वयं, यह अभिनिर्धारित करने के लिए आधार है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें संबंधित राज्यों का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अतः (राष्ट्रपति का) समाधान अनुचित नहीं कहा जा सकता है। तदनुसार मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध संघ की अपील मंजूर की जाती है और उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त किया जाता है। मेघालय विधान सभा का विघटन, यद्यपि वह आक्षेपणीय था, पश्चात्वर्ती निर्वाचनों के कारण निरर्थक हो गया है, और अब मेघालय की नव-निर्वाचित विधानसभा और राज्य सरकार सुचारू रूप से कार्य कर रही हैं। अतः कोई निरर्थक रिट जारी नहीं किया जा सकता क्योंकि न्यायालय व्यर्थ कार्य नहीं करता है। (पैरा 275)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[1994] जे० टी० (1994) 1 एस० सी० 401 :
के० अशोक रेड्डी बनाम भारत सरकार और अन्य; 40

[1993] (1993) 4 एस० सी० सी० 119 :
आर० के जैन बनाम भारत संघ; 215

[1993] जे० टी० (1993) 5 एस० सी० 469 :
सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट आन रिकार्ड ऐसोसिएशन और अन्य बनाम भारत संघ; 243

[1993] जे० टी० 1993 (सप्ली०) एस० सी० 100=[1993] 2 स्केल 170 (पृष्ठ 172)
श्री मल्लापुडी वेंकटकृष्ण राव बनाम श्री देड्ला सूर्यनारायण; 206

[1993] (1993) पी० एल० डी० एस० सी० 473 :
मियां मुहम्मद नवाज शरीफ बनाम पाकिस्तान के राष्ट्रपति और अन्य; 119

[1993] [1993] 1 उम० नि० प० 1=जे० टी० 1992 (6) एस० सी० 655 :
इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ; 345

[1992] जे० टी० [1992] 1 एस० सी० 600=1992 (सप्ली०) एस० सी० 651 :
किहोटो होलोहन बनाम जे चिल्लू और अन्य; 48 और 101

[1992] जे० टी० [1992] 4 एस० सी० 1=1992 (4) एस० सी० सी० 506 :
सरोजिनी रामस्वामी (श्रीमती) बनाम भारत संघ और अन्य; 50

[1992] (1992) पी० एल० डी० एस० सी० 646 : (पृष्ठ 664)
अहमद तारिक रहीम बनाम पाकिस्तान परिसंघ; 84

[1992] (1992) पी० एल० डी० एस० सी० 646 :
ख्वाजा अहमद तारिक रहीम बनाम (फैडरेशन आफ पाकिस्तान) पाकिस्तान परिसंघ; 371

[1990] (1990) ए० आई० आर० कर्नाटक 5 :
एस० आर० बोम्बई और अन्य बनाम भारत संघ; 170

[1989] (1989) पी० एल० डी० एस० सी० 166 :
फैडरेशन आफ पाकिस्तान (पाकिस्तान परिसंघ) बनाम मोहम्मद सैफुल्ला खान; 368

[1988] जे० टी० (1988) 3 एस० सी० 191=(1988) सप्ली० 3 एस० सी० आर० 1103 :
केहर सिंह और अन्य बनाम भारत संघ; 79 और 341

[1988] (1988) अपील केसेज 533 : (पृष्ठ 583)
लौच बनाम डिप्टी गवर्नर आफ पार्कहर्स्ट प्रिजन; 67

[1988] (1988) पी० एल० डी० (लाहौर) 725 :
मुहम्मद शरीफ बनाम फैडरेशन आफ पाकिस्तान; 69

[1987] (1987) (क्यू० बी०) 815 (पृष्ठ 842) :
सम्राट् बनाम पैनल आन टेक-ओवर्स एण्ड मर्जर्स एक्स पी गिनीज पी० एल० सी०; 64

[1986] (1986) अपील केसेज 484 : (पृष्ठ 518)
पुह्लोफर और अन्य बनाम हिलिंगटन लंदन बारो काउंसिल; 41 और 66

[1985] (1985) सप्ली० (1) एस० सी० आर० 493 :
लक्ष्मीचरण सेन बनाम ए० के० एम० हसनउज्जमां; 256

[1985] (1985) 2 एस० सी० आर० 159 :
एस० हरचरण सिंह बनाम एस० सज्जन सिंह; 206

[1985] (1985) सप्ली० 2 एस० सी० आर० 131 :
भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल; 102

[1985] (1985) अपील केसेज 374 : (पृष्ठ 408) :
काउंसिल आफ सिविल सर्विस यूनियन्स बनाम मिनिस्टर फार सिविल सर्विस; 63 और 65

[1985] (1985) क्यू० बी० 657 :
आर० बनाम एच० एम० ट्रेजरी एक्स० पी० स्मेल्डे; 96

[1983] (1983) 1 एस० सी० आर० 729 :
एस० पी० मित्तल बनाम भारत संघ; 316

[1982] (1982) 2 एस० सी० आर० 272 : (पृष्ठ 297)
ए० के० राय बनाम भारत संघ; 100

[1982] (1982) 3 आल इंग्लैंड रिपोर्ट 141 :
चीफ कांस्टेबल आफ दि नार्थ वेल्स पुलिस बनाम ईवान्स; 63

[1981] (1981) 1 एस० सी० आर० 1196 :
माक राम आदि बनाम भारत संघ और एक अन्य; 79

[1981] (1981) टाइम्स, 26 अक्तूबर, डी० सी० :
आर० बनाम क्राउन कोर्ट एट कार्लिसले, एक्स पी० मार्कस मूर; 64

[1978] (1978) 2 एस० सी० आर० 1 :
स्लगीयरनट बनाम भारत संघ; 180

[1977] [1977] 4 उम० नि० प० 1107=ए० आई० आर० 1977 20,47,
एस० सी० 1361=(1978) 1 एस० सी० आर० 1 : 48, 52, 78
राजस्थान राज्य और अन्य बनाम भारत संघ; और 210

[1977] ए० आई० आर० (1977) मद्रास 192 :
एम० करुणानिधि बनाम भारत संघ; 22

[1976] [1976] 1 उम० नि० प० 1=(1976) 2 एस० सी०
आर० 347 :
इन्दिरा गांधी बनाम राजनारायण; 198

[1975] (1975) 2 एस० सी० आर० 93 :
एम० ए० राशिद और अन्य बनाम केरल राज्य; 77

[1975] (1975) 1 एस० सी० आर० 814 : 92, 188 और
शमशेर सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य; 295

[1975] (1975) 3 एस० सी० आर० 333 : (पृष्ठ 360)
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनारायण; 93

[1975] [1975] 3 उम० नि० प० 1455=(1975) सप्ली० एस०
सी० आर० 281 :
जियाउद्दीन बुरहामुद्दीन बुखारी बनाम ब्रजमोहन रामदास मेहरा
और अन्य; 194 और 208

[1973] [1973] 2 उम० नि० प० 159=(1973) सप्ली० एस०सी०
आर० 1 :
केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य; 198 और 294

[1973] (1973) 37 एल० एण्ड सेकेण्ड 407 : (पृष्ठ 416) :
गिलेगन बनाम मोरगन ; 213

[1972] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1924 :
देव साधन राय बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य; 104

[1972] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1061 (पृष्ठ 1067) = [1972] 2 एस० सी० आर० 33 :
भारत संघ बनाम एच० एस० ढिल्लों; 18

[1971] (1971) 3 एस० सी० आर० 483 :
भारत संघ बनाम ज्योति प्रकाश मित्तर; 102

[1970] (1970) ए० सी० 379 :
स्टीफन कैलांग सिंगकन बनाम मलेशिया सरकार ; 353

[1966] (1966) सप्ली० एस० सी० आर० 311 :
बेरियम केमिकल्स लिमिटेड और अन्य बनाम कंपनी ला बोर्ड और अन्य; 34, 47, 76 और 292

[1964] (1964) 1 एस० सी० आर० 371 : (पृष्ठ 397)
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम भारत संघ; 17, 180, 188 और 290

[1964] (1964) पी० एल० डी० एस० सी० 673 :
अबुल अला मौदूदी बनाम पश्चिमी पाकिस्तान सरकार; 368

[1963] (1963) 1 एस० सी० आर० 491 : (पृष्ठ 540)
आटोमोबाइल ट्रान्सपोर्ट (राजस्थान) लि० बनाम राजस्थान राज्य और अन्य; 288

[1962] (1962) (27) एल० एड सेकेण्ड 663 : (पृष्ठ 686)
बेकर बनाम कार; 213

[1960] (1960) एस० सी० आर० 953 : (पृष्ठ 959)
शुभनाथ देवग्राम बनाम रामनारायण प्रसाद; 206

[1960] (1960) 3 एस० सी० आर० 250 :
दि बेरूबासी यूनियन एण्ड एक्सचेंज आफ एन्क्लेव रेफरेंस अण्डर आर्टिकल 143 ऑफ दि कांस्टीट्यूशन आफ इण्डिया वाला मामला; 180

[1959] (1959) एस० सी० आर० 1211 : (पृष्ठ 1217-1218)
एस० हीरभद्रन् चेट्टियार बनाम ई० वी० रामस्वामी नायकर और अन्य; 205

[1955] (1955) एस० सी० 549 :
राम जवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य; 324

[1954] (1954) एस० सी० आर० 1005 :
मद्रास आयुक्त बनाम श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियर; 198

[1954] (1954) एस० सी० आर० 1035 :
रतिलाल पन्ना चंद गांधी बनाम मुंबई राज्य; 198

[1952] (1952) एस० सी० आर० 218 :
एन० पी० पोन्नूस्वामी बनाम रिटर्निंग आफिसर, नामक्कल - संसदीय क्षेत्र; 256

[1931] ए० आई० आर० 1931 पी० सी० 111 :
भगत सिंह बनाम सम्राट्; 347

[1904] (1904) 1 सी० एल० आर० 329 (पृष्ठ 358-359)
स्टेट आफ तस्मानिया बनाम कामनवेल्थ आफ आस्ट्रेलिया एंड स्टेट आफ विक्टोरिया; 250

341 यू० एस० 494 :
डेनिस बनाम यूनाइटेड स्टेट्स; 253

151 कामन वेल्थ ला रिपोर्ट्स 170 :
क्वीन बनाम टूही-एक्स पार्टी नार्दर्न लैंड काउन्सिल। 390

सिविल अपीली अधिकारिता : 1989 की सिविल अपील सं० 3645, जिसके साथ टी० सी० (सी०) सं० 5, 7, 8/93, सी० ए० संख्या 193/89, 194/89, 1692, 1692ए, 1692-सी/93, 4627= 30/93 और सी० ए० सं० 1692/93 में आई० ए० सं० 4 की भी सुनवाई की गई।

न्यायालय का निर्णय न्या० एस० रत्नवेल पाण्डियन ने दिया।

न्या० एस० रत्नवेल पांडियन—मुझे अपने विद्वान् बन्धुओं के विद्वत्तापूर्ण निर्णयों का परिशीलन करने का लाभ प्राप्त हुआ है, जिनमें निःशेषकारी और गहन विश्लेषण किया गया है, संविधान-तंत्र का मूल्यांकन किया गया है और केन्द्र-राज्य संबंधों पर भारतीय संविधान के निर्माताओं द्वारा यथापरिकल्पित सांविधानिक आदेशों (अनिवार्यताओं) के संपूर्ण क्षेत्र का मंथन किया गया है तथा राष्ट्रपति शासन आमंत्रित करने वाली, (का कारण बनने वाली) राज्य के राज्यपालों की विवादग्रस्त भूमिका और उस रीति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, जिसके द्वारा संघ मंत्रिमंडल और संसद् ने अनुच्छेद 74(2), 163, 355, 356, 357 और अन्य सहबद्ध सांविधानिक उपबंधों के प्रति निर्देश से, इस संबंध में अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन किया।

2. मैं न्या० पी० बी० सावंत की राय से, उनके निष्कर्ष सं० 1, 2 और 4 से 8 पर सहमति व्यक्त करता हूं, जिससे न्या० बी० पी० जीवनरेड्डी ने (जिन्होंने अपनी ओर से और न्या० एस० सी० अग्रवाल की ओर से निर्णय सुनाया) अपने निर्णय में सहमति व्यक्त की है किंतु जहां तक तर्क और निष्कर्षों का संबंध है, मैं पूर्णतः न्या० बी० पी० जीवनरेड्डी

के निर्णय से सहमति व्यक्त करता हूं। तथापि, मैं संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणाएं जारी करने की राष्ट्रपति की शक्तियों के संबंध में सारभूत महत्त्व के सांविधानिक प्रश्न पर अपनी संक्षिप्त राय व्यक्त करना चाहता हूं।

3. भारतीय संविधान विधिक और सामाजिक, दोनों ही प्रकार का, दस्तावेज है। उसमें देश के शासन के तंत्र का उपबंध किया गया है। उसमें राष्ट्र द्वारा प्रत्याशित आदर्श भी अंतर्विष्ट हैं। संविधान द्वारा सर्जित राजनीतिक तंत्र इस आदर्श को प्राप्त करने का एक साधन है।

4. यह प्रश्न कि हम सांविधानिक आदर्शों को प्राप्त करने में किस सीमा तक सफल हुए हैं, व्यापक दृश्यपटल वाला प्रश्न है, जिस पर विस्तृत रूप से बहस (विचार) किए जाने की आवश्यकता है। इस मामले में अंतर्वलित प्रश्न पर वापस आने पर हम यह पाते हैं कि संविधान निर्माता केन्द्र-राज्य संबंध के विषय पर संविधान का प्रारूपण तैयार करने के कठिन कार्य को करने के उद्देश्य से परस्पर मिले और कई मास तक उसमें व्यस्त रहे, जिससे तत्संबंधित सभी समस्याओं का समाधान हो जाए, और वे ऐसी पद्धति तैयार करने के लिए अग्रसर हुए, जो काफी लम्बे समय तक चलती रहे। बहस और विचार-विमर्श के दौरान हर बिन्दु पर जो विवाद्यक सामने आता प्रतीत हुआ, वह था केन्द्रीय अधिकार बनाम राज्य अधिकार का विवाद्यक। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ सदस्यों ने, उस राजनैतिक विचार-धारा से प्रभावित और प्रेरित हो कर, जिससे वे जुड़े हुए थे, प्रत्येक विवाद्यक पर परस्पर-विरोधी मत और विभिन्न तर्क तथा भावनाएं व्यक्त कीं। संविधान-सभा के समक्ष दो मेरुदंडस्वरूप (मुख्य) विवाद्यक ये थे—(1) राज्यों से कौन-सी शक्तियां ले ली जानी थीं; और (2) राज्य की शक्ति को पूर्णतः समाप्त किए बिना, राष्ट्रीय सर्वोच्च सरकार किस प्रकार गठित की जा सकती थी। उन लोगों ने, जिन्होंने सशक्त केन्द्रीय सरकार बनाए जाने का पक्ष लिया, इस बात पर बल दिया कि उक्त सरकार को सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होनी चाहिए, जबकि राज्यों के अधिकारों का समर्थन करने वाले अन्य लोगों ने उक्त मत का विरोध किया। दोनों पक्षों ने अपने-अपने व्यपदेशन करते हुए काफी दाव-पेच चलाए किंतु अंत में यह महसूस करते हुए कि ऐसा करने से तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा, वे एक समझौते पर पहुंचे, जिसने मुख्य विवाद्यक पर गतिरोध को दूर किया और परिणामतः सरकार का वर्तमान रूप अस्तित्व में आया, जो संरचना में एकात्मक सरकार के बजाय परिसंघीय अधिक है।

5. यह एक अखण्डनीय (अकाट्य) तथ्य है कि भारत का संविधान भारत के लोगों द्वारा स्वयं अपने शासन के लिए आविष्ट और स्थापित किया गया, न कि वैयक्तिक (अलग-अलग) राज्यों के लिए। परिणामतः संविधान प्रत्यक्षतः लोगों से प्राप्त (संप्रेषित) शक्ति के माध्यम से लोगों के संबंध में कार्य करता है।

6. केन्द्र-राज्य संबंध के विषय में विभिन्न प्रतिवेदन (रिपोर्टें) हैं, जिनमें, संवैधानिक संकट सर्जित करने वाले मतभेदों का सामने किए बिना, दोनों सरकारों के सुचारु संबंध की कतिपय सिफारिशें दी गई हैं। वे रिपोर्टें जिनमें ये सिफारिशें, सुझाई गई हैं, ये हैं—(1) प्रशासनिक सुधार आयोग, 1969 द्वारा दी गई रिपोर्ट; और (2) राजमन्नार समिति 1969 द्वारा दी गई रिपोर्ट; और (3) सरकारिया आयोग, 1987 द्वारा दी गई रिपोर्ट।

7. केन्द्र-राज्य संबंधों से संबंधित प्रश्न की इस स्थिति में, लोकसभा सचिवालय द्वारा जारी किए गए प्रकाशन से अनुच्छेद 356(1) के उपयोग की बारम्बारता उपदर्शित होती है, जिसमें जनतंत्र के गत 41 वर्षों के दौरान अर्थात् वर्ष 1991 तक संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन और संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963 की धारा 51 के अधीन की गई राष्ट्रपति की उद्घोषणाओं से संबंधित महत्त्वपूर्ण विवरण विश्लेषणात्मक तालिका रूप में दिए गए हैं। सारणीबद्ध रूप (परिशिष्ट IV) में दी गई संक्षिप्त तालिका से यह प्रतीत होता है कि 82 अवसरों पर अनुच्छेद 356(1) का अवलंब लेकर राज्यों में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किया गया और 13 अवसरों पर पूर्व संघ राज्य क्षेत्रों सहित, जो संघ राज्यक्षेत्र शासन अधिनियम, 1963 की धारा 51 के अधीन राज्य हो गए हैं, संघ राज्यक्षेत्रों में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किया गया है। इन सब का योग 95 बनता है, जिनमें से 23 अवसरों पर मुख्यमंत्री की सलाह पर/या उनके द्वारा त्यागपत्र दे दिए जाने के कारण विधान सभाओं का विघटन कर दिया गया। यहां यह स्मरण करना उचित होगा कि 18 अवसरों पर निलम्बित विधानसभाएं बाद में पुनरुज्जीवित कर दी गईं। पूर्वोक्त गणना में वे उद्घोषणाएं सम्मिलित नहीं हैं, जिन्हें इस समय हमारे समक्ष चुनौती दी गई है। इस स्थल पर हम यह भी बता देना उचित समझते हैं कि विभिन्न अवसरों पर उद्घोषणाएं विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं (चिन्तन) वाली केन्द्रीय सरकार के मंत्रिमंडल की सलाह पर की गई थीं। विघटित विधानसभाओं में से कुछ विधानसभाओं ने वीरतापूर्वक (केन्द्रीय सरकार से) कानूनी लड़ाई लड़ी, सम्मानपूर्वक प्रहारों का सामना किया और वे करुणाजनक रूप में कानूनी लड़ाई हार गईं।

8. चूंकि मेरे विद्वान् बंधुओं ने उद्घोषणा के विवाद्यक से संबंधित सांविधानिक उपबंधों पर व्यापक रूप से विचार किया है और चूंकि मैं न्या० बी० पी० जीवनरेड्डी द्वारा दिए गए तर्क से सहमत हूं, अतः मेरे लिए इस विषय पर आगे विचार करना आवश्यक नहीं है, सिवाय यह कहने कि मेरा यह दृढ़ मत है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का बहुत ही कोताही से और केवल तभी प्रयोग किया जाना चाहिए जब राष्ट्रपति का पूर्णतः यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अन्यथा, इस शक्ति के बार-बार प्रयोग से सांविधानिक संतुलन बिगड़ने की संभावना है। इसके अतिरिक्त, यदि उद्घोषणा स्वच्छन्द रूप से (बार-बार) की जाती है, तो प्रत्येक राज्य का मुख्यमंत्री, जिसे अपने सांविधानिक कृत्यों का निर्वहन करना होता है, सदा अपने ऊपर उद्घोषणा की कुल्हाड़ी के गिरने के सतत भय से त्रस्त रहेगा, क्योंकि वह इस संबंध में निश्चित नहीं होगा कि वह सत्ता में रहेगा या नहीं, और परिणामतः उसे अपनी सांविधानिक बाध्यताओं का समुचित रूप से उन्मोचन किए बिना और राज्य के हित में वांछित लक्ष्य प्राप्त किए बिना, हर बार स्थिति का सामना करने के लिए अपने स्थान से उठना होगा।

9. सभी विषयों का तदनुसार निपटारा किया जा रहा है। खर्चों के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।

न्या० अहमदी—

10. मुझे अपने सम्मानित साथियों, न्या० पी, बी० सावंत, के० रामस्वामी और बी० पी० जीवन रेड्डी द्वारा व्यक्त मतों का परिशीलन करने का लाभ प्राप्त हुआ है और मैं न्या० के० रामस्वामी द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों से अधिकांशतः सहमत हूं तथापि मैं अपनी सहमति के क्षेत्र को संक्षिप्त रूप में उपदर्शित करना चाहूंगा।

11. ऐसे देश में, जो भौगोलिक रूप से अत्यन्त विस्तृत है और जिसमें विभिन्न संप्रदायों, जातियों और पंथों के 85 करोड़ से भी अधिक लोग रहते हैं, जिनमें से अधिकांश लोग विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के अधीन और घोर निर्धनता में ग्रामों में रहते हैं और संगठित और असंगठित सेक्टरों (क्षेत्रों) के बीच सतत संघर्ष (रस्साकशी/प्रतियोगिता) चलता रहता है, यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि प्रायः समस्याएं सामने आती रहती हैं, जो देश की एकता और अखण्डता बनाए रखने के लिए राज्य द्वारा सशक्त, और अनेक बार कठोर, कार्यवाही की अपेक्षा करती हैं। वर्ग-संघर्ष, सांप्रदायिक अ-सहिष्णुता और सामाजिक-आर्थिक असंतुलन के कारण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली इन समस्याओं के होते हुए भी, यह तथ्य है कि भारत में युक्तियुक्त रूप से स्थिर जनतंत्र है। एक के बाद एक, इन चुनौतियों का सामना करने की हमारे जनतंत्र की लचनशीलता (ऊर्जा) ने हमारे संविधान की उद्देशिका में सन्निविष्ट समाज-वाद, सर्वसंप्रदाय-समभाव (पंथ-निरपेक्षता) और जनतंत्र के राजनैतिक दर्शन में लोगों के विश्वास (निष्ठा) को साबित कर दिया है। तथापि यह तथ्य (शेष रहता) है कि राष्ट्र को कट्टरवादिता, सांप्रदायिक और वर्ग संघर्ष, राजनैतिक-धार्मिक संक्षोभ (उथल-पुथल), हड़तालों, बन्धों और ऐसी ही अन्य बातों के कारण; जो देश के एक न एक कोने में घटित होती रहती हैं और जो अनेक बार अशोभनीय रूप धारण कर लेती हैं, होने वाली उथल-पुथल का समय-समय पर सामना करना पड़ता है। हमारा देश संकटग्रस्त देश है, और संकट की स्थिति बाह्य और आंतरिक, दोनों ही प्रकार की, शक्तियों द्वारा पैदा की जाती है, जिससे कि राज्य के लिए देश की सुरक्षा, एकता और अखण्डता को परिरक्षित (बनाए) रखने के लिए कठोर कार्यवाही करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी असाधारण रूप से कठिन स्थिति से निपटने के लिए, आपात शक्तियों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। ऐसी आपात शक्तियां भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन मौजूद थीं (देखें उक्त अधिनियमिति की धारा 93 और 45)। तथापि, जब संविधान द्वारा भारत के राष्ट्रपति को ऐसी शक्तियां प्रदत्त किए जाने की ईप्सा की गई, तब संविधान-सभा के अनेक सदस्यों की ओर से उसका प्रबल विरोध किया गया [देखें अनुच्छेद 277 और 277-क पर संविधान-सभा की डिबेट (विचार-विमर्श)]। डा० अम्बेडकर ने सदस्यों को यह कहते हुए शांत किया :—

> "वास्तव में, मैं इस आशय की व्यक्त भावनाओं से सहमति व्यक्त करता हूं कि वह उचित बात, जिसकी हमें आशा करना चाहिए, यह है कि ऐसे अनुच्छेदों को कभी भी प्रवर्तन में नहीं लाया जाएगा और वे निष्प्रभाव (अप्रचलित) रहेंगे। यदि उन्हें प्रवर्तन में लाया भी जाता है, तब भी, मैं आशा करता हूं, राष्ट्रपति, जिन्हें ये सब शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, प्रांतों के प्रशासन को वास्तविक रूप से निलम्बित करने से पूर्व समुचित पूर्वावधानियां बरतेंगे। मैं आशा करता हूं कि वह प्रथम चीज, जो वह करेंगे, गलती करने वाले प्रान्त को यह स्पष्ट चेतावनी देना होगी कि घटना-

क्रम उस रीति में घटित नहीं हो रहा था, जिसमें घटित होने के लिए वह संविधान में आशयित था।"

डा० अम्बेडकर की यह आशा कि केवल विरलतम मामलों में ही आपात उपबंधों का अवलंब लिया जाएगा, शीघ्र ही झूठी सिद्ध कर दी गई क्योंकि न्यायालय में हमें यह बताया गया कि संविधान के अनुच्छेद 356 के उपबंधों का अब तक 90 से अधिक बार अवलंब लिया जा चुका है। अतः जिस उपबन्ध के बारे में यह आशा की जाती थी कि वह निष्प्रभाव रहेगा, वह वस्तुतः ऐसा उपबंध बन गया है जिसका प्रायः (बार-बार) अवलंब लिया गया है। यहां उन परिस्थितियों के बारे में जांच करने का कोई अवसर या औचित्य नहीं है, जिनके परिणाम-स्वरूप इस आपात शक्ति का प्रयोग किया जाना पड़ा, फिर भी यह तथ्य है कि राष्ट्रपति को इस शक्ति का बार-बार अवलंब लेना पड़ा है। ऐसा देश के राजनैतिक वातावरण में पतन (गिरावट) के कारण हो सकता है। चूंकि मैं उन परिस्थितियों की जांच नहीं कर रहा हूं, जिनमें उक्त शक्ति का अवलंब लिया गया, अतः मैं इस प्रश्न पर अपनी कोई राय व्यक्त नहीं कर रहा हूं कि इस आपात शक्ति का अवलंब लेने का पर्याप्त औचित्य था या नहीं।

12. यद्यपि संविधान के भाग 18 में वर्णित आपात उपबंध, न्यूनाधिक रूप में, भारत शासन अधिनियम, 1935 में अंतर्विष्ट समान उपबंधों के प्रतिमान पर ही हैं, तथापि उक्त उपबंधों के अधीन उक्त शक्ति के प्रयोग की संविधान के अधीन उसके प्रयोग से तुलना नहीं की जा सकती है और उसका स्पष्ट कारण यह है कि वे पूर्णतः भिन्न दशाओं में प्रवर्तित होते थे। भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन, गवर्नर जनरल और गवर्नर (राज्यपाल) क्राउन (सम्राट्) के प्रतिनिधियों के रूप में प्रायः आत्यंतिक शक्तियों का प्रयोग करते थे, निर्वाचित सरकारों को केवल सीमित शक्तियां ही दी गई थीं और वे भी वापस ली जा सकती थीं, यदि यह महसूस किया जाता कि संबंधित सरकार उनके अनुसार नहीं चलाई जा सकती है। इसी प्रकार ब्रिटिश संयुक्त संसदीय रिपोर्ट के प्रति निर्देश भी उचित नहीं है और उसका सीधा-सादा कारण यह है कि संविधान के अधीन स्थिति की उस स्थिति से तुलना नहीं की जा सकती है, जो रिपोर्ट का आधार थी। अनुच्छेद 356 के अधीन भारत के राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति का, भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन अस्तित्वशील राजनैतिक तंत्र की तुलना में बिल्कुल ही भिन्न राजनैतिक पृष्ठभूमि में प्रयोग किया जाना है। किसी भी स्वतंत्र देश का सांविधानिक दर्शन किसी देश के औपनिवेशिक स्वामियों द्वारा उसके शासन के लिए बनाई गई समान विधि के दर्शन से पूर्णतः भिन्न होता है। अतः भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन समान शक्तियों के प्रयोग पर आधारित निर्णयज विधि पर विचार करना अनावश्यक है।

संविधान का परिसंघीय स्वरूप

13. जैसा कि उद्देशिका में उद्घोषित किया गया है, भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न समाजवादी पंथ-निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। उसके द्वारा प्रतिष्ठा और अवसर की समता के अतिरिक्त, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और पूजा की स्वतंत्रता का वचन (आश्वासन) दिया गया है। जो चीज सर्वोपरि है, वह है राष्ट्र की एकता और अखण्डता। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए हमारे संविधान-निर्माताओं ने, केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों और कृत्यों का वितरण करते

समय, सशक्त केन्द्र के पक्ष में अपना झुकाव व्यक्त किया। संविधान के उपबंधों की सरसरी परीक्षा से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रश्न पर कि क्या हमारा संविधान स्वरूप में 'परिसंघीय' कहा जा सकता है, न्यायालय में काफी बहस हुई।

14. इस बात को समझने के लिए कि हमारा संविधान वास्तव में परिसंघीय है या नहीं, परिसंघवाद की सही संकल्पना जानना आवश्यक है। डाइसी ने इसे ऐसे राज्यों के निकाय के लिए राजनैतिक प्रयुक्ति का नाम दिया है, जो संघ की तो इच्छा करते हैं किंतु एकता की नहीं। अतः परिसंघवाद ऐसी संकल्पना है, जो, राज्यों की अपनी मूलभूत राजनैतिक अखण्डता का बलिदान किए बिना, पृथक् राज्यों को एक संघ के रूप में एकीकृत करती है। अतः पृथक् राज्य एक होने की इच्छा करते हैं, जिससे कि सदस्य-राज्य सभी को लागू आधारभूत नीतियां तैयार करने की प्रक्रिया और ऐसी मूलभूत नीतियों के अनुसरण में किए गए विनिश्चयों के निष्पादन (क्रियान्वयन) में सहभागी हो सकें। इस प्रकार संघ और राज्यों का अस्तित्व और उनके बीच शक्तियों का वितरण परिसंघ का मर्म (सारतत्त्व) है। अतः परिसंघवाद में अनिवार्यतः परिसंघीय संहति (संरचना) में शक्तियों का सीमांकन विवक्षित है।

15. आधुनिक जगत् में प्राचीनतम परिसंघीय माडल संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान कहा जा सकता है। अमरीकी परिसंघ को इस अर्थ में विकास की प्रक्रिया के परिणाम के रूप में वर्णित किया जा सकता है कि पहले पृथक् राज्यों ने एक महासंघ का गठन किया (1781) और उसके पश्चात् परिसंघ का गठन किया (1789)। यद्यपि राज्यों के स्वयं अपने संविधान हो सकते हैं, तथापि परिसंघीय संविधान सर्वोच्च विधि है और उसे राज्यों के लिए बाध्यकारी बनाया गया है। ऐसा इसलिए है कि अमरीकी संविधान के अधीन, संविधान में संशोधनों के तीन चौथाई राज्यों द्वारा अनुसमर्थित किए जाने की अपेक्षा की जाती है। इसके अतिरिक्त, उक्त संविधान के अधीन संघ की शक्तियों को प्रगणित करते हुए, मात्र एक विधायी सूची है और इसलिए अन्य विषय स्वतः राज्यों के लिए छोड़ दिए गए हैं। ऐसा दसवें संशोधन से स्पष्ट है। निस्संदेह, आक्रमण के विरुद्ध राज्यों को संरक्षण प्रदान करने का उत्तरदायित्व परिसंघीय सरकार का है। अतः राज्यों को किसी विदेशी शक्ति के साथ कोई संधि, मैत्री आदि करने के लिए प्रतिषिद्ध किया गया है। दोहरी संप्रभुता का सिद्धांत न्यायिक तंत्र में भी ले जाया गया है क्योंकि परिसंघीय विधियों के अधीन विवादों का परिसंघीय न्यायालयों द्वारा न्यायनिर्णयन किए जाना (होता) है, जबकि राज्य विधियों के अधीन विवादों का राज्य न्यायालयों द्वारा न्यायनिर्णयन किया जाना (होता) है, निस्संदेह, संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय को अपील के अधीन रहते हुए। संविधान का निर्वचन संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है।

16. अब हम अपने संविधान के कुछ उपबंधों का परिशीलन करना उचित समझते हैं।" संविधान के अनुच्छेद 1 में यह कहा गया है—"भारत, अर्थात् इण्डिया, राज्यों का संघ होगा। अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् को विधि द्वारा ऐसे निबंधनों और शर्तों पर, जो वह ठीक समझे, संघ में नए राज्यों का प्रवेश या उनकी स्थापना करने के लिए सशक्त किया गया है। अनुच्छेद 3 के अधीन संसद् विधि द्वारा किसी राज्य में से उसका राज्यक्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नए राज्य का निर्माण कर सकेगी; किसी राज्य

का क्षेत्र बढ़ा सकेगी; किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी; किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी या किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी। उक्त अनुच्छेद के परंतुक में यह अपेक्षा की गई है कि इस प्रयोजन के लिए कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना और जहां विधेयक में अंतर्विष्ट प्रस्थापना का प्रभाव राज्यों में से किसी के क्षेत्र, सीमाओं या नामों पर पड़ता है वहां जब तक उस राज्य के विधान मण्डल द्वारा उस पर अपने विचार, ऐसी अवधि के भीतर जो निर्देश में विनिर्दिष्ट की जाए या ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जो राष्ट्रपति द्वारा अनुज्ञात की जाए, प्रकट किए जाने के लिए वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्देशित नहीं कर दिया गया है और इस प्रकार विनिर्दिष्ट या अनुज्ञात अवधि समाप्त नहीं हो गई है, संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित नहीं किया जाएगा। इन अनुच्छेदों को संयुक्त रूप से पढ़ने पर, यह स्पष्ट हो जाता है कि संसद् को नए राज्यों का निर्माण करने, विद्यमान राज्यों के क्षेत्रों में या किसी विद्यमान राज्य के नाम में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार संविधान द्वारा राज्यों की राज्य-क्षेत्रीय सीमाओं में परिवर्तन अनुज्ञात किए गए हैं और उसमें उनकी राज्य क्षेत्रीय अखण्डता की गारण्टी नहीं दी गई है। यहां तक कि नामों में भी परिवर्तन किया जा सकता है। अनुच्छेद 2 के अधीन, उन निबंधनों और शर्तों को अवधारित करने का काम संसद् के लिए छोड़ दिया गया है, जिन पर वह संघ में किसी नए क्षेत्र का प्रवेश कर सकेगी या नए राज्यों की स्थापना कर सकेगी। ऐसा करने में, उसे उस राज्य की सहमति नहीं लेनी होती है, जिसके क्षेत्र, सीमा या नाम के उक्त प्रस्थापना द्वारा प्रभावित होने की संभावना है। अनुच्छेद 3 के परंतुक में केवल यही अपेक्षा की गई है कि ऐसे मामलों में राष्ट्रपति संबंधित राज्यों के, जिनके उससे प्रभावित होने की संभावना है, विधान मण्डलों को, "अपना मत व्यक्त करने के लिए," विधेयक निर्देशित करेगा। जब एक बार राज्यों के मत जान लिए जाते हैं, तब प्रस्तावित परिवर्तनों की बाबत विनिश्चय करने का काम संसद् के लिए छोड़ दिया गया है। अतः, संसद् संबंधित राज्य या राज्यों की सहमति के बिना ही राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी, उसके क्षेत्र को बढ़ा या घटा सकेगी या उसके नाम में परिवर्तन कर सकेगी। इन उपबंधों से यह उपदर्शित होता है कि राज्यों के गठन के विषय में संसद् सर्वोपरि है। यह स्कीम संयुक्त राज्य अमरीका में स्थापित परिसंघीय तंत्र से सारभूत रूप से भिन्न है। अमरीकी राज्य स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न राज्य थे और उन स्वतंत्र राज्यों की राज्य-क्षेत्रीय सीमाओं में परिसंघीय सरकार द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है। इन स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न एककों ने ही, भारत के विपरीत, एक साथ परिसंघ गठित करने का विनिश्चय किया है, जहां (भारत में) राज्य स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न एकक नहीं थे बल्कि उनका संविधान के अनुच्छेद 1 द्वारा निर्माण किया गया और इसलिए उनके क्षेत्र और सीमाओं में, उनकी सहमति के बिना ही, संसद् द्वारा परिवर्तन किया जा सकता था। यह बात सुविदित है कि स्वतंत्रता के पश्चात् संसदीय विधान द्वारा नए राज्य सृजित किए गए हैं, राज्यों का पुनः नामकरण किया गया है और पृथक् राज्य निर्वापित भी किए गए हैं।

17. हमारे संविधान-निर्माताओं ने सरकार के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा और उन्होंने, विधायी कृत्यों का वितरण करते समय, मोटे रूप में, भारत शासन अधिनियम, 1935 के प्रतिमान का ही अनुसरण किया। तथापि, सामान्य हित के कुछ विषय संघ सूची को अंतरित कर दिये गए और तद्द्वारा संघीय शक्तियों में विस्तार किया गया,

जिससे कि राष्ट्र का सत्वर और योजनाबद्ध आर्थिक विकास सम्भव बनाया जा सके। संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण की स्कीम को अधिकांशतः (प्रायः) बनाए रखा गया, सिवाय इस बात के कि सामान्य हित के कुछ विषय प्रान्तीय सूची से संघ सूची को अंतरित कर दिये गए और तद्द्वारा संघ के प्रशासनिक नियंत्रण को सुदृढ़ किया गया। इसी संदर्भ में इस न्यायालय ने **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया :—

> "आबंटित क्षेत्रों में विधायी और कार्यपालिक शक्तियों का प्रयोग अनेक निर्बन्धनों द्वारा सीमित किया गया है, जिससे कि राज्य की शक्तियां संघ की शक्तियों के तुल्य न रहें और वे अनेक बातों में स्वतंत्र न रहें।"

18. **भारत संघ बनाम एच० एस० ढिल्लों**[2] वाले मामले में विधायी शक्ति के वितरण के संबंध में इस अर्थ में एक अन्य विशेषता उपदर्शित की गई कि भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन, अवशिष्टीय शक्ति संघ विधान मण्डल या प्रान्तीय विधान मण्डलों को नहीं दी गई थी, किंतु हमारे संविधान के अधीन, सातवीं अनुसूची की सूची 1 में प्रविष्टि 97 के साथ पठित, अनुच्छेद 248 के आधार पर अविशिष्टीय शक्ति संघ को प्रदत्त की गई है? यह व्यवस्था संयुक्त राज्य अमरीका में शक्तियों के वितरण की स्कीम से सारभूत रूप से भिन्न है, जहां अवशिष्टीय शक्तियां राज्यों के पास हैं।

19. हमारे संविधान की उद्देशिका से यह दर्शित होता है कि भारत के लोगों ने भारत को एक संपूर्ण प्रभुतासंपन्न समाजवादी पंथ-निरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता; प्रतिष्ठा और अवसर की समता, प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प किया था। अतः विधिक संप्रभुता लोगों में निहित है, जबकि राजनैतिक संप्रभुता का संघ और राज्यों के बीच वितरण किया गया है। अनुच्छेद 73 संघ की कार्यपालिक शक्ति को ऐसे विषयों तक विस्तारित करता है, जिनकी बाबत संसद् को विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त है, और ऐसे अधिकारों, प्राधिकार और अधिकारिता के प्रयोग तक भी विस्तारित करता है, जिनका भारत सरकार द्वारा किसी संधि या करार के आधार पर प्रयोग किया जा सकता है। जैसा कि संविधान में या संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि में अभिव्यक्त रूप से उपबंधित है उसके सिवाय, कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य में ऐसे विषयों तक नहीं होगा जिनके संबंध में उस राज्य के विधान मण्डल को भी विधि बनाने की शक्ति है। अनुच्छेद 162 में यह वर्णित किया गया है कि इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, किसी राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों पर होगा जिनके संबंध में उस राज्य के विधान मण्डल की विधि बनाने की शक्ति है। परंतु जिस विषय के संबंध में राज्य के विधान-मण्डल और संसद् को विधि बनाने की शक्ति है उसमें राज्य की कार्यपालिका शक्ति, इस संविधान द्वारा, या संसद् द्वारा बनाई गई किसी

---

[1] (1964) 1 एस० सी० आर० 371 (पृ० 397).

[2] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1061 (पृ० 1067, पैरा 14)=(1972) 2 एस० सी० आर० 33.

विधि द्वारा, संघ या उसके प्राधिकारियों को अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त कार्यपालिका शक्ति के अधीन और उससे परिसीमित होगी। यहां यह अवेक्षा करना भी उचित होगा कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए, जिससे संघ द्वारा कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग अवरुद्ध या प्रतिकूल रूप से प्रभावित न हो। संघ की कार्यपालिका शक्ति किसी राज्य को ऐसे निदेश दिए जाने को भी विस्तारित होती है, जैसे भारत सरकार को उन प्रयोजनों के लिए और राष्ट्रीय या सैनिक महत्त्व के घोषित संचार माध्यम के निर्माण और रख-रखाव के संबंध में तथा रेल के संरक्षण के लिए भारत सरकार को आवश्यक प्रतीत हों। राज्यों को अधिकांशतः संघ की वित्तीय सहायता पर निर्भर रहना होता है। अनुच्छेद 268 से 273 की स्कीम के अधीन, राज्यों को कतिपय मामलों में, संघ द्वारा अधिरोपित शुल्कों को उद्गृहीत और प्रतिधारित करने के लिए अनुज्ञात किया गया है; अन्य मामलों में, संघ द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत कर राज्यों को समनुदेशित किए जाते हैं तथा कुछ अन्य मामलों में संघ द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत करों की राज्यों के साथ भागीदारी की जाती है। अनुच्छेद 275 में संघ द्वारा कतिपय राज्यों को अनुदान दिए जाने का भी उपबंध किया गया है। अतः इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि राज्य वित्तीय सहायता के लिए संघ पर निर्भर करते हैं क्योंकि संसाधन जुटाने की उनकी शक्ति सीमित है। चूंकि आर्थिक योजना समवर्ती विषय है, अतः प्रत्येक बड़ी परियोजना को, उसकी वित्तीय सहायता के लिए, केन्द्रीय सरकार की मंजूरी अवश्य ही प्राप्त होनी चाहिए क्योंकि लोक प्रयोजनों के लिए अनुदान देने के लिए अनुच्छेद 282 के अधीन वैवेकिक शक्ति, इस बात के होते हुए भी संघ या राज्य में निहित है कि प्रयोजन ऐसा है, जिसकी बाबत संसद् या राज्य विधान-मण्डल विधियां बना सकता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी परियोजना को अंतिम रूप से मंजूरी दिए जाने के पश्चात् ही राज्य सरकार उसे कार्यान्वित कर सकती है, जिससे वह नियंत्रण दर्शित होता है, जो संघ ऐसे विषय के संबंध में भी प्रयोग में ला सकता है, जिस पर राज्य विधान बना सकता है। इन नियंत्रणों के अतिरिक्त, अनुच्छेद 368 द्वारा संसद् को संविधान में उपांतरण करने की शक्ति प्रदत्त की गई हैं, यद्यपि विनिर्दिष्ट बहुमत द्वारा। उक्त शक्ति राज्य की कार्यपालिका और विधायी शक्तियों से संबंधित विषय में संशोधन करने तक विस्तारित है, यदि संशोधनों को कम से कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा अनुसमर्थित कर दिया जाता है। इस उपबंध द्वारा संसद् को राज्यों की शक्तियों में कटौती करने के लिए संविधान में संशोधन करने के लिए सशक्त किया गया है। सशक्त केन्द्रीय सरकार को आधे विधान-मण्डलों द्वारा अनुसमर्थन और अपेक्षित बहुमत प्राप्त करना कठिन नहीं होगा, जैसा कि पिछला अनुभव बताता है। इन सीमाओं को एक साथ देखने पर यह उपदर्शित होता है कि भारत का संविधान स्वरूप में वास्तविक रूप में परिसंघीय नहीं कहा जा सकता है, जैसा कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में वकीलों द्वारा समझा जाता है।

20. **राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति न्या० बेग ने पैरा 51 में यह मत व्यक्त किया था :—

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 1107=ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361=(1978) 1 एस० सी० आर० 1.

"हमारे संविधान के अनेक उपबंधों से यह उपदर्शित होगा कि हमारे संविधान की प्रकटतः परिसंघीय संरचना होने पर भी, उसकी क्रियाएं निश्चय ही शक्ति की उन अंतर्वस्तुओं द्वारा, जो अनेक उपबंधों के साथ अंतर्वलित हैं, और उस उपयोग द्वारा देखी जानी हैं, जो उनकी बाबत किया गया है, और इससे यह प्रकट होता है कि हमारा संविधान परिसंघीय कम और एकात्मक अधिक है।"

इसके आगे पैरा 52 में विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने यह भी कहा :—

"अतः एक अर्थ में भारतीय संघ परिसंघीय है। किन्तु उसमें परिसंघवाद का विस्तार अधिकांशतः देश की उन्नति तथा विकास की आवश्यकताओं द्वारा सीमित कर दिया गया है, जिसे (देश को) राष्ट्रीय रूप से अखण्ड, राजनैतिक और आर्थिक रूप से समन्वित और सामाजिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक रूप से उन्नत बनाया जाना है। ऐसी पद्धति में, राज्य, केन्द्रीय सरकार द्वारा निदिष्ट रीति में देश के विधिसम्मत और व्यापक रूप से योजनाबद्ध विकास के मार्ग में बाधक नहीं बन सकते हैं।"

यह उपदर्शित करते हुए कि राष्ट्रीय योजना में समस्त राज्यों में नागरिकों से करों के रूप में संगृहीत धन की बड़ी रकम का संवितरण अंतर्वलित है और वह राज्यों के फायदे के लिए केन्द्रीय सरकार के हाथ में रखा गया है, विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने आगे निर्णय के पैरा 56 में यह मत व्यक्त किया है —

"तब यदि हमारा संविधान ऐसी केन्द्रीय सरकार सृजित करता है, जो इस अर्थ में "उभयचर" (एम्फिबियन) है कि वह स्थिति की आवश्यकता और मामले की परिस्थितियों के अनुसार परिसंघीय या एकात्मक-किसी भी रूप में चल सकती है, तो वह प्रश्न, जो पुनः, विचारार्थ हमारे समक्ष आता है, यह है कि क्या उस 'स्थिति' का निर्धारण, जिसमें संघ राज्य को परिसंघीय या एकात्मक स्तर पर कार्य करना चाहिए, ऐसा विषय है, जिस पर इस स्वयं संघ सरकार को या न्यायालय को विचार करना चाहिए और उसे अवधारित करना चाहिए।"

जब संघ सरकार ने राज्य के मुख्यमंत्री के विरुद्ध किए गए कतिपय अभिकथनों की जांच करने के लिए, जांच आयोग अधिनियम, 1952 की धारा 3 के अधीन अपनी शक्ति के प्रयोग में जांच आयोग का गठन करते हुए, तारीख 3 मई, 1977 को एक अधिसूचना जारी की, तब कर्नाटक राज्य ने, राज्य की शक्तियों के क्षेत्र का अनुचित (अन्यायोचित) अतिचार मानते हुए, अधिसूचना की वैधता और विधिमान्यता को चुनौती देते हुए, संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन एक वाद फाइल किया। उक्त वाद में उत्पन्न विवादों पर विचार करते समय, कर्नाटक राज्य बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में, पुनः एक बार मु० न्या० बेग ने संविधान और जांच आयोग अधिनियम, 1952 के सुसंगत उपबंधों पर विचार किया और पैरा 33 में यह मत व्यक्त किया—

"हमारे देश में उच्चतम शिखर पर केन्द्रीय या संघ सरकार है, जो संसद् के प्रति उत्तरदायी है और उसके नीचे राज्य सरकारें हैं, जो राज्य विधान-मंडलों के

[1] ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 68=(1978) 2 एस० सी० आर० 1.

प्रति उत्तरदायी हैं और प्रत्येक सरकार स्वयं अपनी शक्तियों की परिधि के अंतर्गत कार्य करती है, जो शक्तियां दो प्रवर्गों में विभाजित की गई हैं—अनन्य और समवर्ती। राज्य विधान-मण्डल की शक्तियों की अनन्य परिधि के अंतर्गत स्वायत्त शासन आता है और सभी राज्यों में नगरीय और ग्रामीण, दोनों, क्षेत्रों में स्थानीय शासन की पद्धति है, जो राज्य अधिनियमितियों के अधीन कार्य करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे देश में सरकार की त्रि-स्तरीय पद्धति है, जिसमें केन्द्रीय या संघ सरकार सर्वोच्च शिखर पर है .....।"

इस प्रकार यह स्पष्ट होगा कि भारतीय संविधान की न केवल व्यावहारिक परिसंघवाद की विशेषताएं हैं जो, विधायी शक्तियों का वितरण करते हुए और राज्य तथा केन्द्रीय सरकार की शासन-शक्तियों की परिधियों को उपदर्शित करते हुए, सशक्त रूप से 'एकात्मक' पद्धति की विशेषताओं से युक्त है, जो तथ्य विशेष रूप से संसद् में अवशिष्टीय विधायी शक्तियां निहित किए जाने से और केन्द्रीय सरकार में उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों सहित, कुछ सांविधानिक कृत्यकारियों को नियुक्त करने और राज्य सरकारों को समुचित निदेश जारी करने से और आपात-स्थिति में राज्य विधान-मण्डलों और सरकारों को भंग करने की कार्यपालिका शक्ति से दर्शित होता है (देखें संविधान के अनुच्छेद 352 से 360)।

21. यह सामान्य जानकारी है कि हमारे द्वारा लोकतंत्र गठित किए जाने के शीघ्र पश्चात्, रियासतें शनैः-शनैः समाप्त हो गईं, जिसके परिणामस्वरूप भारत एकल राजतंत्र के रूप में एकीकृत हुआ तथा केन्द्रीय निदेश के अधीन, और, यदि मुझे ऐसा कहने की अनुमति दी जाए तो, केन्द्रीय पर्यवेक्षण के अधीन देश के प्रभावी और सुदक्ष प्रशासन के लिए सरकारी अभिकरणों की द्वैधता अस्तित्व में आई। केन्द्रीय और राज्य स्तरों पर सरकारी अंगों की द्वैधता ऐसी रीति में कृत्यों के सीमांकन को परिलक्षित करती है, जिससे हमारे देश की संप्रभुता और अखंडता सुनिश्चित होगी। देश के विभाजन और उसके बाद की घटनाओं के अनुभव ने ऐसे सबक सिखाए थे, जो बिल्कुल ही ताजा थे और उन्हें हमारे संविधान-निर्माताओं द्वारा भुलाया नहीं जा सकता था। कदाचित् इसी कारण से हमारे संविधान-निर्माताओं ने यह सोचा कि पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को दूर करने और देश की एकता और अखण्डता को पुष्ट करने के लिए सशक्त केन्द्र आवश्यक था।

22. मद्रास उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने **एम० करुणानिधि बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में, इस दलील पर विचार करते समय कि संविधान परिसंघीय संविधान है और राज्य स्वायत्त हैं, जिन्हें शासन करने के लिए निश्चित शक्तियां और स्वतंत्र अधिकार प्राप्त हैं, और केन्द्रीय सरकार को राज्य के शासन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, यह मत व्यक्त किया—

"..... स्वतंत्र राज्यों का परिसंघ हो सकता है, जैसी कि स्थिति संयुक्त राज्य अमरीका (के मामले) में है। जैसा कि स्वयं उसके नाम से द्योतित होता है, वह राज्यों का संघ है, संबंधित राज्यों की संधि द्वारा या विधान द्वारा।' उक्त

[1] ए० आई० आर० 1977 मद्रास 192.

मामलों में, परिसंघ में सम्मिलित होने वाली यूनिटों ने परिसंघीय सरकार को कतिपय शक्तियां प्रदान कीं और कुछ स्वयं प्रतिधारित कीं। अमरीकी संविधान के संदर्भ में प्रयुक्त, "परिसंघ" या "स्वायत्तता" शब्द का अर्थ हमारे संविधान को लागू करना पूर्णतः भ्रामक होगा।"

ब्रिटिश शासन की अधीनता के समय से हमारा संविधान विरचित किए जाने के समय तक देश के शासन के इतिहास पर प्रकाश डालने के पश्चात् न्यायालय ने यह मत भी व्यक्त किया—

"भारतीय संविधान की विशेषता संपूर्ण देश का शासन करने के लिए एक सरकार की स्थापना है। ऐसा करते समय, संविधान में केन्द्रीय सरकार की शक्तियां और राज्य सरकारों की शक्तियां तथा दोनों के बीच संबंध विहित किया गया है। एक अर्थ में, यदि "परिसंघ" शब्द का प्रयोग किया भी जा सकता है, तो वह ऐसे विभिन्न राज्यों का परिसंघ है, जिन्हें देश के सुदक्ष शासन और प्रशासन के प्रयोजन के लिए संविधान के अधीन अभिहित किया गया। संविधान के अधीन केन्द्र और राज्यों की शक्तियां सीमांकित की गई हैं। यह सुझाव देना निरर्थक है कि राज्य स्वतंत्र, प्रभुतासंपन्न या स्वायत्त यूनिटें (एकक) हैं, जो कतिपय शर्तों के अधीन परिसंघ में सम्मिलित हुई थीं। ऐसा कोई राज्य कभी भी अस्तित्व में नहीं रहा या संघ में विलीन नहीं हुआ।"

हमारे संविधान के अधीन इस रूप में राज्य को कोई अंतर्निहित प्रभुतासंपन्न या स्वायत्त शक्ति प्राप्त नहीं है, जिसमें केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। यह तथ्य ही कि हमारे संविधान के अनुच्छेद 3 के अधीन संसद् विधि द्वारा एक राज्य से राज्यक्षेत्र को अलग करके या दो या अधिक राज्यों को मिलाकर या राज्यों के भागों को मिलाकर या किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग में मिलाकर नया राज्य बना सकता है, इस मत के विरुद्ध है कि राज्य प्रभुतासंपन्न या स्वायत्त निकाय हैं, जिन्हें शासन के निश्चित स्वतंत्र अधिकार प्राप्त हैं। वस्तुतः जैसा कि पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, कतिपय परिस्थितियों में केन्द्रीय सरकार राज्यों को निदेश जारी कर सकती है और आपात स्थिति में राज्यों को प्रभावित करने वाली दूरगामी शक्तियां भी धारित कर सकती हैं और इस तथ्य से कि राष्ट्रपति को राज्यों का प्रशासन अपने हाथ में ले लेने की शक्तियां प्राप्त हैं, किसी राज्य के स्वतंत्र या स्वायत्त अस्तित्व का सिद्धांत ध्वस्त हो जाता है। यहां यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के विपरीत, जो दोहरी नागरिकता को मान्यता प्रदान करता है [धारा 1 (1), 14वां संशोधन], भारत के संविधान (अनुच्छेद 5) द्वारा दोहरी नागरिकता की संकल्पना को मान्यता प्रदान नहीं की गई है। अमरीकी संविधान के अधीन संयुक्त राज्य अमरीका में उत्पन्न या देशीयकृत और उसकी अधिकारिता के अधीन सभी व्यक्ति संयुक्त राज्य अमरीका के और उस राज्य के नागरिक हैं, जहां वे निवास करते हैं, जब कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन, इस संविधान के प्रारंभ पर प्रत्येक व्यक्ति, जिसका भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास है और—(क) जो भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा था; या (ख) जिसके माता या पिता में से कोई भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा था; या (ग) जो ऐसे प्रारम्भ से ठीक पहले कम से कम पांच वर्ष तक भारत के राज्यक्षेत्र में मामूली तौर से निवासी रहा है; भारत का नागरिक होगा। अनुच्छेद 9 में यह स्पष्ट किया

गया है कि यदि किसी व्यक्ति ने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है तो वह भारत का नागरिक नहीं होगा। इन उपबंधों से दोहरी नागरिकता की संकल्पना, जो अमरीकी संविधान के अधीन अभिव्यक्त रूप से मान्य संकल्पना है, अस्वीकृत हो जाती है। नागरिकता की संकल्पना परिसंघ में कुछ महत्त्व धारण कर लेती है क्योंकि ऐसे देश में, जो दोहरी नागरिकता को मान्यता प्रदान करता है, व्यक्ति परिसंघीय सरकार और राज्य सरकार, दोनों ही, के प्रति अपनी (राज्यनिष्ठा) व्यक्त करेगा। किंतु एकल नागरिकता को मान्यता प्रदान करने वाले देश को दोहरी नागरिकता से उत्पन्न होने वाली जटिलताओं का सामना नहीं करना पड़ता और आवश्यक विवक्षा द्वारा उससे राज्य की संप्रभुता की संकल्पना अस्वीकृत हो जाती है।

23. इस प्रकार सांविधानिक शब्दावली में परिसंघीय या परिसंघ जैसे पदों के महत्त्वपूर्ण अभाव से, अनुच्छेद 2 और 3 के अधीन संसद् की शक्तियों से, जिन्हें पहले ही विस्तृत रूप से स्पष्ट किया जा चुका है, आपात स्थिति से निपटने के लिए प्रदत्त असाधारण शक्तियों से, संघ को सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित, अनुच्छेद 248 द्वारा प्रदत्त अवशिष्टीय शक्तियों से, संविधान में संशोधन करने की शक्ति से, राज्यों को निदेश देने की शक्ति से और एकल नागरिकता की संकल्पना, आदि से संविधान-विशेषज्ञों को समन्वित न्यायपालिका के तंत्र आदि से भारतीय संविधान के 'परिसंघीय' नाम देने के औचित्य के बारे में संदेह होने लगा है। प्रो० के० पी० ह्वीयर ने अपनी कृति "फेडरल गवर्नमेंट" (परिसंघीय सरकार) में यह कहा—

> "किंतु, जिन बातों से यह संदेह होता है कि भारत का संविधान कठोरतापूर्वक और पूर्णतः परिसंघीय है, वे संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार और संसद् को प्रदत्त राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप की शक्तियां हैं।"

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में, प्रभुतासंपन्न राज्य स्वयं अपने पृथक् अस्तित्व का उपभोग करते हैं, जिसे ह्रासित नहीं किया जा सकता; अनश्वर राज्यों ने अनश्वर संघ का गठन किया है। इसके विपरीत, भारत में संसद् संविधान में संशोधन करके, विधि द्वारा नए राज्यों का निर्माण कर सकती है, विद्यमान राज्य के आकार-प्रकार में परिवर्तन कर सकती है, विद्यमान राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकती है और कार्यपालिक और विधायी, दोनों प्रकार की, शक्तियों में कटौती भी कर सकती है। इसीलिए भारत के संविधान को भिन्न रूप में वर्णित किया जाता है; बल्कि उसे 'अर्ध-परिसंघीय' कहना अधिक उचित होगा क्योंकि वह परिसंघीय और एकात्मक, दोनों ही प्रकार के, तत्त्वों का मिश्रण है, जिसका झुकाव पश्चात्कथित की ओर अधिक है; किंतु नाम का महत्त्व नहीं है; जिन चीजों का ध्यान में रखा जाना महत्त्वपूर्ण है, वे हैं संविधान के विभिन्न उपबंधों की विवक्षाएं और उनके द्वारा दिए जाने वाला बल, जिनका अनुच्छेद 356 और संबद्ध उपबंधों के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति की परिधि और व्यापकता से संबंधित विवाद से गहरा संबंध है।

संविधान के अधीन पंथ-निरपेक्षता (सर्व सम्प्रदाय समभाव)

24. भारत को ठीक ही विश्व के सर्वाधिक विषमतायुक्त समाज के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह संपन्न विरासत वाला देश है। इस उपमहाद्वीप में अनेक जातियां

(नस्लें) घुल-मिल कर एक रूप हो गई हैं। वे अपने साथ अपनी संस्कृतियां, भाषाएं, धर्म (संप्रदाय) और रीति-रिवाजें लाईं। इन विभिन्नताओं ने समस्याओं को भी जन्म दिया किंतु आरम्भिक नेतृत्व ने, समायोजन और सहिष्णुता के दर्शन का प्रचार करके, उनका समाधान करने में अकलमंदी और सूझ-बूझ दिखाई। इसी संदेश का पुराने समय में संतों और सूफियों ने प्रचार-प्रसार किया, जिसकी आधुनिक समय में महात्मा गांधी और अन्य नेताओं ने राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए पैरवी की। 'बांटो और राज्य करो' की ब्रिटिश नीति ने, जिसे धर्म (संप्रदाय) पर आधारित पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा और गुरुतर बनाया गया, धर्म (संप्रदाय) को राजनीति के साथ मिश्रित करने का एक नया आयाम जोड़ दिया, जिसका प्रतिकार किया जाना था और जिसका प्रतिकार केवल उसी स्थिति में किया जा सकता था, यदि लोग राष्ट्रीय एकता और अखंडता की आवश्यकता को अनुभूत (महसूस) करते। महात्मा गांधी ने पंथ-निरपेक्षता और अहिंसा के शस्त्रों से ही शक्तिशाली औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी। काफी पहले ही 1908 में गांधी जी ने 'हिन्दी स्वराज' में यह लिखा—

> "·····भारत एक राष्ट्र के रूप में समाप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि विभिन्न धर्मों (संप्रदायों) के लोग इसमें रहते हैं·····। विश्व के किसी भी भाग में एक राष्ट्रीयता और एक धर्म (संप्रदाय) पर्यायवाची पद नहीं है; और भारत में भी ऐसा कभी नहीं हुआ है।"

गांधीजी को पृथकतावादी शक्तियों के विरुद्ध भारत के लोगों को एक करके स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए शांतिपूर्ण युद्ध लड़ने के कार्य में पंडित जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आजाद और अन्य जैसे नेताओं द्वारा योग्यतापूर्वक समर्थन दिया गया। 1945 में पंडित नेहरू ने यह लिखा—

> "मेरा यह समाधान हो गया है कि स्वतंत्र भारत की भावी सरकार इस अर्थ में पंथ-निरपेक्ष होनी चाहिए कि सरकार स्वयं को प्रत्यक्षतः (सीधे) किसी धार्मिक विश्वास या निष्ठा से नहीं जोड़ेगी किंतु सभी धार्मिक कृत्यों के लिए स्वतंत्रता देगी।

25. और गांधीजी द्वारा इसका अनुसरण किया गया, जब 1946 में उन्होंने "हरिजन" में यह लिखा—

> "मैं अपने धर्म का नियमित रूप से पालन करता हूं। मैं उसके लिए अपना जीवन दे दूंगा। किंतु यह मेरा वैयक्तिक मामला है। राज्य का इससे कोई सरोकार नहीं है। राज्य आपके लौकिक कल्याण, स्वास्थ्य, संचार, विदेश-संबंध, करेन्सी (मुद्रा) आदि की देखभाल करेगा, न कि मेरे धर्म की। धर्म प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है।"

26. महान् राजनीतिज्ञ-दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् ने इस संबंध में यह कहा :—

> "जब भारत को पंथ-निरपेक्ष राज्य कहा जाता है, तब इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि हम अदृष्ट आत्मा की वास्तविकता या जीवन के धर्म की संगतता को अस्वीकार करते हैं या हम अधर्म को प्रोत्साहन देते हैं। इस का यह अर्थ नहीं है कि स्वयं पंथ-निरपेक्षवाद निश्चयात्मक सकारात्मक धर्म हो जाता है या यह कि राज्य दैवी

विशेषाधिकार धारित कर लेता है। यद्यपि सर्वोच्च सत्ता में विश्वास भारतीय परंपरा का आधारभूत सिद्धांत है, भारतीय राज्य स्वयं को किसी विशेष संप्रदाय (धर्म) के साथ नहीं जोड़ेगा या उसके द्वारा नियंत्रित नहीं होगा। हम यह मानते हैं कि किसी एक सम्प्रदाय को अधिमानी प्रास्थिति या विशिष्ट सम्मान की स्थिति प्रदान नहीं की जानी चाहिए; यह कि किसी एक सम्प्रदाय को राष्ट्रीय जीवन या अंतरराष्ट्रीय संबंधों में विशेष अधिकार प्रदान नहीं किए जाने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से जनतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों का उल्लंघन होगा और वह धर्म तथा सरकार के सर्वोत्तम हितों के विपरीत होगा। धार्मिक निष्पक्षता, सहिष्णुता और सहनशीलता के इस दृष्टिकोण को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। नागरिकों का कोई भी वर्ग अपने लिए ऐसे अधिकार और विशेषाधिकारों का दावा नहीं करेगा, जिन्हें वह दूसरे लोगों के लिए अस्वीकार करता है। किसी भी व्यक्ति को अपने धर्म के कारण किसी भी प्रकार की निर्योग्यता या भेदभाव नहीं भुगतने देना चाहिए बल्कि वह, सभी लोगों के समान, सामान्यजीवन में अधिकतम मात्रा में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। धार्मिक सत्ता (चर्च) और राज्य के पृथक्करण में यही आधारभूत सिद्धांत अन्तर्वलित है।"

(रिकवरी आफ फेथ, न्यूयार्क, हार्पर ब्रदर्स, 1955, पृष्ठ 202) (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

स्वतंत्रता प्राप्त करने के तुरन्त पश्चात्, संविधान सभा ने, साम्प्रदायिकता के खतरे से अवगत होते हुए, तारीख 3 अप्रैल, 1948 को निम्नलिखित संकल्प पारित किया :—

"यतः जनतंत्र के समुचित कृत्यकरण और राष्ट्रीय एकता और एकजुटता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय जीवन से साम्प्रदायिकता को समाप्त कर दिया जाना चाहिए, अतः इस सभा की यह राय है कि ऐसे किसी भी साम्प्रदायिक संगठन को, जो अपने विधान (गठन) द्वारा या उसके किसी अधिकारी में निहित वैवेकिक शक्ति के प्रयोग द्वारा या अपने किसी अधिकारी या अंग द्वारा, धर्म, जाति नस्ल या उनमें से किसी के आधार पर व्यक्तियों को प्रवेश देता है या अपनी सदस्यता से अपवर्जित करता है, समाज की सद्भाविक रूप से धार्मिक, संस्कृतिक सामाजिक और शैक्षिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक कार्यकलापों से भिन्न क्रियाकलाप करने के लिए अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए और ऐसे क्रियाकलापों को रोकने के लिए आवश्यक सभी उपाय, विधायी और प्रशासनिक, किए जाने चाहिए।"

27. चूंकि यह महसूस किया गया कि अल्पसंख्यकों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल साम्प्रदायिक और पृथक्तावादी प्रवृत्तियों के लिए उत्तरदायी था, अतः सलाहकार समिति ने यह संकल्प किया कि अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति को अपवर्जित करते हुए अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण पद्धति समाप्त की जानी चाहिए। पंथ-निरपेक्षता के लक्ष्य के अनुसरण में संविधानसभा ने खण्ड 13, 14 और 15 अंगीकृत किए, जो मोटे रूप में वर्तमान अनुच्छेद 25, 26 और 27 के समरूपी हैं। वाद-विवाद (बहस) के दौरान प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने यह घोषणा की कि पंथ-निरपेक्षता ऐसा आदर्श है, जिसे प्राप्त किया जाना है और

पंथ-निरपेक्ष राज्य की स्थापना निष्ठा का कार्य और सबसे ऊपर बहुसंख्यक समाज के लिए निष्ठा का कार्य था, क्योंकि उन्हें यह दिखाना होगा कि वे दूसरे के साथ उतारतापूर्ण, ऋजुतापूर्ण और न्यायसंगत रूप में व्यवहार कर सकते हैं। जब कुछ क्षेत्रों से आक्षेप उठाए गए, तो पंडित लक्ष्मीकान्त मित्र ने स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया :—

> "जैसा कि मैं समझता हूं, पंथ-निरपेक्ष राज्य से यह अभिप्रेत है कि राज्य किसी विशेष धार्मिक निष्ठा का पालन करने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध संप्रदाय (धर्म) या समुदाय के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा। सारतः इससे यह अभिप्रेत है कि राज्य में किसी विशेष संप्रदाय को राज्य की ओर से किसी भी प्रकार का प्रश्रय प्राप्त नहीं होगा। राज्य, कुछ सम्प्रदायों का अपवर्जन करते हुए या उन पर अधिमान देते हुए, किसी विशेष संप्रदाय की स्थापना नहीं करेगा, उसे प्रश्रय नहीं देगा या विन्यास (धन प्रदान) नहीं करेगा और राज्य के किसी भी नागरिक के साथ मात्र इस आधार पर कोई अधिमानी व्यवहार नहीं किया जाएगा या उसके विरुद्ध भेदभाव किया जाएगा कि वह एक विशेष धर्म (सम्प्रदाय) का अनुयायी (को मानता) है। दूसरे शब्दों में, राज्य के कार्यों में किसी विशेष सम्प्रदाय को अधिमान देने की बात पर बिल्कुल ही विचार नहीं किया जाएगा। मैं इसे पंथ-निरपेक्ष राज्य का सार (तत्त्व) मानता हूं। इसके साथ ही हमें यह सुनिश्चित करने के लिए भी सावधानी बरतनी चाहिए कि हमारे इस देश में हम किसी भी व्यक्ति को न केवल किसी विशेष धर्म को मानने या उसका आचरण करने बल्कि उसका प्रचार करने के अधिकार से भी वंचित नहीं करते हैं।"

28. संक्षेप में स्वतंत्रता-पूर्व समय में और हमारे द्वारा स्वयं को संविधान दिए जाने के तुरन्त पूर्व पंथ-निरपेक्षता और जनतंत्र की संकल्पना अस्तित्व में थी। अब हम संविधान के उपबंधों की संक्षेप में अवेक्षा करना उचित समझते हैं।

29. इस तथ्य के होते हुए भी कि "समाजवादी" और "पंथ-निरपेक्ष" शब्द 42वें संशोधन द्वारा 1976 में संविधान की उद्देशिका में जोड़े गए, पंथ-निरपेक्षता की संकल्पना हमारे सांविधानिक दर्शन में पहले से ही सन्निहित थी। "पंथ-निरपेक्ष" पद को, उचित ही, परिभाषित नहीं किया गया है और सम्भवतः उसका कारण यह है कि वह बहुत ही व्यापक पद है, जिसकी ठीक-ठीक परिभाषा नहीं की जा सकती है और कदाचित् उसे अपरिभाषित छोड़ देना ही उचित रहेगा। इस संशोधन द्वारा, जो चीज विवक्षित थी, उसे व्यक्त कर दिया गया। स्वयं उद्देशिका में विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता, व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता का उल्लेख किया गया है। अपने नागरिकों को विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करते हुए, संविधान ने धर्म (सम्प्रदाय) आदि के आधार पर भेदभाव को निंदनीय माना किंतु अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष व्यवहार अनुज्ञात किया (देखें अनुच्छेद 15 और 16)। उसके पश्चात् अनुच्छेद 25 में यह उपबंध किया गया कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा। अनुच्छेद 26

द्वारा लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए, प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग को धार्मिक और पूर्त प्रयोजन के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का, अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबंध करने का, और स्थावर जंगम सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का और ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने के अधिकार का उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 27 में यह उपबंध किया गया है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे करों का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किए जाते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद है, जिसके द्वारा राज्य की कराधान शक्ति के प्रयोग को प्रतिषिद्ध किया गया है, यदि उसके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किए जाते हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि राज्य के राजस्व को किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि और पोषण के लिए उपयोग में नहीं लाया जा सकता है। अनुच्छेद 28 धार्मिक संस्थाओं में उपस्थिति या कतिपय शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक पूजा के संबंध में है। उसके पश्चात् अनुच्छेद 29 और 30 आते हैं, जिनमें संस्कृति और शिक्षा-संबंधी अधिकारों के प्रति निर्देश किया गया है। अनुच्छेद 29 में, अन्य बातों के साथ साथ, यह उपबंध किया गया है कि राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 30 द्वारा सभी अल्पसंख्यक वर्गों को चाहे वे धर्म पर आधारित हों या भाषा पर, अपनी रुचि की संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार प्राप्त होगा और उसके द्वारा राज्य को सहायता देने के विषय में ऐसी संस्थाओं के विरुद्ध भेद-भाव बरतने से प्रतिषिद्ध किया गया है। अनुच्छेद 15, 16 और 25 से 30 में सन्निविष्ट इन मूल अधिकारों से इस बारे में किसी भी प्रकार की शंका शेष नहीं रहती कि वे संविधान के आधारभूत ढांचे के भाग रूप हैं। इसके अतिरिक्त, 42वें संशोधन द्वारा, भाग-4क, जिसका शीर्षक 'मूल कर्तव्य' है, जोड़ा गया, जिसके द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ प्रत्येक नागरिक पर उन उदात्त आदर्शों को मानने और उनका अनुसरण करने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है, जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरित किया, भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करने और उसे अक्षुण्ण रखने और भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करने के लिए भी प्रेरित किया, जो धर्म भाषा और प्रदेश पर या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो धार्मिक भाषाओं और प्रादेशिक या वर्ग की विभिन्नताओं से परे हो और हमारी सामासिक संस्कृति की गौरव-शाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसे परिरक्षित रखे। इन उपबंधों से, जिनका मैंने संक्षेप में उल्लेख किया है, स्पष्टतः पंथ-निरपेक्षता और जनतंत्र की दोहरी संकल्पना और सहिष्णुता और सहनशीलता के सिद्धांत सामने आते हैं, जिनकी गांधीजी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं द्वारा पैरवी की गई। अतः मैं अपने विद्वान् बंधु न्या० सावंत, रामस्वामी और रेड्डी द्वारा व्यक्त इस मत पर सहमति व्यक्त करता हूं कि पंथ-निरपेक्षता हमारे संविधान की आधारभूत विशेषता है। उन्होंने मामले के इस पहलू पर काफी विस्तार से विचार किया है और मैं अपनी सहमति व्यक्त करने से अधिक कुछ और नहीं कर सकता किंतु मैंने यह उपदर्शित करते हुए उनके मत के पूरक मत के रूप में ही कुछ शब्द कहे हैं कि संविधान से तुरन्त पूर्व

और 42वें संशोधन तक इस संकल्पना को किस प्रकार समझा गया। 42वें संशोधन द्वारा, जो चीज़ विवक्षित थी, उसे व्यक्त कर दिया गया।

30. गांधीजी की मृत्यु के पश्चात् पण्डित जवाहर लाल नेहरू, मौलाना आजाद, डा० अम्बेडकर और अन्य जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने यह सुनिश्चित करने के लिए अधिकतम प्रयास किया कि राष्ट्र का पंथ-निरपेक्ष स्वरूप, जो हमें गांधीजी द्वारा विरासत में दिया गया खतरे में न पड़े। प्रारूपण समिति के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर ने अन्तर्धारा से अवगत होते हुए, यह चेतावनी दी कि भारत अभी एक समन्वित और एकीकृत राष्ट्र नहीं था बल्कि उसे ऐसा होना था। यह व्यग्रता संविधान सभा में उनके भाषणों में भी परिलक्षित हुई थी। अतः संविधान का प्रारूपण करते समय वह यह सुनिश्चित करने के लिए सावधान और सतर्क थे कि संविधान में देश के पंथ-निरपेक्ष स्वरूप को संरक्षित करने और बांटने वाली (अलगाव वाली) शक्तियों को नियंत्रण में रखने के लिए पर्याप्त रक्षोपायों का उपबंध किया जाए, जिससे कि धार्मिक, भाषायी और जातीय समूहों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। उन्होंने गांधीजी की पंथ-निरपेक्षता और जनतंत्र की संकल्पना को सांविधानिक ढांचे के ताने-बाने में सावधानी-पूर्वक बुन दिया। ऐसा ऊपरनिर्दिष्ट संविधान के उपबंधों पर सरसरी तौर पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन और न्याय्यता

30-क. संविधान के अधीन परिसंघीय ढांचे के स्वरूप की अवेक्षा करने के पश्चात्, केन्द्र में और एक या अधिक राज्यों में विभिन्न राजनीतिक दलों के शासन करने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है। संविधान द्वारा उसे स्पष्ट रूप में अनुज्ञात किया गया है। अतः केन्द्र में शासक दल की हार मात्र से (किसी और चीज के बिना), नवनिर्वाचित दल, जो केन्द्र में सत्ता में आता है, राष्ट्रपति को उन राज्यों की विधानसभाओं को भंग करने हेतु सलाह देने के लिए हकदार नहीं हो जाता है, जहां उस दल से भिन्न दल सत्ता में है, जो केन्द्र में सत्ता में है। केवल इस कारण कि केन्द्र में भिन्न राजनीतिक दल सत्ता संभालने के लिए निर्वाचित हो गया है, भले ही अत्यधिक बहुमत से, यह अभिनिर्धारित करने का कोई आधार नहीं बन जाता है कि 'ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है', जो संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति के प्रयोग की अध्यपेक्षा है। उक्त उपबंध के अधीन शक्ति का प्रयोग करने और मात्र इस आधार पर कि नया राजनीतिक दल अत्यधिक बहुमत के साथ केन्द्र में सत्ता में आ गया है, राज्य विधानसभाओं को भंग करने का अर्थ, कम से कम कहें तो भी, केन्द्रीय सरकार की ओर से असहिष्णुता का ही द्योतक होगा, जिसमें अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग, उक्त अनुच्छेद से बाह्य विचारणाओं पर आधारित होगा और इसलिए वह विधि की दृष्टि में दोषपूर्ण होगा। यह सामान्य जानकारी का विषय है कि लोग केन्द्र में और राज्यों में भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों को मत देते हैं और यदि किसी राज्य में सत्तासीन राजनीतिक दल की विचारधारा से भिन्न विचारधारा वाला कोई राजनीतिक दल केन्द्र में सत्ता में आता है, तो केन्द्रीय सरकार का अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करना न्यायोचित नहीं होगा, जब तक कि यह दर्शित नहीं कर दिया जाता कि राज्य में सत्तासीन राजनीतिक दल की विचारधारा संविधान के दर्शन से असंगत है और इसलिए उस दल के लिए संविधान

के उपबंधों के अनुसार राज्य का कार्य चलाना सम्भव नहीं है। यह कहना अनावश्यक है कि कोई भी राज्य सरकार ऐसे कार्यक्रम के आधार पर कृत्य नहीं कर सकती है, जो संविधान के दर्शन को ही नष्ट करने वाला हो, क्योंकि ऐसा कृत्यकरण संविधान के उपबंधों के अनुसार कभी भी नहीं हो सकता। किंतु जहां राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार कार्य कर रही है और उसकी विचारधारा संविधान के दर्शन से संगत है, वहां केन्द्रीय सरकार का मात्र इस आधार पर कि केन्द्र में अत्यधिक बहुमत के साथ एक भिन्न राजनीतिक दल सत्ता में आ गया है, राज्य सरकार से छुटकारा पाने के लिए अनुच्छेद 356(1) का अवलंब लेना न्यायोचित नहीं होगा। शक्ति का ऐसा प्रयोग स्पष्टतः द्वेषपूर्ण होगा। मेरे तुच्छ मतानुसार, **राजस्थान राज्य और अन्य बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय में उस सीमा तक, जहां तक वह उपर्युक्त विचार-विमर्श से असंगत है, विधि सही रूप से अधिकथित नहीं की गई है।

31. चूंकि हमारे समक्ष विद्वान् महान्यायवादी और भारत सरकार के विद्वान् काउंसेल श्री पाराशरन् द्वारा इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं उठाया गया कि प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में उनकी मन्त्रि-परिषद् की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है, अतः विवाद न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और विस्तार के अवधारण तक ही, अर्थात् दूसरे शब्दों में, न्याय्यता के क्षेत्र तक ही, सीमित हो जाता है। न्यायालय में बहस इसी क्षेत्र तक सीमित रही। विद्वान् महान्यायवादी और श्री पाराशरन् ने इस मत का समर्थन किया कि इस संबंध में ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में अधिकथित विधि सही थी और उस पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं थी, जबकि संबंधित राज्य सरकारों के, जिन्हें अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति के प्रयोग द्वारा अधिक्रान्त कर दिया था, काउंसेलों ने यह दलील दी कि उक्त विनिश्चय पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता थी।

32. उक्त विवाद्यक पर विचार करने से पूर्व, मैं इस प्रश्न का निपटारा करना उचित समझता हूं कि क्या संविधान के अनुच्छेद 74(2) द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मंत्रि-परिषद् की सलाह के लिए कारण और भागरूप सामग्री विधारित करना अनुज्ञात किया गया है। अनुच्छेद 74(1) में यह आदिष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति को, उसके कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा तथापि, परंतुक द्वारा राष्ट्रपति को, मंत्रि-परिषद् से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा करने के लिए हकदार बनाया गया है किंतु जब एक बार मंत्रिपरिषद् उक्त सलाह पर पुनर्विचार कर लेती है, तब वह उसके अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है। उसके पश्चात्, अनुच्छेद 74 (2) में यह उपबंध किया गया है कि इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी। इस उपबंध द्वारा जिस चीज की जांच वर्जित की गई है वह यह है कि 'क्या कोई सलाह दी गई थी और यदि दी गई थी, तो क्या', इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रश्न पर मेरे विद्वान् बन्धुओं द्वारा व्यापक रूप से

[1] (1978) 1 एस० सी० आर० 1.

विचार किया गया है, जिन्होंने अपने निर्णयों में उसके पक्ष और विपक्ष में कही गई बातों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और इसलिए मैं उसी पथ पर पुनः चक्कर लगाना आवश्यक नहीं समझता। यह कहना ही पर्याप्त है कि (चूंकि) कारण सलाह के भागरूप होंगे, अतः न्यायालय उनके प्रकट किए जाने की मांग करने से प्रवारित होगा। किंतु मैं इस बात पर सहमत हूं कि अनुच्छेद 74 (2) ऐसी सभी सामग्री के प्रस्तुत किए जाने के लिए कोई वर्जन नहीं है, जिस पर मंत्रिपरिषद् की सलाह आधारित थी। निस्संदेह, साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 और 124 के अधीन उपलब्ध विशेषाधिकार एक भिन्न आधार पर स्थित है और उसका संविधान के अनुच्छेद 74(2) से असंबद्ध (बाह्य) रूप में दावा किया जा सकता है। उस सीमा तक, जिस तक ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में किया गया विनिश्चय इस मत के विरुद्ध है, मैं ससम्मान उससे असहमति व्यक्त करता हूं।

33. अब मैं न्यायिक पुनर्विलोकन के विस्तार और परिधि के प्रश्न, अर्थात् न्याय्यता के क्षेत्र पर आता हूं, जहां तक संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति के आत्म परक समाधान का संबंध है। भाग 18 में, जिसमें आपात उपबंधों का उल्लेख किया गया है, विभिन्न परिस्थितियों में आपात शक्तियों के प्रयोग का उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 352 में यह उपबंध किया गया है कि यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि गंभीर आपात विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो वह उद्घोषणा में उसके प्रवर्तन के क्षेत्र को विनिर्दिष्ट करते हुए, उस की घोषणा कर सकेगा। "यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है" पद के प्रयोग के होते हुए भी, जिससे यह ध्वनित होता है कि विनिश्चय राष्ट्रपति के आत्मपरक समाधान पर निर्भर करेगा, काउंसेल ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि ऐसे विनिश्चय को न्यायिक संवीक्षा की विषय-वस्तु नहीं बनाया जा सकता है और उसका स्पष्ट कारण यह है कि गंभीर आपात का अस्तित्व (होना) या अन्यथा (न होना) न्यायिक संवीक्षा की परिधि के अंतर्गत नहीं आता है क्योंकि न्यायालय ऐसा संवेदनशील (नाजुक) कृत्य करने के लिए साधन संपन्न नहीं है। इसी प्रकार अनुच्छेद 360 के अधीन भी आपात शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति के इस समाधान पर निर्भर है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व (स्थिरता) या प्रत्यक्ष (विश्वसनीयता) संकट में है। ऐसी घोषणा को अंतर्विष्ट करने वाली उद्घोषणा जारी करने का विनिश्चय भी राष्ट्रपति, अर्थात् मंत्रिपरिषद् के आत्मपरक समाधान पर आधारित है, किंतु न्यायालय राजवित्तीय विषयों के संबंध में विशेषज्ञता के अभाव में ऐसे आत्मपरक समाधान की जांच करने की स्थिति में नहीं होगा। अतः इन उपबंधों में न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि पर प्रकाश डाला गया है।

34. अनुच्छेद 356 के पार्श्व-टिप्पण से यह उपदर्शित होता है कि उक्त उपबंध द्वारा प्रदत्त शक्ति राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में प्रयोक्तव्य है। उक्त अनुच्छेद के मुख्य भाग में उसी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि उसके द्वारा राष्ट्रपति को, उनका यह समाधान हो जाने पर कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, अर्थात् सांविधानिक तंत्र के विफल होने पर, उसके उपखंड (क), (ख) और (ग) तथा खण्ड (1) में

उपबंधित रीति में कार्यवाही करने के लिए सशक्त बनाया गया है। यह कार्यवाही उन्हें संबंधित राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या 'अन्यथा' करनी होगी, यदि उनका सांविधानिक तंत्र विफल रहने के बारे में उससे समाधान हो जाता है। अनुच्छेद 356 (1) द्वारा राष्ट्रपति को असाधारण शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, जिनका उन्हें केवल उसी स्थिति में कोताही से और अत्यन्त सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए, यदि उनका राज्यपाल की रिपोर्ट से या अन्यथा यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें संबंधित राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। "अन्यथा" पद का बहुत व्यापक अर्थ है और उसे न्यायालयों में साक्ष्य की ग्राह्यता से संगत सिद्धांतों की कसौटी पर परखे जाने के योग्य सामग्री तक ही निर्बन्धित नहीं किया जा सकता। उस सामग्री के स्वरूप को वर्णित करना कठिन होगा, जो अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राष्ट्रपति के समक्ष रखी जा सकेगी या जो कार्यवाही करने से पूर्व उनके सम्मुख आ सकती है। इसके अतिरिक्त, चूंकि राष्ट्रपति से अपने आत्मपरक समाधान के लिए अपने कारण अभिलिखित करने की आशा नहीं की जाती है, अतः न्यायालय के लिए यह अभिनिश्चित करना भी राजनैतिक जंगल में प्रवेश करने के समान ही कठिन होगा कि उक्त उपबंध के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए राष्ट्रपति ने किस बात (चीज) को महत्त्व दिया। **दि बेरियम केमिकल्स लिमिटेड बनाम दि कंपनी ला बोर्ड और अन्य**[1] वाले मामले में और पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में प्रशासनिक कार्यवाही की विधिमान्यता को न्यायनिर्णीत करने के लिए इस न्यायालय द्वारा अधिकथित कसौटी अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति के समाधान की परख करने के लिए लागू नहीं की जा सकती है। यहां यह बात अवश्य ही ध्यान में रखी जानी चाहिए कि अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति असाधारण प्रकृति की शक्ति है जिसका घोर आपात स्थितियों में ही प्रयोग किया जाना है और इसलिए ऐसी शक्ति के प्रयोग की प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में प्रयुक्त शक्ति से बराबरी नहीं की जा सकती है और इसलिए उसकी समान (एक ही) मापदण्ड द्वारा परख नहीं जा सकती। अनेक काल्पनिक बातें विचार-प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाती हैं और उक्त विचारणाएं अंतिम विनिश्चय को नियन्त्रित करती हैं, जो न केवल उन घटनाओं पर आधारित होगा, जो विनिश्चय से पूर्व घटित हो चुकी हैं, बल्कि वह संभाव्यतः बाद में घटित होने वाली घटनाओं पर भी निर्भर करेगा और इसलिए राष्ट्रपति के समाधान के प्रयोग को प्रशासनिक नियंत्रण के प्रयोग में कार्यपालक अधिकारियों द्वारा अभिलिखित समाधान के साथ बराबरी की दृष्टि से देखना पूर्णतः गलत होगा। वह राय, जो राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अन्यथा बनाएगा, उनके राजनीतिक निर्णय पर आधारित होगी और ऐसे राजनीतिक विनिश्चय की संवीक्षा करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानक (नियम) प्रतिपादित करना कठिन है। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उन चीजों की प्रकृति से ही, जो अनुच्छेद 356 के अधीन विनिश्चय करने के कार्य को प्रभावित करती (लागू होती) हैं, यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि राष्ट्रपति का विनिश्चय न्याय्य है। ऐसा करने का अर्थ राजनैतिक जंगल में प्रवेश करना और राजनैतिक प्रज्ञा को चुनौती देना होगा, जिससे न्यायालयों को बचना चाहिए। राष्ट्रपति के समाधान की तह में जाने का लोभ बड़ा हो सकता है किंतु न्यायालय के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय नियम

[1] (1966) सप्ली० एस० सी० आर० 311.

के अभाव में उक्त लोभ का संवरण करना ही उचित होगा। अतः मेरी राय में, न्यायालय अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति को प्रदत्त सांविधानिक शक्ति के प्रयोग को निषिद्ध नहीं कर सकता, जब तक कि उसे विद्वेषपूर्ण दर्शित नहीं कर दिया जाता। न्यायालय की अधिकारिता के प्रयोग से पूर्व, पर्याप्त सावधानी बरती जानी चाहिए और जब तक कि सशक्त और स्पष्ट प्रथमदृष्ट्या मामला सिद्ध नहीं हो जाता है, राष्ट्रपति, अर्थात् कार्यपालिका, से आरोप का उत्तर देने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए। इस संबंध में मैं न्या० रामस्वामी के मत से सहमति व्यक्त करता हूं। मैं न्या० वर्मा से भी सहमत हूं, जब वह यह कहते हैं कि ऐसे मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित परिधि को देखते हुए, ऐसे मामलों में आशंका के रूप में कार्यवाही अनुज्ञेय नहीं होगी। अतः मैं संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा के संबंध में उपलब्ध पुनर्विलोकन की सीमा के संबंध के ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान वाले मामले में व्यक्त मत से ससम्मान सहमति व्यक्त करता हूं। दूसरे शब्दों में, उसे इस सीमित आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि कार्यवाही विद्वेषपूर्ण है या स्वयं अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य है।

35. पूर्वोक्त कसौटी को लागू करते हुए, मैं इस मत से सहमति व्यक्त करता हूं कि जारी की गई उद्घोषणाएं और मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान तथा कर्नाटक राज्यों के विरुद्ध की गई पारिणामिक कार्यवाही न्याय्य नहीं है जबकि मेघालय के संबंध में जारी की गई उदघोषणा को चुनौती दी जा सकती है किन्तु उस संबंध में कोई आदेश या निदेश देना आवश्यक नहीं है क्योंकि उन पश्चात्वर्ती घटनाओं को देखते हुए, जो नए निर्वाचन के पश्चात् राज्य में घटित हो चुकी हैं, विवाद्यक समाप्त हो चुका है। अतः मैं न्या० वर्मा और रामस्वामी द्वारा प्रस्थापित अंतिम आदेश पर ससम्मान सहमति व्यक्त करता हूं। यहां मैं यह भी कहना चाहूंगा कि मैं पंथ-निरपेक्षता (सर्व सम्प्रदाय-समभाव) की संकल्पना पर अपने तीनों विद्वान् बंधुओं (साथियों) द्वारा व्यक्त मत से सहमति व्यक्त करता हूं।

36. इससे न्या० सावंत और रेड्डी द्वारा व्यक्त मतों से सहमति और असहमति के क्षेत्र भी उपदर्शित हो जाते हैं।

37. निर्णय समाप्त करने से पूर्व, मैं विद्वान् महान्यायवादी और सभी विद्वान् काउंसेलों द्वारा, जो मुकदमा लड़ने वाले पक्षकारों की ओर से हाजिर हुए, द्वारा दी गई उत्कृष्ट सहायता के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना चाहता हूं।

न्यायमूर्ति वर्मा—(अपनी ओर से और न्या० योगेश्वर दयालु की ओर से)

38. यह पृथक् राय इस तथ्य के कारण आवश्यक हुई है कि हमारे मतानुसार, न्याय्यता का क्षेत्र हमारे विद्वान् बंधुओं द्वारा बनाई गई विस्तृत रायों में उपदर्शित क्षेत्र से भी संकीर्ण है। इस पृथक् टिप्पण का प्रयोजन मात्र ऐसे अंतर के क्षेत्र को ही उपदर्शित करना है। उन तथ्यों का उल्लेख और उन बातों की चर्चा अनावश्यक है, जिन्हें अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग में मार्गदर्शक का कार्य करना चाहिए, क्योंकि उनके बारे में अन्य मताभिव्यक्तियों में विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है। शक्ति के समुचित प्रयोग के लिए पंथ-निरपेक्षता (सर्व सम्प्रदाय-समभाव) की संकल्पना सहित, इन बातों के उपदर्शित किए जाने

का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं है कि इन कारकों का अस्तित्व न्याय्य है। हमारे मतानुसार, शक्ति के समुचित प्रयोग को सुनिश्चित करने के लिए अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी किए जाने का कार्य इन कारकों द्वारा विनियमित होना चाहिए किंतु उसकी न्यायिक संवीक्षा इसमें इसके पश्चात् उपदर्शित, सीमित क्षेत्र में ही उपलब्ध है; शेष क्षेत्र केवल संसद् द्वारा और पश्चात्वर्ती निर्वाचन-अधिमत द्वारा ही संवीक्षा और शुद्धि (शोधन) के अध्यधीन है।

39. इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है। वाद-विवाद (बहस) अनिवार्यतः न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि या उस क्षेत्र में न्याय्यता की परिधि तक ही सीमित है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय्यता की परिधि (क्षेत्र) उक्त शक्ति की प्रकृति और उस व्यापक विवेकाधिकार को देखते हुए संकीर्ण है, जो उसके प्रयोग में अंतर्निहित है। उद्घोषणा के संसद् द्वारा अनुमोदन की अध्यपेक्षा से भी यह संकेत स्पष्ट हो जाता है, जो कार्यपालिका द्वारा किए गए विनिश्चय की राजनैतिक प्रक्रिया द्वारा संविधान में उपबंधित, संवीक्षा का नियन्त्रण-उपाय है। निर्वाचन में, जो उसके पश्चात् होता है, लोगों का अधिमत अंतिम नियंत्रण के उपाय के रूप में आशयित है।

40. न्याय्य क्षेत्र को अवधारित करने के लिए हम उस चीज को ध्यान में रखना उचित समझते हैं, जो के० अशोक रेड्डी बनाम भारत संघ और अन्य[1] वाले मामले में कही गई थी :—

> "21. क्रेगकृत "एडमिनिस्ट्रेटिव ला" (द्वितीय संस्करण) का एक उपयोगी अंश इस प्रकार है :—
>
> "परम्परागत स्थिति यह थी कि न्यायालय परमाधिकार शक्ति के अस्तित्व और विस्तार को नियंत्रित करते थे, न कि उसके प्रयोग की रीति को ·····। किंतु अब जी० सी० एच० क्यू० वाले मामले में किए गए विनिश्चय द्वारा पारम्परिक स्थिति को उपांतरित कर दिया गया है। माननीय न्यायाधीशों ने इस बात पर बल दिया कि वैवेकिक शक्ति की पुनर्विलोकनीयता उसकी विषय-वस्तु पर निर्भर रहनी चाहिए, न कि इस बात पर कि उसका स्रोत कानून था या परमाधिकार। परमाधिकार शक्ति के कतिपय प्रयोग, उसकी विषय-वस्तु के कारण, कम न्याय्य होंगे। लार्ड रोस्किल ने ऐसे निषिद्ध क्षेत्र की व्यापकतम सूची का संकलन किया है ·····।"
>
> (पृष्ठ 291)
>
> 22. काउंसिल आफ सिविल सर्विस यूनियन्स और अन्य बनाम मिनिस्टर फार दि सिविल सर्विस [(1985) ए० सी० 374 (जी० सी० एच० क्यू०)] वाले मामले में लार्ड रोस्किल ने यह कहा :—
>
> "किंतु मैं नहीं समझता कि चुनौती का अधिकार असीमित हो सकता है। मैं समझता हूं कि उसे परमाधिकार शक्ति की विषय-वस्तु पर निर्भर करना चाहिए,

[1] जे० टी० 1994 (1) एस० सी० 401.

जिसका प्रयोग किया जाता है। बहस के दौरान परमाधिकार शक्तियों के अनेक उदाहरण दिए गए, जो, जैसी कि इस समय ठीक ही सलाह दी गई है, मेरी राय में, समुचित रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन का विषय नहीं बनाई जा सकती थीं। परमाधिकार शक्तियां, जैसे कि संधि करने, क्षेत्र की प्रतिरक्षा, दया के परमाधिकार, सम्मान-प्रदान, संसद् के विघटन और मंत्रियों की नियुक्ति आदि से संबंधित शक्तियां, मेरी राय में, न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन नहीं हैं, क्यों उनकी प्रकृति और विषय-वस्तु इस प्रकार की है कि वे न्यायिक प्रक्रिया के अध्यधीन नहीं हैं.....।"

(पृष्ठ 418)

23. ऐसे विषयों में न्यायिक आत्म-नियंत्रण का यही संकेत डे स्मिथकृत "ज्युडिशियल रिव्यू आफ एडमिनिस्ट्रेटिव ऐक्शन" में इस प्रकार उपलब्ध है :—

"न्यायिक आत्म-नियंत्रण ऐसे मामलों में और भी स्पष्ट था, जिनमें उस वस्तु स्थिति के न होने का अभिकथन करने के बजाय, जिस पर उसके प्रयोग की विधि-मान्यता वर्णित की गई थी, स्वयं विवेकाधिकार के दुरुपयोग का अभिकथन करके, वैवेकिक शक्ति के प्रयोग को आक्षेपित करने के प्रयास किए गए थे। न्यायालयों ने व्यापक वैवेकिक शक्तियों की मंजूरी में विवक्षित परिसीमाएं पढ़ने और समझने में ठीक ही अनिच्छा दर्शित की, जिन शक्तियों का राष्ट्रीय नीति की व्यापक विचारणाओं के आधार पर प्रयोग किया जा सकता है.....।" (पृष्ठ 32)

41. इस संबंध में **पुहलोफर और एक अन्य बनाम हिलिंग्टन लंदन बारो काउंसिल**[1] वाले मामले के प्रति निर्देश करना भी उपयोगी होगा, जिसमें लार्ड ब्राइटमैन ने, जिनसे अन्य माननीय न्यायाधीशों ने सहमति व्यक्त की, यह कहा :—

".....जहां किसी तथ्य का अस्तित्व या अस्तित्वहीनता किसी लोक निकाय के निर्णय और विवेक पर छोड़ दी जाती है और उस तथ्य में स्पष्ट से लेकर वाद विवादयोग्य (विचारणीय) से काल्पनिक तथ्यों का व्यापक परिदृश्य अंतर्वलित होता है, वहां न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह उस तथ्य का विनिश्चय ऐसे लोक निकाय के लिए छोड़ दें, जिसे संसद् ने विनिश्चय करने की शक्ति सौंपी है, सिवाय ऐसे मामले में, जिसमें यह स्पष्ट है कि लोक निकाय जानबूझकर या अनजाने अनुचित रूप में कार्य कर रहे हैं।"

42. हमारे मतानुसार, यह सिद्धांत उस सीमा को अवधारित करने के लिए वर्तमान मामले में भी उसी प्रकार लागू होता है, मात्र जिस सीमा तक अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा न्याय्य है।

43. अब प्रश्न उस स्थिति को अवधारित करने के लिए लागू की जाने वाली कसौटी का है, जिसमें न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है या, दूसरे शब्दों में, संविवाद न्याय्य है। अनुच्छेद 365 में धारणा-उपबंध इस बात का संकेत देता है कि

[1] (1986) अपील केसेज 484

उसकी परिधि के अंतर्गत आने वाले मामलों की, वस्तुपरक मानक लागू करके, न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है। वे तथ्य, जिन्हें यह विधिक कल्पना लागू होती है कि सांविधानिक तंत्र विफल हो गया है, विनिर्दिष्ट है और उनका अस्तित्व वस्तुपरक अवधारण के योग्य है। अतः यह अभिनिर्धारित करना युक्तिसंगत है कि अनुच्छेद 365 के अंतर्गत आने वाले मामले न्याय्य हैं।

44. अनुच्छेद 356 में "या अन्यथा" पद से ऐसी सामग्री की व्यापक शृंखला उपदर्शित होती है, जिस पर राष्ट्रपति द्वारा राय बनाए जाने के लिए विचार किया जा सकता है। स्पष्टतः, उक्त सामग्री में ऐसी सामग्री सहित, अनेक काल्पनिक बातें भी अंतर्विष्ट हो सकती हैं, जो सामग्री कठोर अर्थ में विधिक साक्ष्य नहीं है, जिसकी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता को न्यायालय में नहीं परखा जा सकता है। ऐसे मामले में बनाई गई अंतिम राय अधिकांशतः आत्मपरक राजनैतिक निर्णय होगी। ऐसी सामग्री की संवीक्षा करने और ऐसे संविवाद का समाधान करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानक नहीं हैं। अपनी प्रकृति के कारण ही ऐसा संविवाद न्याय्य नहीं हो सकता है। ऐसा प्रतीत होगा कि इस कारण ऐसे सभी मामले न्याय्य नहीं हैं।

45. इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऐसी स्थितियों की, जिनमें कुछ काल्पनिक बातों और अनुमानों सहित, अनेक तथ्यों और परिस्थितियों से, आत्मपरक रूप में सांविधानिक तंत्र के विफल होने का अनुमान किया जाता है, जिनके परिणामस्वरूप आत्मपरक राजनीतिक विनिश्चय किया जाता है, न्यायिक रूप में प्रबंधनीय मानकों के अभाव में, न्यायिक संवीक्षा अनुज्ञेय नहीं है। ये राजनीतिक विनिश्चय, केवल पश्चात्वर्ती निर्वाचन-अधिमत द्वारा ही शोधन (शुद्धि) की परिकल्पना करते हुए, न्यायिक अहस्तक्षेप की अपेक्षा करते हैं, जब तक कि उन्हें पहले संसद् में शुद्ध नहीं कर दिया जाता।

46. दूसरे शब्दों में, केवल ऐसे मामले, जो यह विनिश्चय करने के लिए कि क्या सांविधानिक तंत्र विफल हो गया है, पूर्णतः आत्मपरक मानकों का लागू किया जाना अनुज्ञात करते हैं, न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन हैं और शेष मामले, जिनमें आत्मपरक समाधान का महत्वपूर्ण क्षेत्र कुछ काल्पनिक बातों या अनुमानों पर निर्भर करता है, न्याय्य नहीं है क्योंकि संविवाद का समाधान करने के लिए न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानक नहीं है। और, वे मामले केवल राजनीतिक संवीक्षा और शुद्धि के अध्यधीन ही हैं, चाहे विद्यमान राजनीतिक परिदृश्य में उनका महत्व कुछ भी क्यों न हो। यही संविधान की स्कीम प्रतीत होती है।

47. प्रशासनिक कार्यवाही की विधिमान्यता और **वि बेरियम केमिकल्स लि० और एक अन्य बनाम दि कंपनी ला बोर्ड और अन्य**[1] वाले मामले में और उस श्रेणी के अन्य मामलों में भी, उपदर्शित, उसकी अविधिमान्यता के आधारों को निश्चित करने की कसौटी अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा को परखने और उसे अविधिमान्य करने के लिए लागू नहीं होती है। लागू होने वाली कसौटी ऊपर उपदर्शित की जा चुकी है और अविधि-

[1] [1966] सप्ली० एस० सी० आर० 311.

मान्यता के आधार **राजस्थान राज्य और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में वर्णित किए जा चुके हैं ।

48. अनुच्छेद 74(2) ऐसी सामग्री प्रस्तुत किए जाने के लिए कोई वर्जन नहीं है, जिस पर मंत्रि-परिषद् की सलाह यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि क्या मामला न्याय्य क्षेत्र के अंतर्गत आता है और उसके आधार पर कार्य करने के लिए आधारित होती है, जब संविवाद न्याय्य पाया जाता है, किंतु वह साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार के दावे के अधीन है । इस तथ्य पर न्या० सावंत की राय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है । अतः हम **राजस्थान राज्य और अन्य बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस मुद्दे पर व्यक्त भिन्न मत से सहमत होने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं, जिसका हमें खेद है, यद्यपि हम इस बात पर सहमत हैं कि विनिश्चय में न्याय्यता के क्षेत्र के पहलू पर और उसमें उपदर्शित अविधिमान्यता के आधारों पर पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता नहीं है ।

49. मामले को इस दृष्टि से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित परिधि को देखते हुए, ऐसे मामलों में आशंका से कोई कार्यवाही अनुज्ञेय नहीं होगी; और चूंकि निर्वाचन-अधिमत अंतिम नियंत्रण (उपाय) है, अतः न्यायालय सारभूत अनुतोष केवल उसी स्थिति में अनुदत्त कर सकते हैं, यदि विवाद्यक ऐसे मामलों में जीवंत रहता है, जो न्याय्य हैं । **किहोतो होलोहन बनाम जैचिल्लहू और अन्य**[2] वाले मामले में यह बताया गया :—

> "न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमित परिधि को देखते हुए, जो पैरा 6 में अंतिमता-खण्ड के कारण उपलब्ध है, और सांविधानिक अर्थान्वयन (आशय) और न्यायनिर्णयन करने की शक्ति के धारक अर्थात् अध्यक्ष/सभापति की प्रास्थिति को ध्यान में रखते हुए, अध्यक्ष/सभापति द्वारा विनिश्चय किए जाने से पूर्व के किसी भी प्रक्रम पर न्यायिक पुनर्विलोकन उपलब्ध नहीं हो सकता है, और आशंका के रूप में कोई भी कार्यवाही अनुज्ञेय नहीं होगी । और न कार्यवाही के अंतर्वलित प्रक्रम पर ही कोई हस्तक्षेप अनुज्ञेय होगा ।"

50. यह भी स्पष्ट है कि मात्र संसदीय अनुमोदन का, अनुज्ञेय सीमा तक न्यायिक पुनर्विलोकन को अपवर्जित करने का प्रभाव नहीं होता है । **सरोजिनी रामस्वामी (श्रीमती) बनाम भारत संघ और अन्य**[3] वाले मामले में यह बताया गया है :—

> 72. किन्तु हम यह कहना भी उचित समझते हैं कि प्रक्रिया (कार्यवाही) के संसदीय भाग का हस्तक्षेप, यदि दोषिता का निष्कर्ष निकाला जाता है, जो श्री सिब्बल के अनुसार, उसके पश्चात् न्यायिक पुनर्विलोकन को पूर्णतः अपवर्जित करेगा, मिथ्या धारणा पर आधारित है, क्योंकि उस क्षेत्र में भी सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन

---

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 1107=ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361=[1978] 1 एस० सी० आर० 1.

[2] जे० टी० (1992) 1 एस० सी० 600=1992 सप्ली० एस० सी० सी० 651.

[3] जे० टी० (1992) 4 एस० सी० 1=(1992) 4 एस० सी० सी० 506.

के बारे में, केशव सिंह वाले मामले में न्यायालय के विनिश्चय के पश्चात्, कोई संदेह नहीं रह गया है।

73. इस प्रक्रम पर, न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और परिधि के प्रति निर्देश, जैसा कि उसे समान परिस्थितियों में समझा गया है, सहायक होगा। एच० डब्ल्यू० आर० वाडे-कृत "एडमिनिस्ट्रेटिव ला" (छठा संस्करण) "सावरेन्टी आफ पार्लियामेंट" (संसद की सम्प्रभुता) शीर्षक के अंतर्गत "कांस्टीटयूशनल फाउन्डेशन" आफ दि पावर्स आफ दि कोर्ट (न्यायालय की शक्तियों के सांविधानिक आधार) अध्याय में संसद् के हस्तक्षेप के प्रभाव को इस प्रकार वर्णित किया गया है। (पृष्ठ 29)

"·····ऐसे अनेक मामले हैं, जिनमें सदनों के संकल्पों द्वारा, किसी प्रशासनिक आदेश या विनियमों का, कानून द्वारा, अनुमोदन किए जाने की अपेक्षा की गई है। किंतु यह प्रक्रिया किसी भी रीति में उक्त आदेश या विनियम को, शक्ति-बाह्यता के सिद्धांत के अधीन न्यायालय द्वारा निंदित किए जाने के विरुद्ध संरक्षण प्रदान नहीं करती है यदि वह पूर्णतः अधिनियम के अनुसार नहीं है। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि चुनौती सदनों द्वारा अपने अनुमोदन दिए जाने से पूर्व दी गई है या उसके पश्चात्।"

बाद में पृष्ठ 411 पर वाडे ने यह कहा है कि "सांविधानिक सिद्धांत के अनुसार संसदीय अनुमोदन न्यायिक पुनर्विलोकन की सामान्य क्रिया को प्रभावित नहीं करता है।" पृष्ठ 870 पर, "न्यायिक पुनर्विलोकन" की चर्चा करते हुए, वाडे ने इस स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया —

"जैसा कि इन मामलों से दर्शित होता है, न्यायिक पुनर्विलोकन हाउस आफ लार्ड्स के इस विनिर्णय के बावजूद कि युक्तियुक्तता की कसौटी सामान्य रीति में प्रवर्तित नहीं होनी चाहिए, इस तथ्य द्वारा किसी भी रीति में निषिद्ध नहीं किया है कि नियम या विनियम संसद के समक्ष रखे जा चुके गए हैं और अनुमोदित किए जा चुके हैं। अपील न्यायालय ने इस तथ्य पर बल दिया है कि अधीनस्थ विधान, जैसे कि दोनों सदनों द्वारा आर्डर इन कौंसिल के अनुमोदित प्रारूप, के मामले में, न्यायालय, निस्संदेह, इस प्रश्न पर विचार करने में सक्षम होंगे कि आदेश शक्ति के अंतर्गत होने के अर्थ में, समुचित रीति में किया गया था या नहीं।"

74. अतः स्पष्ट संकेत यह है कि किसी कार्यवाही का या किसी बाह्य प्राधिकारी द्वारा रिपोर्ट का भी संसदीय अनुमोदन मात्र, जब ऐसे अनुमोदन के बिना, कार्यवाही या रिपोर्ट स्वतः निष्प्रभाव है, अनुज्ञेय आधारों पर न्यायिक पुनर्विलोकन को अपवर्जित करने का प्रभाव नहीं होता है।

51. इस सिद्धांत को लागू करने पर केवल मेघालय वाला मामला न्याय्य है और वह उद्घोषणा अविधिमान्य थी, जबकि मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान और कर्नाटक से संबंधित अधिसूचनाएं न्याय्य नहीं हैं। उत्तर प्रदेश से संबंधित उद्घोषणा को ठीक ही चुनौती नहीं दी गई है। तथापि, मेघालय में आयोजित पश्चात्वर्ती निर्वाचनों को देखते हुए,

वह अब जीवंत विवाद्यक नहीं रह गया है और इसलिए उस मामले में भी कोई सारभूत अनुतोष अनुदत्त (मंजूर) करने का कोई औचित्य नहीं है ।

52. इस सीमा तक, हमारा न्याय्यता के प्रश्न पर मतभेद है । मामले को इस दृष्टि से देखते हुए, हमारे लिए शेष विषयों पर कोई राय व्यक्त करना आवश्यक नहीं है । हमारे मतानुसार, राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ आदि (ऊपर निर्दिष्ट) वाले मामले में किए गए विनिश्चय पर, सिवाय उपदर्शित सीमा के, पुनः विचार किए जाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

न्या० सावंत—(न्या० कुलदीप सिंह की ओर से और अपनी ओर से)

53. अनुच्छेद 356 का परिसंघीय संविधान के अधीन, जो हमने अंगीकृत किया है, सरकार के जनतांत्रिक संसदीय रूप और राज्यों की स्वायत्तता से महत्त्वपूर्ण संबंध है । अतः उक्त अनुच्छेद ने 6 राज्यों में सरकारों के हटाए जाने और विधानसभाओं के विघटन की पृष्ठभूमि में, जिनसे हमारा यहां संबंध है, उक्त अनुच्छेद के अधीन शक्ति के प्रयोग द्वारा विभिन्न अवसरों और विभिन्न स्थितियों में, इस न्यायालय का ध्यान आकर्षित किया है । वह निर्णायक प्रश्न, जो सभी मामलों में विचारार्थ उद्भूत हुआ है, यह है कि क्या राष्ट्रपति को संविधान के अनुच्छेद 356 (1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए अनियंत्रित शक्तियां प्राप्त हैं । इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित प्रश्नों पर निर्भर करता है—

(क) क्या उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है;

(ख) यदि हां, तो इस संबंध में न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि क्या है; और

(ग) "ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें इस संविधान के उपबंधों के अनुसार राज्य का शासन नहीं चलाया जा सकता" पद का, जो अनुच्छेद 356 (1) में प्रयुक्त हुआ है, क्या अर्थ है ।

54. अनुच्छेद 356 इस प्रकार है—

"356. राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में उपबंध—

(1) यदि राष्ट्रपति का, किसी राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा, यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा—

(क) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधानमण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा;

(ख) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधानमण्डल की शक्तियां संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी;

(ग) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित इस संविधान के किन्हीं उपबंधों के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलम्बित करने के लिए उपबंधों सहित ऐसे आनुषांगिक और पारिणामिक उपबंध कर सकेगा जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों :

परन्तु इस खण्ड की कोई बात राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य किसी शक्ति को अपने हाथ में लेने या उच्च न्यायालयों से संबंधित इस संविधान के किसी उपबंध के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलम्बित करने के लिए प्राधिकृत नहीं करेगी ।

(2) ऐसी कोई उद्घोषणा किसी पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा वापस ली जा सकेगी या उसमें परिवर्तन किया जा सकेगा ।

(3) इस अनुच्छेद के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और जहां वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है वहां वह दो मास की समाप्ति पर, यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है तो, प्रवर्तन में नहीं रहेगी :

परन्तु यदि ऐसी कोई उद्घोषणा (जो पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है) उस समय जारी की जाती है जब लोकसभा का विघटन हो गया है या लोक सभा का विघटन इस खण्ड में निर्दिष्ट दो मास की अवधि के दौरान हो जाता है और यदि उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया जाता है, किन्तु ऐसी उद्घोषणा के संबंध में कोई संकल्प लोक सभा द्वारा उस अवधि की समाप्ति से पहले पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से जिसको लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोक सभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है तो, प्रवर्तन में नहीं रहेगी ।

(4) इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, ऐसी उद्घोषणा के जारी किए जाने की तारीख से छह मास की अवधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी :

परन्तु यदि और जितनी बार ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो और उतनी बार वह उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, उस तारीख से जिसको वह इस खण्ड के अधीन अन्यथा प्रवर्तन में नहीं रहती, छह मास की और अवधि तक प्रवृत बनी रहेगी, किंतु ऐसी उद्घोषणा किसी भी दशा में तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नहीं रहेगी :

परन्तु यह और कि यदि लोक सभा का विघटन छह मास की ऐसी अवधि के दौरान हो जाता है और ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने

ला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया गया है, किन्तु ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने के संबंध में कोई संकल्प लोक सभा द्वारा उक्त अवधि के दौरान पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से जिसकी लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोक सभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है तो, प्रवर्तन में नहीं रहेगी :

परन्तु यह भी कि पंजाब राज्य की बाबत 1987 के मई मास के 11वें दिन खण्ड (1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा के मामले में, इस खण्ड के प्रथम परंतुक में "तीन वर्ष" के प्रति निर्देश का "पांच वर्ष" के प्रति निर्देश के रूप में अर्थान्वयन किया जाएगा ।

(5) खण्ड (4) में किसी बात के होते हुए भी, खण्ड (3) के अधीन अनुमोदित उद्घोषणा के जारी किए जाने की तारीख से एक वर्ष की समाप्ति से आगे किसी अवधि के लिए ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने के संबंध में कोई संकल्प संसद् के किसी सदन द्वारा तभी पारित किया जाएगा जब—

(क) ऐसे संकल्प के पारित किए जाने के समय आपात की उद्घोषणा, यथास्थिति, सम्पूर्ण भारत में अथवा संपूर्ण राज्य या उसके किसी भाग में प्रवर्तन में है ; और

(ख) निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर देता है कि ऐसे संकल्प में विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान खण्ड (3) के अधीन अनुमोदित उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखना संबंधित राज्य की विधानसभा के साधारण निर्वाचन कराने में कठिनाइयों के कारण आवश्यक है :

परन्तु इस खण्ड की कोई भी बात पंजाब राज्य की बाबत 1987 के मई मास के 11वें दिन खण्ड (1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा को लागू नहीं होगी ।"

55. इससे पूर्व कि हम अनुच्छेद 356 के उपबंधों का विश्लेषण करें, उस संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है, जिसमें उक्त अनुच्छेद संविधान में वर्णित है । उक्त अनुच्छेद 352 से 360 के परिवार (समूह) से संबंध रखता है, जो "आपात उपबंध" से सम्बद्ध भाग-18 में सम्मिलित किए गए हैं, जैसा कि उक्त भाग के शीर्षक में विनिर्दिष्ट रूप से घोषित किया गया है । पूर्वगामी अनुच्छेदों में से अनुच्छेद 352 आपात स्थिति की उद्घोषणा के संबंध में है । उसमें यह कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वह उद्घोषणा द्वारा सम्पूर्ण भारत या उसके राज्यक्षेत्र के ऐसे भाग के संबंध में जो उद्घोषणा में विनिर्दिष्ट किया जा जाए इस आशय की घोषणा कर सकेगा । उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के स्पष्टीकरण में यह कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह का संकट सन्निकट है तो यह घोषित करने वाली आपात की उद्घोषणा कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या

सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, युद्ध या ऐसे किसी आक्रमण या विद्रोह के वास्तव में होने से पहले भी की जा सकेगी। उक्त अनुच्छेद के खण्ड (4) में यह अपेक्षा की गई है कि इस अनुच्छेद के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और जहां वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है वहां, वह एक मास की समाप्ति पर, यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है तो, प्रवर्तन में नहीं रहेगी। हमारे लिए उक्त अनुच्छेद के अन्य उपबंधों के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है। अनुच्छेद 353 में आपात (स्थिति) की उद्घोषणा के प्रभाव के प्रति निर्देश किया गया है। उसमें यह कहा गया है कि जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, तब इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस बारे में निदेश देने तक होगा कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। उसमें यह भी कहा गया है कि आपात के दौरान किसी विषय के संबंध में विधियां बनाने की संसद् की शक्ति के अंतर्गत, इस बात के होते हुए भी कि वह संघ सूची में प्रगणित विषय नहीं है, ऐसी विधियां बनाने की शक्ति होगी जो उस विषय के संबंध में संघ को या संघ के अधिकारियों और प्राधिकारियों को शक्तियां प्रदान किया जाना और कर्तव्यों का अधिरोपित किया जाना प्राधिकृत करती हैं। अनुच्छेद 354 द्वारा राष्ट्रपति को यह निदेश करने की शक्ति प्रदत्त की गई है कि इस संविधान के अनुच्छेद 268 से अनुच्छेद 269 के सभी या कोई उपबंध ऐसी किसी अवधि के लिए, जो उस आदेश में विनिर्दिष्ट की जाए और जो किसी भी दशा में उस वित्तीय वर्ष की समाप्ति से आगे नहीं बढ़ेगी, जिसमें ऐसी उद्घोषणा प्रवर्तन में नहीं रहती है, ऐसे अपवादों या उपान्तरणों के अधीन रहते हुए प्रभावी होंगे, जैसे वह ठीक समझे।

अनुच्छेद 358 में यह उपबन्ध किया गया है कि जब युद्ध या बाह्य आक्रमण के कारण भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा के संकट में होने की घोषणा करने वाली आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है तब अनुच्छेद 19 की कोई बात भाग 3 में यथापरिभाषित राज्य की कोई ऐसी विधि बनाने की या कोई ऐसी कार्यपालिका कार्रवाई करने की शक्ति को, जिससे वह राज्य उस भाग में अन्तर्विष्ट उपबंधों के अभाव में बनाने या करने के लिए सक्षम होता, निर्बन्धित नहीं करेगी, किंतु इस प्रकार बनाई गई कोई विधि उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रहने पर अक्षमता की मात्रा तक उन बातों के सिवाय तुरन्त प्रभावहीन हो जाएगी, जिन्हें विधि के इस प्रकार प्रभावहीन होने से पहले किया गया है या करने का लोप किया गया है। अनुच्छेद 359 द्वारा राष्ट्रपति को यह घोषणा करने के लिए शक्ति प्रदत्त की गई है कि जहां आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है वहां (अनुच्छेद 20 और अनुच्छेद 21 को छोड़कर) भाग 3 द्वारा प्रदत्त ऐसे अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए, जो उस आदेश में उल्लिखित किया जाए, किसी न्यायालय को समावेदन करने का अधिकार निलम्बित रहेगा।

56. अनुच्छेद 355 में एक महत्त्वपूर्ण उपबंध किया गया है। उसके द्वारा संघ पर बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करने और प्रत्येक राज्य की सरकार का इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाए जाना सुनिश्चित करने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है। यह अनुच्छेद संविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 277-क का समरूपी

है। संविधान सभा में उक्त अनुच्छेद का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए डा० अम्बेडकर ने यह कहा—

"कुछ लोग यह समझ सकते हैं कि अनुच्छेद 277-क मात्र एक पवित्र (पुनीत) घोषणा है; कि उसे संविधान में नहीं होना चाहिए। प्रारूपण समिति ने इससे भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है और इसलिए मैं यह स्पष्ट करना चाहूंगा कि प्रारूपण समिति ऐसा क्यों महसूस करती है कि अनुच्छेद 277-क संविधान में होना चाहिए। मैं समझता हूं कि इस बात पर सबकी सहमति है कि ऐसे अनेक उपबंधों के होते हुए भी, जो संविधान में अंतर्विष्ट हैं, जिनके द्वारा केन्द्र को प्रान्तों पर अध्यारोही प्रभाव रखने के लिए शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, हमारा संविधान परिसंघीय संविधान है और जब हम यह कहते हैं कि संविधान परिसंघीय संविधान है, तब उसका अर्थ यह है कि अपने-अपने क्षेत्र में, जो उन्हें समनुदेशित किए गए हैं, प्रान्त उतने ही प्रभुत्ता-संपन्न हैं जितना कि केन्द्र उस क्षेत्र में प्रभुतासंपन्न है, जो उसे समनुदेशित किया गया है। दूसरे शब्दों में, उन उपबंधों को छोड़कर, जिनके द्वारा केन्द्र को ऐसे किसी विधान पर अध्यारोही प्रभाव रखने के लिए अनुज्ञात किया गया है, जो प्रान्तों द्वारा पारित किया जाए, प्रान्तों को, संबंधित प्रांत की शान्ति व्यवस्था और सुशासन हेतु कोई विधि बनाने के लिए पूर्ण प्राधिकार प्राप्त है। अब, जब कि संविधान द्वारा प्रान्तों को प्रभुतासंपन्न बनाया गया है और उन्हें प्रान्त की शान्ति व्यवस्था और सुशासन हेतु कोई विधि बनाने के लिए पूर्ण शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, तब वस्तुतः केन्द्र या किसी अन्य प्राधिकारी/प्राधिकरण का हस्तक्षेप वर्जित माना जाना चाहिए। क्योंकि वह (हस्तक्षेप) प्रान्त के प्रभुतासंपन्न प्राधिकार का अतिक्रमण होगा। यह एक आधारभूत प्रतिपादना है, जिसे, मैं समझता हूं, हमें इस तथ्य के कारण स्वीकार करना चाहिए कि हमारा परिसंघीय संविधान है। ऐसी स्थिति में, यदि केन्द्र प्रान्तीय कार्यों के प्रशासन में हस्तक्षेप करता है, जैसी कि अनुच्छेद 278 और 278-क के आधार पर हम केन्द्र को प्राधिकृत करने की प्रस्थापना कर रहे हैं, तो ऐसा किसी बाध्यता के अधीन और द्वारा ही किया जाना चाहिए, जो संविधान द्वारा केन्द्र पर अधिरोपित की गई है। अतिक्रमण ऐसा अतिक्रमण नहीं होना चाहिए, जो सनकपूर्ण, मनमाना और विधि द्वारा अनधिकृत हो। अतः यह स्पष्ट करने के उद्देश्य से कि अनुच्छेद 278 और 278-क केन्द्र द्वारा प्रान्त के प्राधिकार का सनकपूर्ण अतिक्रमण होने के लिए आशयित नहीं है, हम अनुच्छेद 277-क जोड़ने की प्रस्थापना करते हैं। जैसा कि माननीय सदस्यगण देखेंगे, अनुच्छेद 277-क में यह कहा गया है कि संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह प्रत्येक एकक को संरक्षण प्रदान करे और संविधान के उपबंधों को बनाए रखे। जहां तक ऐसी बाध्यता का संबंध है, यह देखा जाएगा कि केवल हमारे संविधान में ही यह कर्तव्य और बाध्यता सर्जित नहीं की जा रही है। अमरीकी संविधान में भी ऐसे ही खण्ड मौजूद हैं। वे आस्ट्रेलियाई संविधान में भी मौजूद हैं, जहां संविधान में स्पष्ट शब्दों में यह उपबंध किया गया है कि केन्द्र सरकार का यह कर्तव्य होगा कि वह एककों या राज्यों को बाह्य आक्रमण या आंतरिक अशान्ति से संरक्षण प्रदान करे। हम तो केवल यही प्रस्थापना करने जा रहे हैं कि अमरीकी और आस्ट्रेलियाई संविधानों में प्रतिपादित सिद्धांत में एक और खण्ड जोड़

दिया जाए, अर्थात् संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह इस विधि द्वारा यथाअधिनियमित, प्रांतों में संविधान (की व्यवस्था) को बनाए रखे। इसमें कोई बात नई नहीं है और, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, इस तथ्य को देखते हुए कि हम राज्यों को पूर्ण शक्तियां सौंप रहे हैं और उन्हें स्वयं उनके क्षेत्र में प्रभुतासंपन्न बना रहे हैं, यह उपबंध करना आवश्यक है कि यदि केन्द्र द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र का कोई अतिक्रमण किया जाता है, तो वह इस बाध्यता के आधार पर ही होगा। वह उस कर्तव्य और बाध्यता की पूर्ति के रूप में ही होगा और जहां तक संविधान का संबंध है, उसे सनकपूर्ण, मनमाना, अनधिकृत कार्य नहीं माना जा सकता है। इसीलिए हमने अनुच्छेद 277-क जोड़ा है।" (सी० ए० डी० जिल्द 9, पृष्ठ 133)

57. संविधान के प्रारूप के ऊपर निर्दिष्ट अनुच्छेद 278 और 278-क संविधान के क्रमशः वर्तमान अनुच्छेद 356 और 357 के समरूपी हैं। इस प्रकार अनुच्छेद 355 से यह स्पष्ट है कि वह राज्य सरकार के कृत्यकरण में हस्तक्षेप हेतु शक्ति का कोई स्वतंत्र स्रोत नहीं है बल्कि वह अनुच्छेद 356 और 357 के अधीन अपनाए जाने वाले अभ्युपायों के औचित्य की प्रकृति का है। तथापि इस संबंध में इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अनुच्छेद 355 में तीन स्थितियों के प्रति निर्देश किया गया है, (i) बाह्य आक्रमण, (ii) आंतरिक अशांति, और (iii) संविधान के अनुसार राज्यों की सरकारों का न चलाया जाना। अनुच्छेद 356 में केवल एक स्थिति, अर्थात् तृतीय स्थिति के प्रति ही निर्देश किया गया है। इसके विपरीत, अनुच्छेद 352 में, जिसमें आपात (स्थिति) की उद्घोषणा का उपबंध किया गया है, केवल एक स्थिति का उल्लेख है, अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है। "आंतरिक अशांति" पद से "सशस्त्र विद्रोह" की तुलना में निश्चित रूप से व्यापक अर्थ का बोध होता है और उसमें "सशस्त्र विद्रोह" से उत्पन्न स्थिति भी सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, आंतरिक अशांति के लिए आपात (स्थिति) की उद्घोषणा केवल उस स्थिति में की जा सकती है, यदि वह सशस्त्र विद्रोह के द्वारा उत्पन्न होती है; ऐसी उद्घोषणा किसी अन्य स्थिति द्वारा कारित आंतरिक अशांति के लिए नहीं की जा सकती है और न अनुच्छेद 356 के अधीन ही ऐसी उद्घोषणा जारी की जा सकती है, जब तक कि आंतरिक अशांति ऐसी स्थिति को जन्म नहीं देती है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। मात्र आंतरिक अशांति से, जो सशस्त्र विद्रोह नहीं है, अनुच्छेद 352 के अधीन आपात (स्थिति) की उद्घोषणा को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता और न ऐसी अशांति से अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा का जारी किया जाना ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है, जब तक कि उसके द्वारा राज्य की सरकार का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना निर्योग्य या निवारित नहीं कर दिया जाता है। अनुच्छेद 360 में हस्तक्षेप द्वारा वित्तीय आपात स्थिति की उद्घोषणा परिकल्पित की गई है, जब उनका यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय संकट में है। उसमें यह घोषित किया गया है कि ऐसी उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और वह दो मास की

समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उसका संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है। इस प्रकार संविधान के उसी भाग में दूसरे अनुच्छेदों में भी आपात उपबंध अंतर्विष्ट हैं।

58. आपात उपबंधों से संबंधित भाग-18 के इन सभी अनुच्छेदों में एक सामान्य सूत्र यह है कि उक्त उपबंधों का केवल उसी स्थिति में अवलंब लिया जा सकता है जब आपात स्थिति हो और वह उनमें वर्णित प्रकार की हो, न कि किसी अन्य प्रकार की। अनुच्छेद 352, 356 और 360 के अधीन आपात की उद्घोषणा राष्ट्रपति के, सुसंगत पुरोभाव्य शर्तों के होने के संबंध में, समाधान पर भी निर्भर है। अनुच्छेद 355 के अधीन संघ पर अधिरोपित कर्तव्य भी उसमें वर्णित दोनों अवस्थाओं में उद्भूत होता है।

59 आपात (स्थिति) से संबंधित इन अन्य उपबंधों के प्रकाश में ही हमें अनुच्छेद 356 के उपबंधों का अर्थान्वयन करना है। अनुच्छेद 356(1) के निर्णायक पद (शब्द) इस प्रकार हैं—यदि राष्ट्रपति का, "किसी राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा, यह समाधान हो जाता है" कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन, "इस संविधान के उपबंधों के अनुसार" नहीं चलाया जा सकता है। राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा के जारी किए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्तें इस प्रकार हैं—(क) राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट के आधार पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान होना चाहिए, (ख) कि वास्तव में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रपति का समाधान वस्तुपरक सामग्री पर आधारित होना है। वह सामग्री राज्यपाल द्वारा उन्हें प्रेषित रिपोर्ट में या अन्यथा अथवा रिपोर्ट और अन्य स्रोतों, दोनों से उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार उपलब्ध वस्तुपरक सामग्री से यह अवश्य ही उपदर्शित होना चाहिए कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। इस प्रकार ऐसी वस्तुपरक सामग्री का होना राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा जारी किए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्त है, जिससे यह उपदर्शित होता हो कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। जब एक बार ऐसी सामग्री का अस्तित्व दर्शित कर दिया जाता है, तो उक्त सामग्री पर आधारित राष्ट्रपति के समाधान को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। किंतु यदि राष्ट्रपति के समक्ष ऐसी कोई वस्तुपरक सामग्री नहीं है या उनके समक्ष प्रस्तुत सामग्री से युक्तियुक्त रूप में यह ध्वनित (दर्शित) नहीं होता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, तो उद्घोषणा को चुनौती दी जा सकती है।

60. इस तथ्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत वस्तुपरक सामग्री से यह अवश्य उपदर्शित होना चाहिए कि राज्य का शासन "संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।" दूसरे शब्दों में, उक्त उपबंधों में यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्रपति के समक्ष सामग्री यह उपदर्शित करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए कि जब तक कि उद्घोषणा जारी नहीं की जाती है, राज्य के कार्यों का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सम्भव नहीं है। राज्य में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक स्थिति राष्ट्रपति को उद्घोषणा जारी करने के लिए हकदार नहीं बनाएगी, बल्कि ऐसी स्थिति ही राष्ट्रपति को हकदार बनाएगी, जिससे यह दर्शित होता है कि सांविधानिक (संविधान-सम्मत) शासन

असम्भव हो गया है। उद्घोषणा के जारी किए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्त के परिमापी (प्राचल) जारी की गई उद्घोषणा के न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति की परिधि और परिसीमाओं दोनों ही, को उपदर्शित करते हैं। हमारे समक्ष इसके बारे में कोई विवाद नहीं उठाया गया है कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है। केवल यही दलील दी गई है कि पुनर्विलोकन की परिधि सीमित है। हमारे मतानुसार, उक्त अनुच्छेद के उपबंधों की भाषा में न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और परिसीमाओं की बाबत पर्याप्त मार्गदर्शक सिद्धांत अंतर्विष्ट हैं।

61. इससे पूर्व कि हम अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा के न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और परिसीमाओं पर विचार करें, भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री पाराशरन् द्वारा दी गई दलील पर विचार करना आवश्यक है। उन्होंने यह दलील दी कि प्रशासनिक विधि और सांविधानिक विधि में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति की प्रकृति और परिधि में अंतर है। प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में, न्यायालय की शक्ति, कानूनी शक्ति के प्रयोग में लोक प्राधिकारियों/प्राधिकरणों के विधिक नियंत्रण तक विस्तारित होती है और इसलिए वह न केवल शक्ति के आधिक्य और दुरुपयोग को निवारित करने के लिए बल्कि शक्ति के अनियमित प्रयोग को निवारित करने के लिए भी विस्तारित होती है, जबकि सांविधानिक विधि में न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि केवल ऐसे कार्यों को निवारित करने तक ही सीमित है, जो असंवैधानिक है या संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों से बाह्य हैं। अतः वे क्षेत्र, जिनमें न्यायिक शक्ति प्रवर्तित हो सकती है, सीमित हैं और ऐसे क्षेत्र से संबंध रखते हैं, जिसमें कार्यपालिका के कार्य या अधिनियमित विधान कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के बीच शक्ति के विभाजन या राज्यों और केन्द्र के बीच शक्तियों के वितरण की स्कीम का उल्लंघन करते हैं। जहां कोई अधिकार-पत्र है, जैसा कि हमारे संविधान के अधीन है, वहां उक्त क्षेत्रों के अंतर्गत मूल अधिकारों का उल्लंघन भी आता है। सांविधानिक विधि में, उक्त उल्लंघनों पर विचार करने से परे, न्यायिक शक्ति की कोई परिधि नहीं है। उन्होंने यह दलील भी दी कि इसी प्रकार आनुपातिक या अयुक्तियुक्तता के सिद्धांत की सांविधानिक विधि में कोई भूमिका नहीं है तथा उक्त सिद्धांत की कसौटी पर कार्यपालिक कार्य और विधान की परख नहीं की जा सकती है और उनमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है।

62. हमें खेद है कि (चूंकि) यह दलील बहुत ही व्यापक है, अतः उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्य बातों के साथ-साथ, इस दलील में यह बात विवक्षित है कि यदि संविधान में सांविधानिक प्राधिकरणों/प्राधिकारियों द्वारा शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्व शर्तों का उपबंध किया भी गया है, तब भी न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकते हैं कि इन पूर्व शर्तों को पूरा किया गया है या नहीं। दूसरे, यदि किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए सांविधानिक प्राधिकारी/प्राधिकरण को शक्तियां सौंपी जाती हैं और यदि सम्बन्धित प्राधिकारी/प्राधिकरण उक्त प्रयोजन की पूर्ति की आड़ में किसी अननुज्ञेय उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन शक्तियों का प्रयोग करता है, तो ऐसे शक्ति प्रयोग को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। हमारे समक्ष इन प्रतिपादनाओं के समर्थन में कोई नजीर उपदर्शित नहीं की गई है। हम यह भी पाते हैं कि प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में विकसित न्यायिक पुनर्विलोकन के परिमापी (पैरामीटर) सांवि-

धानिक विधि के क्षेत्र के विरुद्ध नहीं हैं और वे सांविधानिक विधि के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र को भी उसी प्रकार लागू होते हैं। आनुपातिकता सिद्धांत के बारे में भी यह बात सच है।

63. अब हम प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में प्रतिपादित न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धांतों पर विचार करना उचित समझते हैं। जैसा कि **चीफ कान्स्टेबल आफ दि नार्थ वेल्स पुलिस बनाम इवान्स**[1] वाले मामले में लार्ड ब्राइटमैन ने बताया है, न्यायिक पुनर्विलोकन, जैसा कि उक्त पद में विवक्षित है, किसी विनिश्चय के विरुद्ध अपील नहीं है, बल्कि उस रीति का पुनर्विलोकन है, जिसमें निर्णय किया गया था। 'दूसरे शब्दों में, न्यायिक पुनर्विलोकन का सम्बन्ध विनिश्चय के गुणागुण से नहीं, बल्कि स्वयं विनिश्चय करने की प्रक्रिया से है। लार्ड डिपलाक ने **काउंसिल आफ सिविल सर्विस यूनियन्स बनाम मिनिस्टर फार दि सिविल सर्विस**[2] वाले मामले में आधारों के तीन शीर्ष प्रतिपादित किए हैं, जिन पर प्रशासनिक कार्यवाही न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा नियंत्रण के अध्यधीन है, अर्थात् (i) अवैधता, (ii) अयुक्तिसंगतता, और (iii) प्रक्रियात्मक अनौचित्य। उन्होंने यह भी कहा है कि उस समय तक प्रतिपादित उक्त तीनों आधारों द्वारा इस बात को अस्वीकार नहीं किया गया था कि "मामला प्रति मामला आधार पर आगे होने वाली घटनाएं समय के अनुक्रम में आगे आधार नहीं भी जोड़ सकती हैं" और उन्होंने यह कहा है कि "आनुपातिकता का सिद्धांत", जिसे यूरोप के आर्थिक समुदाय के अनेक सदस्यों द्वारा प्रशासनिक विधि में मान्यता प्रदत्त की गई है, भविष्य में स्वीकार किए जाने के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन हेतु सम्भव आधार बन सकता है। यहां यह बता देना उचित होगा कि हम अपने श्रम और सेवा विधि शास्त्र में कानूनी और न्यायिक रूप से उक्त आधार को पहले ही अंगीकृत कर चुके हैं। लार्ड डिपलाक ने आधारों के तीनों शीर्षों को स्पष्ट किया है। "अवैधता" से उनका अभिप्राय यह है कि विनिश्चय करने वाले को उस विधि को सही ढंग से समझना चाहिए, जो उसकी विनिश्चय करने की शक्ति को विनियमित करती है और उसे प्रभावी बनाना चाहिए तथा यह प्रश्न कि उसने ऐसा किया है या नहीं किया है, न्याय्य प्रश्न है। "अयुक्तिसंगतता" से उनका अभिप्राय अयुक्तियुक्तता से है। विनिश्चय इतना अन्यायपूर्ण (अनौचित्यपूर्ण) या तर्क अथवा स्वीकृत नैतिक मानकों के उल्लंघन में हो सकता है कि कोई समझदार आदमी, जिसने विनिश्चयार्थ प्रश्न पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया था, उस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकता था और यह विनिश्चय करना न्यायाधीशों का काम है कि विनिश्चय उक्त प्रवर्ग के अंतर्गत आता है या नहीं। "प्रक्रियात्मक अनौचित्य" से उनका अभिप्राय न केवल नैसर्गिक न्याय के आधारभूत नियमों का पालन करने में असफलता या प्रक्रियात्मक ऋजुता से कार्य करने में असफलता से है, बल्कि उन प्रक्रिया-संबंधी नियमों का अनुपालन करने में असफलता से भी है, जो विधायी लिखत में अभिव्यक्त रूप से अभिकथित किए गए हैं, जिसके द्वारा अधिकरण की अधिकारिता प्रदत्त की जाती है, वहां भी जहां ऐसी असफलता में नैसर्गिक न्याय का वचन अंतर्वलित नहीं है। जहां विनिश्चय ऐसा है, जो प्राइवेट विधि में प्रवर्तनीय अधिकारों या बाध्यताओं को परिवर्तित नहीं करता है, बल्कि किसी व्यक्ति को विधिसम्मत प्रत्याशाओं से ही वंचित करता है, वहां "प्रक्रियात्मक अनौचित्य" सामान्यतया वह एकमात्र आधार प्रदान करेगा, जिस पर विनिश्चय का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

[1] (1982) 3 आल इंग्लैंड रिपोर्ट 141.
[2] (1985) अपील केसेज (पृष्ठ 408).

64. डोनेल्डसन, एल० जे० ने आर० (सम्राट) बनाम क्राऊन कोर्ट एट कार्लिसले, एक्स पी मार्कस मूर[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया कि न्यायिक पुनर्विलोकन को परिवर्तित परिस्थितियों से निपटने के लिए विस्तारित किया जा सकता था, किंतु इस सीमा तक नहीं कि वह, अपीली प्रकृति का विकास करके, पुनर्विलोकन से भिन्न चीज बन जाए। न्यायिक पुनर्विलोकन के उपचार का प्रयोजन यह सुनिश्चित करना है कि व्यक्ति को, विवादग्रस्त विषयों का विनिश्चय करने के लिए न्यायपालिका की या विधि द्वारा गठित प्राधिकरण की राय के स्थान पर व्यक्तिगत न्यायाधीशों की राय को प्रतिस्थापित करने के लिए उचित व्यवहार किया जाता है। **सम्राट् बनाम पेनल आन टेक-ओवर्स एंड मर्जर्स एक्स पी गिनीज पीएलसी**[2] वाले मामले में,उन्होंने न्यायिक पुनर्विलोकन की अधिकारिता के प्रति इस रूप में निर्देश किया कि वह पर्यवेक्षी या "दीर्घकालीन" अधिकारिता है। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि, जब तक न्यायालय की शक्ति पर उस निर्बन्धन का पालन नहीं किया जाता है, न्यायालय शक्ति के दुरुपयोग को निवारित करने की आड़ में, स्वयं उस शक्ति को हड़प लेने का दोषी होगा। स्थिति यही है, भले ही विनिश्चय के विरुद्ध गुणागुण के आधार पर अपील का अधिकार उपलब्ध हो या न हो। न्यायालय का कर्तव्य स्वयं को वैधता के प्रश्न तक सीमित रखना है। उसका संबंध इस बात से है कि क्या विनिश्चय करने वाले प्राधिकारी/प्राधिकरण ने अपनी शक्तियों का अतिक्रमण किया, विधि की गलती की, नैसर्गिक न्याय के नियमों का भंग किया, ऐसा विनिश्चय किया, जो कोई भी युक्तिसंगत अधिकरण नहीं कर सकता था, या अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया।

65. लार्ड रोसकिल ने **कौंसिल आफ सिविल सर्विस यूनियन्स बनाम मिनिस्टर फार दि सिविल सर्विस**[3] वाले मामले में यह राय व्यक्त की कि "बेहतर होगा कि "नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत" पद को ऋजुतापूर्वक कार्य करने के कर्तव्य के उल्लेख द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाए·····"। यह अवधारित करना न्यायालयों का काम नहीं है कि कोई विशेष नीति या उस नीति के क्रियान्वयन में किए गए विशेष विनिश्चय ऋजु हैं या नहीं। उनका संबंध केवल उस रीति से है, जिसमें वे विनिश्चय किए गए हैं और ऋजुतापूर्वक कार्य करने के कर्तव्य का विस्तार हर मामले में काफी अलग-अलग होगा। इसमें अनेक बातें सामने आएंगी, जिनमें विनिश्चय की प्रकृति और विनिश्चय किए जाने से पूर्व दोनों ओर से अंतर्वलित व्यक्तियों का संबंध भी सम्मिलित है।

66. **पुह्लोफर बनाम हिलिंग्टन लन्दन बारो कौंसिल**[4] वाले मामले में लार्ड ब्राइटमैन ने यह कहा—

> "जहां किसी तथ्य का होना या न होना किसी लोक निकाय के निर्णय और विवेक पर छोड़ दिया जाता है और उस तथ्य में स्पष्ट से लेकर विचारणीय और उससे लेकर कल्पनीय तक व्यापक परिदृश्य अंतर्वलित है, वहां न्यायालय का यह

---

[1] (1981) टाइम्स, 26 अक्तूबर, डी सी.
[2] (1987)क्यू० बी० 815 (पृष्ठ 842).
[3] (1985) अपील केसेज 374 (पृष्ठ 414).
[4] (1985) अपील केसेज 484 (पृष्ठ 518).

काम है कि वह उस तथ्य के विनिश्चय को उस लोक निकाय के लिए छोड़ दे, जिसे संसद् ने विनिश्चय करने की शक्ति सौंपी है, सिवाय ऐसे मामलों में, जिनमें यह स्पष्ट है कि लोक निकाय जानबूझकर या अनजाने में अनुचित रूप से कार्य कर रहा है।"

67. **लीच बनाम डिप्टी गवर्नर आफ पार्कहर्स्ट प्रिजन**[1] वाले मामले में लार्ड ओलिवर ने यह कहा—

"किसी विनिश्चय का न्यायालयों के पर्यवेक्षण के अधीन होना, अंतिम विश्लेषण में, विनिश्चय की प्रकृति और परिणामों पर निर्भर होना चाहिए, न कि उस व्यक्ति के व्यक्तित्व या उसकी निजी परिस्थितियों पर, जिससे विनिश्चय करने के लिए कहा है।"

68. अब जब कि हम इस मुद्दे पर चर्चा कर ही रहे हैं, इसी विषय के संबंध में पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उपयोगी होगा, यद्यपि पाकिस्तान के संविधान के सुसंगत अनुच्छेदों के उपबंधों की भाषा एकजैसी नहीं है।

69. **मो० शरीफ बनाम फेडरेशन आफ पाकिस्तान**[2] वाले मामले में यह प्रश्न उद्भूत हुआ था कि क्या तारीख 29 मई, 1988 को राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) को विघटित करते हुए, राष्ट्रपति का आदेश संविधान के अनुच्छेद 58(2)(ख) के अधीन उन्हें प्रदत्त शक्तियों के अनुसार था। अनुच्छेद 57(2)(ख) इस प्रकार है—

*58(2). अनुच्छेद 48 के खण्ड (2) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए, राष्ट्रपति स्वविवेकानुसार राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) को भी विघटित कर सकेंगे, जहां उनकी राय में.....

(क).....

(ख) ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें परिसंघ (फेडरेशन) की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है और निर्वाचकगण से अनुरोध (का अवलंब) आवश्यक है।"

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

58(2). Notwithstanding anything contained in clause (2) of Article 48, the President may also disolve the National Assembly in his discretion where, in his opinion.....

(a) .....

(b) a situation has arisen in which the Government of the Federation cannot be carried on in accordance with the provisions of the Constitution and an appeal to electorate is necessary."

---

[1] (1988) अपील केसेज 533 (पृष्ठ 583).

[2] (1988) पी० एल० टी० लाहौर 725.

70. अनुच्छेद 48(2) के उपबंध इस प्रकार हैं—

*"खण्ड (1) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति ऐसे किसी विषय की बाबत स्वविवेकानुसार कार्य करेंगे, जिसकी बाबत उन्हें संविधान द्वारा इस प्रकार कार्य करने के लिए सशक्त किया गया है (और राष्ट्रपति द्वारा स्व-विवेकानुसार की गई किसी भी चीज/बात की विधिमान्यता को किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा)।"

71. राष्ट्रपतीय आदेश इस प्रकार था—

**"यत: उन उद्देश्यों और प्रयोजनों को, जिनके लिए राष्ट्रीय सभा निर्वाचित की गई थी, पूरा नहीं किया गया है;

और यत: देश में विधि और व्यवस्था की स्थिति खतरनाक सीमा तक गिर चुकी है, जिसके परिणामस्वरूप असंख्य मूल्यवान् जीवनों और सम्पत्ति की हानि हुई है;

और यत: पाकिस्तान के नागरिकों का जीवन, सम्पत्ति, सम्मान और सुरक्षा पूर्णत: अरक्षित हो गई है तथा पाकिस्तान की अखण्डता और विचारधारा को गंभीर रूप से संकट उत्पन्न हो गया है;

और यत: लोक नैतिकता अभूतपूर्व स्तर तक गिर चुकी है, और

यत: मेरी राय में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें परिसंघ की सरकार

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"Notwithstanding anything contained in clause (1), the President shall act in his discretion in respect of any matter in respect of which he is empowered by the Constitution to do so (and the validity of anything done by the President in his discretion shall not be called in question on any ground whatsoever)."

**"WHERAS the objects and purposes for which the National Assembly was elected have not been fulfilled ;

AND WHEREAS the law and order in the country have broken down to an alrming extent resulting in tragic loss of innumerable valuable lives as well as loss of property ;

AND WHEREAS the life, property, honour and security of the citizen of Pakistan have been rendered totally unsafe and the integrity and ideology of Pakistan have been seriously endangered ;

AND WHEREAS public morality has deteriorated to unprecedented level ;

AND WHEREAS in my opinon a situation has arisen in which the Government of the Federation cannot be carried on

संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है और निर्वाचकगण से अनुरोध आवश्यक है;

अतः, मैं जनरल मुहम्मद जियाउल हक, पाकिस्तान का राष्ट्रपति, पाकिस्तान के इस्लामी गणतंत्र के संविधान के अनुच्छेद 58 के खण्ड (2) द्वारा (2)(ख) द्वारा मुझे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, एतद्द्वारा राष्ट्रीय सभा तुरन्त विघटित करता हूं और उसके परिणामस्वरूप मंत्रिमण्डल भी तुरन्त विघटित हो गया है।"

72. आदेश के विरुद्ध मुख्य तर्क यह था कि उक्त उपबंध के अधीन आदेश आत्मपरक विवेक या मत के अनुसार जारी नहीं किया जाना है बल्कि इस अर्थ में वस्तुपरक तथ्यों के आधार पर जारी किया जाना है कि ऐसी परिस्थितियां अवश्य ही अस्तित्व में होनी चाहिए, जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि सुसंगत स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इसके विपरीत, महान्यायवादी और राष्ट्रपतीय आदेश का समर्थन करने वाले अन्य काउंसेलों का तर्क यह था कि राष्ट्रपति का आत्मपरक समाधान ही तात्त्विक है और राष्ट्रीय सभा को विघटित करना उनके विवेक और मत के अधीन है। उनकी ओर से यह तर्क दिया गया कि इस तथ्य के बावजूद कि अनुच्छेद 58(2)(ख) में यह कहा गया है कि "अनुच्छेद 48 के खण्ड (2) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी", राष्ट्रपति अनुच्छेद 58(2) के अधीन स्वविवेकानुसार राष्ट्रीय सभा को भी विघटित कर सकते हैं और जब वह सभा को विघटित करने के लिए अपने विवेक का प्रयोग करते हैं, तब उसकी विधिमान्यता को किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है, जैसा कि अनुच्छेद 48(2) के अधीन उपबंध किया गया है। प्रथम तर्क पर विचार करते समय, मु० न्या० सलाम ने यह कहा—

"चाहे राष्ट्रपति का आत्मपरक या वस्तुपरक समाधान हो अथवा उनका विवेक या मत, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि राष्ट्रपति संविधान के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग मन की मर्जी या सनक के अनुसार नहीं कर सकते हैं। उनके पास (समक्ष) ऐसे तथ्य और परिस्थितियां होनी चाहिए, जिनसे उनकी प्रास्थिति वाला कोई व्यक्ति ऐसी बुद्धिमत्तापूर्ण राय बना सके, जो ऐसी गंभीर प्रकृति के विवेकाधिकार के प्रयोग की अपेक्षा करती हो कि लोगों के प्रतिनिधि, जिन्हें प्राथमिक रूप से राज्य के कार्य चलाने का कर्तव्य सौंपा गया है, कलम के एक प्रहार (झटके) से ही हटा दिए जाएं। उनकी कार्यवाही संविधान के अधीन आवश्यक और न्यायोचित प्रतीत होनी चाहिए, यदि उसे न्यायालय में चुनौती दी जाती है। निस्संदेह, न्यायालय ऐसी स्थिति के बारे में उनके 'विवेक' या 'मत' में हस्तक्षेप करते समय

---

in accordance with the provisions of the Constitution and an appeal to the electorate is necessary;

NOW THEREFORE, I, General Muhammad Zia-ul-Haq, President of Pakistan in exercise of the powers conferred on me by clause(2) (b) of Article 58 of the Constitution of the Islamic Republic of Pakistan hereby dissolve the National Assembly with immediate effect and in consequence thereof the Cabinet also stands dissolved forthwith."

सतर्कता बरतेंगे, किंतु यदि संविधान के अधीन आदेश का कोई आधार या औचित्य नहीं है, तो न्यायालयों को संविधान के अधीन उन पर अधिरोपित कर्तव्य का निर्वहन करना ही होगा। ऐसा करते समय, वे राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं करेंगे, जिसके लिए निर्वाचकगण से अनुरोध का उपबंध किया गया है।"

73. द्वितीय तर्क पर विचार करते समय, विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने यह अभिनिर्धारित किया—

"यदि उक्त तर्क सही है, तो, अनुच्छेद 48 के खण्ड (2) में अंतर्विष्ट "किसी बात के होते हुए भी" पद उस स्थिति में निरर्थक हो जाएगा, मानो वह संविधान का भाग ही नहीं था। यह स्पष्ट है कि संविधान के उपबंध का कोई भी अक्षर या भाग संविधानों के अर्थान्वयन के सिद्धांत के अधीन निरर्थक या अनस्तित्वशील नहीं कहा जा सकता है। अन्य वैवेकिक शक्तियों के प्रयोग में उक्त तर्क सही हो सकता है किंतु राष्ट्रीय सभा के विघटन के प्रति निर्देश से उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 48(2) के अधीन विवेक की विधिमान्यता और प्रश्नातीतता की बाबत सामान्य आवरण (कवरेज) को उस समय छोड़ दिया गया, जब अनुच्छेद 58(2) के अधीन यह उपबंध किया गया "अनुच्छेद 48 के खण्ड (2) के होते हुए भी···।" विशेष परिस्थितियों में विवेक का प्रयोग किया जा सकता है। इस स्थिति को भी विनिर्दिष्ट उपबंध लागू होगा। इससे निरर्थकता की बात से भी बचा जा सकेगा। न्यायालयों की शक्ति, जब कभी उसका अपवर्जित किया जाना आशयित हो, अभिव्यक्त रूप से वर्णित की गई है; अन्यथा उसकी अभिलेख न्यायालयों में होने की उपधारणा की जाती है ·····। अतः यह दलील देना सही नहीं है कि (चूंकि) यह बात उनके 'विवेकाधिकार' के अंतर्गत थी, अतः अपनी राय के आधार पर राष्ट्रपति राष्ट्रीय सभा विघटित कर सकते थे। उनके पास ऐसे कारण होने चाहिए, जो लोगों की दृष्टि में न्यायोचित हों, और जिनका न्यायालय में विधि द्वारा समर्थन किया जा सकता हो···। यह बात समझ में आने योग्य है कि यदि राष्ट्रपति के पास, अपने मत के अनुसार, अपने विवेक का प्रयोग करने के लिए कोई न्यायोचित कारण है किंतु वह उसे प्रकट नहीं करना चाहते, तो वह ऐसा कह सकते हैं और उनका विश्वास किया जा सकता है या यदि उनसे कारण को स्पष्ट करने की अपेक्षा की जाती है, तो वह, हो सकता है कि राज्य की सुरक्षा के कारण से, सार्वजनिक रूप से कारण को प्रकट किए बिना न्यायालय को विश्वास में ले सकते हैं। आखिरकार, देशभक्ति तत्समय पदधारक तक ही सीमित नहीं है। वह सीजर (कैसर) के समान सरलता से यह नहीं कह सकता कि यह मेरी इच्छा, राय या विवेकाधिकार था। और न वह ऐसे कारण दे सकता है, जिनका कार्यवाही से कोई संबंध नहीं है और जो (कारण) थोथे, अस्पष्ट या साधारण हैं अथवा ऐसे कारण हैं, जो भयावह परिणामों सहित, सदा दिए जा सकते हैं और दिए गए हैं·····।"

74. उन्हीं तर्कों पर विचार करते समय, न्या० आर० एस० सिंघवा ने यह कहा—

"मुझे इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि दोनों सरकारें उन सभी कारणों को

प्रकट करने के लिए बाध्य नहीं हैं, जो उस समय उनके पास हों, जब वे अनुच्छेद 58(2)(ख) और 112(2)(ख) के अधीन सभाएं विघटित कर रही हों। यदि वे संपूर्ण सामग्री को प्रकट करना नहीं चाहतीं, बल्कि कुछ सामग्री को ही प्रकट करना चाहती हैं, तो ऐसा करने के लिए स्वतंत्र होते हुए भी, यह उनकी नासमझी ही होगी, क्योंकि मामले का विनिश्चय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सीमित सामग्री की न्यायिक संवीक्षा के आधार पर किया जाएगा और यदि वह पूर्णतः असंगत या बाह्य विचारणा पर आधारित प्रतीत होता है, तो उन्हें उसका परिणाम भुगतना ही चाहिए।"

× × × × × ×

15. इस मामले में विचारार्थ जो मुख्य प्रश्न उद्भूत होता है वह यह है कि यह कब कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें परिसंघ का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। "परिसंघ का शासन" पद किसी एक विशेष कृत्य तक सीमित नहीं है, जैसे कि कार्यपालिक, विधायी या न्यायिक कृत्य, बल्कि उसके अंतर्गत सभी पहलुओं सहित, परिसंघीय सरकार का संपूर्ण कृत्यकरण आता है।"

75. अब हम इस विषय पर इस न्यायालय के विनिश्चयों के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं।

76. **बेरियम केमिकल्स लिमिटेड और एक अन्य बनाम दि कंपनी ला बोर्ड और अन्य**[1] वाले मामले में के तथ्य इस प्रकार थे—कंपनी अधिनियम की धारा 237(ख) के अधीन कंपनी विधि बोर्ड की ओर से एक आदेश जारी किया गया, जिसके द्वारा चार निरीक्षकों को इस आधार पर अपीलार्थी-कंपनी के कार्यों का अन्वेषण करने के लिए नियुक्त किया गया कि बोर्ड की यह राय थी कि यह संकेत देने वाली परिस्थितियां विद्यमान थीं कि अपीलार्थी-कंपनी का कारबार उसके लेनदारों, सदस्यों और किन्हीं अन्य व्यक्तियों के साथ कपट करने के आशय से चलाया जा रहा था और कंपनी के कार्यों के प्रबंध से सम्बद्ध व्यक्ति उसके सम्बन्ध में कंपनी और उसके सदस्यों के प्रति कपट, अपकरण, और अन्य अवचार के लिए दोषी रहे थे। अपीलार्थी-कंपनी ने उक्त आदेश को चुनौती देते हुए, उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याचिका फाइल की और चुनौती के आधारों में से एक आधार यह था कि ऐसी कोई सामग्री नहीं थी, जिसके आधार पर आदेश किया जा सकता था। याचिका के उत्तर में, कंपनी विधि बोर्ड के अध्यक्ष ने एक शपथपत्र फाइल किया, जिसमें अन्य दलीलों के साथ-साथ, यह दलील दी गई कि ऐसी सामग्री मौजूद थी, जिसके आधार पर आदेश जारी किया गया और उसने स्वयं इस सामग्री की परीक्षा की थी और आदेश जारी किए जाने से पूर्व उक्त धारा 237(ख) के अर्थान्तर्गत आवश्यक राय बनाई थी और न्यायालय ऐसी सामग्री की पर्याप्तता या अन्यथा (अपर्याप्तता) के प्रश्न पर विचार करने के लिए सक्षम नहीं था। किंतु, याचिका में कुछ अभिकथनों के उत्तर के अनुक्रम में, पैरा 14 में शपथपत्र में उन तथ्यों का भी वर्णन किया गया था, जिनके आधार पर राय बनाई गई थी। अधिकांश न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त शपथपत्र के पैरा 14 में प्रकटीकृत परिस्थितियां ऐसी एकमात्र सामग्री मानी

[1] [1966] सप्ली० एस० सी० आर० 311.

जानी चाहिए, जिसके आधार पर बोर्ड ने धारा 237(ख) के अधीन अन्वेषण का आदेश करने से पूर्व, अपनी राय बनाई थी और उक्त परिस्थितियों से युक्तियुक्त रूप से यह संकेत नहीं मिल सकता था कि कंपनी का कारबार लेनदारों, सदस्यों या अन्य व्यक्तियों के साथ कपट करने के उद्देश्य से चलाया जा रहा था या प्रबंधतंत्र कंपनी और उसके सदस्यों के प्रति कपट के लिए दोषी था। अतः वे धारा 237(ख) में वर्णित विषयों से बाह्य थीं और आक्षेपित आदेश उक्त धारा द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य था। न्या० हिदायतुल्लाह ने, (जैसे कि वह उस समय थे) इस संबंध में यह कहा कि धारा 237(ख) के अधीन शक्ति वैवेकिक शक्ति है और उसके अस्तित्व की प्रथम अध्यपेक्षा इस राय का ईमानदारीपूर्वक बनाया जाना है कि अन्वेषण आवश्यक है और अगली अध्यपेक्षा यह है कि उक्तधारा में उपवर्णित हस्तक्षेप को अपेक्षित बनाने वाली परिस्थितियां मौजूद हैं। ऐसी कार्यवाही, जो ऐसी परिस्थितियों पर आधारित नहीं है, जो प्रगणित प्रकार के हस्तक्षेप को अपेक्षित बनातीं हों, विधिमान्य नहीं होगी। यद्यपि राय का बनाया जाना आत्मपरक है, तथापि कार्यवाही के लिए आवश्यक शर्त के रूप में हस्तक्षेप से संगत परिस्थितियों का होना अवश्य ही दर्शित किया जाना चाहिए। यदि उनके अस्तित्व को प्रश्नगत किया जाता है, तो उन्हें कम-से-कम प्रथमदृष्ट्या तो साबित किया ही जाना चाहिए। यह प्राख्यान करना पर्याप्त नहीं है कि परिस्थितियां अस्तित्व में हैं, और उनसे यह संकेत नहीं मिलता है कि वे क्या हैं क्योंकि परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिए, जिनसे कुछ निश्चितता का निष्कर्ष निकाला जा सके। उक्त विवाद्यक पर टिप्पणी करते हुए, न्या० शैलट ने यह कहा कि यद्यपि राय का बनाया जाना पूर्णतः आत्मपरक प्रक्रिया है और ऐसी राय को, औचित्य, युक्तियुक्तता या पर्याप्तता के आधार पर, न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है, तथापि संबंधित प्राधिकारी से ऐसी राय उन परिस्थितियों के आधार पर बनाने की अपेक्षा की जाती है, जो उस चीज का संकेत देती हैं, जो धारा 237(ख) के उपखण्ड (i), (ii) या (iii) में उपवर्णित हैं। "संकेत देने वाली परिस्थितियां" पद से इस अर्थान्वयन का समर्थन नहीं हो सकता कि परिस्थितियों का अस्तित्व भी आत्मपरक राय का विषय है। यह अनुध्यात करना कठिन है कि विधानमण्डल राय बनाने और उन परिस्थितियों के अस्तित्व को, जिन पर यह आधारित होनी है, आत्मपरक प्रक्रिया के लिए छोड़ सकता था। यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि उक्त खण्ड द्वारा प्राधिकारी को यह कहने के लिए अनुज्ञात किया गया कि उसने ऐसी परिस्थितियों के आधार पर अपनी राय बनाई, जो उसकी राय में अस्तित्व में हैं और जो उसकी राय में कपट करने के आशय या कपटपूर्ण या विधिविरुद्ध प्रयोजन का संकेत देती हैं। यदि यह दर्शित कर दिया जाता है कि ऐसी परिस्थितियां अस्तित्व में नहीं हैं या वे परिस्थितियां ऐसी हैं कि किसी के लिए भी उनसे ऐसी राय बनाना असम्भव हो जाएगा कि वे धारा 237(ख) में प्रगणित विषयों का संकेत देती हैं, तो मामले पर गंभीरतापूर्वक विचार न करने या अनुचितता के आधार पर या इस आधार पर उस राय को चुनौती दी जा सकती है कि वह सांपार्श्विक आधारों पर बनाई गई थी और वह कानून की परिधि से परे थी।

77. एम० ए० राशिद और अन्य बनाम केरल राज्य[1] वाले मामले के तथ्य इस प्रकार थे। प्रत्यर्थी-राज्य ने भारत रक्षा नियम, 1971 के नियम 114(1) के अधीन एक

[1] [1975] 2 एस० सी० आर० 93.

अधिसूचना जारी की, जिसके द्वारा त्रिवेन्द्रम्, क्विलोन और एलप्पी जिलों में छिलका उतारने की मशीनरी के उपयोग पर पूर्ण प्रतिबंध अधिरोपित कर दिया गया। अपीलार्थियों ने, जो लघु स्तरीय औद्योगिक एककों के स्वामी थे, उक्त अधिसूचना से प्रभावित महसूस करते हुए, उसे चुनौती दी। उस संबंध में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जहां लोक प्राधिकारियों को शक्तियों का प्रयोग करने के लिए शक्तियां प्रदत्त की जाती हैं, (वहां) जब उनका समाधान हो जाता है या जब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है या जब उनकी राय में एक विशेष वस्तुस्थिति मोजूद है या जब शक्तियों द्वारा लोक प्राधिकारियों को ऐसी कार्यवाही करने के लिए समर्थ बनाया जाता है, जैसी वे किसी विषयवस्तु के संबंध में ठीक समझें, तब न्यायालय ऐसे विधि-विषय या तथ्य के अस्तित्व के संबंध में कार्यपालिक प्राधिकारी की राय की निर्णायकता (अंतिमता) को आसानी से नहीं मान लेंगे, जिसके आधार पर शक्ति के प्रयोग की विधिमान्यता की पुष्टि की जाती है। आत्मपरक रूप में प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में प्रशासनिक विनिश्चय सद्भाव में और सुसंगत विचारणाओं के आधार पर किए जाते हैं। न्यायालय यह जांच कर सकते हैं कि कोई युक्तिमान् व्यक्ति किसी तात्त्विक पहलू की बाबत विधि या तथ्यों के संबंध में स्वयं को भ्रमित किए बिना, प्रश्नगत विनिश्चय कर सकता था या नहीं। युक्ति-सुसंगतता का मानक, जिसके अनुरूप होने की प्रशासनिक निकाय से अपेक्षा की जाती है, न्यायालय की इस बारे में इस राय से लेकर कि क्या चीज युक्तिसंगत है, उस चीज के माप-दण्ड तक अलग-अलग हो सकता है, जिसके बारे में कोई युक्तिमान् निकाय विनिश्चय कर सकता था; और न्यायालय यह पता करेंगे कि राय बनाने से संबंधित पुरोभाव्य शर्तों का कोई तात्त्विक आधार था या नहीं। किंतु अयुक्तिसंगतता सिद्ध करने का भार उस व्यक्ति पर रहता है, जो कार्यों की विधिमान्यता को चुनौती देता है।

78. राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ और अन्य[1] वाले मामले में न्या० भगवती ने, न्या० गुप्त की ओर से और स्वयं अपनी ओर से, अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी किए जाने से पूर्व, राष्ट्रपति के समाधान पर विचार करते समय यह कहा—

> "·····जहां/जब तक यह प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या संविधान के अधीन प्राधिकारी ने अपनी शक्ति की सीमाओं के अंतर्गत रह कर कार्य किया है या उसका अतिक्रमण किया है, वहां/तब तक निश्चित रूप से न्यायालय द्वारा उसका विनिश्चय किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसा करना उसकी सांविधानिक बाध्यता है·····। यह न्यायालय संविधान का अंतिम निर्वचनकर्ता है और इस न्यायालय को ही यह अवधारित करने का कठिन कार्य समनुदेशित किया गया है कि सरकार की प्रत्येक शाखा को क्या शक्ति प्रदत्त की गई है; क्या वह सीमित है और यदि हां, तो उसकी सीमाएं क्या हैं और क्या उस शाखा की किसी कार्यवाही से ऐसी परिसीमाओं का अतिक्रमण होता है। सांविधानिक मूल्य बनाए रखना और संवैधानिक परिसीमाएं प्रवृत्त (लागू) करना न्यायालय का काम है। यही विधिसम्मत शासन का मर्म है·····।"

× × × × × × × ×

[1] [1978] 1 एस० सी० आर० 1 (पृ० 80-83).

"·····यहां हम यह बात स्पष्ट कर दे रहे हैं कि इस न्यायालय की सांविधानिक अधिकारिता केवल यह कहने तक सीमित है कि क्या संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति की परिसीमाओं का अनुपालन किया गया है या ऐसी परिसीमाओं का अतिक्रमण किया गया है। यहां, अनुच्छेद 356, खण्ड (1) के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति पर (अधिरोपित) एकमात्र परिसीमा यह है कि राष्ट्रपति का यह समाधान होना चाहिए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। राष्ट्रपति का समाधान आत्मपरक समाधान है और उसकी किसी वस्तुपरक कसौटी के प्रति निर्देश द्वारा परख नहीं की जा सकती है। वह विमर्शित रूप में (जानबूझ कर) और उचित रूप में आत्मपरक (बनाया गया) है, क्योंकि वह विषय, जिसकी बाबत उसका समाधान होना है ऐसी प्रकृति का है कि उसका विनिश्चय अनिवार्यतः सरकार की कार्यपालिक शाखा के लिए ही छोड़ दिया जाना चाहिए। ऐसी स्थितियों की व्यापक शृंखला हो सकती है, जो उद्भूत हो सकती हैं, और उनकी राजनीतिक विवक्षाओं और परिणामों का यह विनिश्चय करने के उद्देश्य से मूल्यांकन किया जा सकता है कि क्या स्थिति ऐसी है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। यह ऐसा विनिश्चय नहीं है, जो उस चीज पर आधारित हो सकता है, जिसे संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने "न्यायिक रूप से प्रकटनीय (ज्ञेय)" और "प्रबंधनीय मानक" के रूप में वर्णित किया है। अधिकांशतः वह विभिन्न कारकों, शीघ्र परिवर्तनशील परिस्थितियों, सम्भाव्य परिणामों, लोक प्रतिक्रिया, विभिन्न वर्गों के लोगों के अभिप्रेरणों और प्रतिक्रियाओं और उनके प्रत्याशित भावी व्यवहार और अन्य विचारणाओं के, लोक कार्यों और जटिल तथा प्रायः विचित्र समायोजनों के व्यावहारिक प्रबंधों के अनुभव के प्रकाश में, जो आधुनिक जनतांत्रिक सरकार के अति उन्नत तंत्र को गठित करते हैं, निर्धारण पर आधारित राजनैतिक निर्णय होगा। अतः वह, स्वःप्रकृत्या, न्यायिक अवधारण की उचित विषयवस्तु नहीं हो सकता है और इसलिए उसे केन्द्रीय सरकार के आत्मपरक समाधान के लिए छोड़ दिया गया है, जो उसका विनिश्चय करने के लिए सर्वोपरि स्थिति में है। ऐसी परिस्थितियों में, न्यायालय उन तथ्यों और परिस्थितियों की शुद्धता या पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार नहीं कर सकते हैं, जिन पर केन्द्रीय सरकार का समाधान आधारित है·····। किंतु एक चीज निश्चित है और वह यह है कि यदि समाधान विद्वेषपूर्ण है या वह पूर्णतः बाह्य और असंगत आधारों पर आधारित है, तो न्यायालय को उस पर विचार करने की अधिकारिता प्राप्त होगी, क्योंकि उस स्थिति में ऐसे विषय के संबंध में राष्ट्रपति का समाधान नहीं होगा, जिसके बारे में उनका समाधान होने की अपेक्षा की जाती है। राष्ट्रपति का समाधान, अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए पुरोभाव्य शर्त है और यदि यह दर्शित किया जा सकता है कि राष्ट्रपति का बिल्कुल भी समाधान नहीं हुआ है, तो शक्ति का प्रयोग सांविधानिक रूप से अविधिमान्य होगा·····। निस्संदेह उसका इस बात से संबंध (सरोकार) होना चाहिए (ऐसा ही लिखा है) कि अधिकांश मामलों में इस सीमित आधार पर भी अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के अधीन शक्ति के प्रयोग को चुनौती देना कठिन होगा (यदि असम्भव नहीं), क्योंकि वे तथ्य और परिस्थितियां, जिन पर समाधान

आधारित है, ज्ञात नहीं होंगे; किंतु जहां यह सम्भव है, वहां समाधान (के अस्तित्व) को इस आधार पर सदा चुनौती दी जा सकती है कि वह विद्वेषपूर्ण है या पूर्णतः बाह्य और असंगत आधारों पर आधारित है·····। यह संकुचित न्यूनतम क्षेत्र है, जिसमें अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के अधीन शक्ति का प्रयोग न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है और उसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति के इस समाधान को कि उक्त खण्ड में अनुध्यात स्थिति मौजूद है, चुनौती देने का काम न्यायालय का नहीं हो सकता है।

79. केहर सिंह और एक अन्य बनाम भारत संघ और एक अन्य[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति, जो किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराए गए किसी व्यक्ति के दंड को क्षमा, उसका प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने अथवा दण्डादेश के निलम्बन परिहार या लघूकरण के संबंध में है, सीधे न्यायिक क्षेत्र के अंतर्गत आती है और उस पर न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा न्यायालय विचार कर सकता है। किंतु राष्ट्रपति के आदेश को, उसके गुणागुण के आधार पर, न्यायिक पुनर्विलोकन का विषय नहीं बनाया जा सकता है, सिवाय मारू राम आदि बनाम भारत संघ और एक अन्य[2] वाले मामले में परिभाषित कठोर परिसीमाओं के अंदर। वे परिसीमाएं ये हैं कि क्या शक्ति का ऐसी विचारणाओं या कार्यवाहियों के आधार पर प्रयोग किया गया है, जो पूर्णतः असंगत, अयुक्तिसंगत, विभेदकारी या विद्वेषपूर्ण हैं। केवल इन विरल मामलों में ही न्यायालय उक्त शक्ति के प्रयोग पर विचार करेगा।

80. इन नजीरों से एक निष्कर्ष, जो निरापद रूप से निकाला जा सकता है, यह है कि अनुच्छेद 356 (1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा शक्ति का प्रयोग कम से कम इस प्रश्न पर विचार करने की सीमा तक न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है कि क्या उद्घोषणा जारी किए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्तों को पूरा कर दिया गया है या नहीं। इस परीक्षा में अनिवार्यतः इस बाबत संवीक्षा भी अंतर्वलित होगी कि क्या राष्ट्रपति के इस समाधान के लिए सामग्री मौजूद थी कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। इस तथ्य पर बल देना अनावश्यक है कि हर प्रकार की सामग्री इस प्रयोजन के लिए सुसंगत नहीं है बल्कि केवल वह सामग्री सुसंगत है, जिससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। इस बात को भी ध्यान में रखा जाना है कि उक्त अनुच्छेद में यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्रपति का "यह समाधान होना है" कि प्रश्नगत स्थिति उत्पन्न हो गई है। अतः प्रश्नगत सामग्री ऐसी होनी है, जो किसी भी युक्तिमान् व्यक्ति को प्रश्नगत निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित करे। अनुच्छेद में प्रयुक्त पद है "यदि राष्ट्रपति का···समाधान हो जाता है" "सेटिस्फाइड" (समाधान) शब्द को शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 1792 में इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"4. पर्याप्त सबूत या सूचना (जानकारी) देना, संदेह या अनिश्चितता से मुक्त करना, समाधान करना; 5. (किसी आक्षेप, प्रश्न का) पर्याप्त रूप से उत्तर देना; (किसी अनुरोध को) पूरा करना या उसका अनुपालन करना; (किसी संदेह, कठिनाई का) समाधान करना; 6. (किसी

[1] जे० टी० (1988) 3 एस० सी० 191=[1988] सप्ली० 3 एस० सी० आर० 1103.

[2] (1981) 1 एस० सी० आर० 1196.

वस्तु स्थिति, धारणा या कल्पना आदि की) अध्यपेक्षाओं का उत्तर देना; (शर्तों को) मान लेना। अतः सामग्री से असंबद्ध, राष्ट्रपति की वैयक्तिक सनक, इच्छा, मत या राय या उनके शब्द नहीं, बल्कि उनके समक्ष प्रस्तुत सामग्री से निकाला गया विधिसम्मत निष्कर्ष ही, इस प्रयोजन के लिए सुसंगत है। दूसरे शब्दों में, वस्तुस्थिति के संबंध में राष्ट्रपति का समाधान होना है या सूचना का पर्याप्त सबूत होना है या उसे संदेह या अनिश्चितता से मुक्त होना है, जिससे यह उपदर्शित हो कि प्रश्नगत स्थिति उत्पन्न हो गई है। अतः, यद्यपि सामग्री की पर्याप्तता या अन्यथा (अपर्याप्तता) को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता, तथापि ऐसी सामग्री से निकाले गए निष्कर्ष की विधिसम्मतता का निश्चित रूप में न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

81. इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखे जाने योग्य है कि अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा प्रयुक्त शक्ति संविधान के अनुच्छेद 74 (1) के अधीन मंत्रि-परिषद् द्वारा प्रदत्त सलाह पर (आधारित) है। हमारी पद्धति के अधीन मन्त्रि-परिषद किसी न किसी राजनीतिक दल से सम्बन्धित होगी ही। बहुवादी जनतन्त्र और परिसंघीय संरचना को देखते हुए, जिन्हें हमने अपने संविधान के अधीन स्वीकार किया है, केन्द्र में और राज्यों में सत्तासीन दल या दल-समूह (मिली-जुली सरकार की दशा में) अलग-अलग हो सकते हैं। अतः अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति के प्रयोग को उसमें वर्णित स्थिति तक कठोरतापूर्वक सीमित किए जाने की आवश्यकता है, जो उक्त प्रयोग के लिए पुरोभाव्य शर्त है इसीलिए संविधान-निर्माताओं ने उस स्थिति को विनिर्दिष्ट करने के लिए (पर्याप्त) परिश्रम किया है, जो (केवल जो) उक्त शक्ति के प्रयोग को संभव बनाएगी। यह स्थिति उस स्थिति से कम नहीं है, जिसमें "राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है" उससे कम स्थिति उद्घोषणा के जारी किए जाने के कार्य को संभव नहीं बना सकती है। "नहीं बना सकती है" (कैन नाट) शब्दों से स्पष्टतः गतिरोध की स्थिति का बोध होता है। शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 225, में "कैन" शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"समर्थ होना; शक्ति या क्षमता (सामर्थ्य) रखना"। अतः "नहीं बना सकती है" से "समर्थ न होना" या "शक्ति या क्षमता (सामर्थ्य) न रखना" अभिप्रेत होगा। स्ट्राउड कृत "जुडिशियल डिक्शनरी, पंचम संस्करण, में "कैन नाट" शब्दों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उनके अंतर्गत विधिक अयोग्यता (असमर्थता) और भौतिक असंभवता आती है। अतः ऐसी स्थितियां, जिनका उपचार किया जा सकता है या जो संविधान के अनुसार राज्य के शासन को निःशक्त नहीं करती हैं या उसमें हस्तक्षेप नहीं करती हैं—उक्त अनुच्छेद के अधीन उद्घोषणा के जारी किए जाने के कार्य को संभव (उचित) नहीं बनाएंगी।

82. यह बात भी ध्यान में रखे जाने योग्य है कि उक्त अनुच्छेद के अधीन अनुध्यात स्थिति ऐसी स्थिति (होती) है, जिसमें राज्य का शासन "संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है"। वस्तुतः, उक्त पद में विभिन्न स्थितियों की परिकल्पना की गई है। अनुच्छेद 365 में, जो "प्रकीर्ण" शीर्षक वाले अध्याय XIX में है, ऐसी एक स्थिति अनुध्यात की गई है। उसमें यह कहा गया है :—

"जहां इस संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति

का प्रयोग करते हुए, दिए गए किन्हीं निदेशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल रहता है, वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।"

83. निस्संदेह, संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ द्वारा दिए गए निदेशों का अनुपालन करने या उन्हें प्रभावी बनाने में असफलता, "राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है" पद द्वारा अनुध्यात एकमात्र स्थिति नहीं है। अनुच्छेद 365, अपेक्षाकृत, धारणा उपबंध की प्रकृति का (अधिक) है। तथापि, अनुच्छेद 365 में वर्णित स्थितियों से भिन्न स्थितियां ऐसी होनी चाहिए, जिनमें राज्य के शासन का संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में हम संविधान सभा में डा० अम्बेडकर द्वारा किए गए कथन के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं :—

"अब मैं, मेरे मित्र पण्डित कुंजरू द्वारा की गई टिप्पणियों पर आता हूं। प्रथम मुद्दा, जो उनके द्वारा उठाया गया, यदि मुझे सही-सही स्मरण (याद) है, यह था कि प्रशासन को उस स्थिति में अपने हाथ में ले लेने की शक्ति, जब सांविधानिक तंत्र (मशीनरी) विफल हो जाए, एक नई चीज है, जो किसी भी संविधान में नहीं मिलेगी। मैं इस बात पर उनसे मतभेद रखने की अनुमति चाहता हूं और मैं उनका ध्यान अमरीकी संविधान में अन्तर्विष्ट अनुच्छेद के प्रति आकर्षित करना चाहता हूं, जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका का कर्तव्य, संविधान के जनतान्त्रिक स्वरूप को बनाए रखने के रूप में निश्चित रूप से व्यक्त किया गया है। जब हम यह कहते हैं कि सांविधानिक व्यवस्था को, इस संविधान में अंतर्विष्ट उपबंधों के अनुसार, बनाए रखा जाना चाहिए, तब वस्तुतः हमारा वही अभिप्राय है, जो अमरीकी संविधान का अभिप्राय है, अर्थात् यह कि इस संविधान में विहित संविधान का स्वरूप बनाए रखा जाना चाहिए। अतः जहां तक उक्त मुद्दे का सम्बन्ध है, हम नहीं समझते कि प्रारूपण-समिति ने स्थापित सिद्धांत से कोई विचलन किया है।"

(सी० ए० डी०, जिल्द IX, पृष्ठ 175-76)

84. जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, पाकिस्तान के संविधान के अनुच्छेद 58 (2) (ख) में—न्यूनाधिक (कमोवेश) यही पद मौजूद है। वहां यह पद है—"परिसंघ की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है और निर्वाचकगण से अनुरोध (अपील) आवश्यक है।" उक्त पद की समीक्षा करते हुए, न्या० शफी-उर-रहमान ने अहमद तारिक रहीम बनाम पाकिस्तान परिसंघ[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया :—

"यह अतिवादी शक्ति है, जिसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है, जहां सांविधानिक मशीनरी (तंत्र) वास्तविक या आसन्न रूप से विफल हो गई हो, जो संविधान के एक विशेष उपबंध का अनुपालन करने में असफलता से भिन्न है। इस शक्ति के प्रयोग के लिए अवसर हो सकते हैं, जहां, एक नहीं, संविधान के अनेकों उपबंधों का अनुपालन करने में व्यापक, निरन्तर और अत्यधिक असफलता होती है,

[1] (1992) पी० एल० टी०/एस० सी० 646 (पृ० 664).

जिससे यह धारणा उत्पन्न होती है कि देश का शासन संविधान द्वारा नहीं, बल्कि संविधानेतर पद्धतियों से चलाया जा रहा है।"

85. न्या० सिंघवी ने उसी मामले में यह मत व्यक्त किया कि "इस कारण कि संविधान के किसी विशेष उपबंध का अनुपालन नहीं किया गया, यह अभिनिर्धारित करना कि अनुच्छेद 58(2)(ख) के अधीन राष्ट्रीय सभा विगठित की जा सकती थी, शक्ति के दुरुपयोग की कोटि में आएगा। जब तक कि ऐसा उल्लंघन स्वतंत्र रूप से इतना गंभीर नहीं है कि न्यायालय इससे भिन्न कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकता कि उसके कारण ही सरकार का कृत्यकरण विफल हो गया, तब तक वह विधिमान्य आधार गठित नहीं करेगा (नहीं होगा)।

86. उक्त पद और उसकी विवक्षा केन्द्र-राज्य संबंधों पर सरकारिया आयोग की रिपोर्ट में व्यापक विचार-विमर्श का विषय रहे हैं। यहां उक्त विचार-विमर्श के सुसंगत भाग के प्रति निर्देश करना उपयोगी होगा, जो इस सम्बन्ध में पर्याप्त (काफी) प्रकाश डालता है (जानकारी देता है) :—

"6.3.23—अनुच्छेद 356 में "उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है" पद व्यापक शब्दों में वर्णित किया गया है। अतः उसका सही अर्थ और विस्तार जानना आवश्यक है। राज्य के दिन-प्रति-दिन के प्रशासन में, उसके कृत्यकारी, अपने विविध उत्तरदायित्वों के निर्वहन में, ऐसे विनिश्चय या कार्य करते हैं, जो, किसी न किसी विशिष्टि में, कठोरतापूर्वक संविधान के सभी उपबंधों के अनुरूप (अनुसार) न हों। तो क्या सांविधानिक उपबंध का ऐसा प्रत्येक भंग या उल्लंघन, उसके महत्त्व, विस्तार और प्रभाव (परिणाम) का विचार किए बिना, अनुच्छेद 356 के अनुध्यान (परिकल्पना) के अंतर्गत "सांविधानिक मशीनरी की विफलता" गठित करने वाला माना जाना चाहिए। हमारी राय में, इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। हम पहले ही यह उल्लेख कर चुके हैं कि अनुच्छेद 355 के आधार पर, यह सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य है कि प्रत्येक राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाता है। दूसरी ओर, अनुच्छेद 356 में उपचार का उपबंध किया गया है, जब राज्य की सांविधानिक मशीनरी का वास्तविक भंग हो गया है। इस कठोर शक्ति के किसी भी दुरुपयोग या कुप्रयोग से संविधान का ताना-बाना ही क्षतिग्रस्त हो जाता है, जबकि इस अनुच्छेद का उद्देश्य संघ को सांविधानिक तंत्र (मशीनरी) के भंग के परिणामस्वरूप उपचारात्मक कार्यवाही करने के लिए समर्थ बनाना है, जिससे कि संविधान के उपबंधों के अनुसार राज्य का शासन बहाल किया जा सके। अनुच्छेद 356(1) के व्यापक शाब्दिक निर्वचन से संघ और राज्यों के बीच शक्तियों को सांविधानिक वितरण, संघ की कार्यपालिका के प्रसाद पर निर्भर अनुज्ञप्ति बन कर रह जाएगा। उसके अतिरिक्त, वह संघ की कार्यपालिका को राज्य में सरकार के जनतांत्रिक संसदीय रूप की जड़ को काटने में समर्थ बनाएगा। अतः उसे (ऐसे निर्वचन को) उस निर्वचन के पक्ष में अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए, जो सरकार के उस रूप को परिरक्षित रखेगा। अतः, अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग

"राज्य में सांविधानिक तन्त्र (मशीनरी) की विफलता" को परिशोधित करने तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। अनुच्छेद 356 का पार्श्व-शीर्षक भी उसी अर्थान्वयन के प्रति संकेत करता है।

6.3.24—विचारार्थ एक अन्य मुद्दा यह है कि क्या "बाह्य आक्रमण" या "आन्तरिक अशान्ति" को राज्य में सांविधानिक तन्त्र की विफलता की स्थिति के अपरिहार्य तत्त्व के रूप में पढ़ा और समझा जाना है, जिसका अस्तित्व अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्वापेक्षा है। हमारे मन में यह बात स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। एक ओर, यह आवश्यक नहीं है कि "बाह्य आक्रमण" या "आन्तरिक अशान्ति" ऐसी स्थिति सर्जित करे ही, जिसमें राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। दूसरी ओर, उस राज्य में, "बाह्य आक्रमण" या "आन्तरिक अशान्ति" की स्थिति के बिना, सांविधानिक तन्त्र की विफलता हो सकती है।

× × × × ×

6.4.01—सांविधानिक तन्त्र की विफलता अनेक रीतियों में हो सकती है। ऐसे कारक (बातें), जो ऐसी स्थिति को सर्जित करते हैं, विविध और अकल्पनीय हैं। अतः, ऐसी सभी स्थितियों की निःशेषकारी सूची देना कठिन है, जो "उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है" पद की परिधि के अन्तर्गत आएंगी। तथापि, इस अनुच्छेद के अनुध्यान (परिकल्पना) के अंतर्गत कौन सी चीज सांविधानिक विफलता गठित करती या नहीं करती है, उसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित शीर्षों के अधीन समूहबद्ध किए जा सकते हैं और तदनुसार उन पर विचार किया जा सकता है :—

(क) राजनीतिक संकट

(ख) आन्तरिक ध्वंस

(ग) वास्तविक भंग (विफलता)

(घ) संघ की कार्यपालिका के सांविधानिक निदेशों का अननुपालन।

यह दावा नहीं किया जाता है कि यह प्रवर्गीकरण सर्वसमावेशकारी या पूर्ण है। कोई स्पष्ट विभागीकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि सांविधानिक विफलता की अनेक स्थितियों में एकाधिक प्रकार के तत्त्व होंगे। तथापि, इससे यह अवधारित करने में सहायता मिलेगी कि क्या किसी विशेष स्थिति में, अनुच्छेद 356 के अधीन इस अन्तिम अवलम्ब के रूप में इस शक्ति का अवलंब लेना उचित होगा या नहीं।

87. तत्पश्चात्, रिपोर्ट में "उन विभिन्न अवसरों की चर्चा की गई है, जिन पर राजनीतिक संकट, आन्तरिक ध्वंस, वास्तविक भंग और संघ की कार्यपालिका के सांविधानिक निदेशों का अननुपालन घटित हुआ कहा जा सकता है। यहां उक्त व्यापक विचार-विमर्श के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है। यह कहना पर्याप्त होगा कि हम "उस राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है" पद के रिपोर्ट में किए

गए उपर्युक्त निर्वचन से मोटे रूप में सहमति व्यक्त करते हैं और हमारा यह मत है कि सिवाय ऐसी और समान अन्य परिस्थितियों में, अनुच्छेद 356 के उपबंधों का उपयोग नहीं किया जा सकता है।

88. इसी क्रम पर उन स्थितियों का दृष्टान्त देना सुविधाजनक होगा, जो अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राष्ट्रपतीय शक्ति को आमन्त्रित (आकर्षित) करते हुए, राज्य में सांविधानिक तन्त्र की विफलता की कोटि में नहीं भी आ सकती हैं और जहां उक्त शक्ति का प्रयोग अनुचित नहीं होगा। ऐसी स्थितियों के उदाहरण रिपोर्ट के पैरा 6.5.01 में दिए गए हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(i) किसी राज्य में कुशासन की स्थिति, जहां सम्यक् रूप से गठित मंत्रिमंडल, जिसे विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है, सत्ता में है। ऐसी स्थिति राष्ट्रपति शासन का अधिरोपण उस प्रयोजन से बाह्य होगा जिसके लिए अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति प्रदत्त की गई है। संविधान-निर्माताओं द्वारा यह बात असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर दी गई है कि इस शक्ति का सुशासन सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए प्रयोग किया जाना अभिप्रेत (आशयित) नहीं है।

(ii) जहां मन्त्रिमण्डल, विधान-सभा में बहुमत का समर्थन खो देने पर, त्याग-पत्र दे देता है या बर्खास्त कर दिया जाता है और राज्यपाल ऐसे बहुमत वाली आनुकल्पिक (वैकल्पिक) सरकार बनाने की संभावना का पता लगाए बिना या नए सिरे से निर्वाचन कराने का आदेश दिए बिना, राष्ट्रपति शासन के अधिरोपण का आदेश करता है।

(iii) जहां, सम्यक् रूप से गठित मंत्रिमण्डल की, जो सदन के पटल पर पराजित नहीं हुआ है, सलाह के बावजूद, राज्यपाल विधानसभा का विघटन करने से इनकार कर देता है और मंत्रिमण्डल को पटल-परीक्षण (सदन में परीक्षण) द्वारा अपना बहुमत-समर्थन प्रदर्शित करने हेतु अवसर दिए बिना, मात्र अपने इस आत्मपरक निर्धारण पर उसके अधिक्रमण और राष्ट्रपति शासन के अधिरोपण की सिफारिश करता है कि अब मंत्रिमण्डल को विधानसभा का विश्वास बिल्कुल भी प्राप्त नहीं है।

(iv) जहां एकमात्र इस आधार पर कि लोक सभा के लिए साधारण निर्वाचनों में राज्य में सत्तारूढ़ दल की भारी हार हुई है, सम्यक् रूप से गठित मंत्रिमण्डल को अधिक्रान्त करने और राज्य विधान-मण्डल को विघटित करने के लिए अनुच्छेद 356 का अवलम्ब लेने की ईप्सा की जाती है।

(v) जहां "आन्तरिक अशान्ति" की स्थिति में, जो राज्य सरकार द्वारा (अपनी) शासकीय शक्तियों के त्यजन की कोटि में नहीं आती है या उसके किनारे पर नहीं है, अनुच्छेद 355 के अधीन, अपने कर्तव्य के निर्वहन में संघ द्वारा स्थिति से निपटने के लिए सभी संभव अध्युपाय निश्शेष न कर लिए गए हों।

(vi) अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग अनुचित होगा, यदि, पूर्वगामी पैरा 6.4.10; 6.4.11 और 6.4.12 में दिए गए दृष्टान्तों में, राष्ट्रपति राज्य-सरकार को स्वयं को सुधारने के लिए कोई चेतावनी या अवसर नहीं देता है। ऐसी चेतावनी से केवल अत्यधिक (अतिशय) आत्ययिकता के मामलों में ही अभिमुक्ति प्रदान की जा सकती है, जिनमें अनुच्छेद 356 के अधीन तुरन्त कार्यवाही करने में संघ की असफलता के कारण भयावह परिणाम होंगे।

(vii) जहां अनुच्छेद 256, 256 आदि के अधीन अप्ररूपिक या प्ररूपिक निदेश के उत्तर में या पूर्व चेतावनी या सूचना के उत्तर में, राज्य सरकार सुधार कर लेती है और इस प्रकार निदेश का अनुपालन करती है या संघ की कार्यपालिका का यह समाधान कर देती है कि चेतावनी या सूचना गलत तथ्यों पर आधारित थी, वहां राष्ट्रपति का यह अभिनिर्धारित करना सही नहीं होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अतः ऐसी स्थिति में भी, अनुच्छेद 356 का समुचित रूप से अवलंब नहीं लिया जा सकता है।

(viii) सत्तारूढ़ दल के आन्तरिक मतभेदों या दल के अन्दर की समस्याओं को सुलझाने के लिए इस शक्ति का प्रयोग सांविधानिक रूप से सही नहीं होगा।

(ix) राज्य की कड़ी (तंगी वाली) वित्तीय अत्यावश्यकताओं के एकमात्र आधार पर इस शक्ति का विधिसम्मत रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

(x) इस शक्ति का मात्र इस आधार पर अवलंब नहीं लिया जा सकता है कि मंत्रिमण्डल के विरुद्ध भ्रष्टाचार के गम्भीर अभिकथन हैं।

(xi) उस प्रयोजन से, जिसके लिए संविधान द्वारा यह शक्ति प्रदत्त की गई है, बाह्य या असंगत प्रयोजन के लिए इस शक्ति का प्रयोग विधिक विद्वेष (असद्भाव) द्वारा दूषित होगा।"

89. हमें उपर्युक्त दृष्टान्तस्वरूप अवसरों से मोटे रूप में सहमत होने में कोई हिचकिचाहट नहीं है, जहां अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति का प्रयोग अनुचित और अनावश्यक होगा।

90. भारत संघ की ओर से यह दलील दी गई कि (चूंकि) अनुच्छेद 356 (1) के अधीन उद्घोषणा संविधान के अनुच्छेद 74(1) के अधीन दी गई मन्त्रिपरिषद् की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा जारी की जाएगी और (चूंकि) उक्त अनुच्छेद के खण्ड (2) द्वारा इस प्रश्न की बाबत जांच वर्जित की गई है कि क्या मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को कोई सलाह दी गई और यदि हां, तो क्या सलाह दी गई अतः उन कारणों का, जिनके परिणामस्वरूप उद्घोषणा जारी की गई, न्यायिक पुनर्विलोकन भी वर्जित किया गया है। यह दलील एकाधिक कारणों से भ्रामक है। प्रथमतः, यह अनुच्छेद 74 (2) के प्रयोजन की मिथ्या धारणा पर आधारित है। जैसा कि श्री शान्ति भूषण द्वारा ठीक ही उपदर्शित किया गया है, अनुच्छेद 74 (2) का प्रयोजन न्यायालयों की संवीक्षा से कोई सामग्री या दस्तावेज अपवर्जित करना नहीं था, बल्कि

यह उपबंध करना था कि राष्ट्रपति द्वारा या उनके नाम से जारी किए गए आदेश को इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है कि वह मंत्रियों द्वारा दी गई सलाह के विपरीत था या मंत्रियों से कोई सलाह लिए बिना जारी किया गया था। उसका उद्देश्य इस प्रश्न को अ-न्याय्य बनाना था कि क्या राष्ट्रपति ने मंत्रियों की राय का अनुसरण किया था या उसके विपरीत कार्य किया था। इस प्रकार यह प्रश्न कि मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को क्या सलाह दी गई, न्यायालय की संवीक्षा की परिधि से परे रहना था।

91. उक्त उपबंध के उक्त प्रयोजन पर उसके इतिहास द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 10(4) और 51(4) में ऐसे ही उपबंध अंतर्विष्ट थे। तथापि, 1919 के अधिनियम द्वारा यथा-संशोधित, भारत शासन-अधिनियम, 1915 की धारा 52 (3) में यह उपबंध किया गया था :—

> * "3. अन्तरित विषयों के सम्बन्ध में, राज्यपाल अपने मंत्रियों की सलाह द्वारा अपना मार्ग-दर्शन करेगा, जब तक कि वह उनकी राय से विसम्मति व्यक्त करने का पर्याप्त कारण नहीं पाता, जिस स्थिति में, वह (राज्यपाल) दी गई सलाह से अन्यथा (भिन्न रीति में) कार्यवाही किए जाने की अपेक्षा कर सकता है।"

92. गवर्नर जनरल और गवर्नर (राज्यपाल) के मंत्रियों के साथ सम्बन्ध अधिनियम द्वारा विनियमित नहीं थे बल्कि वे क्राउन (सम्राट्/सम्राज्ञी) द्वारा जारी किए गए इंस्ट्रूमेंट आफ इन्स्ट्रक्शन्स (अनुदेश-लिखत) द्वारा शासित किए जाने के लिए छोड़ दिए गए थे। अधिनियम में इन सम्बन्धों को परिभाषित करना और अपने मंत्रियों की सलाह द्वारा अपना मार्ग-दर्शन करने की गवर्नर जनरल या गवर्नर (राज्यपाल) पर बाध्यता अधिरोपित करना अवांछनीय समझा गया, क्योंकि ऐसा उपाय (कार्य) सांविधानिक परिपाटी (कन्वेंशन) को विधि के नियम के रूप में संपरिवर्तित कर सकता था और इस प्रकार उसे न्यायालय के संज्ञान के अन्तर्गत ला सकता था। संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 से पूर्व, सांविधानिक परिपाटी के अधीन राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य थे (देखें **शमशेर सिंह और एक अन्य बनाम पंजाब राज्य**[1] वाला मामला)। 42वें संशोधन द्वारा, उसका अनुच्छेद 74(1) में अभिव्यक्त रूप से इस प्रकार उपबंध किया गया। इस प्रकार अनुच्छेद 74 (2) का प्रयोजन न्यायालय की संवीक्षा से किसी सामग्री या दस्तावेज को अपवर्जित करना नहीं था। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 में अधिकथित अपवर्जन के नियम की छुट्टी कर दी गई है। बल्कि, उसमें केवल इस तथ्य पर बल दिया गया है कि उक्त नियम का समुचित मामलों में अवलंब लिया जा सकता है।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "3. In relation to the transferred subjects the governor shall be guided by the advice of his Ministers, unless he sees sufficient cause to dissent from their opinion, in which case he may require action to be taken otherwise than in accordance with that advice."

---

[1] (1975) 1 एस० सी० आर० 814.

93. इसके अतिरिक्त, यद्यपि अनुच्छेद 74(2) द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन वर्जित किया गया है, जहां तक मन्त्रियों द्वारा दी गई सलाह का सम्बन्ध है, तथापि उसके द्वारा उस सामग्री की संवीक्षा वर्जित नहीं की गई है, जिसके आधार पर सलाह दी गई है। न्यायालय न तो मन्त्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह में और न ऐसी सलाह के कारणों में ही हित-बद्ध हैं। तथापि, न्यायालयों का यह परिवीक्षा (जांच) करना न्यायोचित है कि क्या ऐसी कोई सामग्री थी, जिसके आधार पर सलाह दी गई और क्या वह ऐसी सलाह के लिए सुसंगत थी तथा राष्ट्रपति उसके आधार पर कार्य कर सकते थे। अतः जब न्यायालय ऐसी सामग्री के अस्तित्व की बाबत जांच आरम्भ करते हैं, तब अनुच्छेद 74(2) में अन्तर्विष्ट प्रतिषेध ऐसी किसी सामग्री के तात्त्विक अस्तित्व के बारे में जानकारी रखने के उनके अधिकार को अस्वीकृत नहीं कर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संघ सरकार साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार का अभिवाक् नहीं कर सकती है। जैसे और जब प्रकटन के विरुद्ध ऐसे विशेषाधिकार का छल किया जाता है, न्यायालय गुणागुण के आधार पर उक्त धारा के परिमापी (प्राचल) के अन्तर्गत ऐसे दावे की परीक्षा करेंगे। इस संबंध में, हम न्या० मैथ्यू को उद्धृत करना उचित समझते हैं, जिन्होंने **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनारायण**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया :—

> "किसी विशेषाधिकार को न्यायोचित ठहराने के लिए शासकीय संसूचना (पत्र-व्यवहार) या शासकीय कारबार के संव्यवहार में स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने के लिए गोपनीयता अपरिहार्य होनी चाहिए और इसके अतिरिक्त, वह ऐसी गोपनीयता भी होनी चाहिए, जो अनुल्लंघनीय रही है या रहती, यदि अनिवार्य प्रकटन न होता। शासकीय कारबार के कितने संव्यवहारों में साधारणतया ऐसी गोपनीयता होती (रहती) है ? यदि किसी भी समय ऐसी अन्यथा अनुल्लंघनीय गोपनीयता का सद्-भाविक (वास्तविक) उदाहरण घटित होता है, तो उसे बनाए रखने की आवश्यकता, उसके गुणागुण के आधार पर, अवधारित की जानी चाहिए।"

94. चूंकि अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा को उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) द्वारा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखे जाने की अपेक्षा की गई है और वह दो मास की समाप्ति के पश्चात् प्रवर्तन में नहीं रह जाती है, जब तक कि उक्त अवधि की समाप्ति से पूर्व संसद् के दोनों सदनों द्वारा, संकल्पों द्वारा, उसका अनुमोदन न कर दिया गया हो, अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर कि क्या उद्घोषणा की जानी चाहिए थी या नहीं की जानी चाहिए थी, प्रत्येक सदन के पटल पर विचार किया जाना चाहिए और दोनों सदन उस सामग्री पर विचार करने के लिए हकदार होंगे, जिसके आधार पर मन्त्रि परिषद् ने उद्घोषणा जारी करने के लिए राष्ट्रपति को सलाह दी थी। अतः प्रश्नगत सामग्री की बाबत दावाकृत गोपनीयता अनुल्लंघनीय नहीं रह सकती है, और सामग्री के अ-प्रकटन का अभिवाक् नहीं किया जा सकता है। जब उसकी अविधिमान्यता के सम्बन्ध में प्रथम दृष्ट्या मामला साबित करके उद्घोषणा को चुनौती दी जाती है, तब यह समाधान करने का भार संघ सरकार पर होगा कि ऐसी सामग्री थी, जिससे यह दर्शित होता था कि संविधान के उपबंधों के अनुसार शासन नहीं चलाया जा सकता था। चूंकि ऐसी सामग्री अनन्यतः संघ

[1] [1973] 3 एस० सी० आर० 333 (पृ० 360).

सरकार की जानकारी में होगी, अतः साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के उपबंधों को देखते हुए, ऐसी सामग्री के अस्तित्व को साबित करने का भार संघ सरकार पर होगा।

95. एक और प्रश्न, जो इस संबंध में उठाया गया है, यह है कि क्या अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा की विधिमान्यता को, अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) के अधीन संसद् के दोनों सदनों द्वारा उसका अनुमोदन कर दिए जाने के पश्चात् भी चुनौती दी जा सकती है। इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा और संसद् द्वारा अधिनियमित विधान के बीच अन्तर करने का कोई कारण नहीं है। यदि उद्घोषणा अविधिमान्य है, तो वह मात्र इस कारण विधिमान्य नहीं हो जाती कि उसका संसद् द्वारा अनुमोदन कर दिया गया है। उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती देने के आधार, किसी विधान की विधिमान्यता को चुनौती देने के आधारों से भिन्न हो सकते हैं। तथापि, इससे उपलब्ध सीमित आधारों पर उद्घोषणा की आक्षेपणीयता पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रो० एच० डब्ल्यू० आर० वाडे ने अपनी कृति "प्रशासनिक विधि" (छठा संस्करण) में यह कहा है :—

> "·····ऐसे अनेक मामले हैं, जिनमें कानून द्वारा किसी प्रशासनिक आदेश या विनियम की सदनों के संकल्पों द्वारा अनुमोदित किए जाने की अपेक्षा की जाती है। किंतु यह प्रक्रिया, आदेश या विनियम किसी भी प्रकार, "शक्ति-बाह्य होने" के सिद्धांत के अधीन, न्यायालय द्वारा आक्षेपित किए जाने के विरुद्ध संरक्षण प्रदान नहीं करती है—यदि वह पूर्णतः अधिनियम के अनुसार नहीं है। यह बात तात्त्विक नहीं है कि चुनौती, सदनों द्वारा अनुमोदन किए जाने से पूर्व दी जाती है या उसके पश्चात्।" (पृष्ठ 29)
>
> × × × ×
>
> "·····सांविधानिक सिद्धांत के अनुसार संसदीय अनुमोदन न्यायिक पुनर्विलोकन के सामान्य प्रवर्तन को प्रभावित नहीं करता है।" (पृष्ठ 41)
>
> × × × ×
>
> "जैसा कि इन मामलों से दर्शित होता है, न्यायिक पुनर्विलोकन इस तथ्य द्वारा किसी भी रीति में निषिद्ध नहीं है कि नियम या विनियम संसद् के समक्ष प्रस्तुत कर दिए गए हैं और अनुमोदित किए जा चुके हैं, हाउस ऑफ लार्ड्स के इस विनिर्णय के बावजूद कि तब अयुक्तियुक्तता की कसौटी अपनी सामान्य रीति में प्रवर्तित नहीं होनी चाहिए। अपील न्यायालय ने इस तथ्य पर बल दिया है कि दोनों सदनों द्वारा आर्डर-इन-कौंसिल के अनुमोदित प्रारूप जैसे अधीनस्थ विधान के मामले में, न्यायालय, निस्संदेह, इस बात पर विचार करने के लिए हकदार होंगे कि आदेश, शक्ति के अंतर्गत होने के अर्थ में, समुचित रूप से किया गया था या नहीं। (पृष्ठ 870)

96. इस संबंध में आर० बनाम एच० एम० ट्रेजरी एक्स पी स्मेल्डे[1] वाले मामले के प्रति निर्देश करना उचित होगा, जिस विनिश्चय से विद्वान् लेखक ने पूर्वोक्त मताभिव्यक्तियां उद्धृत की हैं।

---

[1] (1985) क्यू० बी० 657.

97. हम यह उपदर्शित करना भी उचित समझते हैं कि अनुच्छेद 356 के खण्ड (5) के, जैसा कि वह 1978 में संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम द्वारा उसके विलोप से पूर्व था, विलोप से इस विधिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है कि अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के अधीन राष्ट्रपति का समाधान सदा न्यायिक रूप से पुनर्विलोकनीय था। उक्त खण्ड इस प्रकार था :—

> "5. इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, खण्ड (1) के अधीन वर्णित राष्ट्रपति का समाधान अन्तिम और निश्चायक (निर्णायक) होगा और उसे किसी भी आधार पर किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।"

98. दूसरी ओर, उक्त खण्ड के विलोप द्वारा इस पूर्वतर विधिक स्थिति पर पुनः बल दिया गया है कि खण्ड (5) के न्यायिक रूप से पुनर्विलोकनीय था और उक्त खण्ड के होने के कारण न्यायिक पुनर्विलोकन वर्जित नहीं था। इस सम्बन्ध में, हम ऊपर निर्दिष्ट **राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उपयोगी समझते हैं, जिसमें सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त अन्तिमता खण्ड के बावजूद, राष्ट्रपतीय उद्घोषणा विभिन्न आधारों पर न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन थी। उसमें यह मत व्यक्त किया गया :—

> "·····वास्तव में यह बहुत ही कठोर शक्ति है, जो, यदि उसका दुरुपयोग या कुप्रयोग किया जाता है, संघ और राज्यों के बीच सांविधानिक सन्तुलन को नष्ट कर सकती है और संविधान-निर्माताओं ने भी उसकी हानि कारित करने की शक्यता को माना·····।" (पृष्ठ 72)

× × × ×

> निस्संदेह, अनुच्छेद 356 के खण्ड (5) के आधार पर, राष्ट्रपति का समाधान अन्तिम और निर्णायक है और उसे किसी भी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है, किंतु चुनौती से यह उन्मुक्ति वहां लागू नहीं हो सकती, जहां चुनौती यह नहीं है कि समाधान अनुचित या अन्यायोचित है, बल्कि चुनौती यह है कि समाधान हुआ ही नहीं है। ऐसे मामले में, राष्ट्रपति द्वारा किए गए समाधान को चुनौती नहीं दी जाती है, बल्कि स्वयं समाधान के अस्तित्व को ही चुनौती दी जाती है। (पृष्ठ 82)

99. तदनुसार, यह अभिनिर्धारित किया गया कि अंतिमता-खण्ड को देखते हुए, उस संकीर्ण क्षेत्र के अन्तर्गत, जिसमें अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन था, आधार भी आते थे, जहां समाधान अनुचित है या विद्वेषपूर्ण है या पूर्णतः बाह्य और असंगत आधारों पर आधारित है और इसलिए वह कोई समाधान ही नहीं है।

100. **ए० के० राय बनाम भारत संघ**[2] वाले मामले में, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि 44वें संशोधन द्वारा खण्ड (5) का विलोप कर दिया गया है, और इसलिए उक्त

---

[1] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1361=[1978] 1 एस० सी० आर० 1.

[2] (1982) 2 एस० सी० आर० 272 (पृष्ठ 297).

खण्ड के आधार पर ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियां अब बिल्कुल भी प्रभावी नहीं रह सकती हैं। इन मताभिव्यक्तियों में यह विवक्षित है कि खण्ड (5) के विलोप के पश्चात् अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा का न्यायिक पुनर्विलोकन ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में उपदर्शित न्यायिक पुनर्विलोकन की तुलना में अधिक व्यापक हो गया है।

101. **किहोटो होल्लोहन बनाम जैचिल्हू और अन्य**[1] वाले मामले में, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि अपवर्जन खण्ड द्वारा, ऐसी कार्यवाही करने वाले प्राधिकारी की अधिकारिता के बाहर रहने वाले (के अंतर्गत न आने वाले) कार्यों की बाबत न्यायिक पुनर्विलोकन को सीमित किया गया है, किंतु उसके द्वारा प्राधिकारी में निहित अधिकारिता के प्रयोग में की गई गलती के आधार पर ऐसी कार्यवाही (कार्य) को चुनौती प्रवारित की गई है, क्योंकि ऐसी कार्यवाही अधिकारितारहित कार्यवाही नहीं कही जा सकती है।

102. पुनः, **भारत संघ बनाम ज्योति प्रकाश मित्तर**[2] वाले मामले में और **भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल**[3] वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जब न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि को निर्बन्धित करने वाला ऐसा अन्तिमता खण्ड है, (तब) न्यायिक पुनर्विलोकन केवल अधिकारिता सम्बन्धी गलतियों तक ही, अर्थात् सांविधानिक आदेशों के उल्लंघन, विद्वेष, नैसर्गिक न्याय के नियम के अननुपालन और अनुचितता पर आधारित कमियों तक ही सीमित रहेगा। निस्सन्देह, ये मताभिव्यक्तियां प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में (की गई) हैं और इसलिए नैसर्गिक न्याय के नियम के प्रति निर्देश को उसके प्रकाश में ही देखा जाना है।

103. अनुच्छेद 356 के उपबंधों पर शुद्धतः विधिक दृष्टिकोण से विचार करना और उनके अर्थ का केवल अधिकारिता सम्बन्धी बारीकियों से ही निर्वचन करना अक्षम्य भूल होगा। संविधान अनिवार्यतः राजनीतिक दस्तावेज है और अनुच्छेद 356 जैसे उपबंधों की, सम्पूर्ण सांविधानिक स्कीम को अस्त-व्यस्त और ध्वंस करने की, शक्यता है। अतः ऐसे उपबन्धों के अधीन निहित शक्ति के प्रयोग को आधारभूत सांविधानिक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए, सीमित किया जाना है, जिससे कि संविधान विकृत और नष्ट न हो जाए। निर्वचन के नियम को मोड़े बिना ही (उसे तोड़ने का तो प्रश्न ही नहीं है), इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, यदि निर्वचन संविधान के अन्य उतने ही महत्त्वपूर्ण उपबंधों के प्रति जागरूक है। जनतन्त्र और परिसंघवाद हमारे संविधान के आवश्यक तत्त्व हैं और उसके आधारभूत ढांचे के भाग हैं। अतः कोई भी निर्वचन, जो हम अनुच्छेद 356 का करें, उसके ताने-बाने को परिरक्षित रखने में सहायक होना चाहिए, न कि उसका ध्वंस करने में। अनुच्छेद 356 के अधीन, विधितः राष्ट्रपति में निहित, किंतु वस्तुतः मंत्रिपरिषद् में निहित, शक्ति में संविधान के दोनों आधारभूत तत्त्वों को प्रभावहीन बनाने की क्षमता प्रच्छन्न रूप से मौजूद है और इसलिए उस सामग्री की संवीक्षा आवश्यक है, जिसके आधार पर सलाह दी जाती है

[1] जे० टी० (1992) 1 एस० सी० 600=(1992) सप्ली० 2 एस० सी० सी० 651 पृष्ठ 707-710.

[2] (1971) 3 एस० सी० आर० 483.

[3] (1985) सप्ली० 2 एस० सी० आर० 131.

और राष्ट्रपति अधिक सूक्ष्मता और सावधानी के साथ अपना समाधान करते हैं। स्वयं को ऊपर चर्चित न्यायिक पुनर्विलोकन के अभिस्वीकृत प्राचलों, अर्थात् अवैधता, अयुक्तियुक्तता और विद्वेष, तक सीमित रखते हुए, न्यायालयों द्वारा ऐसा किया जा सकता है। सामग्री की ऐसी संवीक्षा भी न्यायिक रूप से प्रकटनीय (ज्ञेय) और प्रबन्धनीय मानकों के अधीन होगी।

104. इस संबंध में, हम परिसंघवाद और जनतंत्र के सिद्धांतों के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं, जो हमारे संविधान में सन्निहित हैं। संविधान के अनुच्छेद 1 में यह कहा गया है कि भारत राज्यों का संघ होगा। इस प्रकार राज्य सांविधानिक रूप से मान्य एकक (यूनिट) हैं, न कि मात्र सुविधाजनक प्रशासनिक खण्ड। संघ और राज्य, दोनों ही, संविधान के उपबंधों से उद्भूत हुए हैं। विद्वान् लेखक, एच० एम० सीरवई ने अपनी टीका "कांस्टीट्यूशनल लॉ आफ इण्डिया" (भारत की सांविधानिक विधि), पृष्ठ 166, तृतीय संस्करण, में यह मत व्यक्त करके हमारे संविधान की परिसंघीय प्रकृति की संक्षिप्ति दी है कि हमारे संविधान में परिसंघीय सिद्धांत प्रमुख हैं और परिसंघवाद का सिद्धांत निम्नलिखित कारणों से अल्प-प्रभाव नहीं हुआ है : (क) हमारे संविधान के परिसंघीय होने के लिए यह बात आपत्तिजनक नहीं है कि राज्य, परिसंघ के भाग होने से पूर्व, स्वतंत्र राज्य नहीं थे। एक परिसंघीय स्थिति मौजूद थी; सर्वप्रथम तब, जब ब्रिटिश संसद् ने भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिसंघीय समाधान अंगीकृत किया, और दूसरे, जब संविधान-सभा ने हमारे संविधान में परिसंघीय समाधान अंगीकृत किया; (ख) संसद की, राज्यों की सहमति (सम्मति) के बिना, उनकी सीमाओं में परिवर्तन करने की शक्ति परिसंघीय सिद्धांत का भंग है, किंतु वस्तुतः संसद् ने स्वयं अपनी ओर से राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन नहीं किया है। संविधान—बाह्य आन्दोलन द्वारा, राज्यों ने संसद् को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया है। अतः व्यवहार में, परिसंघीय सिद्धांत का उल्लंघन नहीं किया गया है; (ग) संसद् (अर्थात् परिसंघ) को विधायन (विधान) की अवशिष्टीय शक्ति का आबंटन, संविधान के परिसंघीय स्वरूप को अवधारित करने के लिए असंगत है। यद्यपि अमरीकी और आस्ट्रेलियाई संविधानों द्वारा अवशिष्टीय शक्तियां परिसंघ को नहीं, बल्कि राज्यों को परिदत्त की गई हैं, तथापि उक्त संविधान असंदिग्ध रूप से परिसंघीय हैं। (घ) बाह्य संप्रभुता संविधान के परिसंघीय स्वरूप से संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी संप्रभुता संपूर्ण देश से संबंधित होनी चाहिए। किंतु विधायी शक्तियों के वितरण द्वारा आन्तरिक संप्रभुता का विभाजन परिसंघवाद का आवश्यक तत्व है, और हमारे संविधान में वह तत्त्व मौजूद है। सीमित अपवादों के साथ, आस्ट्रेलियाई संविधान द्वारा राज्यों और राष्ट्रकुल (कामनवेल्थ) को अति-व्यापी विधायी शक्तियां प्रदत्त की गई हैं। जबकि हमारे संविधान की अनुसूची 7 की सूची 2 द्वारा राज्यों को विधायन की अनन्य शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, और इस प्रकार तद्द्वारा हमारे संविधान के परिसंघीय स्वरूप पर बल दिया गया है (ङ) युद्ध या बाह्य आक्रमण से, जो भारत की सुरक्षा को संकट प्रस्तुत करता है, उत्पन्न होने वाली आपात शक्ति के अनुच्छेद 352 में अधिनियमन द्वारा उस चीज को मात्र विधितः मान्यता प्रदान की गई है, जो युद्ध, या युद्ध के आसन्न खतरे के समयों में संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे बड़े परिसंघीय देशों में वस्तुतः होती है, क्योंकि युद्ध में ये परिसंघीय देश इस प्रकार कार्य करते हैं मानो वे एकात्मक हों। हमारे संविधान में राज्यों को प्रदत्त अनन्य विधायी शक्तियों के होने से यह उपबंध करना युक्तिसंगत हो जाता है कि युद्ध या बाह्य आक्रमण द्वारा सर्जित

आपात (स्थिति) के दौरान, संघ को अनन्यत: राज्यों को समनुदेशित विषयों पर विधान बनाने और समरूपी (तदनरूप) कार्यपालिक कार्यवाही करने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। अत: आपात-उपबंध, परिसंघवाद के सिद्धांत को कम नहीं करते हैं, यद्यपि आपात को तब भी जारी रख कर, जब वह अवसर (कारण), जिसने उसे कारित किया, अस्तित्व में नहीं रह गया था, उक्त उपबंधों का दुरुपयोग परिसंघीय शासन के सिद्धांत को कम करता है। 44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 352 में किए गए संशोधनों ने, काफी सीमा तक, ऐसे दुरुपयोग की संभावनाओं (अवसरों) को कम कर दिया है और ऐसे खण्डों का विलोप करके, जिनके द्वारा राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा और उसके जारी रखे जाने को निश्चायक (अन्तिम) बनाया गया था, 44वें संशोधन ने न्यायिक पुनर्विलोकन के अवसर का उपबंध किया है, जिसे ऐसा निवेदन किया गया है, न्यायालयों द्वारा आसानी से अस्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए, जब सामान्य जानकारी (के विषय) के रूप में आपात स्थिति अस्तित्व में नहीं रह गई है। राष्ट्रपति के निश्चायक समाधान का यह विलोप न केवल युद्ध या बाह्य आक्रमण से उत्पन्न होने वाली आपात स्थिति की उद्घोषणा के दुरुपयोग द्वारा प्रेरित है, बल्कि प्रधानमंत्री की वैयक्तिक स्थिति को संरक्षण प्रदान करने के लिए 1975 में जारी की गई आपात स्थिति की पूर्णत: अन्यायोचित उद्घोषणा द्वारा कहीं अधिक प्रेरित है। (च) मूलत: आन्तरिक अशान्ति के आधार पर, किंतु अब केवल सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आपात स्थिति की उद्घोषणा करने की शक्ति, परिसंघवाद के सिद्धांत को कम नहीं करती है क्योंकि ऐसी शक्ति असंदिग्ध रूप से परिसंघीय संविधानों में मौजूद रहती है। **देव साधन राय बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य**[1] वाले मामले ने यह सिद्ध कर दिया है कि आन्तरिक हिंसा से सामान्यत: परिसंघीय सरकार की अपनी विधियों को लागू करने और आवश्यक कार्यपालिक कार्यवाही करने की शक्तियों में हस्तक्षेप होगा। परिणामत:, ऐसे हस्तक्षेप को संयुक्त राज्य अमरीका के संपूर्ण बल द्वारा दबाया जा सकता है। और आस्ट्रेलिया में भी यही स्थिति है (छ) अनुच्छेद 355 के उपबंध, जिनके द्वारा संघ पर बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति के विरुद्ध राज्य का संरक्षण करने का कर्तव्य अधिरोपित किया गया है, परिसंघीय सिद्धांत से असंगत नहीं है। युद्ध शक्ति सभी परिसंघीय सरकारों में संघ की होती है, और इसलिए बाह्य आक्रमण के विरुद्ध राज्य की प्रतिरक्षा किसी भी परिसंघीय सरकार में आवश्यक है। जहां तक आंतरिक अशान्ति का संबंध है, ऊपर निर्दिष्ट देव वाले मामले में निष्कर्षित स्थिति से यह दर्शित होता है कि राज्य द्वारा आवेदन के अभाव से परिसंघीय सिद्धांत तात्त्विक रूप से प्रभावित नहीं होता है। ऐसा आवेदन संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया में अपना महत्त्व खो चुका है; (ज) चूंकि परिसंघीय सिद्धांत का यह मर्म है कि परिसंघीय और राज्य विधियां एक ही व्यष्टि पर प्रवर्तित (लागू) होती हैं, अत: यह निष्कर्ष निकलना चाहिए कि विधिमान्य परिसंघीय विधि और विधिमान्य राज्य विधि के बीच मतभेद की दशा में, परिसंघीय विधि को अभिभावी रहना चाहिए और हमारे संविधान में, पूर्वोल्लिखित अपवाद सहित, जो वर्तमान विचार-विमर्श को प्रभावित नहीं करता है, अनुच्छेद 254 में ऐसा उपबंध किया गया है; (झ) ऊपर (ज) में जो कुछ कहा गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्यों में परिसंघीय विधियां अवश्य ही कार्यान्वित की जानी चाहिए और परिसंघीय कार्यपालिका को, उक्त विधियों के प्रवर्तन सहित, राज्य में परिसंघीय विधियों के अधीन समुचित कार्यपालिक

[1] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1924.

कार्यवाही करने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। ऐसा प्रत्येक राज्य में समानान्तर परिसंघीय विधि-प्रवर्तन तन्त्र (मशीनरी) स्थापित करके किया जाता है या विद्यमान राज्य मशीनरी का उपयोग करके—यह ऐसा विषय है, जिसे व्यावहारिक समीचीनता की बात लागू होती है, जो परिसंघीय सिद्धांत को प्रभावित नहीं करती है। संयुक्त राज्य अमरीका में, परिसंघीय विधि की अवज्ञा को संयुक्त राज्य अमरीका के सशस्त्र बलों और राज्यों की नेशनल मिलीशिया के प्रयोग द्वारा दबाया जा सकता है। हमारे संविधान ने संघ सरकार को, संघ विधि को प्रभावी बनाने के लिए राज्यों को निदेश देने हेतु सशक्त करने और संघ विधि के कार्यकरण में बाधा (अवरोध) निवारित करने की पद्धति अंगीकृत की है। ऐसी शक्ति, यद्यपि वह भिन्न रूप में है, सारतः वैसी ही है, जैसी कि संयुक्त राज्य अमरीका में परिसंघीय सरकार की अपनी विधियां लागू करने की, और यदि आवश्यक हो, तो बल द्वारा लागू करने की शक्तियां अतः राज्य सरकारों को निदेश देने की शक्ति से परिसंघीय सिद्धांत का उल्लंघन नहीं होता है; (ञ) अनुच्छेद 356 (अनुच्छेद 355 के साथ पठित) जिसमें सांविधानिक तंत्र की विफलता का उपबंध किया गया है, अनुच्छेद 4 पर आधारित था। अमरीकी संविधान की धारा 4 और अनुच्छेद 356, अनुच्छेद 4 के समान ही, परिसंघीय सिद्धांत से असंगत नहीं है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, ये उपबंध अन्तिम अवलंब के रूप में आशयित थे, किंतु उनका घोर दुरुपयोग किया गया है और इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे परिसंघीय सरकार के रूप में संविधान के कार्यकरण को प्रभावित करते हैं। किंतु 44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 356 को अभी हाल ही में किए गए संशोधन और उसके पश्चात् किए जाने वाले इस निवेदन से कि राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत भारत में लागू नहीं होता है, यह दर्शित होता है कि अब न्यायालय, राजनीतिक प्रश्न के अमरीकी सिद्धांत द्वारा अबाधित रूप में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने की शक्ति के विद्वेषपूर्ण या अनुचित प्रयोग को निवारित करने में सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं; (ट) इस मत को कि राज्यों को अमहत्वपूर्ण विषय समनुदेशित किए गए, सूची II में राज्यों को समनुदेशित अति महत्त्वपूर्ण विषयों को देखते हुए, स्वीकार नहीं किया जा सकता है, और राज्यों की कराधान-शक्तियों को भी यही बात लागू होती है, जो संघ की कराधान शक्तियों की पारस्परिक रूप से अपवर्जक बनाई गई है, जिससे कि सामान्यतः राज्यों का स्वयं अपना स्वतंत्र राजस्व-स्रोत बना रहे। सूची II में करों से संबंधित विधायी प्रविष्टियों से यह दर्शित होता है कि राज्यों को उपलब्ध राजस्व-स्रोत उत्तरोत्तर और अधिक सारभूत हो जाएंगे। राज्यों की अनन्य कराधान शक्तियों के अतिरिक्त, राज्य, संघ द्वारा संगृहीत समुचित करों के लिए या संघ द्वारा संगृहीत करों में अंश (शेयर) के लिए हकदार हो जाते हैं।

105. इस संबंध में हम डा० अम्बेडकर के उस कथन के प्रति भी निर्देश करना उचित समझते हैं, जो उन्होंने अनुच्छेद 355, 356 और 357 के संदर्भ में संविधान-सभा में हुई बहस का उत्तर देते हुए, किया था। उनके भाषण का सुसंगत भाग पहले ही ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि इस तथ्य के होते भी कि संविधान में ऐसे अनेक उपबंध हैं, जिनके अधीन केन्द्र को राज्यों पर अभिभावी होने की शक्ति प्रदत्त की गई है, हमारा संविधान परिसंघीय संविधान है। इससे यह अभिप्रेत है कि राज्य उस क्षेत्र में संप्रभु (प्रभुतासम्पन्न) हैं, जो उनके लिए छोड़ा गया है। उन्हें राज्य की शान्ति, व्यवस्था और सुशासन के लिए कोई भी विधि बनाने का पूर्ण प्राधिकार प्राप्त है।

106. इस प्रकार उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह दर्शित होता है कि राज्यों का एक स्वतंत्र सांविधानिक अस्तित्व है और उन्हें, संघ के समान ही, लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। वे केन्द्र के न तो अनुगामी हैं और न अभिकर्ता ही। इस तथ्य से कि आपात स्थिति के दौरान और कतिपय अन्य परिस्थितियों में उनकी शक्तियों का केन्द्र द्वारा उल्लंघन और अतिक्रमण किया जाता है, हमारे संविधान का आवश्यक परिसंघीय स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में शक्ति का अतिक्रमण संविधान का सामान्य तत्त्व नहीं है। ये अपवाद हैं और उनका विशेष परिस्थितियों की अत्यावश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही यदा-कदा अवलंब लिया जाता है। अपवाद नियम नहीं होते हैं।

107. इसके अतिरिक्त, हमारे प्रयोजन के लिए, यह अभिनिर्धारित करना आवश्यक नहीं है कि संविधान के ऊपर निर्दिष्ट उपबंधों के बावजूद, हमारा संविधान स्वरूप में परिसंघीय, परिसंघीयवत् या एकात्मक है। संविधान को दिया गया सैद्धांतिक लेबल (नाम) नहीं, बल्कि संविधान के उपबंधों की व्यावहारिक विवक्षा ही उस प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए, महत्त्वपूर्ण है, जो वर्तमान संदर्भ में उद्भूत होती है, अर्थात् यह कि क्या अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्तियों का, राष्ट्रपति द्वारा मनमाने ढंग से और संबंधित राज्य में शासन के लिए उसके परिणामों का विचार न करते हुए, प्रयोग किया जा सकता है। जब तक राज्य मात्र प्रशासनिक यूनिट (एकक) नहीं है, बल्कि वे स्वयं अपने अधिकार से संघ के समान ही सभी आवश्यक उपकरणों से युक्त और संघ जैसी प्रक्रिया द्वारा गठित स्वतंत्र विधायिका और पालिका से युक्त, सांविधानिक प्रभुतासम्पन्न सत्ता हैं, तब तक यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि केवल इस कारण (और मान लीजिए कि यह सही है) कि संविधान पर एकात्मक या परिसंघीयवत् अथवा परिसंघीय और एकात्मक संरचना के मिश्रण का लेबल लगा दिया जाता है, राष्ट्रपति को अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने की अनिर्बंधित शक्ति प्राप्त है। यदि उक्त उपबंध के अधीन राष्ट्रपति की शक्तियां ऊपर चर्चित सीमाओं के अंतर्गत न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन हैं, तो उक्त परिसीमाओं को, संबंधित सामग्री की संवीक्षा करते समय, कठोरतापूर्वक लागू किया जाना होगा।

108. यह बात भी याद रखी जानी चाहिए कि हमारे जैसे अत्यधिक जनसंख्या वाले देश में प्रतिनिधायी जनतंत्र में, जब राज्यों के विधानमण्डल संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन प्रयुक्त शक्ति के अनुसरण में विघटित कर दिए जाते हैं और निर्वाचन कराए जाने की प्रस्थापना की जाती है, तब उसमें सरकारी खजाने के लिए अत्यधिक व्यय अंतर्वलित होता है और परिणामतः, उसका भार जनता पर पड़ता है। राज्य का तंत्र और संसाधन अन्य उपयोगी कार्य की ओर से हटा लिए जाते हैं। निर्वाचन लड़ने के व्यय, जो अन्यथा भी सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत भारी होते हैं और उसकी क्षमता से परे होते हैं, और बढ़ जाते हैं। इस प्रकार अनुच्छेद 356(1) के अन्यायोचित (अनुचित) प्रयोग के कारण बार-बार निर्वाचन कराने का, संपन्न व्यक्तियों का एकाधिकार बनाकर जनतांत्रिक सिद्धांत को अस्वीकृत करने का अधिसंभाव्य रूप से खतरनाक परिणाम होता है। इसके अतिरिक्त, विधानमण्डल के बार-बार विघटन की, निर्वाचन की प्रक्रिया में और इस प्रकार स्वयं जीवन की जनतांत्रिक रीति में लोगों का अविश्वास पैदा करने की प्रवृत्ति होती है। इतिहास हमें

इस बात की चेतावनी देता है कि जनतंत्र से निराशा ने विगतकाल में प्रायः फासीवाद (अधिनायकवाद) और किसी न किसी प्रकार की तानाशाही को ही जन्म दिया है।

109. अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति को एक और उतने ही महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से देखा जाना है। शक्ति का विकेन्द्रीकरण न केवल सूक्ष्मतर संवीक्षा जवाबदेही और सुदक्षता को सुनिश्चित करने के लिए मूल्यवान प्रशासनिक युक्ति है, बल्कि जनतंत्र का आवश्यक भाग भी है। इसी प्रयोजन के लिए हमारे संविधान के भाग-IV में अनुच्छेद 40, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का उल्लेख है, राज्य को ग्राम पंचायत संगठित करने और उन्हें ऐसी शक्तियां और प्राधिकार सौंपने के लिए (हेतु) आवश्यक कार्यवाही करने के लिए व्यादिष्ट करता है, जो स्वशासन की यूनिटों के रूप में कृत्य करने हेतु उन्हें समर्थ बनाने के लिए आवश्यक हों। शासन में लोगों की सह-भागिता जनतंत्र की आवश्यक शर्त है। जीवन की जनतांत्रिक पद्धति, लोगों की समाज के दिन प्रतिदिन के कार्यों में प्रत्यक्ष सहभागिता द्वारा आरम्भ हुआ। जनसंख्या की वृद्धि और राज्य की प्रादेशिक सीमाओं के विस्तार के साथ ही, प्रतिनिधायी जनतंत्र ने प्रत्यक्ष जनतंत्र का स्थान ले लिया और लोगों ने शनैः-शनैः प्रत्यक्ष सहभागिता के अपने अधिकाधिक अधिकार अपने प्रतिनिधियों को अभ्यर्पित कर दिए। अपेक्षित शक्तियों के अभ्यर्पण के होते हुए भी, ऐसे मामलों में, जिन्हें प्रतिधारित किया गया है, शक्तियों की उत्साहपूर्वक रक्षा की गई है और ऐसा ठीक ही किया गया है। यदि यह कहना सच है कि जनतंत्र में लोग संप्रभु है और संपूर्ण शक्ति प्राथमिक रूप से लोगों में निहित रहती है, तो लोगों द्वारा ऐसी शक्तियों का प्रतिधारण और उनका प्रयोग करने की व्यग्रता विधिसम्मत है। चूंकि सामान्य नियम, लोगों द्वारा अभिव्यक्त इच्छा के अनुसार स्वशासन है, अतः स्वशासन में हस्तक्षेप करने के अवसर विरल और प्रदर्शनीय रूप से बाध्यकर होने चाहिए।

110. इस संबंध में हमारे समाज के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और विशेष लक्षण को बराबर ध्यान में रखा जाना है। हमारा समाज, अन्य बातों के साथ-साथ, बहु-भाषी, बहु-जातीय और बहु-सांस्कृतिक है। स्वतंत्रता से पूर्व, ये राजनीतिक वायदे किए गए थे कि राज्य भाषायी आधार पर बनाए जाएंगे और जातीय तथा सांस्कृतिक पहचान को न केवल संरक्षण प्रदान किया जाएगा, बल्कि उनका संवर्द्धन भी किया जाएगा। उक्त वायदों के अनुसरण में ही अंततः राज्य मोटे रूप में भाषाई, जातीय, और सांस्कृतिक आधार पर संगठित किए गए हैं। प्रत्येक राज्य में लोगों की संविधान के ढांचे के अंतर्गत स्वशासन द्वारा अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करने की इच्छा होती है। अतः स्वशासन में हस्तक्षेप लोगों के वंचन और अनुचित हस्तक्षेप की कोटि में भी आता है। लोगों की जनतांत्रिक आशाओं का वंचन जनतांत्रिक सिद्धांत की, जो हमारे संविधान में सन्निविष्ट है, अस्वीकृति है।

111. इसके अतिरिक्त—और यह हमारी सांविधानिक विधि का उतना ही (यदि अधिक नहीं) महत्त्वपूर्ण पहलू है—हमने बहुवादी जनतंत्र अंगीकृत किया है। अन्य बातों के साथ-साथ, उसमें बहुदलीय पद्धति विवक्षित है। परिसंघवाद की प्रकृति कुछ भी क्यों न हो, यह तथ्य शेष रहता है कि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, संविधान के उपबंधों के अनुसार, प्रत्येक राज्य संघटक राजनीतिक एकक है और उसकी संघ सरकार जैसी प्रक्रिया द्वारा ही निर्वाचित और गठित अनन्य कार्यपालिका और विधायिका होगी। हमारी राजनीतिक

और निर्वाचन पद्धति के अधीन राजनीतिक दल, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर अथवा अनन्यत: राज्य स्तर पर कार्य कर सकते हैं। विभिन्न राज्यों में और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राजनीतिक दल हो सकते हैं। परिणामत: ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, और वस्तुत: वे उत्पन्न भी हुई हैं, जब विभिन्न राज्यों में और केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल भिन्न-भिन्न हों। ऐसा भी हो सकता है—और अब तक ऐसा हो चुका है—कि राजनीतिक सौदेबाजी, समायोजन और समझबूझ (समझौता) द्वारा राज्य स्तर का दल संसद् के लिए राष्ट्रीय स्तर के दल के अभ्यर्थियों को निर्वाचित करने के लिए सहमत हो जाए और इसी प्रकार विलोमत: राष्ट्रीय स्तर का दल ...। राजनीतिक जीवन के बहुवर्णी प्रतिमान का यह चित्र हमारे जैसे बहुवादी, बहुदलीय जनतंत्र में सम्भवत: अंतर्निहित है। अत: सत्तारूढ़ राजनीतिक दल या दलों [संयुक्त (मिली-जुली) सरकार में] का राज्य में सरकार को स्थिर करने या बर्खास्त करने का लोभ, जिसका शासन उसी राजनीतिक दल या दलों द्वारा नहीं चलाया जा रहा है, विरल नहीं है और वस्तुत: संविधान के आरम्भ से ही अनुच्छेद 356(1) के कार्यकरण के अनुभव से यह दर्शित होता है कि असंगत आपत्तिजनक और हल्के आधारों पर राज्य सरकारों को बर्खास्त किया गया है तथा विधानसभाओं को विघटित किया गया है। अब तक उक्त उपबंध के अधीन 90 से अधिक अवसरों पर उक्त शक्ति का प्रयोग किया गया है और प्राय: सभी मामलों में विरोधी राजनीतिक दलों द्वारा चलाई जाने वाली सरकारों के विरुद्ध उसका प्रयोग किया गया है। यदि बहुवाद और बहुवादी जनतन्त्र के ताने-बाने तथा देश की एकता और अखण्डता को परिरक्षित रखा जाना है, तो इन परिस्थितियों में न्यायपालिका एकमात्र ऐसी संस्था है, जो हमारी पद्धति और राष्ट्र की त्राता के रूप में कार्य कर सकती है।

112. इन्हीं कारणों से हम इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं कि यदि राज्यों में सत्तारूढ़ दल की लोकसभा के निर्वाचनों में भारी पराजय होती है—वह पराजय कितनी भी पूर्ण क्यों न हो—तो वह अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी किए जाने का आधार होगी। हम ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में किए गए विनिश्चय को इस प्रकार नहीं पढ़ रहे हैं कि उसमें ऐसा मत अपनाया गया है। ऐसा विशेष रूप से इसलिए है कि निर्णय में यह मत व्यक्त किया गया है—

> "अब हमें इस संबंध में कोई भी संदेह नहीं है कि केवल इस कारण कि किसी राज्य में सत्तारूढ़ दल की लोकसभा के निर्वाचनों में या तत्प्रयोजनार्थ पंचायतों के निर्वाचनों में पराजय होती है, यह कहने का आधार नहीं हो सकता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। हमारे संविधान के अधीन परिसंघीय में संरचना में स्पष्टत: यह अनुध्यात किया गया है कि राज्य में एक दल सत्तारूढ़ हो सकता है और केन्द्र में दूसरा दल। यह भी कोई असामान्य बात नहीं है कि वही निर्वाचकगण विधानसभा के लिए एक दल के सदस्यों के बहुमत को निर्वाचित कर सकते हैं, जबकि लोकसभा के लिए अन्य दल के सदस्यों के बहुमत को निर्वाचित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, विधानसभा को, जब वह एक बार निर्वाचित कर ली जाती है, एक विनिर्दिष्ट अवधि तक बना रहना है और उक्त अवधि की समाप्ति से पूर्व लोकसभा के लिए निर्वाचनों में पराजय मात्र (बिना किसी और बात के), उसके विघटन का आधार नहीं हो सकती। पराजय से अनिवार्यत:

सभी मामलों में यह उपदर्शित नहीं होगा कि निर्वाचकगण सत्तारूढ़ दल का अब समर्थन नहीं कर रहे हैं, क्योंकि विवाद्यक भिन्न हो सकते हैं। किंतु यदि उससे निर्वाचकगण की राय में एक निश्चित परिवर्तन का संकेत मिलता भी हो, तब भी वह विघटन का आधार नहीं होगा क्योंकि संविधान में यह अनुध्यात किया गया है कि सामान्यतः निर्वाचकगण की इच्छा विधानसभा की अवधि समाप्ति पर व्यक्त की जाएगी और बीच में निर्वाचकगण की इच्छा में परिवर्तन संगत नहीं होगा·····; लोकसभा निर्वाचनों में राज्य के सत्तारूढ़ दल की पराजय मात्र से (किसी और चीज के बिना) इस निष्कर्ष का समर्थन नहीं हो सकता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। एकमात्र ऐसे आधार पर विधान-सभा को विघटित करना, निर्वाचकगण द्वारा भी वापस बुलाए जाने के लिए संविधान में किसी उपबंध के बिना, राष्ट्रपति द्वारा सभी सदस्यों के वापस बुलाए जाने के अधिकार का परोक्ष प्रयोग होगा।" (पृष्ठ 84-85)

113. इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि उक्त विनिश्चय में कतिपय मताभिव्यक्तियों से इसके विपरीत धारणा उत्पन्न होती है। हम सरकारिया आयोग की रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश का पहले ही पृष्ठांकन कर चुके हैं कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति का अवलंब लेने के लिए संबंधित आधार उपलब्ध नहीं हो सकता है। उसकी उक्त शक्ति का अवलंब लेने के लिए पुरोभाव्य शर्त, अर्थात् राज्य में सांविधानिक तंत्र के भंग, से कोई संगति नहीं है।

114. इस प्रकार परिसंघीय सिद्धांत, सामाजिक बहुवाद और बहुवादी जनतंत्र, जो हमारे संविधान का आधारभूत ढांचा गठित करते हैं, यह अपेक्षा करते हैं कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा का न्यायिक पुनर्विलोकन न केवल एक अनिवार्य आवश्यकता है बल्कि वह एक कठोर कर्तव्य भी है और उक्त उपबंध के अधीन शक्ति का प्रयोग पूर्णतः उसमें वर्णित प्रयोजन के लिए और परिस्थितियों तक ही सीमित है, किसी अन्य प्रयोजन और परिस्थिति के लिए नहीं। उसमें यह भी अपेक्षा की गई है कि उस सामग्री की, जिसके आधार पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है, सावधानीपूर्वक संवीक्षा की जाती है। इस संबंध में हम इस चीज के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं, जो डा० अम्बेडकर ने इस संदर्भ में संविधान-सभा के अन्य माननीय सदस्यों द्वारा व्यक्त आशंकाओं के उत्तर में कही थी, जिससे माननीय सदस्यों के मन की चिन्ता भी प्रकाश में आती है :—

"साधारण बहस के संबंध में, जो यहां हुई है और जिसमें यह सुझाव दिया गया है कि इन अनुच्छेदों का दुरुपयोग किया जा सकता है, मैं यह कहना उचित समझता हूं कि मैं बिल्कुल ही इस बात से इनकार नहीं करता हूं कि इन अनुच्छेदों का दुरुपयोग किए जाने या राजनीतिक प्रयोजनों के लिए उपयोग किए जाने की सम्भावना है। किंतु यह आक्षेप संविधान के प्रत्येक भाग को लागू होता है, जो प्रान्तों पर अध्यारोही (अभिभावी) होने के लिए केन्द्र को शक्ति प्रदत्त करता है। वास्तव में, मैं अपने माननीय मित्र श्री गुप्ते द्वारा कल व्यक्त की गई इस भावना से सहमति व्यक्त करता हूं कि वह समुचित चीज, जिसकी हमें आशा करनी चाहिए, यह है कि इन अनुच्छेदों को कभी भी प्रवर्तन में नहीं लाया जाएगा और वे अप्रचलित

विधि के रूप में ही रहेंगे। यदि उन्हें प्रवर्तन में लाया भी जाता है, तब भी, मैं आशा करता हूं, राष्ट्रपति, जिन्हें यह शक्तियां प्रदत्त की गई हैं, प्रान्तों का प्रशासन वास्तविक रूप से निलम्बित करने से पूर्व समुचित पूर्वावधानी बरतेंगे। मैं आशा करता हूं कि वह प्रथम चीज, जो वह करेंगे प्रांत को, जिसने गलती की है, यह चेतावनी मात्र जारी करना होगी कि चीजें उस रीति में घटित नहीं हो रही हैं, जिसमें घटित होने के लिए वे संविधान में आशयित थीं। यदि उक्त चेतावनी असफल रहती है, तो उनके द्वारा की जाने वाली दूसरी चीज, प्रान्त के लोगों को मामलों का स्वयं ही निपटारा करने देते हुए, निर्वाचन का आदेश देना होगी। केवल उस स्थिति में ही, जब ये दोनों उपचार असफल हो जाएं, वह इस अनुच्छेद का अवलंब लेंगे। केवल इन परिस्थितियों में ही वह इस अनुच्छेद का अवलंब लेंगे। मैं नहीं समझता कि तब हम यह कह सकते थे कि ये अनुच्छेद व्यर्थ ही सम्मिलित किए गए या राष्ट्रपति ने सनकपूर्ण ढंग से कार्य किया था।" (सी० ए० डी० जिल्द 9, पृष्ठ 177)

115. सरकारिया आयोग की रिपोर्ट से किए गए उद्धरण से, जिसे ऊपर पैरा 7 में उद्धृत किया गया है, यह दर्शित होगा कि डा० अम्बेडकर और संविधान-सभा के अन्य माननीय सदस्यों की ये आशाएं सही साबित नहीं हुई हैं।

116. अगला इतना ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जो इस संदर्भ में उत्पन्न हुआ है, यह है कि क्या राष्ट्रपति का, जब वह अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करते हैं, सत्तारूढ़ सरकार को हटाना या विधानसभा को विघटित करना और इस प्रकार अनुच्छेद 356 के खंड (1) के उपखण्ड (क), (ख) और (ग) में वर्णित सभी शक्तियों का प्रयोग करना न्यायोचित होगा, चाहे स्थिति की प्रकृति या सांविधानिक तंत्र की असफलता (विफलता) की मात्रा कुछ भी क्यों न हो। यह सशक्त दलील दी गई कि सांविधानिक तंत्र की असफलता की परिस्थितियां, प्रकृति और परिमाण (विस्तार) में अलग-अलग हो सकती हैं और इसलिए उस परिस्थिति का उपचार करने के अध्युपाय भी प्रकार और परिमाण में अलग-अलग हो सकते हैं। यदि सरकार के हटाए जाने या विधानसभा के विघटन का आदेश किया जाता है, जब स्थिति उदाहरणार्थ अनुच्छेद 356(1) (क) के अधीन राज्य की सरकार के या किसी निकाय के या प्राधिकारी के कुछ कृत्यों या शक्तियों को धारण करने मात्र की अपेक्षा करती थी, तो यह अननुपातिक और अयुक्तिसंगत शक्ति का प्रयोग होगा। शक्ति का अत्यधिक प्रयोग, शक्ति के अवैध, अयुक्तिसंगत और विद्वेषपूर्ण प्रयोग की कोटि में भी आता है। अतः यह तर्क दिया गया है कि इस संदर्भ में आनुपातिकता का सिद्धांत सुसंगत है और उसे ऐसी परिस्थितियों में लागू किया जाना है। इस मुद्दे पर बहस को ठीक-ठीक समझने के लिए यह महसूस करना आवश्यक है कि राष्ट्रपति द्वारा उस स्थिति में सरकार को हटाया जाता है और विधान-सभा का विघटन किया जाता है, यदि वह अनुच्छेद 356(1) के उपखण्ड(क) के अधीन, क्रमशः अनुच्छेद 164(1) और 174(ख) के अधीन राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग करते हैं, यद्यपि उद्घोषणा जारी करते समय, यह चीज न तो आवश्यक है और न बाध्यकर ही। दूसरे शब्दों में, मन्त्रिमण्डल का हटाया जाना या विधान-सभा का विघटन उद्घोषणा जारी किए जाने का स्वतः परिणाम नहीं है। अनुच्छेद 356(1) के उपखंड (क), (ख) और

(ग) के अधीन शक्तियों का प्रयोग, राज्य की राजनीतिक कार्यपालिका और विधायिका के निलम्बन मात्र के साथ सहव्यापी भी हो सकता है। अनुच्छेद 356(1) के उपखंड (ग) द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। उसमें, राज्य में किसी निकाय या प्राधिकारी/प्राधिकरण से संबंधित, संविधान के किसी उपबंध के प्रवर्तन के पूर्णतः या भागतः निलम्बन सहित, उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी बनाने के लिए आनुषंगिक और परिणामिक उपबंधों का उल्लेख किया गया है। यहां यह बात ध्यान में रखी जानी है कि उपखण्ड (क) के विपरीत, उसमें राज्य के विधानमण्डल को अपवर्जित नहीं किया गया है। उपखंड (ख) में, केवल संसद् के प्राधिकार द्वारा या उसके अधीन, राज्य के विधानमण्डल की शक्तियों के प्रयोग का ही उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त, उपखंड (क) के अधीन राज्य के विधानमण्डल से भिन्न, राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी/प्राधिकरण या राज्यपाल की शक्तियों और सरकार के कुछ कृत्यों को धारण करना भी, राज्य की सरकार और राज्य के राज्यपाल या किसी निकाय या प्राधिकारी/प्राधिकरण के साथ, अन्य कृत्यों और शक्तियों का प्रतिधारण के साथ संकल्पनीय उपखंड (क) की भाषा इस विषय पर बहुत ही स्पष्ट है। इस संबंध में यह बात याद रखी जानी चाहिए कि जहां दो सदन वाला विधानमण्डल है, वहां उच्च सदन, अर्थात विधान परिषद्, को विघटित नहीं किया जा सकता। तथापि, अनुच्छेद 356(1) के उपखंड(ख) के अधीन उसकी शक्तियां संसद् के प्राधिकार द्वारा या उसके अधीन प्रयोक्तव्य हैं, उसमें प्रयुक्त शब्द "विधानमंडल" है, न कि "विधानसभा"। विधानमण्डल में निम्न सदन और उच्च सदन, अर्थात् विधान-सभा और विधान परिषद्, दोनों ही, सम्मिलित हैं। यह बात भी ध्यान में रखी जानी है कि जब राज्य के विधानमण्डल की शक्तियां अनुच्छेद 356(1)(क) के अधीन संसद् के प्राधिकार द्वारा या के अधीन प्रयोक्तव्य घोषित की जाती हैं, तो अनुच्छेद 357 के अधीन संसद् के लिए, राष्ट्रपति को, विधियां बनाने के लिए और राष्ट्रपति को इस प्रकार प्रदत्त शक्तियां, उनके द्वारा विनिर्दिष्ट किए जाने वाले किसी अन्य प्राधिकारी को प्रत्यायोजित करने के लिए प्राधिकृत करने हेतु ऐसे विधान-मण्डल की शक्ति प्रदत्त करना सक्षमतापूर्ण है। इस प्रकार चयनित प्राधिकारी संघ या उसके अधिकारी और प्राधिकार हो सकते हैं। अतः, विधि की दृष्टि से, अनुच्छेद 356(1) के अधीन, प्रथमतः, केवल राज्य में राजनीतिक कार्यपालिका या किसी निकाय या प्राधिकरण को और राज्य के विधानमण्डल को भी निलम्बित करना अनुज्ञेय है, न कि उन्हें हटाना या विघटित करना। दूसरे, राष्ट्रपति के लिए, उन्हें निलम्बित किए या हटाए बिना, विधानमण्डल से भिन्न, राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी/प्राधिकरण के या राजनीतिक कार्यपालिका के केवल कुछ कृत्यों को धारण करना भी अनुज्ञेय है। यह तथ्य कि इनमें से कुछ कृत्यों का व्यवहार में अभी तक अवलंब नहीं लिया गया है, उस विधिक स्थिति के विरुद्ध नहीं है, जो अनुच्छेद 356(1) की स्पष्ट भाषा से सामने आती है। इस संबंध में हम उस चीज के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं, जो डा० अम्बेडकर ने संविधान-सभा में इस विषय के संबंध में कही थी। उनके भाषण का सुसंगत उद्धरण ऊपर पैरा 21 में दिया गया है। अतः राष्ट्रपति के लिए प्रश्नगत स्थिति से निपटने के लिए अनुच्छेद 356 के अधीन उनमें निहित शक्तियों में से केवल कुछ शक्तियों का प्रयोग करना सम्भव है। सभी स्थितियों से निपटने के लिए उन्हें सभी शक्तियों का प्रयोग नहीं करना होता है, चाहे राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता का प्रकार और परिमाण कुछ भी क्यों न हो। उस सीमा तक, उक्त दलील वास्तव में, विधिमान्य हैं। किंतु किसी विशेष परिस्थिति में प्रयुक्त शक्तियों की सीमा उचित और न्यायोचित है या नहीं—यह ऐसा प्रश्न है, जो विचारणीय और न्यायिक रूप से

पता किए जाने योग्य (ज्ञेय) और प्रबन्धनीय मानकों से परे रहेगा, जब तक कि अत्यधिक शक्तियों का प्रयोग स्पष्ट रूप से इतना अयुक्तिसंगत या विद्वेषपूर्ण नहीं है कि न्यायिक हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। वास्तव में, जब एक बार उद्घोषणा जारी करने का कार्य विधिमान्य मान लिया जाता है, तब उद्घोषणा के अधीन प्रयुक्त शक्ति के प्रकार और परिमाण की संवीक्षा की परिधि संकीर्ण हो जाती है। इस बात की पूरी जोखिम और डर रहता है कि न्यायालय स्वयं सूक्ष्म तुलाओं और स्वयं अपने लैंसों से किसी विशेष अध्युपाय के तुलनात्मक गुणागुणों का मूल्यांकन करने का कार्य अपने हाथ में ले लेगा। इस प्रकार न्यायालय, अनजाने में राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश कर लेगा और स्वयं को नीति-निर्माण के विषय का अतिक्रमण करने के आरोपों के लिए दायी बना लेगा। ऐसी परिस्थितियों में, राजनीतिक जंगल में प्रवेश का आक्षेप अधिक आसानी से लगाया जा सकता है। अतः, यद्यपि अनुच्छेद 356(1) की भाषा के आधार पर, यह अभिनिर्धारित करना वैध है कि राष्ट्रपति, उन्हें प्रदत्त शक्तियों में से केवल कुछ शक्तियों का ही प्रयोग कर सकते हैं, तथापि व्यवहार में शक्ति के अत्यधिक प्रयोग को प्रदर्शित करना सदा सरल कार्य नहीं होगा।

117. इस संबंध में जो सहबद्ध प्रश्न उत्पन्न होता है, वह यह है कि क्या, इस तथ्य के होते हुए भी कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि राज्य में सांविधानिक तन्त्र विफल हो गया है, अनुच्छेद 356 (1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने की शक्ति का अवलम्ब लेना सदा आवश्यक है। यह दलील दी गई है कि (चूंकि) अनुच्छेद 355 के अधीन, यह सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य है कि प्रत्येक राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाता है और इसके अतिरिक्त, चूंकि अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा का जारी किया जाना कठोर कार्यवाही है, अतः अनुच्छेद 356 (1) के अधीन कार्यवाही करने से पूर्व, राष्ट्रपति पर अन्य उपायों का अवलम्ब लेने की समरूपी बाध्यता अधिरोपित की गई है। हमारे संविधान में सन्निहित परिसंघीय और जनतान्त्रिक राज्यतन्त्र के सिद्धांतों को देखते हुए, यह और भी आवश्यक है। इस संबंध में, हम, पुनः, उस बात के प्रति निर्देश करना चाहते हैं, जो स्वयं अम्बेडकर ने इस विषय पर कही थी। हम ऊपर पैरा 6 में उनके भाषण का सुसगत उद्धरण पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। उन्होंने यह आशा व्यक्त की थी कि अनुच्छेद 356 (1) का अवलम्ब अन्तिम उपाय के रूप में ही अवलम्ब लिया जाएगा और उक्त अनुच्छेद को प्रवर्तन में लाने से पूर्व, राष्ट्रपति समुचित पूर्वावधानी बरतेंगे। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि वह प्रथम बात, जो राष्ट्रपति करेंगे, मात्र चेतावनी जारी करना होगी। यदि चेतावनी असफल रहती है, तो वह निर्वाचन का आदेश करेंगे और जब उक्त दोनों ही चीजें असफल रहती हैं, तब वह उक्त अनुच्छेद का अवलम्ब लेंगे। हमें यह स्वीकार करना ही चाहिए कि हम द्वितीय उपाय को महत्त्व देने में असमर्थ हैं, जिसके प्रति डा० अम्बेडकर ने अनुच्छेद 356 (1) का अवलम्ब लेने के लिए प्रारम्भिक व्यवस्था के रूप में निर्देश किया। हम समझते हैं कि विधान सभा के लिए निर्वाचन अन्तिम अवलम्ब है और यदि निर्वाचन आयोजित किए जाते हैं, तो अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करके आगे कुछ नहीं किया जाना है। अतः हम उनके द्वारा किए गए उक्त सुझाव की उपेक्षा करना उचित समझते हैं। किन्तु हम प्रथम, अर्थात् चेतावनी के, उपाय का पृष्ठांकन (समर्थन) करते हैं, जिसका राष्ट्रपति को, अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करने से पूर्व, अवलम्ब लेना चाहिए। चेतावनी के अतिरिक्त, राष्ट्रपति को आवश्यक निदेश जारी करने की सदा शक्ति प्राप्त होगी। हमारा

यह मत है कि सिवाय ऐसी स्थितियों में, जिनमें आत्यंतिक उपाय अनिवार्य है और उक्त अनुच्छेद के अधीन कठोर शक्ति के प्रयोग में विलम्ब (सहन) नहीं किया जा सकता है, राष्ट्रपति को राज्य में सांविधानिक तन्त्र को बहाल करने के लिए सभी अन्य उपायों को उपयोग में लाना चाहिए। सरकारिया आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट के पैरा 6.8.01 से 6.8.04 में इस संबंध में सिफारिशें की हैं। यहां उन्हें उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। हम उक्त सिफारिशों का पृष्ठांकन (समर्थन) करते हैं।

118. अगला महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जिस पर विचार किया जाना है, राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा के अनुसरण में उनके द्वारा की जाने वाली कार्यवाही की प्रकृति और प्रभाव के संबंध में है। इस प्रश्न पर तीन विभिन्न स्थितियों के प्रति निर्देश से विचार किया जाना है। चूंकि अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) में यह अपेक्षा की गई है कि खण्ड (1) के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और उसमें यह भी कहा गया है कि वह दो मास की समाप्ति पर, यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं किया जाता है, तो प्रवर्तन में नहीं रहेगी, अतः जो प्रश्न उत्पन्न होता है वह यह है कि उस स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा की गई कार्रवाई का विधि परिणाम क्या होगा, (क) यदि उद्घोषणा अविधिमान्य है, फिर भी उसका संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिया जाता है; (यदि) उद्घोषणा अविधिमान्य है और उसका संसद् के दोनों सदनों या एक भी सदन द्वारा अनुमोदन नहीं किया जाता है; और (ग) यदि उद्घोषणा विधिमान्य है किन्तु उसका सदन के किसी भी सदन द्वारा या दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन नहीं किया जाता है। अन्य प्रश्न, जो इस संबंध में उत्पन्न होता है, यह है कि क्या, राष्ट्रपति द्वारा की गई कार्यवाही की प्रकृति पर निर्भर करते हुए, मामलों के इन तीनों वर्गों में विधिक परिणाम भिन्न-भिन्न होंगे।

119. वर्ग (क) और (ख) के अन्तर्गत आने वाली उद्घोषणा से, राष्ट्रपति द्वारा उनके अधीन की गई कार्यवाहियों की विधिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आएगा। निस्संदेह, ये कार्यवाहियां वैध होंगी। तथापि, अनुतोष को समुचित रूप देकर न्यायालय और विधान बना कर संसद् और राज्य विधानमण्डल राष्ट्रपति के उन कृत्यों को विधिमान्य बना सकते हैं, जो विधिमान्य बनाए जाने के योग्य हैं। जहां तक संसद् का संबंध है, ऐसे कार्यों में मंत्रिपरिषद् का हटाया जाना और विधान सभा का विघटन सम्मिलित नहीं होगा, क्योंकि संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो संसद् को ऐसी शक्ति प्रदत्त करता हो। यह शक्ति क्रमशः अनुच्छेद 164 (1) और 174 (2) के अधीन अनन्यतः राज्यपाल को दी गई है। अन्य शक्तियों के साथ ही, इस शक्ति को राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 (1) (क) के अधीन धारित करने के लिए हकदार हैं। संसद् उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) के अधीन मंत्रिपरिषद् के हटाए जाने और विधान सभा के विघटन का केवल अनुमोदन या अननुमोदन ही कर सकती है, यदि राष्ट्रपति द्वारा ऐसी कार्यवाही की जाती है। तब यह प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या मंत्रिपरिषद् और विधान सभा को न्यायालय द्वारा बहाल किया जा सकता है, जब वह उद्घोषणा को अविधिमान्य घोषित करता है। इस बात का कोई कारण नहीं है कि मंत्रिपरिषद् और विधान-सभा, उद्घोषणा के अविधिमान्य घोषित किए जाने के परिणामस्वरूप बहाल क्यों नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह अविधिमान्य कार्यवाही का विधिक प्रभाव है। सांविधानिक उपबंधों के सन्दर्भ में, जिन पर हम विचार-विमर्श कर चुके हैं, और न्यायालय में निहित

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को देखते हुए, ऐसा परिणाम आवश्यक सांविधानिक परिणाम भी है। जब तक ऐसा परिणाम नहीं पढ़ा और समझा जाता, तब तक न्याय-पालिका में निहित पुनर्विलोकन की शक्ति निरर्थक रहेगी। अन्यथा अभिनिर्धारित करने का अर्थ यह अभिनिर्धारित करना भी होगा कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि से परे है। क्योंकि जब उद्घोषणा की विधि-मान्यता को चुनौती दी जाती है, तब न्यायालय अनुतोष प्रदत्त करने के लिए शक्तिहीन होगा और उसे सदा सम्पन्न कार्य का सामना करना होगा वह कोई कार्यवाही करने में असमर्थ होगा। तब अनुच्छेद 356 को न्यायिक पुनर्विलोकन के अपवाद के रूप में पढ़ा और समझा जाना होगा। ऐसा निर्वचन न तो संभव है और न अनुज्ञेय ही। अतः उद्घोषणा के अविधि-मान्यकरण का आवश्यक परिणाम राज्य में मंत्रिपरिषद् और विधान सभा का बहाल किया जाना होगा। इस संबंध में हम **मियां मुहम्मद नवाज शरीफ बनाम पाकिस्तान के राष्ट्रपति और अन्य**[1] वाले मामले में पाकिस्तान उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि राष्ट्रीय सभा के विघटन और परिसंघीय मंत्रिमण्डल की बर्खास्तगी का आक्षेपित आदेश विधिपूर्ण प्राधिकार से रहित था और इसलिए उसका कोई विधिक प्रभाव नहीं है। उक्त घोषणा के परिणामस्वरूप, न्यायालय ने यह घोषित किया कि राष्ट्रीय सभा, प्रधान मंत्री और मंत्रिमण्डल बने हुए हैं और उसी प्रकार कृत्य करने के हकदार हैं, जिस प्रकार वे आक्षेपित आदेश पारित किए जाने से पूर्व हकदार थे। न्यायालय ने यह भी घोषित किया कि कामचलाऊ मंत्रिमण्डल और काम चलाऊ प्रधान मंत्री की नियुक्ति सहित, आक्षेपित आदेश के अनुसरण में की गई सभी कार्यवाहियों का भी कोई विधिक प्रभाव नहीं है। तथापि, न्यायालय ने यह भी कहा कि काम-चलाऊ सरकार द्वारा इसी बीच पारित सभी आदेश, किए गए कार्य और उठाए गए कदम, जो संविधान के निबंधनों के अनुसार पारित किए गए, किए गए और उठाए गए थे और जिनका राज्य (के शासन) के सामान्य और व्यवस्थित रूप से चलाए जाने के लिए पारितकिया जाना, किया जाना और उठाया जाना अपेक्षित (आवश्यक) था, विधिमान्य और विधिपूर्ण रूप से किए गए समझे जाएंगे।

120. जहां तक तृतीय वर्ग के मामलों का संबंध है, जिनमें उद्घोषणा विधिमान्य मानी जाती है किन्तु उसका संसद् के किसी सदन या दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन नहीं किया जाता है, उसका परिणाम भी वही होगा, जैसा कि उन मामलों में होता है, जिनमें उद्घोषणा बाद में प्रतिसंहृत कर दी जाती है या दो मास की समाप्ति से पूर्व संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष नहीं रखी जाती है या जहां संसद् द्वारा उसके अनुमोदन के पश्चात् उसे प्रतिसंहृत कर दिया जाता है या वह, उसके जारी किए जाने की तारीख से छह मास की अवधि, या अनुच्छेद 356 के खण्ड (4) के अधीन अतिरिक्त (आगे) अनुज्ञेय अवधि, की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रह जाती है। तथापि, संविधान के अनुच्छेद 356 या किसी अन्य उपबंध से यह प्रतीत नहीं होता है कि संसद् द्वारा किसी विधिमान्य उद्घोषणा के अननुमोदन मात्र से या उसके प्रति-संहरण या (प्रवर्तन में) न रहने का मन्त्रिपरिषद् या विधान-सभा को बहाल करने का प्रभाव होगा। ऐसी स्थिति में अपरिहार्य (अनिवार्य) परिणाम राज्य में नए सिरे से निर्वाचन और

[1] (1993) पी० एल० डी० एस० सी० 473.

नई विधान-सभा और मन्त्रिपरिषद् का गठन होगा। उस अवधि के दौरान, जिसमें विधिमान्य उद्घोषणा, उसके प्रतिसंहृत किए जाने या अननुमोदित किए जाने से पूर्व या उसके समाप्त होने से पूर्व, अस्तित्व में रहती है, संसद् या राष्ट्रपति या किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा राज्य के विधान-मण्डल की शक्ति के प्रयोग में बनाई गई विधि को अनुच्छेद 357 के खण्ड (2) द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है।

121. अतः अनुच्छेद 356 के खण्ड(1) और(3) का सामंजस्यपरक नीति में निर्वचन करना आवश्यक है, क्योंकि खण्ड (3) के उपबन्ध, स्पष्टतः, खण्ड (1) के अधीन राष्ट्रपति की शक्तियों पर संसद् द्वारा (जिसमें सम्बन्धित राज्यों से सदस्य भी होते हैं) नियन्त्रण के रूप में अभिप्रेत (आशयित) हैं। नियंत्रण उस स्थिति में निरर्थक और निष्प्रभाव हो जाएंगे, यदि राष्ट्रपति, उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के उप-खण्ड (क), (ख) और (ग) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय, अनुत्क्रमणीय (न उलटने योग्य), कार्यवाहियां (कार्य) करता है। अनुच्छेद 174 (2) (ख) के अधीन राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग करके (विधान) सभा का विघटन एक ऐसा ही अनुत्क्रमणीय कार्य होगा। अतः यह अभिनिर्धारित किया ही जाना होगा कि किसी भी दशा में, राष्ट्रपति कम-से-कम तब तक विधान सभा को विघटित करने की राज्यपाल की शक्ति का प्रयोग करेगा, जब तक कि संसद् के दोनों सदन, उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के अधीन उनके द्वारा जारी की गई उद्घोषणा का अनुमोदन नहीं करते हैं। उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) के अधीन संसद् द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदन से पूर्व सभा का विघटन स्वतः अविधिमान्य होगा। तथापि, राष्ट्रपति को उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के उप-खण्ड (ग) के अधीन विधान-मण्डल को निलम्बित करने की शक्ति प्राप्त होगी।

122. अतः हमारा निष्कर्ष, प्रथमतः यह है कि राष्ट्रपति को अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के उप-खण्ड (क) के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करके, राज्य की विधान सभा को विघटित करने की शक्ति प्राप्त नहीं है, जब तक कि उक्त अनुच्छेद के खण्ड (3) के अधीन संसद् के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है। उन्हें उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) के उपखण्ड (ग) के अधीन केवल विधान सभा को निलम्बित करने की ही शक्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरे, न्यायालय उद्घोषणा को अविधिमान्य घोषित कर सकता है, चाहे संसद् द्वारा उसका अनुमोदन किया जाता है या नहीं। उद्घोषणा के अविधिमान्यकरण का आवश्यक परिणाम यथापूर्व स्थिति को बहाल करना होगा, और इसलिए मंत्रिपरिषद् और विधान-सभा को बहाल करना होगा, जैसी कि वे उद्घोषणा के जारी किए जाने की तारीख को थीं। इस अन्तराल के दौरान बनाई गई विधियों सहित, की गई कार्यवाहियां न्यायालय द्वारा या संसद् द्वारा या राज्य विधान-मण्डल द्वारा विधिमान्य की जा सकती हैं या विधिमान्य नहीं भी की जा सकती हैं। तथापि, यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यह कार्य न्यायालय का होगा कि वह स्थिति की अध्यपेक्षाओं को पूरा करने के लिए अनुतोष को समुचित रूप प्रदान करे। वह सभी मामलों में, विधान-सभा और मंत्रिमण्डल की बहाली का अनुतोष मंजूर करने के लिए आबद्ध नहीं है। किसी विशेष मामले में अनुदत्त किए जाने वाले अनुतोष का प्रश्न न्यायालय की वैवेकिक अधिकारिता से सम्बन्ध रखता है।

123. इस सम्बन्ध में जो अगला महत्त्वपूर्ण प्रश्न उद्भूत होता है वह यह है कि क्या न्यायालय का अन्तरिम अनुतोष अनुदत्त करना न्यायोचित होगा और ऐसे अनुतोष का स्वरूप क्या होगा और वह किस प्रक्रम पर अनुदत्त किया जा सकेगा। अन्तरिम अनुतोष की मंजूरी, उस सत्वरता सहित, विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करेगी, जिसके साथ न्यायालय में समावेदन किया जाता है, और उसमें उद्घोषणा की अविधिमान्यता के संबंध में प्रथम-दृष्ट्या साबित किया गया मामला और उद्घोषणा के अनुसरण में, किए जाने के लिए अनुध्यात उपाय, आदि भी सम्मिलित हैं। किन्तु, यदि अन्य शर्तों को पूरा कर दिया जाता है, तो उस स्थिति में न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोजन ही निरर्थक हो जाएगा, यदि अपेक्षित अन्तरिम अनुतोष अनुदत्त करने से इन्कार किया जाता है। वह न्यूनतम अनुतोष, जो इन परिस्थितियों में अनुदत्त किया जा सकता है, नई विधान-सभा गठित करने के लिए नए सिरे से निर्वाचन के आयोजन को निर्बन्धित करने वाला व्यादेश है। इस बात का कोई कारण नहीं है कि ऐसा अनुतोष अनुदत्त क्यों नहीं किया जाना चाहिए, यदि अन्तर्वलित लोकहित को ध्यान में रखते हुए, चुनौती की यथासंभव शीघ्र सुनवाई करने के लिए पूर्वाधिकारी बरती जाती है। चुनौती के निपटारे में विलम्ब की संभावना सांविधानिक अधिकार और सांविधानिक उपबंधों को निरर्थक बनाने का आधार नहीं हो सकती है। तथापि, यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि वह अनुवर्ती अनुतोष, जो ऐसी चुनौती पर अनुदत्त किया जा सकता है, सांविधानिक उपचार को विफल बनाने के कार्य को निवारित करना है। वह सांविधानिक प्राधिकारी को अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से और अपने कृत्यों का निर्वहन करने से निवारित करना नहीं है। अतः उद्घोषणा के जारी किए जाने को निषिद्ध करना या उसके प्रवर्तन को निषिद्ध करना, पूर्णतः अननुज्ञेय होगा, जब तक कि उसकी विधिमान्यता पर अन्तिम अधिनिर्णय नहीं सुना दिया जाता। अतः आशंका-कार्यवाही के सामान्य नियमों की, उद्घोषणा को चुनौती से सम्बन्धित मामलों में कोई संगति नहीं है। अन्त में, न्यायालय का समुचित मामलों में न केवल नए सिरे से निर्वाचन आयोग को निवारित करना न्यायोचित होगा बल्कि वह न्यायिक पुनर्विलोकन को सांविधानिक उपचार को प्रभावी बनाने के लिए और संविधान के निष्प्रभाव होने से निवारित करने के लिए उपयुक्त अन्तरिम अनुतोष अनुदत्त करके ऐसा करने के लिए कर्तव्याबद्ध होगा।

124. अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए राष्ट्रपति की शक्ति की परिधि, न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और आशंका-कार्यवाही की परिधि के सम्बन्ध में हमारे निष्कर्षों के प्रकाश में, अब हम, हमारे समक्ष प्रस्तुत अलग-अलग मामलों के तथ्यों पर विचार करना उचित समझते हैं। तथापि, यह बात आरम्भ में ही स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि तथ्यों पर प्रार्थित अनुतोष अनुदत्त करने के उद्देश्य से विचार नहीं किया जा रहा है, क्योंकि सभी मामलों में नए सिरे से निर्वाचन कराए जा चुके हैं, नई विधान सभाएं निर्वाचित की जा चुकी हैं और नई मन्त्रि-परिषदें बनाई जा चुकी है और न याचियों/अपीलार्थियों ने ही ऐसे किसी अनुतोष की ईप्सा की है। यह पता लगाने के लिए तथ्यों पर विचार किया जा रहा है कि क्या राष्ट्रपति की कार्यवाही, हमारे उपर्युक्त निष्कर्षों के प्रकाश में न्यायोचित थी। यह निष्कर्ष भविष्य के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में कार्य कर सकता है। सुविधा के लिए, हमारा कर्नाटक, मेघालय और नागालैण्ड के मामलों पर हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान के राज्यों के मामलों से पृथक् रूप में विचार करने का इरादा है।

कर्नाटक :

1989 की सिविल अपील सं० 3645.

125. सर्वप्रथम, हम राष्ट्रपति द्वारा तारीख 21-4-1989 को जारी की गई उद्घोषणा को (दी गई) चुनौती पर विचार करेंगे, जिसके (उद्घोषणा) द्वारा कर्नाटक सरकार बर्खास्त कर दी गई थी और राज्य विधानसभा का विघटन कर दिया गया था। उद्घोषणा में कोई कारण नहीं दिए गए हैं और उसमें केवल यही कहा गया है कि राष्ट्रपति का राज्यपाल की रिपोर्ट और उनके द्वारा प्राप्त अन्य सूचना (जानकारी) पर विचार करने पर यह समाधान हो गया है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। इस मामले के तथ्य ये थे :—जनता पार्टी ने, राज्य विधान सभा में बहुमत का दल होने के नाते, पूर्वतर मुख्य मंत्री, श्री हेगड़े के, जो मार्च, 1985 से अपने त्यागपत्र तक मंत्रिमण्डल के प्रधान थे, तारीख 1-8-1988 को त्यागपत्र के पश्चात्, श्री एस० आर० बोम्मई के नेतृत्व में सरकार बनाई थी। सितम्बर, 1988 में, जनता पार्टी और लोकदल (ब) का जनता दल नामक एक नए दल में विलय हो गया। 13 सदस्य और बढ़ाए जाने के साथ ही मंत्रिमण्डल का तारीख 15-4-1989 को विस्तार किया गया। उसके दो दिन पश्चात्, अर्थात् तारीख 17-4-1989 को, जनता दल के एक विधायक श्री के० आर० मोलेकरी ने दल-बदल किया और मंत्रिमण्डल के प्रति अपना समर्थन वापस लेते हुए, राज्यपाल के समक्ष एक पत्र प्रस्तुत किया। अगले दिन, उन्होंने राज्यपाल के समक्ष 19 पत्र प्रस्तुत किए, जो अभिकथित रूप से 17 जनता दल विधायकों और एक भारतीय जनता दल विधायक के, जो मंत्रिमण्डल का समर्थन कर रहा था, एक विधायक द्वारा और एक निर्दलीय किन्तु सह-विधायक द्वारा हस्ताक्षरित किए गए थे, जिनमें मंत्रिमण्डल को (दिया गया) समर्थन वापस ले लिया गया था। इन पत्रों की प्राप्ति पर, राज्यपाल ने अभिकथित रूप से विधान-मण्डल (विधायी) विभाग के सचिव को बुलाया और उक्त पत्रों की प्रामाणिकता सत्यापित कराई। तारीख 19-4-1989 को राज्यपाल ने यह वर्णित करते हुए, राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी कि जनता पार्टी में मतभेद थे, जिनके कारण श्री हेगड़े को त्याग-पत्र देना पड़ा, और नया दल अर्थात् जनता दल, बनने के पश्चात् भी, मतभेद और दल-बदल का उपक्रम (सिलसिला) जारी रहा। अपने कथन के समर्थन में, उन्होंने प्राप्त 19 पत्रों के प्रति निर्देश किया। उन्होंने आगे यह कहा कि उक्त विधायकों द्वारा समर्थन वापस ले लिए जाने के तथ्य को देखते हुए, मुख्य मंत्री, श्री बोम्मई का विधान सभा में बहुमत नहीं रह गया था और इसलिए, संविधान के अधीन, ऐसी मंत्रिपरिषद् की, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त नहीं था, कार्यपालिका द्वारा राज्य का प्रशासन चलाया जाना उचित नहीं था। उन्होंने यह भी कहा कि कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था। अतः उन्होंने राज्यपाल से यह सिफारिश की कि उन्हें अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि राज्यपाल ने 19 पत्रों की प्राप्ति के पश्चात् या राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट भेजने से पूर्व, श्री बोम्मई के मत को अभिनिश्चित नहीं किया। अगले दिन, अर्थात् तारीख 20 अप्रैल, 1989 को 19 विधायकों में से, जिन्होंने अभिकथित रूप से उक्त पत्र लिखे थे, सात विधायकों ने उन्हें पत्र लिखे, जिनमें यह शिकायत की गई थी कि पूर्वतर पत्रों पर उनके हस्ताक्षर दुर्व्यपदेशन द्वारा अभिप्राप्त किए गए थे और उन्होंने मंत्रिमण्डल को अपने समर्थन की पुष्टि की। राज्य मंत्रिमण्डल की उसी दिन बैठक हुई और उसने एक सप्ताह के अन्दर, अर्थात्

तारीख 27 अप्रैल, 1989 को विधान सभा का सत्र संयोजित करने का विनिश्चय किया। मुख्यमंत्री और उनके विधिमंत्री उसी दिन राज्यपाल से मिले और उन्होंने उन्हें विधान सभा सत्र आहूत करने के विनिश्चय के बारे में सूचित किया। याचिका में यह प्रकथन भी किया गया है कि उन्होंने राज्यपाल के समक्ष सरकारिया आयोग की इस सिफारिश को भी उपदर्शित किया (था) कि मंत्रिमण्डल की शक्ति का परीक्षण सदन के पटल पर किया जाना चाहिए। मुख्यमंत्री ने, यदि आवश्यक हो, विधान सभा सत्र निर्धारित तारीख से पूर्व किसी तारीख को आहूत (संयोजित) करके भी, सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने की पेश-कश की। उन्होंने राष्ट्रपति को भी उसी आशय का टेलेक्स संदेश भेजा। किन्तु राज्यपाल ने उसी दिन, अर्थात् तारीख 20 अप्रैल, 1989 को, विशेष रूप से मंत्रिमण्डल को अपने समर्थन का आश्वासन देते हुए और अपने पूर्वतर पत्र वापस लेने वाले, सात सदस्यों के पत्रों के प्रति निर्देश करते हुए, राष्ट्रपति को एक अन्य रिपोर्ट भेजी। तथापि, रिपोर्ट में उन्होंने यह राय व्यक्त की कि सात विधायकों के पत्र मुख्यमंत्री द्वारा, उन पर दबाव डालकर, अभिप्राप्त किए गए थे, और उन्होंने यह भी कहा कि विधायकों की खरीद-फरोख्त जारी थी और वातावरण दूषित हो रहा था। अन्त में, उन्होंने अपनी इस राय पर पुनः बल दिया कि मुख्यमंत्री विधान सभा में अपना बहुमत खो चुके थे और उन्होंने अनुच्छेद 356(1) के अधीन कार्यवाही के लिए अपने पूर्वतर अनुरोध को पुनः दोहराया। उसी दिन, राष्ट्रपति ने पहले ही (ऊपर) उद्धृत वर्णनों सहित, प्रश्नगत उद्घोषणा जारी की। तत्पश्चात् उद्घोषणा का, अनुच्छेद 356(3) द्वारा यथापेक्षित, संसद् द्वारा अनुमोदन कर दिया गया। श्री बोम्मई और मंत्रि परिषद् के कुछ अन्य सदस्यों ने विभिन्न आधारों पर कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष उक्त उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती दी। अन्यों के साथ-साथ भारत संघ ने भी याचिका का विरोध किया। उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीश वाले न्यायपीठ ने, अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिनिर्धारित करते हुए, याचिका खारिज कर दी कि राज्यपाल की रिपोर्ट में वर्णित तथ्य असंगत नहीं माने जा सकते थे और राज्यपाल के इस समाधान को कि कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था, स्वीकार किया जाना था, क्योंकि उनका वैयक्तिक सद्भाव प्रश्नगत नहीं किया गया था और उसका समाधान सभी सुसंगत तथ्यों के युक्तियुक्त निर्धारण पर आधारित था। न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि सदन के पटल पर बहुमत का परीक्षण न तो अनिवार्य था और न बाध्यकर ही, और वह राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजने के लिए पूर्वापेक्षा नहीं था। यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि राज्यपाल की रिपोर्ट को विधिक विद्वेष के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी क्योंकि उद्घोषणा संघ की मंत्रि परिषद् के समाधान पर जारी की जाती है। न्यायालय ने ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में अधिकथित कसौटी का भी अवलम्ब लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रकट की गई सामग्री के आधार पर, राष्ट्रपति द्वारा किए गए समाधान को दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है।

126. उन निष्कर्षों को देखते हुए, जो हमने न्यायिक पुनर्विलोकन के संबंध में निकाले हैं, यह स्पष्ट है कि उच्च न्यायालय ने इस सर्वाधिक संगत तथ्य की उपेक्षा करके गलती की थी कि सात विधायकों के परस्पर विरोधी पत्रों को देखते हुए, राज्यपाल का, प्रथमतः, यह अभिनिर्धारित करने का काम अपने ऊपर ले लेना अनुचित था कि पूर्वतर उन्नीस पत्र सद्भाविक (सही) थे और उक्त सदस्यों द्वारा अपनी स्वतंत्र इच्छा से लिखे गए थे। उन्होंने उक्त

विधायकों से साक्षात्कार करना भी उचित नहीं समझा, बल्कि विधान-मण्डल सचिवालय द्वारा मात्र हस्ताक्षरों की प्रामाणिकता सत्यापित कर ली थी। दूसरे, उन्होंने यह विनिश्चय करने का काम भी अपने ऊपर ले लिया कि 19 विधायकों में से 7 विधायकों ने पश्चात्वर्ती पत्र मुख्यमंत्री के दबाव के कारण लिखे थे, न कि अपनी स्वतंत्र इच्छा से। पुनः, उन्होंने उक्त विधायकों से साक्षात्कार करने की परवाह तक नहीं की। तीसरे, यह बात ज्ञात नहीं है कि राज्यपाल को यह जानकारी कहां से मिली कि विधायकों के बीच खरीद-फरोख्त चल रही थी। यदि यह मान भी लिया जाता है कि ऐसा था, फिर भी उनके द्वारा अपनाए जाने के लिए सही और उपयुक्त मार्ग सदन के पटल पर परीक्षण की प्रतीक्षा करना था, जो परीक्षण मुख्यमंत्री ने राज्यपाल की पसंद के किसी भी दिन कराने के लिए अपनी मर्जी से जिम्मा लिया था। वस्तुतः, राज्य मंत्रिमण्डल ने, स्वयं, उस तारीख से, जिसको राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजना उचित समझा था, केवल एक सप्ताह आगे तारीख 27 अप्रैल, 1989 को विधान-सभा की बैठक संयोजित करने की पहल की थी। अन्त में, इस घटना के संबंध में जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि राज्यपाल ने किसी भी समय (कभी भी) मुख्य-मंत्री से उनके समक्ष विधायक पेश करने तक के लिए नहीं कहा, जो मुख्यमंत्री का समर्थन कर रहे थे, यदि राज्यपाल यह समझते थे कि स्थिति से राज्य के शासन को इतना गंभीर खतरा (संकट) उत्पन्न हो गया था कि वह सदन के पटल पर परीक्षण की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। हमारा यह मत है कि यह ऐसा मामला है, जिसमें औचित्य के सभी नियम ताक में रख दिए गए थे और अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को आमंत्रित करने में दर्शित अनुचित जल्दबाजी से स्पष्टतः विद्वेष दर्शित होता है। अतः राज्यपाल की उक्त रिपोर्ट के आधार पर और ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा भी उसी प्रकार विद्वेष (असद्भाव) से दूषित थी। समुचित रूप से गठित सरकार ऐसी सामग्री के आधार पर बर्खास्त कर दी गई, जिसकी न तो परख की गई और न कराई गई और जो राज्यपाल के कथन से अधिक कुछ नहीं थी। राज्यपाल की कार्यवाही और भी आपत्तिजनक थी, क्योंकि उच्च सांविधानिक कृत्यकारी के रूप में, उनसे अधिक, ऋजुतापूर्वक, सावधानीपूर्वक और सतर्कतापूर्वक व्यवहार करने की आशा की जाती थी। उसके बजाय, ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल को मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने और विधान-सभा को विघटित करने की जल्दी थी। चूंकि उद्घोषणा उक्त रिपोर्ट और तथाकथित अन्य जानकारी पर आधारित थी, जो प्रकट नहीं की गई थी, अतः वह विखंडित किए जाने योग्य है।

127. इस संबंध में, इस तथ्य पर बल देना आवश्यक है कि ऐसे सभी मामलों में, जिनमें कुछ विधायकों द्वारा मंत्रि परिषद् को दिया गया समर्थन वापस ले लिए जाने का दावा किया जाता है, मन्त्रि परिषद् की शक्ति का परीक्षण करने के लिए समुचित उपाय सदन के पटल पर परीक्षण करना है। सदन ही इस संबंध में दावों और प्रतिदावों के खुले रूप में और वस्तुपरक रूप में परीक्षण के लिए सांविधानिक आदिष्ट मंच (फोरम) है। मंत्रि परिषद् की शक्ति का निर्धारण किसी व्यक्ति की प्राइवेट राय का विषय नहीं है, चाहे वह राज्यपाल हो या राष्ट्रपति। वह सदन में सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित और अभिनिश्चित किए जाने योग्य है। अतः जब ऐसा प्रदर्शन सम्भव है, तो उसकी उपेक्षा करने की छूट उचित नहीं है और उसकी बजाय राज्यपाल या राष्ट्रपति के आत्मपरक समाधान पर निर्भर करने की भी छूट

नहीं है। ऐसा प्राइवेट निर्धारण, वैयक्तिक विद्वेष के गंभीर आक्षेप का विषय होने के अतिरिक्त, जनतांत्रिक सिद्धांत के लिए एक अभिशाप है। यह सम्भव है कि कुछ विरल अवसरों पर, सदन के पटल पर परीक्षण असंभव हो सकता है, यद्यपि ऐसी स्थिति की परिकल्पना करना कठिन है। यदि यह मान भी लिया जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, तब भी ऐसी परिस्थितियों में राज्यपाल के लिए सदन के पटल पर परीक्षण न करने के कारणों को लिखत रूप में वर्णित करना बाध्यकर होना चाहिए। अतः उच्च न्यायालय का यह अभिनिर्धारित करना गलत था कि सदन के पटल पर परीक्षण न तो अनिवार्य था और न बाध्यकर ही था या वह अनुच्छेद 356(1) के अधीन कार्यवाही की सिफारिश करने वाली राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजे जाने की एक पूर्वापेक्षा के रूप में नहीं था। चूंकि हम इस संबंध में सरकारिया आयोग की सिफारिशों के प्रति पहले ही निर्देश कर चुके हैं, अतः उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

128. उच्च न्यायालय का यह मत अभिव्यक्त करना भी गलत था कि राज्यपाल की रिपोर्ट में वर्णित तथ्य असंगत नहीं थे, जब राज्यपाल ने मुख्यमंत्री से या सात विधायकों से यह अभिनिश्चित किए बिना कि उनकी कदम वापसी वास्तविक थी या नहीं, मामले में अपनी असत्यापित राय दी। उच्च न्यायालय द्वारा यह बात भी भुला दी गई कि यह मान भी लेने पर कि 19 विधायकों द्वारा मंत्रि परिषद् को दिया गया समर्थन वापस ले लिया गया था, राज्यपाल के लिए यह अभिनिश्चित करना आवश्यक था कि क्या कोई मंत्रिमण्डल बनाया जा सकता था। ऐसे मामलों में राज्यपाल की वैयक्तिक सद्भाविकता का प्रश्न असंगत है। जो बात अभिनिश्चित की जानी है, वह यह है कि क्या राज्यपाल ने, यह रिपोर्ट देने से पूर्व कि सांविधानिक तंत्र विफल हो गया था, विधिपूर्ण रूप से कार्यवाही की थी और राज्य में सांविधानिक सरकार सुनिश्चित करने की सभी सम्भावनाओं का पता लगा लिया था। यदि इसका अर्थ किसी अल्पमत दल की सरकार का बनाया जाना भी था, तब भी राज्यपाल उस विकल्प का चयन करने के लिए कर्तव्याबद्ध थे, जब तक सरकार को सदन का विश्वास का मत प्राप्त हो सकता था। नवम्बर, 1970 में नई दिल्ली में आयोजित राज्यपालों के सम्मेलन में किए गए विनिश्चय के अनुसरण में, राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपालों की पांच सदस्यीय समिति और ऊपर उद्धृत सरकारिया आयोग की भी यही सिफारिश है। यह भी स्पष्ट है कि राज्यपाल की रिपोर्ट के अतिरिक्त, राष्ट्रपति के समक्ष, उद्घोषणा जारी करने से पूर्व, कोई अन्य सामग्री नहीं थी। चूंकि राज्यपाल द्वारा उनकी रिपोर्ट में वर्णित "तथ्यों" में, जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया जा चुका है, स्वयं उनकी राय अंतर्विष्ट थी, जो अनभिनिश्चित सामग्री पर आधारित थी, अतः इन परिस्थितियों में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह वस्तुपरक सामग्री के आधार पर बनाई गई राय थी, जिस पर राष्ट्रपति कार्य कर सकते थे। अतः जारी की गई उद्घोषणा अविधिमान्य थी।

129. हम इस विषय पर राज्यपालों की पांच सदस्यीय समिति की सर्वसम्मत रिपोर्ट के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं, जिसमें यह सिफारिश की गई थी—

> "·····सामान्यतः मंत्रि परिषद् में विश्वास का परीक्षण विधानसभा में मतदान के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए···। जहां किसी भी प्रक्रिया या साधन द्वारा राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि मंत्रि परिषद् को बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं

है, वहां उन्हें मुख्यमंत्री से विधानसभा का सामना करने और अल्पतम सम्भव समय के अंदर अपना बहुमत साबित करने के लिए कहना चाहिए। यदि मुख्यमंत्री इस प्राथमिक उत्तरदायित्व से बचने का प्रयास करते हैं और उक्त अनुरोध का पालन करने में असफल रहते हैं, तो राज्यपाल आनुकल्पिक मंत्रिमंडल बनाने हेतु कार्यवाही करने के लिए कर्तव्याबद्ध हैं। विधानसभा के पटल पर शक्ति परीक्षण करने से मुख्यमंत्री की इनकारी का इस प्रकार निर्वचन किया जा सकता है कि वह विधान-मंडल में उनका विश्वास प्राप्त न करने का प्रथमदृष्ट्या सबूत है। यदि तत्पश्चात् आनुकल्पिक मंत्रिमंडल बनाया जा सकता है, जो, राज्यपाल के मतानुसार, विधान-सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त करने में समर्थ है, तो उन्हें सत्तारूढ़ मंत्रि परिषद् को भंग कर देना चाहिए और आनुकल्पिक मंत्रिमंडल बनाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि ऐसा कोई मंत्रिमंडल सम्भव नहीं है, तो राज्यपाल के पास अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजने के सिवाय कोई विकल्प नहीं होगा·····।"

× × × ×

"साधारण प्रतिपादना के रूप में, यह उल्लेख किया जा सकता है कि जहां तक सम्भव हो, मुख्यमंत्री और उसकी मंत्रि परिषद् द्वारा दावाकृत बहुमत के समर्थन के संबंध में अधिमत विधानमंडल के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। और केवल उसी स्थिति में, यदि कोई उत्तरदायी सरकार, सही सांविधानिक पद्धति के प्रति अन्याय किए बिना, नहीं चलाई जा सकती है, राज्यपाल को संविधान के अनुच्छेद 356 का अवलंब लेना चाहिए·····।"

× × × ×

"यहां यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि अनुच्छेद 356 का अवलंब राज्यपाल के लिए अंतिम अवलंब होना चाहिए·····।"

"·····जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, मार्गदर्शक सिद्धांत यह है कि राज्य में यथासंभव सांविधानिक तंत्र बनाए रखा जाना चाहिए।"

मेघालय :

1992 के टी० सी० सं० 5 और 7 :

130. इस मामले में, अनुच्छेद 356(1) के अधीन तारीख 11 अक्तूबर, 1991 को जारी की गई उद्घोषणा को चुनौती दी गई है। इस मामले के तथ्य इस प्रकार हैं। रिट याची जी० एस० मसार मेघालय यूनाइटेड पालियामेंट्री पार्टी (एम० यू० पी० पी०) के रूप में ज्ञात मोर्चे (फ्रण्ट) से संबंध रखते थे, जिसे विधानसभा में बहुमत प्राप्त था और जिसने मार्च, 1990 में श्री वी० वी० लिंगदोह के नेतृत्व में सरकार बनाई थी। तारीख 25 जुलाई, 1991 को, किंदिया आर्थी नामक व्यक्ति को, जो सुसंगत समय पर सदन का अध्यक्ष था, यूनाइटेड मेघालय पार्लियामेंट्री फोरम (यू० एम० पी० एफ०) के रूप में ज्ञात विरोधी दल के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया। इस समूह में बहुमत कांग्रेस दल का था। अपने निर्वाचन पर, श्री आर्थी ने विधानसभा में सदस्यों के बहुमत के समर्थन का दावा किया और

राज्यपाल से सरकार बनाने हेतु उन्हें आमंत्रित करने का अनुरोध किया। तदुपरि राज्यपाल ने तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री लिंगदोह से सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने के लिए कहा। तदनुसार तारीख 7 अगस्त, 1991 को विधानसभा का एक विशेष सत्र संयोजित किया गया और मंत्रिमंडल में विश्वास का प्रस्ताव रखा गया। 30 विधायकों ने प्रस्ताव का समर्थन किया और 27 विधायकों ने उसके विरोध में मतदान किया। तथापि, प्रस्ताव पर मतदान के परिणाम की घोषणा करने के बजाय, अध्यक्ष ने यह घोषित किया कि उन्हें सत्तारूढ़ सांझे (मिले-जुले) मोर्चे के पांच निर्दलीय विधायकों के विरुद्ध एक परिवाद (शिकायत) प्राप्त हुआ था, जिसमें यह अभिकथन किया गया था कि वे दल-बदल निरोध विधि के अधीन विधायकों के रूप में निरर्हित थे और चूंकि वे मतदान करने के लिए हकदार नहीं रह गए थे, अतः वह मतदान करने के उनके अधिकार को निलम्बित कर रहे थे। इस घोषणा पर, सदन में शोर-शराबा आरम्भ हो गया और उसे (सदन को) स्थगित किया जाना पड़ा। तारीख 11 अगस्त, 1991 को अध्यक्ष ने विधायकों में से एक विधायक श्री शैला द्वारा फाइल किए गए परिवाद पर, अभिकथित दल-बदलुओं—पांच निर्दलीय विधायकों को, कारण बताओ सूचनाएं जारी कीं। पांच विधायकों ने इस बात से इनकार करते हुए सूचना का उत्तर दिया कि वे किसी दल में सम्मिलित हो गए थे और यह दलील दी कि वे निर्दलीय बने हुए थे। उत्तरों की प्राप्ति पर, अध्यक्ष ने इस आधार पर पांचों विधायकों (विधानसभा सदस्यों) को निरर्हित करते हुए, तारीख 17 अगस्त, 1991 को एक आदेश पारित किया कि उनमें से चार तत्कालीन मंत्रिमंडल में मंत्री थे और उनमें से एक उप-सरकारी मुख्य सचेतक था। तत्पश्चात्, पुनः राज्यपाल की सलाह पर, मुख्यमंत्री श्री लिंगदोह ने मंत्रिमंडल में विश्वास का मत प्राप्त करने के लिए तारीख 9 सितंबर, 1991 को विधानसभा का सत्र आहूत किया। तथापि, अध्यक्ष ने, उनके द्वारा निरर्हित पांचों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों को सत्र की सूचनाएं भेजने से इनकार कर दिया और उसके साथ ही विधानसभा में उनके प्रवेश को प्रतिषिद्ध करने के लिए व्यवस्था की। तारीख 6 सितम्बर, 1991 को पांचों विधानसभा सदस्यों ने इस न्यायालय का अवलंब लिया (में समावेदन किया)। न्यायालय ने उन में से चार की बाबत तारीख 7 अगस्त, 1991 और 17 अगस्त, 1991 के अध्यक्ष के आदेशों के प्रवर्तन पर रोक लगाते हुए, अंतरिम आदेश पारित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि एक सदस्य ने ऐसे आदेश के लिए आवेदन नहीं किया। अतः अध्यक्ष ने एक प्रैस-वक्तव्य जारी किया, जिसमें उन्होंने यह घोषित किया कि वह तारीख 17 अगस्त, 1991 के अपने आदेश में किसी न्यायालय का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। अतः राज्यपाल ने तारीख 8 सितम्बर, 1991 के अपने आदेश द्वारा अनिश्चितकाल के लिए विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को राज्यपाल की प्रेरणा पर विधानसभा पुनः संयोजित (आहूत) की गई। इसी बीच, चार निर्दलीय विधानसभा सदस्यों ने, जिन्होंने अंतरिम आदेश अभिप्राप्त किए थे, अध्यक्ष के विरुद्ध इस न्यायालय में अवमान याचिका फाइल की, जिन्होंने (अध्यक्ष ने) न केवल इस न्यायालय के अंतरिम आदेश की अवज्ञा करते हुए, प्रेस-वक्तव्य में घोषणा की थी, बल्कि निर्दलीय विधानसभा सदस्यों को सदन में प्रवेश करने से रोकने के लिए भी कदम उठाए थे। तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को इस न्यायालय ने यह निदेश करते हुए एक अन्य आदेश पारित किया कि राज्य के सभी प्राधिकारियों को तारीख 6 सितंबर, 1991 के न्यायालय के अंतरिम आदेश का अनुपालन सुनिश्चित करना चाहिए। इस निदेश के अनुसरण में पांच निर्दलीय विधानसभा सदस्यों में से चार सदस्यों को तारीख 8 अक्तूबर, 1991

को संयोजित विधानसभा सत्र में भाग लेने का आमंत्रण प्राप्त हुआ। चार निर्दलीय विधान सभा सदस्यों सहित, कुल मिलाकर 56 विधानसभा सदस्यों ने सत्र में भाग लिया। मंत्रि-मण्डल में विश्वास का प्रस्ताव मतदान के लिए रखे जाने के पश्चात्, अध्यक्ष ने यह घोषणा की कि 26 विधानसभा सदस्यों ने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया और 26 सदस्यों ने इसके विरुद्ध मतदान किया तथा उन्होंने चारों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों के मत अपवर्जित कर दिए। तत्पश्चात्, यह घोषित करते हुए कि दोनों पक्षों को बराबर मत मिले थे, उन्होंने स्वयं अपना मत प्रस्ताव के विरोध में दिया और यह घोषित किया कि प्रस्ताव असफल हो गया था और उन्होंने अनिश्चित काल के लिए सदन स्थगित कर दिया। किन्तु 30 विधानसभा सदस्य अर्थात् 26 सदस्य और 4 निर्दलीय विधानसभा सदस्य, जिन्होंने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया था, सदन में बने रहे और उन्होंने विधानसभा के कारबार का संचालन करने के लिए अपने बीच में से अध्यक्ष का निर्वाचन किया। नए अध्यक्ष ने यह घोषित किया कि मंत्रिमंडल में विश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया था क्योंकि 30 विधानसभा सदस्यों ने सरकार के पक्ष में मतदान किया था। वे अध्यक्ष में अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने के लिए भी अग्रसर हुए। तत्पश्चात्, 30 विधानसभा सदस्यों ने यह कहते हुए राज्यपाल को एक पत्र भेजा कि उन्होंने मंत्रिमण्डल के पक्ष में मतदान किया था और उन्होंने अध्यक्ष में अविश्वास का प्रस्ताव भी पारित किया था। किन्तु तारीख 9 अक्तूबर, 1991 को राज्यपाल ने मुख्यमंत्री को एक पत्र भेजा, जिसमें उनसे तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को सत्र में जो कुछ हुआ था, उसे देखते हुए त्यागपत्र देने के लिए कहा गया। दुर्भाग्यवश, राज्यपाल ने उक्त पत्र में यह मत भी व्यक्त किया कि चार निर्दलीय विधानसभा सदस्यों के संबंध में उच्चतम न्यायालय के आदेशों का अध्यक्ष द्वारा संज्ञान न किया जाना अध्यक्ष और न्यायालय के बीच का मामला था। तत्पश्चात् मुख्यमंत्री ने राज्यपाल के पत्र के विरुद्ध इस न्यायालय में समावेदन किया और इस न्यायालय ने तारीख 9 अक्तूबर, 1991 को, राज्यपाल से, अन्य बातों के साथ-साथ, इस न्यायालय के आदेशों और चार निर्दलीय विधान सभा सदस्यों द्वारा डाले गए मतों को, इस प्रश्न पर कोई विनिश्चय करने से पूर्व, ध्यान में रखने के लिए कहा कि क्या सरकार विश्वास के प्रस्ताव पर हार गई थी। इसके बावजूद, राष्ट्रपति ने तारीख 11 अक्तूबर, 1991 को अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी कर दी। उक्त उद्घोषणा में यह कहा गया कि राज्यपाल से प्राप्त रिपोर्ट और उनके द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर राष्ट्रपति का यह समाधान हो गया था कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। सरकार बर्खास्त कर दी गई और विधानसभा विघटित कर दी गई। इस न्यायालय ने तारीख 12 अक्तूबर, 1991 के आदेश द्वारा तत्कालीन अध्यक्ष के तारीख 17 अगस्त, 1991 के आदेश को अपास्त कर दिया। तथापि, तत्पश्चात्, संसद् के दोनों सदनों की बैठक हुई और उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा का अनुमोदन कर दिया।

131. इस खिन्नतापूर्ण घटना से राज्यपाल की मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने और विधानसभा विघटित करने की अनावश्यक व्यग्रता और इस न्यायालय के आदेशों के आबद्ध-कर विधि परिणामों को महसूस करने और उन्हें (आदेशों को) प्रभावी बनाने के लिए सांवि-धानिक कृत्यकारी के रूप में उनकी असफलता भी दर्शित होती है। इससे भी बुरी बात यह की गई कि संघ मंत्रि परिषद् ने भी राष्ट्रपति को प्रश्नगत सामग्री पर उद्घोषणा जारी करने

की सलाह दी। यहां उद्घोषणा की विधिमान्यता पर और आगे टिप्पणी करना अनावश्यक है, सिवाय यह मत व्यक्त करने के कि प्रथमदृष्ट्या, राष्ट्रपति के समक्ष वाली सामग्री न केवल अयुक्तिसंगत थी बल्कि तात्थिक और विधिक असद्भाव (विद्वेष) से भी प्रेरित थी, अतः उद्घोषणा अविधिमान्य थी।

नागालैंड :
1992 के सी० ए० सं० 193-94.

132. नागालैंड राज्य में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करते हुए, अनुच्छेद 356(1) के अधीन तारीख 7 अगस्त, 1988 को राष्ट्रपतीय उद्घोषणा जारी की गई। सुसंगत समय पर, नागालैण्ड विधानसभा में 60 सदस्य थे, जिनमें से 34 सदस्य कांग्रेस (इ) के थे, 18 नागालैंड नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी के थे, एक सदस्य नागा पीपूल्स पार्टी का था और 7 सदस्य निर्दलीय थे। सत्तारूढ़ दल के नेता श्री सेमा राज्य सरकार के प्रधान के रूप में मुख्यमंत्री थे। तारीख 28 जुलाई, 1988 को, सत्तारूढ़ दल के 34 सदस्यों में से 13 सदस्यों ने विधान सभा के अध्यक्ष को सूचित किया कि उन्होंने सत्तारूढ़ कांग्रेस (इ) दल से पृथक् दल बना लिया था और उनसे सदन में उनके लिए पृथक् स्थान आबंटित किए जाने का अनुरोध किया। विधान सभा का सत्र तारीख 28 अगस्त, 1988 को आरम्भ होना था। तारीख 30 जुलाई, 1988 के अपने विनिश्चय द्वारा अध्यक्ष ने यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान की दसवीं अनसूची के अर्थान्तर्गत दल में विभाजन हो गया था। तारीख 31 जुलाई, 1988 को दल-बदल करने वाले 13 विधानसभा सदस्यों में से, जिन्होंने एक पृथक् दल बना लिया था। एक श्री वामूजो ने राज्यपाल को यह सूचित किया कि उन्हें विधानसभा के तत्कालीन 59 सदस्यों में से 35 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और वह सरकार बनाने की स्थिति में थे। तारीख 3 अक्तूबर, 1988 को, राज्य के मुख्य सचिव ने श्री वामूजो को इस आशय का पत्र लिखा कि उनकी जानकारी के अनुसार, श्री वामूजो ने उन विधानसभा सदस्यों को दोषपूर्वक परिरुद्ध कर लिया था, जिन्होंने नया दल बनाया था। श्री वामूजो के उक्त अभिकथन का प्रत्याख्यान किया और मुख्य सचिव से स्वयं सदस्यों से वास्तविकता को सत्यापित करने के लिए कहा। सत्यापन पर, सदस्यों ने मुख्य सचिव को यह बताया कि उनमें से किसी को भी परिरुद्ध नहीं किया गया था, जैसा कि अभिकथन किया गया था। तारीख 6 अगस्त, 1988 को राज्यपाल ने 13 विधानसभा सदस्यों द्वारा नए दल बनाए जाने के बारे में भारत के राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी। उन्होंने यह भी कहा कि उक्त विधानसभा सदस्यों को धन का प्रलोभन (लालच) दिया गया था। उन्होंने यह भी कहा कि उक्त विधानसभा सदस्यों को श्री वामूजो और एक अन्य व्यक्ति द्वारा जबरदस्ती परिरोध में रखा गया था और सत्तारूढ़ दल में विभाजन की बात सही नहीं थी। उन्होंने यह भी कहा कि अध्यक्ष ने 13 सदस्यों के नए समूह को मान्यता प्रदान करने में जल्दबाजी की और यह टिप्पणी की कि राज्य में 'खरीद-फरोख्त' चल रही थी। उन्होंने नागालैंड में विद्रोह के प्रति भी विशेष निर्देश किया और यह भी कहा कि विधान सभा के कुछ सदस्यों का विद्रोहियों से संपर्क था। उन्होंने यह आशंका व्यक्त की कि यदि स्थिति को इसी प्रकार बना रहने दिया गया, जैसी कि वह उस समय थी, तो उससे राज्य की स्थिरता प्रभावित होगी। इसी बीच, मुख्यमंत्री ने राज्यपाल को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया और राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किए जाने की सिफारिश की।

तत्पश्चात् राष्ट्रपति ने आक्षेपित उद्घोषणा जारी की और सरकार बर्खास्त कर दी तथा विधानसभा का विघटन कर दिया। नए समूह के नेता श्री वामूजो ने गुवाहाटी उच्च न्यायालय में उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती दी। एक खण्ड न्यायपीठ द्वारा याचिका की सुनवाई की गई, जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति और न्या० हंसारिया थे। न्यायपीठ में अनुच्छेद 74(2) के प्रभाव और प्रवर्तन पर मतभेद था और इसलिए मामला तृतीय न्यायाधीश को निर्देशित कर दिया गया। किन्तु इससे पूर्व कि विद्वान् न्यायाधीश मामले की सुनवाई करते, भारत संघ ने विशेष अनुमति प्रदान किए जाने के लिए इस न्यायालय में समावेदन किया और उच्च न्यायालय में कार्यवाहियों पर रोक लगा दी गई। यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि खण्ड न्यायपीठ इस बात पर सहमत था कि उद्घोषणा की विधिमान्यता पर न्यायालय द्वारा विचार किया जा सकता था और उसे न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं थी। हम अनुच्छेद 74 (2) की विवक्षाओं पर पहले ही विचार कर चुके हैं और यह उपदर्शित कर चुके हैं कि यद्यपि मंत्रि परिषद् द्वारा दी गई सलाह न्यायालय की परिधि से स्वतंत्र है, तथापि वह सामग्री, जिसके आधार पर सलाह दी गई थी, उससे दूर (परे) नहीं रखी जा सकती और उसकी न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है। इस मामले के तथ्यों के आधार पर भी हमारा यह मत है कि राज्यपाल को श्री वामूजो को सदन के पटल पर शक्ति परीक्षण करने के लिए अनुज्ञात करना चाहिए था। ऐसा विशेष रूप से इस कारण था कि मुख्यमंत्री श्री सेमा राज्यपाल को अपना त्यागपत्र पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे। ऐसा इस तथ्य के होते हुए भी है कि राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा था कि पिछले 25 वर्षों के दौरान, कम-से-कम 11 सरकारें बनाई गई थीं और उनकी जानकारी के अनुसार, कांग्रेस (इ) के विधानसभा सदस्यों को धनीय फायदे का लालच दिया गया था और यह बात राजनीतिक नैतिकता के अविश्वसनीय अभाव और निर्वाचकगण की इच्छाओं की पूर्ण उपेक्षा की कोटि में आती थी। यहां इस तथ्य पर बल देना आवश्यक है कि यद्यपि राजनीतिक सौदेबाजी और दलबदल को रोकने के लिए संविधान में 10वीं अनुसूची जोड़ी गई, तथापि उसके द्वारा एक अन्य राजनीतिक दल का बनाया जाना प्रतिषिद्ध नहीं किया गया, यदि उसे वर्तमान विधानमण्डल दल के कम-से-कम एक-तिहाई सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो। चूंकि श्री वामूजो को सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने के लिए कोई अवसर प्रदान नहीं किया गया जैसा कि उनके द्वारा दावा किया गया था, और चूंकि उन्हें मंत्रिमण्डल बनाने का भी अवसर प्रदान नहीं किया गया, अतः जारी की गई उद्घोषणा असंवैधानिक थी।

133. अब हम मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश राज्यों के मामलों पर विचार करना उचित समझते हैं। इन राज्यों में विधान सभाओं के लिए निर्वाचन, उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए निर्वाचनों के साथ ही फरवरी, 1990 में कराए गए थे। भारतीय जनता पार्टी ने चारों राज्यों की विधान सभाओं में बहुमत प्राप्त किया और वहां अपनी सरकारें बनाईं।

134. भारतीय जनता पार्टी सहित, कुछ संगठनों की अपील (अनुरोध) का अनुसरण करते हुए, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश सहित अनेक राज्यों से हजारों कार-सेवक तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद संरचना (ढांचे) के निकट एकत्र हो गए और अंततः उनमें से कुछ ने विवादग्रस्त ढांचे को ध्वस्त क

दिया। ढांचे के ध्वस्त किए जाने के पश्चात्, उसी दिन उत्तर प्रदेश सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। तत्पश्चात् उसी दिन राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी कर दी और राज्य की विधान सभा का विघटन कर दिया। उक्त उद्घोषणा को चुनौती नहीं दी गई है। अतः हमारा इन कार्यवाहियों में उसकी विधिमान्यता से संबंध (सरोकार) नहीं है।

135. ढांचे के ध्वस्त किए जाने के परिणामस्वरूप, जो स्वीकृततः लगभग 400 वर्षों तक उस स्थल पर खड़ी हुई मस्जिद का ढांचा था, इस देश में और पड़ोसी देश में भी हिंसक प्रतिक्रियाएं हुईं, जिनमें कुछ मन्दिर नष्ट कर दिए गए। इससे इस देश में और आगे प्रतिक्रियाएं हुईं, जिसके परिणामस्वरूप हिंसा और सम्पत्ति का विनाश हुआ। संघ सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल सहित अनेक संगठनों पर प्रतिबंध सहित अनेक कदम उठाए, जिन संगठनों ने, भारतीय जनता पार्टी के साथ मिलकर, तारीख 6 दिसंबर, 1992 को अयोध्या की ओर मार्च करने के लिए कार-सेवकों का आह्वान किया था। मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में राज्य सरकारों और राज्य विधान सभाओं की बर्खास्तगी स्वीकृततः इन घटनाओं का परिणाम थी और यह (बर्खास्तगी) तारीख 15 दिसंबर, 1992 को अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणाएं जारी करके की गई थी।

मध्य प्रदेश :

1993 के सी० ए० सं० 1692, 1993 के 1692-क-1692-ग और 1993 के सी० ए० सं० 4627-30.

136. उद्घोषणा राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को प्रेषित तीन रिपोर्टों का परिणाम थी। प्रथम रिपोर्ट तारीख 8 दिसंबर, 1992 की थी। उसमें हिंसा, आगजनी और लूट-पाट के व्यापक कार्यों के परिणामस्वरूप विधि और व्यवस्था की तेजी से गिर रही स्थिति के प्रति निर्देश किया गया था। उन्होंने राज्य सरकार की, राजनीतिक नेतृत्व के सहयुक्त साम्प्रदायिक संगठनों को प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन के कारण स्थिति को शान्त करने के लिए समर्थ होने में "विश्वास का अभाव" व्यक्त किया, जिससे यह उपदर्शित होता था कि राज्य में प्रशासनिक तंत्र भंग हो गया था। इस रिपोर्ट के पश्चात् तारीख 10 दिसंबर, 1992 को दूसरी रिपोर्ट भेजी गई, जिसमें तब तक शांतिपूर्ण अन्य क्षेत्रों में भी हिंसा फैल जाने के प्रति निर्देश किया गया था। उनके द्वारा एक अन्य रिपोर्ट, भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड, भोपाल (भेल) के कार्यकारी निदेशक से उनके द्वारा तारीख 11 दिसंबर, 1992 को प्राप्त पत्र की प्रति सहित, तारीख 13 दिसंबर, 1992 को भेजी गई। इस पत्र में भेल कारखाने में और उसके आस-पास के क्षेत्रों में जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करने में विधि और व्यवस्था तंत्र के पूर्णतः विफल हो जाने के प्रति निर्देश किया गया था और भेल क्षेत्र में कार-सेवकों को जगह देने के लिए कारखाने के प्रशासन पर दबाव डालने के प्रति भी निर्देश किया गया था। राज्यपाल ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिन्दू परिषद पर लगे प्रतिबंध को दुर्भाग्यपूर्ण वर्णित करने वाले, मुख्यमंत्री मध्य प्रदेश के श्री सुन्दरलाल पटवा के, कथन के प्रति भी निर्देश किया। मुख्यमंत्री के कथन को देखते हुए, राज्यपाल ने उक्त संगठनों को प्रतिबंधित करने के केन्द्र विनिश्चय को निष्ठापूर्वक लागू करने के लिए राज्य सरकार की सदभाविकता के बारे में संदेह व्यक्त किया, विशेष रूप से इस कारण कि

मुख्यमंत्री श्री पटवा सहित, भारतीय जनता पार्टी के नेताओं ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मूल्यों और परम्पराओं के प्रति सदा अपनी निष्ठा व्यक्त की थी। इस संदर्भ में उन्होंने विश्व हिन्दू परिषद के, प्रतिबंध के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिए 13 दिसंबर, 1992 को काला दिवस मनाने और तारीख 14 दिसंबर से 20 दिसंबर, 1992 तक इस घृणास्पद विधि के विरुद्ध 'विरोध-सप्ताह' मनाने के, विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया। उन्होंने इस संबंध में अपनी यह व्यग्रता व्यक्त की कि ये सभी कदम उस समय की स्थिति के संदर्भ में खतरे से भरे हुए थे। अतः राज्यपाल ने यह सिफारिश की कि उक्त तथ्यों और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपनी भावी योजना को कार्यान्वित करने के लिए नए सिरे से रणनीति अनुध्यात कर रहा था तथा प्रतिबंधित संगठनों के नेताओं के, विशेष रूप से राज्य प्रशासन की मौनानुकूलता से, भूमिगत होने की संभावना को देखते हुए, स्थिति ऐसी उदघोषणा तुरन्त जारी किए जाने की अपेक्षा करती थी। अतः उद्घोषणा जारी की गई।

हिमाचल प्रदेश :
1993 का टी० सी० सं० 8.

137. राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट मिलने पर जारी की गई थी, जो रिपोर्ट उन्हें तारीख 15 दिसंबर, 1992 को भेजी गई थी। अपनी रिपोर्ट में राज्यपाल ने, अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा था कि मुख्यमंत्री और उनके मंत्रिमण्डल ने हिमाचल प्रदेश के कार-सेवकों को अयोध्या में तारीख 6 दिसंबर, 1992 को कार-सेवा में भाग लेने के लिए उकसाया था। केवल यही नहीं, बल्कि कुछ मंत्रियों ने कार-सेवा में भाग लेने के लिए सार्वजनिक रूप से अपनी इच्छा भी व्यक्त की थी, यदि दल की उच्च सत्ता उन्हें ऐसा करने के लिए अनुज्ञात करे। परिणामस्वरूप भारतीय जनता पार्टी के कुछ विधानसभा सदस्यों सहित, अनेक कार-सेवकों ने अयोध्या में कार-सेवा में भाग लिया। सत्तारूढ़ भारतीय जनता पार्टी के एक विधानसभा सदस्य ने खुले रूप में यह भी कहा था कि उसने बाबरी मस्जिद ध्वंस में भाग लिया था। उसके पश्चात् राज्यपाल ने यह कहा कि मुख्यमंत्री श्री शान्ता कुमार तारीख 13 दिसंबर, 1992 को, अर्थात् उनके द्वारा राष्ट्रपति को पत्र भेजे जाने से 2 दिन पूर्व, उनसे मिले थे और उन्हें यह सूचित किया था कि वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद् और 3 अन्य संगठनों पर भारत सरकार द्वारा अधिरोपित प्रतिबंध आदेशों को कार्यान्वित करना चाहते थे और उन्होंने इस संबंध में पहले ही निदेश जारी कर दिए थे। तथापि, राज्यपाल ने यह राय व्यक्त की कि (चूंकि) मुख्यमंत्री स्वयं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक सदस्य थे, अतः वह निदेशों को ईमानदारीपूर्वक और प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने की स्थिति में नहीं थे और राज्य में अधिकांश लोग भी ऐसा ही महसूस करते थे। उन्होंने यह भी कहा कि कुछ मंत्री उक्त तीनों साम्प्रदायिक संगठनों पर लगाए गए प्रतिबंध की सार्वजनिक रूप से आलोचना कर रहे थे और जब मुख्यमंत्री और मंत्रिमण्डल के उनके सहयोगी स्वयं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य थे, तब प्रशासनिक तंत्र के लिए प्रतिबंध को ईमानदारी पूर्वक और प्रभावी रूप से लागू करना सम्भव नहीं था। इस रिपोर्ट के आधार पर ही प्रश्नगत उद्घोषणा जारी की गई।

राजस्थान :
1993 का टी० सी० सं० 9.

138. राष्ट्रपति की उद्घोषणा प्रधानमंत्री को प्रेषित राज्यपाल की इस रिपोर्ट के अनुसरण में जारी की गई थी कि राजस्थान सरकार ने अयोध्या की घटना में "एक स्पष्ट भूमिका" निभाई थी; कि भारतीय जनता पार्टी का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल पर नियंत्रण था, जो प्रतिबंधित संगठन थे, और प्रतिबंध को बिल्कुल भी लागू नहीं किया जा रहा था। एक मंत्री ने त्यागपत्र दे दिया था और उसके साथ, 22 विधानसभा सदस्यों और भारतीय जनता पार्टी के 15,500 कार्यकर्ताओं ने अयोध्या में कार-सेवा में भाग लिया था। राज्य से उनके प्रस्थान पर उन्हें शानदार विदाई दी गई और उनके लौटने पर सरकार चला रहे राजनैतिक दल अर्थात् भारतीय जनता पार्टी के प्रभावशाली लोगों द्वारा उनका शानदार स्वागत किया गया। एक सप्ताह से अधिक समय तक विधि और व्यवस्था की स्थिति में गिरावट रही थी और विधि व्यवस्था की स्थिति के बिगड़ने का प्रबल लक्षण अल्पसंख्यक विरोधी कार्यों के रूप में दिखाई दिया। उन्होंने यह राय व्यक्त की कि प्रशासन के लिए तत्कालीन राजनीतिक तंत्र में प्रभावी रूप से, वस्तुपरक रूप से और विधि के नियम के अनुसार कृत्य करना सम्भव नहीं था और इसलिए ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती थी।

139. उक्त तीनों उदघोषणाओं की विधिमान्यता को संबंधित राज्यों के उच्च न्यायालयों में रिट याचिकाओं द्वारा चुनौती दी गई। मध्य प्रदेश सरकार और विधानसभा की बाबत उद्घोषणाओं को चुनौती देने वाली याचिका उच्च न्यायालय द्वारा मंजूर की गई और भारत संघ ने उच्च न्यायालय के उक्त विनिश्चय के विरुद्ध इस न्यायालय में अपील फाइल की है। तारीख 16 अप्रैल, 1993 के आदेश द्वारा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की सरकारों और विधानसभाओं की बाबत उद्घोषणाओं को चुनौती देने वाली रिट याचिकाएं, जो संबंधित उच्च न्यायालयों में लम्बित थीं, इस न्यायालय को अन्तरित कर दी गई हैं।

140. यह दलील दी गई है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश राज्यों में राष्ट्रपति शासन का अधिरोपित किया जाना विद्वेषपूर्ण था, क्योंकि वह किसी समाधान पर आधारित नहीं था और पूर्णतः एक राजनीतिक कार्य था। मात्र यह तथ्य कि साम्प्रदायिक अशान्ति (गड़बड़ी) और/या आगजनी और लूटपाट की घटनाएं घटित हुईं; राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने का कोई आधार नहीं है। वस्तुतः ऐसी घटनाएं कांग्रेस(इ) शासित अनेक राज्यों में भी, विशेष रूप से महाराष्ट्र राज्य में, काफी बड़े पैमाने पर घटित हुई और फिर भी उन सरकारों को हटाने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की गई, जबकि कार्यवाही केवल भारतीय जनता पार्टी की सरकारों के विरुद्ध की गई। यह उपदर्शित किया गया है कि जहां तक हिमाचल प्रदेश का संबंध है, किसी प्रकार की सांप्रदायिक अशांति नहीं हुई। वहां नाम मात्र की भी विधि और व्यवस्था की समस्या नहीं थी। राज्यपाल की रिपोर्ट में भी ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं किया गया था। यह तर्क दिया गया है कि मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश सरकारों को तारीख 6 दिसंबर, 1992 को अयोध्या में हुई

छटनाओं के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। उस घटना के लिए, उत्तर प्रदेश सरकार ने स्वयं को उत्तरदायी मानते हुए, त्यागपत्र दे दिया था। यह भी उपदर्शित किया गया है कि हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट के अनुसार, मुख्यमंत्री उनसे मिले थे और उन्होंने स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित किया था कि वह प्रतिबंध को लागू करने के इच्छुक थे और वस्तुतः उसे लागू कर भी रहे थे और कुछ गिरफ्तारियां भी की गई थीं। ऐसी स्थिति में, राज्यपाल के लिए यह विश्वास करने या रिपोर्ट देने का कोई औचित्य नहीं था कि मुख्य-मंत्री उक्त संगठनों पर प्रतिबंध को लागू करने के लिए निष्ठापूर्वक या गम्भीरतापूर्वक कार्य नहीं कर रहे थे। वास्तव में, विधिविरुद्ध कार्यकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 के अधीन अधिकरण ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर लगाए गए प्रतिबंध को अवैध घोषित किया है और तदनुसार प्रतिबंध प्रतिसंहृत कर लिया गया है। अवैध प्रतिबंध के लागू न किए जाने के कार्य को अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही का आधार नहीं बनाया जा सकता है। यह मान लेने पर भी कि ऐसी निष्क्रियता या इनकारी हुई थी, उसे राज्य सरकार को बर्खास्त करने और विधानसभा का विघटन करने का आधार नहीं बनाया जा सकता। श्वेतपत्र, जो अब न्यायालय के समक्ष रखा गया है, तारीख 15 दिसंबर, 1992 को अस्तित्व में नहीं था। भारतीय जनता पार्टी द्वारा समय-समय पर जारी किए गए चुनाव घोषणा पत्र उद्घोषणाओं में निर्दिष्ट जानकारी गठित नहीं कर सकते हैं, किसी भी दशा में वैध रूप से संगत सामग्री तो बिल्कुल भी नहीं।

141. मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में रिट याचिका के उत्तर में, भारत संघ का, अन्य बातों के साथ-साथ, यह पक्षकथन था कि उद्घोषणा राष्ट्रपति के इस समाधान पर जारी की गई है कि मध्य प्रदेश सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है। राज्यपाल की रिपोर्टों से यह प्रकट होता था कि राज्य सरकार आंतरिक अशांति के विरुद्ध राज्य के नागरिकों और सम्पति को संरक्षण प्रदान करने में बुरी तरह असफल रही थी। उक्त रिपोर्टों के आधार पर, राष्ट्रपति ने अपेक्षित समाधान किया। खण्ड (1) के अधीन उद्घोषणा का संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में न्यायालय को राष्ट्रपति के उद्घोषणा या संसद् के अनुमोदन की बुद्धिमता या अन्यथा (अबुद्धिमत्ता) की संवीक्षा करने के लिए रिट याचिका विचारार्थ ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

142. यह भी दलील दी गई कि मध्य प्रदेश राज्य में परिस्थितियां अनेक अन्य राज्यों की परिस्थितियों से भिन्न थीं, जहां भी विधि और व्यवस्था के लिए समस्या स्वरूप गंभीर अशांति की घटनाएं घटित हुई। दोनों स्थितियों के बीच कोई तुलना नहीं की जा सकती है। "भोपाल के अतिरिक्त मध्य प्रदेश राज्य में कुल मिलाकर स्थिति ऐसी थी कि यह समाधान करने के लिए पर्याप्त और स्पष्ट कारण थे कि राज्य में सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती थी। इस बात का खण्डन किया गया है कि राज्य में विधि और व्यवस्था की कोई ऐसी स्थिति नहीं थी।" राज्यपाल की रिपोर्ट सुसंगत सामग्री पर आधारित हैं और वे सद्भाविक रूप से तथा सम्यक् सत्यापन के पश्चात् की गई हैं।

143. हिमाचल प्रदेश से संबंधित रिट याचिका (टी० सी० सं० 8/93) में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में यह कहा गया है कि 6 दिसंबर, 1992 की घटनाएं कुछ व्यक्तियों

का ही काम नहीं थीं। "भारतीय जनता पार्टी सहित, अनेक राजनीतिक दलों और समूहों के सार्वजनिक दृष्टिकोण और कथनों के कारण ही प्रश्नगत (विवादग्रस्त) ढांचे का विनाश हुआ और देश के पंथ-निरपेक्ष ताने-बाने को अत्यधिक क्षति पहुंची, जिसके कारण हिमाचल प्रदेश सहित, सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिक असद्भाव और असामंजस्य की स्थिति पैदा हुई।" यह कहा गया है कि उक्त घटना के परिणामों को विभिन्न राज्यों में मार डाले गए व्यक्तियों से तुलना करके नहीं देखा जा सकता। यह प्राख्यान किया गया है कि मंत्रि परिषद् और राष्ट्रपति को वर्तमान मामले में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराई गई थी, जो अनुच्छेद 356 के अधीन किए जाने वाले समाधान के लिए सुसंगत थी। वे, अन्य बातों के साथ-साथ, साम्प्रदायिक सौहार्द और सामंजस्य को होने वाली गम्भीर क्षति से भी अवगत थे, जो मध्य प्रदेश राज्य में हुई थी। उन्हें उन परिणामों के बारे में भी अत्यधिक चिन्ता थी, जो अयोध्या की घटनाओं के कारण राज्यों में अब भी हो सकते हैं और वे न केवल विधि और व्यवस्था की स्थिति को सामान्य बनाने के लिए, बल्कि साम्प्रदायिक सौहार्द और सामंजस्य की स्थिति को भी सामान्य बनाने के उपायों और साधनों के बारे में भी चिन्तित थे, जो अन्य बातों के साथ-साथ राज्य में सत्तारूढ़ दल के कार्यकलापों और दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप इतनी बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई थी। यह भी कहा गया है कि भारत सरकार को उपलब्ध निश्चित जानकारी के अनुसार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य न केवल अयोध्या में घटनास्थल पर मौजूद ही थे, बल्कि उन्होंने ढांचे को गिराने के कार्य में वास्तविक रूप से भाग लिया था। और वे सांप्रदायिक असामंजस्य को बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी थे। यह प्राख्यान भी किया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा न केवल राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर, बल्कि उनके द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर भी कार्यवाही की गई थी।

144. राजस्थान से संबंधित रिट याचिका (1993 का टी० सी० सं० 9) में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में यह कहा गया है कि तारीख 6 दिसंबर, 1992 को ढांचे के गिराने के पश्चात् देश के विभिन्न भागों में हिंसा आरम्भ हो गई, जिसके परिणामस्वरूप जीवन और सम्पति की हानि हुई। यह प्राख्यान किया गया है कि केवल हताहतों की संख्या के आधार पर ही विभिन्न राज्यों में विधि और व्यवस्था की स्थिति का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। प्रत्येक राज्य में स्थिति का अलग-अलग निर्धारण किया जाना है। ग्राचो के इस प्रकथन का प्रत्याख्यान किया गया है कि राज्य सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर लगाए गए प्रतिबंध को समुचित रूप से लागू किया। ऐसी कोई अध्यपेक्षा नहीं है कि राज्यपाल रिपोर्ट राष्ट्रपति के नाम होनी चाहिए। वह प्रधानमंत्री के नाम से भी हो सकती है। राज्यपाल की रिपोर्ट के अतिरिक्त, अन्य जानकारी उपलब्ध थी जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपना समाधान किया था। विद्वेषपूर्ण, सनकपूर्ण और मनमानी शक्ति के प्रयोग के अभिकथनों का प्रत्याख्यान किया गया है। यह निवेदन किया गया है कि राष्ट्रपति की उद्घोषणा में कार्यवाही के कारणों का होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रपति ने किसी असंगत सामग्री को ध्यान में नहीं लिया था।

145. भारत संघ के विद्वान् काउंसेल और आक्षेपित उद्घोषणाओं का समर्थन करने वाले अन्य काउंसेलों ने यह तर्क दिया कि भारतीय जनता पार्टी का मुख्य राजनीतिक आधार और प्राथमिक कार्यक्रम, स्थल पर राम मंदिर का निर्माण था, जिस पर बाबरी मस्जिद खड़ी

हुई थी। भारतीय जनता पार्टी ने खुले रूप में यह घोषित किया था कि वह बाबरी मस्जिद ढांचे को हटा देगी और उसे "पुनः स्थापित" करेगी (जैसा कि उसने उसे नाम दिया था), क्योंकि उसके अनुसार बाबरी मस्जिद सम्राट् बाबर द्वारा विद्यमान राम मन्दिर पर अध्यारोपित की गई थी। यह दल उक्त आधार पर ही चारों राज्यों में सत्ता में आया और तब से वह उक्त लक्ष्य की दिशा में कार्य कर रहा था। भारतीय जनता पार्टी के सभी नेताओं, उनके मंत्रियों, विधायकों और सभी संवर्गों का यही एक लक्ष्य रहा है। इस प्रयोजन के लिए वे समय-समय पर अयोध्या में सभी ओर से कार-सेवक बार-बार एकत्र कर रहे थे। तारीख 6 दिसंबर, 1992 से ठीक पूर्व के दिनों में उनके नेता अपने अनुयायियों को बाबरी मस्जिद ध्वस्त करने और वहां मन्दिर बनाने के लिए उकसा रहे थे और उत्साहित कर रहे थे। मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान के मंत्रियों ने कार-सेवकों को संगठित करने और उन्हें अयोध्या भेजने के लिए सक्रिय भाग लिया था। जब कार-सेवक मस्जिद को ध्वस्त करने के पश्चात् अयोध्या से वापस लौटे, तब इन्हीं व्यक्तियों द्वारा उनका नायकों के रूप में स्वागत किया गया। अनेक मंत्री और मुख्य मंत्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य थे और वे उस पर लगाए गए प्रतिबंध के विरुद्ध अभ्यापत्ति कर रहे थे। अतः प्रतिबंध को लागू करने के लिए उनका विश्वास नहीं किया जा सकता था, यद्यपि उनमें से कुछ द्वारा इसके विपरीत कथन किए जा रहे थे। काउंसेलों ने इस प्रयोजन हेतु अपनी दलीलों का समर्थन करने के लिए निम्नलिखित तथ्यों का अवलंब लिया।

146. मई/जून, 1991 में लोकसभा के लिए मध्यावधि चुनाव कराए गए। मई/जून, 1991 के मध्यावधि चुनाव के अवसर पर भारतीय जनता पार्टी द्वारा जारी किए गए चुनाव घोषणा-पत्र में यह कहा गया है कि भारतीय जनता पार्टी का लक्ष्य, इतिहास में की गई गलतियों के प्रतीकात्मक सुधार के रूप में केवल अयोध्या में राम जन्मभूमि मंदिर की बहाली है, जिससे कि परस्पर द्वेष का पुराना अप्रिय अध्याय समाप्त हो सके और शानदार राष्ट्रीय सामंजस्य स्थापित किया जा सके। एक अन्य स्थान पर, "जन्मस्थान पर श्रीराम मंदिर" शीर्ष के अधीन, निम्नलिखित कथन किया गया है : "भारतीय जनता पार्टी का यह दृढ़ विश्वास है कि जन्मस्थान पर श्रीराम मंदिर का निर्माण हमारी सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय आत्मसम्मान का प्रतीक है। भारतीय जनता पार्टी के लिए यह पूर्णतः राष्ट्रीय मुद्दा (विवाद्यक) है और वह निहित स्वार्थों को उसे संकुचित और साम्प्रदायिक रंग देने की इजाजत नहीं देगी। अतः भारतीय जनता पार्टी जन्मस्थान पर श्रीराम मंदिर का निर्माण करने के लिए वचनबद्ध है और ससम्मान बाबरी ढांचे को अन्यत्र पुनः स्थापित करेगी। स्वतः, उपर्युक्त कथनों से यह अभिप्रेत नहीं हो सकता है कि उक्त कार्यक्रम विवादग्रस्त ढांचे का विधिविरुद्ध या बलात् गिराया जाना परिकल्पित था। उक्त कथनों को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि उनसे यह अभिप्रेत है कि भारतीय जनता पार्टी सांविधानिक साधनों द्वारा अपना यह आधार (दृष्टिकोण) दर्शित करना चाहती थी कि विवादग्रस्त ढांचा वस्तुतः राम जन्मस्थान था, जो सम्राट् बाबर द्वारा बलपूर्वक मस्जिद के रूप में संपरिवर्तित कर दिया गया था और उसके पश्चात् ही वे उक्त ढांचे को पुनर्स्थापित करेंगे और उस स्थल पर श्रीराम मंदिर का निर्माण करेंगे। तथापि, उक्त कथनों से, जब उन्हें भारतीय जनता पार्टी के नेताओं के भाषणों और कार्यों के प्रकाशन में पढ़ा और समझा जाता है, एक अन्य (दूसरे) निर्वचन की भी गुंजाइश रखते हैं। वे तथ्य भारत सरकार द्वारा फरवरी, 1993 में जारी किए गए

"अयोध्या पर श्वेत पत्र" में प्रकाशित किए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :—"विवादग्रस्त ढांचे को हटा कर या उसे पुनर्स्थापित करके, उसके स्थान पर, राममंदिर का निर्माण करने के लिए आन्दोलन को हाल ही के वर्षों में काफी बल मिला। अक्तूबर/नवम्बर, 1990 में विवादग्रस्त ढांचे पर चढ़ाई करने के योजनाबद्ध प्रयास के परिणामस्वरूप विवादग्रस्त ढांचे को कुछ हानि हुई और पुलिस द्वारा गोली-चालन के परिणामस्वरूप कुछ मौतें भी हुईं। केन्द्रीय सरकार इस विवाद के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए विभिन्न दलों और संगठनों से बात-चीत कर रही थी। तथापि जून, 1991 में उत्तर प्रदेश में सरकार के बनने के साथ ही, मंदिर निर्माण के आंदोलन में एक नया आयाम जुड़ गया। सरकार ने मंदिर के निर्माण के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध (वचनबद्ध) घोषित किया और उसने विवादग्रस्त ढांचे के निकट भूमि के अर्जन, अर्जित-भूमि पर स्थित मंदिरों सहित, कुछ अन्य ढांचों के गिराए जाने और अर्जित भूमि के एक भाग को खुदाई और समतलीकरण (स्तरीकरण) जैसे कुछ कदम उठाए। स्वयं विवादग्रस्त ढांचा अर्जन से अपवर्जित रखा गया। विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा जारी की गई प्रस्तावित मंदिर की योजना में मंदिर के गर्भ-गृह के विवादग्रस्त ढांचे के स्थल पर ही स्थापित किए जाने की परिकल्पना की गई। संघ सरकार ढांचे की सुरक्षा के लिए चिंतित थी। किंतु तारीख 2 नवम्बर, 1991 को आयोजित राष्ट्रीय एकता परिषद् के अधिवेशन में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह ने ढांचे को संरक्षण प्रदान करने का वचन दिया और सब को यह आश्वासन दिया कि विवादग्रस्त ढांचे को संरक्षण प्रदान करना राज्य सरकार का उत्तर-दायित्व है और किसी को भी वहां जाने नहीं दिया जाएगा। उन्होंने यह वचन भी दिया कि न्यायालय के सभी आदेशों का निष्ठापूर्वक कार्यान्वयन किया जाएगा। जुलाई, 1992 में बड़ी संख्या में कार-सेवक अर्जित भूमि पर एकत्र हुए और उन्होंने निर्माण कार्य आरम्भ करने का विचार व्यक्त किया। इस स्थिति को टाल दिया गया और तारीख 26 जुलाई, 1992 को कार-सेवा समाप्त कर दी गई। भारतीय जनता पार्टी ने, श्रीराम मंदिर के निर्माण के लिए लोगों और कारसेवकों को सक्रिय बनाने के उद्देश्य से, 1990 की रथ-यात्रा के प्रतिमान पर श्री लालकृष्ण आडवाणी और श्री मुरलीमनोहर जोशी द्वारा पुनः रथ-यात्रा चालू किए जाने का विनिश्चय किया। श्री आडवाणी ने यह कहा कि अब वे पूर्ण शक्ति से मंदिर आन्दोलन में कूद पड़े हैं। भारतीय जनता पार्टी के नेता विश्व हिन्दू परिषद, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और सहबद्ध संगठनों के साथ मिलकर कार्य कर रहे थे। रथ-यात्राएं 1 दिसम्बर, 1992 से आरंभ हुईं। श्री आडवाणी ने वाराणसी से रथ-यात्रा आरम्भ की, श्री जोशी ने मथुरा से। मथुरा और काशी में मंदिरों की बहाली के लिए भावी मांगों और कार्यक्रमों के लिए इन आरंभ-बिन्दुओं का अपना अनर्थकारी महत्त्व था। दोनों नेताओं ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी और पश्चिमी भागों से यात्रा की और वे अयोध्या पहुंचे। यात्रा के दौरान इन दोनों नेताओं ने उत्तेजनात्मक भाषण दिए और कार-सेवकों को सक्रिय किया तथा अपने कार्यकर्ताओं और लोगों से कार-सेवा करने के लिए बड़ी संख्या में अयोध्या पहुंचने के लिए कहा। रथ-यात्रा के दौरान श्री लालकृष्ण आडवाणी कार-सेवकों से आन्दोलन में कूद पड़ने की बराबर अपील करते रहे और उन्होंने यह कहा कि वे (कार-सेवक) कल्याण सिंह सरकार के बने रहने के बारे में चिंता न करें। वह यह भी कहते रहे कि अयोध्या में कार-सेवा "भजन या कीर्तन" तक ही सीमित नहीं रहेगी बल्कि उसमें शारीरिक श्रम भी अंतर्वलित होगा। रथ-यात्रा के दौरान श्री जोशी ने यह कहा कि उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी सरकार अयोध्या में कार-सेवकों के विरुद्ध बल का प्रयोग नहीं करेगी और कार-सेवा के स्वरूप का विनिश्चय संतों/

महंतों द्वारा किया जाएगा और राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद का मुद्दा, धार्मिक मुद्दा था, जिसका केवल धर्माचार्यों द्वारा ही समाधान किया जा सकता है, न कि उच्चतम न्यायालय द्वारा। उन्होंने उस स्थिति में गंभीर परिणामों की भी धमकी दी, यदि उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की सरकार को बर्खास्त किया जाता है। तारीख 1 दिसम्बर, 1992 को श्री जोशी ने (मथुरा में) एकत्र लोगों से का-रसेवा हेतु अयोध्या में एकत्र होने और तथा-कथित बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करने की अपील की। भारतीय जनता पार्टी की एक अन्य नेता श्रीमती विजयाराजे सिंधिया ने तारीख 23 नवम्बर, 1992 को पटना में यह कहा कि बाबरी मस्जिद को ध्वस्त किया ही जाना होगा। विश्व हिन्दू परिषद् के नेता श्री विष्णुहरि डालमियां ने तारीख 9 नवम्बर, 1992 को दिल्ली में यह घोषित किया कि रामजन्म भूमि मंदिर का उसी रीति में निर्माण किया जाएगा, जिस रीति में वह बाबर द्वारा ध्वस्त किया गया था। उन्होंने यह कहा कि कार-सेवक नेताओं पर यह दबाव डाल रहे थे कि उन्हें राम-जन्मभूमि मंदिर का निर्माण करने के लिए नहीं, बल्कि मस्जिद को गिराने के लिए बुलाया जाना चाहिए। तारीख 1 दिसम्बर, 1992 को ही 25000 कार-सेवक अयोध्या पहुंच गए थे। तारीख 5 दिसम्बर तक उनकी संख्या दो लाख को पार कर गई। उनके रहने के लिए तम्बुओं और विद्यालयों और महाविद्यालयों में तथा विवादग्रस्त ढांचे के निकट खुले मैदान में भी व्यवस्था की गई। स्थानीय प्रशासन ने इतनी बड़ी संख्या में कार-सेवकों के आगमन को देखते हुए, सुविधाओं में वृद्धि करने के लिए प्रयास तेज कर दिए।

147. केन्द्रीय सरकार ने किसी भी प्रकार की स्थिति से निपटने और ऐसी किसी सहायता के लिए तैयार रहने के लिए अयोध्या में परासैनिक बल तैनात कर दिए गए थे, जो प्रशासन या भारतीय जनता पार्टी की सरकार द्वारा मांगी जाए। उक्त बलों की सेवाओं का उपयोग करने के बजाय, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री अयोध्या में उक्त बलों की तैनाती के बारे में केन्द्रीय सरकार से अपनी अभ्यापत्ति प्रकट कर रहे थे। प्रधानमंत्री को सम्बोधित, तारीख 1 दिसम्बर, 1992 के अपने पत्र में श्री कल्याण सिंह ने अयोध्या में उक्त बलों की निरन्तर उपस्थिति के बारे में अपनी अभ्यापत्ति अभिलिखित की और उसे इस आधार पर अनधिकृत और अवैध बताया कि वे (बल) राज्य सरकार की सम्मति के बिना और उसकी इच्छा के विरुद्ध वहां तैनात किये गए थे।

148. तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को, जब कार-सेवकों की भीड़ को भारतीय जनता पार्टी और विश्व हिन्दू परिषद् आदि के नेता सम्बोधित कर रहे थे, तब लगभग 150 व्यक्तियों ने अचानक घेरा तोड़ दिया, वे पुनः समूहबद्ध हुए और उन्होंने पुलिस कार्मिकों पर पत्थर फेंकना आरम्भ कर दिया। एक बड़ी भीड़ विवादग्रस्त ढांचे में घुस गई। शीघ्र ही वहां विशाल भीड़ एकत्र हो गई और उसने ढांचे को गिराना आरम्भ कर दिया। स्थानीय पुलिस मूकदर्शक बनकर खड़ी रही क्योंकि उसे कार-सेवकों के विरुद्ध बल प्रयोग न करने का मुख्य-मंत्री का आदेश था। केन्द्रीय बल भी उसी प्रकार असहाय (लाचार) थे, क्योंकि घटनास्थल पर तैनात स्थानीय मजिस्ट्रेट द्वारा उन्हें हस्तक्षेप करने की अनुज्ञा नहीं दी गई।

149. इस तथ्य पर भी बल दिया गया कि तारीख 21 दिसम्बर, 1992 को राज्य-सभा में किए गए संघ गृहमंत्री के कथन के अनुसार, इन सभी कार-सेवकों का, उनकी वापसी पर, मुख्यमंत्रियों और मंत्रियों द्वारा स्वागत किया गया।

150. इन तथ्यों और घटनाओं का अवलंब लेते हुए, यह दलील दी गई कि तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को जो कुछ घटित हुआ, वह एक दिन की घटनामात्र नहीं था। वह पिछले कुछ वर्षों से भारतीय जनता पार्टी और अन्य सहबद्ध संगठनों द्वारा चलाए जा रहे सतत अभियान की परिणति था। उसके पश्चात् यह उपदर्शित किया गया कि 1993 के साधारण निर्वाचनों के संबंध में, भारतीय जनता पार्टी द्वारा जारी किए गए चुनाव घोषणा पत्र में, तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को जो कुछ घटित हुआ, उसके बारे में खेद का एक शब्द भी नहीं कहा गया है। इसके विपरीत, "अयोध्या" शीर्षक के अधीन उसमें निम्नलिखित कथन मौजूद है—

"अयोध्या

अपने कार्यों और कथनों में, छद्म-धर्मनिरपेक्षता की शक्तियां सभी हिंदू-बातों के लिए घोर विरोध की असंदिग्ध धारणा (भावना) व्यक्त करती हैं। वस्तुतः उनके मन में "हिंदू" "साम्प्रदायिक" से जुड़ गया है। अयोध्या में राम-जन्म भूमि मंदिर पर विवाद इस लक्षण का सशक्त उदाहरण है। उनके लिए "सहमत" (संस्था) धर्मनिरपेक्ष है और "केसरिया" सांप्रदायिक है। यद्यपि विवाद के तथ्य सुविदित हैं, कुछ बातों की पुनरावृत्ति आवश्यक है। प्रथमतः, यह सदा स्पष्ट था हिंदुओं का विराट् बहुमत उस स्थल पर, जहां 1948 से निर्बाध (अविरत) रूप से पूजा चल रही है और जहां 1936 से (कोई) नमाज नहीं पढ़ी गई, भगवान् राम के (लिए) भव्य मंदिर के लिए पूर्णतः प्रतिबद्ध है। मुगल सम्राट् द्वारा बनाया गया ढांचा हिन्दुओं द्वारा राष्ट्रीय अपमान के रूप में देखा जाता था।

दूसरे, उत्तर प्रदेश में 1991 का निर्वाचन अयोध्या विवाद पर केंद्रित था। वस्तुतः वह राम जन्म-भूमि पर जनमत संग्रह था और भारतीय जनता पार्टी ने राम (जन्म-भूमि) मंदिर के निर्माण को बनाने का वचन देते हुए, निर्वाचन में विजय प्राप्त की। तथापि, यह जनादेश कांग्रेस और अन्य छद्म-धर्मनिरपेक्ष दलों को उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा की गई कार्यवाही में जानबूझकर बाधा डालने से नहीं रोक पाया। मंदिर के विरोधियों ने भारतीय जनता पार्टी की सरकार को निर्वाचकगण को दिए गए अपने वचन को पूरा करने से रोकने के लिए प्रशासनिक टाल-मटोल से लेकर न्यायिक विलंब तक, हर चीज का प्रयोग किया।

तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को देश भर से आए कार-सेवक गर्भ-गृह के निकट स्थल पर राम मंदिर का पुनर्निर्माण आरंभ करने के लिए अयोध्या में एकत्र हुए। मामले ने उस समय अप्रत्याशित मोड़ ले लिया जब नरसिंह राव सरकार की बाधा डालने वाली चालों, असामान्य न्यायिक विलंबों और छद्म-निरपेक्षतावादियों के कटाक्षों से क्रुद्ध (होकर) कार-सेवकों ने मामला अपने हाथ में ले लिया, विवादग्रस्त ढांचा गिरा दिया और गर्भ-गृह पर भगवान् राम के अस्थायी मंदिर का निर्माण कर दिया।

ढांचे के ध्वंस (गिराए जाने के कार्य) को रोकने में अपनी असमर्थता हेतु अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए, श्री कल्याण सिंह के नेतृत्व में भारतीय

जनता पार्टी की सरकार ने त्याग-पत्र दे दिया। दिशा-विमुख केन्द्रीय सरकार उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति-शासन अधिरोपित करके ही संतुष्ट नहीं रही। लोकतांत्रिक नियमों का उल्लंघन करते हुए, केंद्र ने राजस्थान, मध्य प्रदेश, और हिमाचल प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की सरकारों को बर्खास्त कर दिया। उसके अतिरिक्त, उसने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिंदू परिषद् और बजरंग दल पर प्रतिबंध लगा दिया।

सरकार का दमन-चक्र यहीं समाप्त नहीं हुआ। इससे भी आगे जाकर, उसने, अन्य आधारहीन शक्तियों के साथ दुरभिसंधि करते हुए, कुत्सित प्रचार-प्रहार आरंभ कर दिया, जिसका लक्ष्य हिंदुओं को अपमानित करना था। कार-सेवकों की, फासीवादी, असभ्य और बर्बर कह कर, निंदा की गई और 6 दिसम्बर को राष्ट्रीय शर्म का दिवस कहा गया। अभी हाल ही में केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो (केंद्रीय खुफिया ब्यूरो) ने भारतीय जनता पार्टी और विश्व हिंदू परिषद् के नेताओं के विरुद्ध, उन्हें अपराधियों के रूप में दर्शित करने के प्रयोजन से, आरोप-पत्र फाइल किए हैं।

भारत के लोगों के विरुद्ध छद्म-धर्म निरपेक्षता वादियों के इस अथक प्रहार के बहुत गंभीर परिणाम सामने आए। उसने शासकों और लोगों के बीच गहरी भावनात्मक खाई पैदा कर दी। अयोध्या की घटना दोहरे मानकों की नकली राजनीति का लोक-अभियोग थी। उसे इस रूप में मानना तो दूर, कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी-विरोधी अन्य दलों ने उसका, सिद्धांतहीन अल्पसंख्यकवाद को बढ़ावा देने के निमित्त के रूप में, उपयोग किया।

यही अल्पसंख्यक वाद कांग्रेस, जनता दल, समाजवादी पार्टी और साम्यवादी दलों को अयोध्या पर अपने आशय की स्पष्ट घोषणा के साथ सामने आने से रोकता है। इस प्रकार भारतीय जनता पार्टी एकमात्र ऐसा दल है, जो पूर्व बाबरी ढांचे के स्थल पर राम मंदिर के निर्माण को सुकर बनाने के अपने आश्वासन में पूर्णतः स्पष्ट है।"

151. यह निवेदन भी किया गया कि विवादग्रस्त ढांचे का ध्वंस (गिराया जाना), भारतीय जनता पार्टी के नेताओं द्वारा (आरम्भ) की गई रथ-यात्राओं सहित, भाषणों, कार्यक्रमों और अनेक अभियानों का परिणाम था। मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश सरकारों को उनके दल के कार्यों से अलग करना न तो संभव है और न यथार्थपरक। यह एक कार्यक्रम वाला दल है। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि स्वयं मुख्यमंत्री राष्ट्रीय स्वयंसेवक के एक सदस्य थे। मध्य प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि मुख्यमंत्री और अन्य मंत्री राष्ट्रीय स्वयंसेवक के मूल्यों और परंपराओं में दृढ़ आस्था रखते थे। रिपोर्टों से यह भी उपदर्शित होता है कि इन सरकारों ने कारसेवकों को संगठित करने और उन्हें अयोध्या भेजने के कार्य में सक्रिय रूप से भाग लिया और जब वे काम पूरा करने के पश्चात् वापस आए, तब उन्होंने उनका स्वागत और प्रशंसा की। इस प्रकार, भारतीय जनता पार्टी की चारों सरकारों के बीच एक सामान्य सूत्र विद्यमान है जो उन्हें परस्पर आबद्ध करता है। भारतीय जनता पार्टी चुनाव-घोषणापत्र, जिनके आधार पर ये सरकारें सत्तारूढ़ हुईं, तथा उनके भाषणों और कार्यों से उक्त दल और चारों सरकारों के बीच कार्य की एकता और सामान्यता स्पष्ट रूप से दर्शित होती है। चुनाव

घोषणा-पत्र और उनके कार्यक्रम ऐसे थे, जिनसे मुस्लिम समुदाय की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचती थी। विवादग्रस्त ढांचे का गिराया जाना कोई सामान्य घटना नहीं थी। विवादग्रस्त ढांचा केंन्द्रीय बिन्दु और दोनों धार्मिक समुदायों के बीच झगड़े का कारण बन गया था। उस प्रक्रिया ने, जिसके परिणामस्वरूप ढांचे को गिराया गया था और उस रीति ने, जिसमें ऐसा किया गया, देश में सांप्रदायिक सौहार्द और शांति पर घोर प्रहार किया। उसके प्रतिकूल अंतरराष्ट्रीय परिणाम भी हुए। अयोध्या में ढांचा गिराए जाने के परिणामस्वरूप पाकिस्तान और बंगलादेश में अनेक हिंदू मंदिर गिरा दिए गए। ऐसी स्थिति में, इन चारों राज्यों में अल्पसंख्यकों के लिए चारों सरकारों की निष्पक्षता (तटस्थता) में विश्वास रखना कठिन था। उनमें सुरक्षा की भावना पुनः पैदा करना नितांत आवश्यक था। उन्हें उनके शरीर और संपत्ति की सुरक्षा के बारे में आश्वासन दिया जाना आवश्यक था। भारतीय जनता पार्टी की सरकारों के सत्तारूढ़ रहते ऐसा संभव नहीं था।

152. इस तथ्य पर भी बल दिया गया कि हिमाचल प्रदेश और मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री प्रतिबंधित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य थे। ऐसी परिस्थितियों में प्रतिबंध को ईमानदारीपूर्वक लागू करने की आशा और विश्वास नहीं किया जा सकता था। अतः, उसे निराधार मत (राय) नहीं कहा जा सकता था। ऐसी परिस्थितियों में, ऐसे दल को, जो जानबूझकर और सक्रियतापूर्वक ऐसी स्थिति लाया था, सत्ता में बने रहने देना सामान्यतः सभी लोगों का और विशेषतः अल्पसंख्यकों का विश्वास बहाल रखने में सहायक नहीं होता। यह कहना कोई उत्तर नहीं है कि कांग्रेस (इ) द्वारा शासित कतिपय राज्यों में इससे भी बड़े पैमाने पर अशांति हुई और उन सरकारों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई।

153. इन दलीलों के उत्तर में, याचियों के काउंसेलों ने यह निवेदन किया कि यदि भारत संघ के काउंसेल की दलील को स्वीकार कर लिया जाता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि भारतीय जनता पार्टी किसी राज्य में सरकार नहीं बना सकती और उसे प्रतिबंधित कर दिया जाना चाहिए, और ऐसी दलील स्वीकार कर लिए जाने से गंभीर राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। उन्होंने यह भी उपदर्शित किया कि मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों के बहुमत के निर्णय द्वारा उद्घोषणा को अभिखंडित कर दिया गया था, जिसमें (निर्णय में) यह मत व्यक्त किया गया था कि यह स्वीकार करना संभव नहीं था कि राज्य सरकार की, अचानक हिंसा फैलने के परिणामस्वरूप कुछ नगरों में नागरिकों के जीवन और संपत्ति को बचाने में, असफलता से, युक्तिसंगत रूप से राष्ट्रपति का यह समाधान हो सकता था कि सरकार संविधान के अनुसार कृत्य करने में असमर्थ थी और इसलिए विधानसभा पारिणामिक विघटन भी अविधिमान्य था।

154. याचियों की दलीलों का सार यह था कि मध्य प्रदेश और राजस्थान के कुछ भागों में अशांति मात्र, जिसमें जीवन और संपत्ति की कुछ हानि हुई, ऐसी स्थिति की कोटि में नहीं आती थी, जिसमें यह कहा जा सकता कि उन राज्यों की सरकारें संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती थीं। इसके अतिरिक्त, यह तथ्य कि इन राज्यों के मंत्रिमंडल भारतीय जनता पार्टी से संबंध रखते थे, जिनके चुनाव घोषणापत्र के राजनीतिक आधारों में से एक, मस्जिद को कहीं अन्यत्र पुनर्स्थापित करके मस्जिद के स्थान पर श्री राम मंदिर का निर्माण था, ऐसे कार्य की कोटि में नहीं आता था, जिससे यह आशंका उत्पन्न हो

सके कि उस दल के मंत्रिमंडल संविधान में सन्निविष्ट धर्मनिरपेक्षता के उद्देश्य के प्रति निष्ठावान् नहीं थे। इसी प्रकार, भाषणों द्वारा और कार-सेवकों को तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में एकत्र होने के लिए प्रोत्साहित करके, और उस प्रयोजन के लिए उन्हें शानदार विदाई देकर, मस्जिद को अन्यत्र पुनर्स्थापित करके मस्जिद के स्थान पर मंदिर का निर्माण करने के कार्यक्रम का अनुसरण, धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत (मत) से विचलन की कोटि में नहीं आता था और न मस्जिद के विनाश के पश्चात् राज्य में कार-सेवकों का स्वागत या स्थल पर उपस्थित नेताओं की कार-सेवकों को मस्जिद विनष्ट करने से रोकने में निष्क्रियता या ऐसे विनाश पर उनकी ओर से खेद व्यक्त किए जाने का अभाव धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्य के भंग की कोटि में ही आता है। मंत्रिमंडलों के, जो उक्त राजनीतिक आधार पर बनाए गए थे, मस्जिद के विनाश के पश्चात् (वाली स्थिति में) सत्ता में बने रहने मात्र से मुसलमानों के मन में असुरक्षा की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती थी, जब राजस्थान और मध्य प्रदेश राज्य सरकारों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि उन्होंने बल्वा और हिंसा रोकने के लिए सभी आवश्यक कार्रवाई करने में कोई गलती की थी और जब हिमाचल प्रदेश में कोई हिंसा या विनाश (बर्बादी) नहीं हुआ था इसके विपरीत, भारत संघ, और इन राज्यों में उद्घोषणाओं का समर्थन करने वाले अन्य व्यक्तियों की ओर से की गई दलीलों का तत्त्व और सार यह था कि इन राज्यों में प्रशासन चलाने वाले मंत्रि मंडलों के बारे में यह विश्वास नहीं किया जा सकता था कि वे धर्मनिरपेक्षता का पालन करेंगे, जब वे, स्वीकृततः, मस्जिद को अन्यत्र पुनर्स्थापित करके, जिसका अर्थ यह हुआ कि उसका विनाश करके और फिर उसका अन्य स्थान पर पुनर्स्थापन करके, मस्जिद के स्थान पर श्री राम मन्दिर का निर्माण करने के राजनीतिक आधार पर सत्ता में आए थे। ऐसा विशेष रूप से इसलिए था कि जब तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को अपने वास्तविक कार्य द्वारा, प्रश्नगत दल ने यह प्रदर्शित कर दिया कि अपने राजनीतिक चुनाव घोषणा-पत्र में उसका क्या अभिप्राय था। उसके पश्चात् यह दलील देना सरल था कि भारतीय जनता पार्टी केवल उक्त स्थल पर राम मंदिर का निर्माण करने के लक्ष्य को अग्रसर करने के लिए संवैधानिक साधनों को ही अपनाना चाहती थी। मस्जिद का विनाश उस सिद्धांत का ठोस सबूत था, जिसका प्रश्नगत दल पालन करना चाहता था। ऐसी परिस्थितियों में, उक्त दल द्वारा बनाए गए मंत्रिमंडलों के बारे में यह विश्वास नहीं किया जा सकता था कि वे धर्मनिरपेक्षता के उद्देश्य का अनुसरण करेंगे, जो संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग और संविधान की आत्मा था।

155. इन दलीलों के कारण, हमारे लिए संविधान द्वारा स्वीकृत धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) की संकल्पना पर विचार करना आवश्यक हो गया है। हमारे संविधान द्वारा किसी भी धर्म का, प्राइवेट रूप से या सार्वजनिक रूप से, आचरण (व्यवहार) प्रतिषिद्ध नहीं किया गया है। संविधान की उद्देशिका द्वारा इस देश के लोगों ने इस देश को, अन्य बातों के साथ, पंथनिरपेक्ष लोक तंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को (i) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, (ii) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, (iii) प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, और (iv) उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए सत्यनिष्ठापूर्वक दृढ़ संकल्प किया है। संविधान के अनुच्छेद 25 में यह उपबंध किया गया है—

"(1) लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अन्तकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।

(2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसा विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो—

(क) धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलापों का विनियमन या निर्बंधन करती है;

(ख) सामाजिक कल्याण और सुधार का उपबंध करती है या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए खोलती है।"

संविधान के अनुच्छेद 26 में यह उपबन्ध किया गया है—

"लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए, प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग को—

(क) धार्मिक और पूर्व प्रयोजनों के लिए संस्थानों की स्थापना और पोषण का;

(ख) अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबन्ध करने का;

(ग) जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का; और

(घ) ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का, अधिकार होगा।"

संविधान के अनुच्छेद 29 में यह उपबन्ध किया गया है—

"(1) भारत के राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।

(2) राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।"

संविधान के अनुच्छेद 30 में यह उपबन्ध किया गया है—

"(1) धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक-वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

(1क) खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक-वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित शिक्षा संस्था की संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए उपबंध करने वाली विधि बनाते समय, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी संपत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि द्वारा नियत या उसके अधीन अवधारित रकम ऐसी हो जो उस खण्ड के अधीन गारण्टी किए अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे।

(2) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबन्ध में है।"

संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 16 के अधीन, किसी भी नागरिक के विरुद्ध उसके धर्म के आधार पर विभेद (भेदभाव) प्रतिषिद्ध किया गया है और विधि का समान संरक्षण तथा लोक नियोजन का समान अवसर सुनिश्चित किया गया है।

संविधान के अनुच्छेद 44 में यह उपबन्ध किया गया है—

"राज्य, भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त (सुनिश्चित) कराने का प्रयास करेगा।"

संविधान के अनुच्छेद 51क का सुसंगत भाग इस प्रकार है—

"भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि वह—

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करे;

(ख) × × ×

(ग) × × ×

(घ) × × ×

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो; ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) × × ×

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) × × ×।"

156. ये उपबन्ध, विवक्षा द्वारा धार्मिक राज्य की स्थापना का प्रतिषेध करते हैं और राज्य को किसी विशेष धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थ के साथ स्वयं को जोड़ने या उसके प्रति पक्षपात करने से निवारित करते हैं। राज्य को सभी धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों और पन्थों के साथ समान व्यवहार करने के लिए व्यादिष्ट किया गया है।

157. जैसा कि श्री एम० सी० सीतलवाड द्वारा स्पष्ट किया गया है (धर्मनिरपेक्षता पर पटेल स्मारक व्याख्यान माला – 1965), "धर्मनिरपेक्षता (पन्थनिरपेक्षता) से प्रायः धर्म से शून्य भौतिक विचारणाओं द्वारा मार्गदर्शित जीवन और आचरण पद्धति का बोध होता है। इस पद्धति का आधार यह है कि केवल भौतिक साधन ही मानवता को आगे बढ़ा सकते हैं और धार्मिक विश्वासों से मानवीय उन्नति में बाधा पड़ती है·····। इस विचारधारा का अभी हाल ही में विकास हुआ है और यह स्पष्ट है कि वह पश्चिम में धर्म-निरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य की उस संकल्पना से भिन्न है, जिसकी जड़ें शताब्दियों पुरानी हैं··· ·····।"

158. "धर्म के सम्बन्ध में एक भिन्न मत, जीवन के प्रति "धर्मनिरपेक्ष (लौकिक) दृष्टिकोण" के अर्थ में समझी जाने वाली "धर्मनिरपेक्षता" का आधार है। सामान्य रूप से समाज या उसे गठित करने वाले व्यक्ति की धर्म को सामान्य जीवन के अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों से अधिकाधिक (उत्तरोत्तर) अलग करने की प्रवृत्ति होती है। हम में से अनेक, हिन्दू, मुसलमान और अन्य, अपनी जीवन-पद्धति और अधिकांश विषयों में, अधिकतर ऐसे विचारों और आचरण तथा व्यवहार द्वारा शासित होते हैं, जो हमारे धर्म से सम्बद्ध हैं या जिनकी जड़ें हमारे धर्म में हैं। धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण हमें इस दृष्टिकोण से अलग कर देगा, जिससे कि अपने साथियों के साथ अपने सम्बन्धों में या अन्य सामाजिक समूहों के साथ व्यवहार में, हम धर्म और धार्मिक प्रथाओं (आचरण) का बहुत कम ध्यान रखते हैं और अपने जीवन और कार्यों को सांसारिक (लौकिक) विचारणाओं पर अधिक आधारित करते हैं और धर्म तथा उसके प्रभाव को उसके समुचित क्षेत्र, अर्थात् आध्यात्मिक जीवन की उन्नति और व्यक्ति के कल्याण, तक सीमित रखते हैं। इस प्रकार की धर्मनिरपेक्षता, मानवों और राष्ट्र के रूप में हमारी प्रगति के लिए आवश्यक है क्योंकि उससे हम जातिवाद, सम्प्रदायवाद और ऐसे ही अन्य विचारों से, जो हमारे विकास में बाधक हैं, उत्पन्न होने वाले संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण को दूर करने में समर्थ होते हैं।"

159. "····· धर्मनिरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य की संकल्पना उस प्रकार की "धर्मनिरपेक्षता" (पन्थनिरपेक्षता) से बिल्कुल भिन्न है, जिसके प्रति हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं·····। निस्सन्देह, दोनों संकल्पनाएं इस अर्थ में अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर) हैं कि व्यक्तियों के ऐसे समाज या समूह की कल्पना करना कठिन है, जिसे (धर्मनिरपेक्ष) राज्य की सहायता के बिना धर्मनिरपेक्ष दर्शन या धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके।"

160. "धर्मनिरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य को परिभाषित करना सरल नहीं है। पश्चिम की उदार जनतान्त्रिक परम्परा के अनुसार, धर्मनिरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य धर्म का विरोधी नहीं होता है, किन्तु वह धर्म के विषय में स्वयं को तटस्थ रखता है··· ·····।" तत्पश्चात्, "पन्थनिरपेक्षता" की भारतीय संकल्पना के प्रति निर्देश करते हुए, विद्वान् विधिवेत्ता ने यह कहा—"जीवन की पन्थनिरपेक्ष पद्धति का आन्दोलन के नेताओं द्वारा बार-बार प्रचार किया गया, जिससे कि धार्मिक मामले पूर्णतः व्यक्तियों की अन्तरात्मा (अन्तःकरण) से सम्बन्धित मामले माने गए·····।"

161. "देश का विभाजन होने से धर्मनिरपेक्षता (पन्थनिरपेक्षता) के महत्त्व को अत्यधिक बल मिला। विभाजन के होते हुए भी, बड़ी संख्या में मुस्लिम अल्पसंख्यक, जो जन संख्या का 1/10 भाग थे, स्वतन्त्र भारत के नागरिक बने रहे। नागरिकों के अन्य महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक समूह भी हैं। इन परिस्थितियों में, स्वतन्त्र भारत के लिए पन्थनिरपेक्ष संविधान अपरिहार्य हो गया, जिसके अधीन सभी धर्म समान स्वतंत्रता का उपभोग कर सकें और सभी नागरिक समान अधिकार का, तथा जो विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक राष्ट्र के रूप में संयुक्त रख सके।" तत्पश्चात्, विद्वान् विधिवेत्ता ने यह उपदर्शित किया कि हमारे संविधान में, निस्सन्देह, चर्च (धार्मिक सत्ता) और राज्य के बीच पूर्ण पृथक्करण का अभाव है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका में है, और उसके साथ ही, हमारी कोई स्थापित चर्च (धार्मिक सत्ता) नहीं है, जैसा कि ब्रिटेन में या कुछ अन्य देशों में है। हमारे देश में, सभी धर्म समानता के आधार पर स्थित हैं और इसलिए यह प्रतीत होगा कि हमारे देश को धर्मनिरपेक्ष (पन्थ-निरपेक्ष) राज्य के रूप में वर्णित करना गलत होगा। उन्होंने डा० राधाकृष्णन् को उद्धृत किया, जिन्होंने यह कहा कि "भारतीय राज्य को धार्मिक निष्पक्षता से धर्मनिरपेक्षता (पन्थ-निरपेक्षता) या अधार्मिकता का भ्रम नहीं होना चाहिए। उन्होंने यह भी उपदर्शित किया कि संविधान सभा की कार्यवाहियों से यह दर्शित होता है कि संविधान में धर्मनिरपेक्ष (पन्थ-निरपेक्ष) शब्द जोड़ने के दो प्रयास असफल रह चुके हैं.....।" इसके साथ ही, उन्होंने यह प्राख्यान किया—"तथापि, यह नहीं कहा जा सकता था कि भारतीय राज्य की धर्मनिरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं नहीं थीं" और उन्होंने संविधान के कुछ उपबन्धों को उपदर्शित किया है, जिनके प्रति हम ऊपर पहले ही निर्देश कर चुके हैं। उसके पश्चात् उन्होंने यह कहा है कि ऐसे राज्य के अर्थ में, जो सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता है और उनके प्रति उदारता दर्शित करता है, धर्मनिरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य का आदर्श, एक रीति में, सही रूप से धर्मनिरपेक्ष (पन्थनिरपेक्ष) राज्य की तुलना में, जिससे उनका अभिप्राय ऐसे राज्य से था, जो धर्म और राज्य के बीच पूर्ण पृथक्करण सर्जित करता है, भारतीय पर्यावरण और जलवायु के लिए अधिक उपयुक्त है। न्या० चिन्नप्पा रेड्डी ने, "भारतीय संविधान और धर्मनिरपेक्षता (पन्थनिरपेक्षता) पर अम्बेडकर स्मारक व्याख्यान देते हुए, यह मत व्यक्त किया कि ".....भारतीय सांविधानिक धर्मनिरपेक्षता धर्म का समर्थन बिल्कुल भी नहीं करती है किन्तु उसने व्यक्तिगत अन्तःकरण और गरिमा के प्रति सम्मान की भावना से धर्म के प्रति अनुज्ञेय दृष्टिकोण अपनाया है। धर्म को मानने और उसका आचरण करने आदि के अधिकार को मान्यता प्रदान करते हुए भी, उसने सभी लौकिक (पन्थ-निरपेक्ष) कार्य-कलापों को धर्म की और ऐसी प्रथाओं की परिधि से अपवर्जित किया है, जो लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के विरुद्ध हैं और मानव अधिकारों तथा गरिमा से, जो संविधान द्वारा गारण्टीकृत अन्य मूल अधिकारों में सन्निविष्ट हैं, असंगत हैं।

162. हमारे संविधान के अधीन धर्मनिरपेक्षता (पन्थनिरपेक्षता) पर उपर्युक्त विचार-विमर्श से एक बात मुख्यतः प्रकट होती है, और वह यह है कि राज्य का विभिन्न धर्मों, धार्मिक सम्प्रदायों और पन्थों के प्रति दृष्टिकोण कैसा भी क्यों न हो, धर्म को राज्य के किसी धर्मनिरपेक्ष (लौकिक) कार्यकलाप से मिश्रित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः लौकिक कार्यकलापों में धर्म का अतिक्रमण कठोरतापूर्वक (पूर्णतया) प्रतिषिद्ध किया गया है। यह बात संविधान के उपबन्धों से स्पष्ट है, जिनके प्रति हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। राज्य की धर्म

या धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना उसे धार्मिक या साम्प्रदायिक राज्य नहीं बना देती है। जब राज्य नागरिकों को अपने-अपने धर्म को मानने और उसका आचरण करने की अनुज्ञा देता है, तब वह, अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से, उन्हें राज्य के गैर-धार्मिक और लौकिक कार्यकलापों में धर्म (का पुट) जोड़ने की अनुज्ञा नहीं देता। धर्म की स्वतन्त्रता और सहिष्णुता केवल आध्यात्मिक जीवन यापन (पालन) को अनुज्ञात करने की सीमा तक है, जो लौकिक जीवन से भिन्न है। पश्चात्कथित, राज्य के कार्यों के अनन्य क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। यह बात लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 की उपधारा (3) से भी स्पष्ट है, जो किसी व्यक्ति के धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय या भाषा के आधार पर किसी व्यक्ति के लिए मत देने या मत देने से विरत रहने की अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता द्वारा या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपील या धार्मिक प्रतीकों के उपयोग या उनकी दुहाई को प्रतिषिद्ध करती है। उक्त धारा की उपधारा (3 क) द्वारा, किसी अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता या अभ्यर्थी या उसके निर्वाचन अभिकर्ता की सम्मति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उस अभ्यर्थी के निर्वाचन की संभाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए या किसी अभ्यर्थी के निर्वाचन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए शत्रुता या घृणा की भावनाओं के, भारत के नागरिकों के विभिन्न वर्गों के बीच धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय या भाषा के आधार पर, संप्रवर्तन या संप्रवर्तन के प्रयास को प्रतिषिद्ध किया गया है। उक्त उप-धारा (3) और (3क) के उपबन्धों का भंग उक्त धारा के अधीनतर्गत भ्रष्ट आचरण माना जाता है।

163. श्री राम जेठमलानी ने यह दलील दी कि धारा 23(3) द्वारा जो चीज प्रतिषिद्ध की गई है, वह धर्म की दुहाई नहीं है बल्कि अभ्यर्थी के धर्म की दुहाई और उक्त धर्म के नाम पर मत मांगने की बात है। उनके मतानुसार, उसके द्वारा अभ्यर्थी को उस धर्म के नाम पर मत मांगने से प्रतिषिद्ध नहीं किया गया है, जिससे अभ्यर्थी सम्बन्ध नहीं रखता। ससम्मान, हम इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। धारा 123 की उपधारा (3) और (3क) को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों उपबन्धों द्वारा किसी धर्म की दुहाई या किसी धर्म के नाम पर मत मांगना प्रतिषिद्ध किया गया है। अन्यथा पढ़ने का अर्थ उक्त उपबन्धों के आशय और प्रयोजन को ध्वंस करना होगा। इसके अतिरिक्त, यह मान लेने पर भी कि विद्वान् काउंसेल द्वारा किया निर्वचन सही है, वह पन्थनिरपेक्षता की उस अन्तर्वस्तु को नियन्त्रित नहीं कर सकता है, जो हमारे संविधान द्वारा स्वीकार की गई है और उसमें अन्तर्निहित है।

164. हमारे संविधान द्वारा अंगीकृत धर्मनिरपेक्षता (पन्थनिरपेक्षता) की अन्तर्वस्तु को देखते हुए, जिनके बारे में ऊपर चर्चा की जा चुकी है, इन मामलों में हमारे विचारार्थ जो प्रश्न उद्भूत होता है, वह यह है कि क्या उक्त तीनों सरकारों के बारे में, जब ऊपर चर्चित कार्य उनकी विश्वसनीयता (साख) के प्रमाण थे, यह विश्वास किया जा सकता था कि वे अपने-अपने राज्य की शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार चला सकती थीं और उक्त कार्यों पर आधारित राष्ट्रपति के समाधान को विधि में चुनौती दी जा सकती थी। ये कार्य थे—(i) भारतीय जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र में, जिसके आधार पर निर्वाचन लड़े गए और जिसके अनुसरण में उक्त तीनों मन्त्रिमण्डल बने, यह कहा गया था—

"भारतीय जनता पार्टी का यह दृढ़ विश्वास है कि जन्म-स्थान पर श्रीराम मंदिर का निर्माण हमारी सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय सम्मान के पुष्टीकरण का प्रतीक है। भारतीय जनता पार्टी के लिए, यह शुद्धतः (पूर्णतः) राष्ट्रीय विवाद्यक (मुद्दा) है और यह किसी भी निहित स्वार्थ को उसे साम्प्रदायिक ढंग से नहीं देने देगी। अतः भारतीय जनता पार्टी अध्यारोपित बाबरी ढांचे को सम्यक् सम्मान सहित पुनर्स्थापित करके, जन्मस्थान पर श्री राम मन्दिर का निर्माण करने के लिए वचन-बद्ध है।" (बल देने के लिए रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

(ii) भारतीय जनता पार्टी के नेताओं ने तत्पश्चात् बराबर इसी आशय के भाषण दिए थे। (iii) कुछ मुख्यमन्त्री और मन्त्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से सम्बन्ध रखते थे, जो सुसंगत समय पर प्रतिबन्धित संगठन था। (iv) सम्बन्धित मन्त्रिमण्डलों में मन्त्रियों ने लोगों को तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में कार-सेवा में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया था। हिमाचल प्रदेश में सत्तारूढ़ भारतीय जनता पार्टी के एक विधानसभा सदस्य ने यह सार्वजनिक वक्तव्य दिया कि उसने मस्जिद ध्वंस के कार्य में वास्तविक रूप से भाग लिया था। (v) मन्त्रियों ने कार-सेवाओं को सार्वजनिक विदाई दी थी और मस्जिद के ध्वंस के पश्चात् वापसी पर उनका स्वागत भी किया था। (vi) राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर प्रतिबंध के अनुसरण में मंत्रियों द्वारा नीति को कार्यान्वित किया जाना था, जो स्वयं उक्त संगठन के सदस्य थे। (vii) कम-से-कम दो राज्यों, मध्य प्रदेश और राजस्थान, में मुसलमानों के प्रति अत्याचार किए गए थे और जीवन की हानि (मौतें) और सम्पत्ति का विनाश हुआ था।

165. जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, राष्ट्रीय सहिष्णुता और सभी सामाजिक समूहों के साथ समान व्यवहार और उनके जीवन तथा सम्पत्ति का संरक्षण तथा उनके पूजा-स्थलों का संरक्षण हमारे संविधान में सन्निविष्ट धर्मनिरपेक्षता (पन्थनिरपेक्षता) का आवश्यक भाग है। हमने उक्त लक्ष्य न केवल इस कारण स्वीकार किया है कि यह हमारी ऐतिहासिक विरासत है और हमारी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की आवश्यकता है, बल्कि इसलिए भी कि वह विश्वबन्धुत्व और मानवता का दर्शन है। यह हमारा आधारभूत विश्वास है। ऐसी कोई भी मान्यता और कार्यवाही, जो पूर्वोक्त मत (विश्वास) के विरुद्ध है, हमारे संविधान के उपबन्धों की अवज्ञा में किए जाने वाले आचरण का प्रथमदृष्ट्या सबूत है। अतः, यदि राष्ट्रपति ने इन राज्यों में मन्त्रियों के पूर्वोक्त प्रमाण-पत्रों (कार्यों) के आधार पर कार्य किया था, जिनके अदृष्ट और प्रपतनकारी परिणाम हुए, तो यह तर्क नहीं दिया जा सकता है कि यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई सामग्री नहीं थी कि इन राज्यों में सरकार (शासन) संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती थी। ऐसी मान्यताओं और कार्यों के, जो स्पष्टतः संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हैं, परिणामों के, जो कुछ इस समय हो रहा है, केवल उसके द्वारा ही नहीं मापा (आंका) जा सकता है। आगे होने वाली घटनाओं और उनके विविध परिणामों का, घटित होने वाली घटनाओं के आधार पर, सदा युक्तियुक्त पूर्वानुमान किया जा सकता है, और यदि ऐसे पूर्वानुमान से यह निष्कर्ष निकाला गया था कि इन परिस्थितियों में, राज्यों का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था, तो उस निष्कर्ष को दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। अतः हमारा यह मत है कि मन्त्रियों सहित, तीन राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था के उत्तरदायी भाग की पूर्वोक्त मान्य-

ताओं और कार्यों के रूप में राष्ट्रपति के पास अपना यह समाधान करने के लिए पर्याप्त सामग्री थी कि उक्त तीनों राज्यों का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। अतः जारी की गई उद्घोषणा अविधिमान्य नहीं कही जा सकती है।

166. अतः मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई अपीलें मंजूर की जाती हैं और उद्घोषणा को चुनौती देने वाले अन्तरण मामले खारिज किये जाते है।

निष्कर्ष-सार

167. अतः, हमारे निष्कर्ष, संक्षेप में, इस प्रकार हैं—

1. अनुच्छेद 356(1) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना की विधिमान्यता, इस प्रश्न पर विचार करने की सीमा तक न्यायिक रूप से पुनर्विलोकनीय है कि क्या वह किसी सामग्री के आधार पर जारी की गई थी या क्या सामग्री सुसंगत थी या क्या उद्घोषणा शक्ति के विद्वेषपूर्ण प्रयोग में जारी की गई थी। जब उद्घोषणा को चुनौती में प्रथमदृष्ट्या मामला साबित कर दिया जाता है, तब यह साबित करने का भार संघ सरकार पर होता है कि सुसंगत सामग्री वस्तुतः अस्तित्व में थी। ऐसी सामग्री राज्यपाल की रिपोर्ट हो सकती है या रिपोर्ट से भिन्न कोई चीज हो सकती है।

2. अनुच्छेद 74(2) उस सामग्री की संवीक्षा के विरुद्ध वर्जन नहीं है, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपना समाधान किया था।

3. जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करते हैं, तब वह उसके उपखण्ड (क), (ख) और (ग) के अधीन सभी या किसी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। यह विनिश्चय करना उनका काम है कि स्थिति का अत्यावश्यकताओं को देखते हुए, वह उक्त शक्तियों में किस शक्ति/किन शक्तियों का प्रयोग करेंगे और किस प्रकार।

4. चूंकि अनुच्छेद 356 के खंड (3) में अंतर्विष्ट उपबंध उसके खंड (1) के अधीन राष्ट्रपति की शक्तियों पर नियंत्रण होने के लिए (के रूप में) आशयित हैं, अतः राष्ट्रपति के लिए, जब तक संसद् के दोनों सदन उद्घोषणा का अनुमोदन न कर दें, अनिवार्य कार्यवाही करने के लिए, पश्चात्कथित खंड के उपखंड (क), (ख) और (ग) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करना अनुज्ञेय नहीं होगा। इसी कारण राष्ट्रपति का, कम-से-कम जब तक संसद् के दोनों सदन उद्घोषणा का अनुमोदन न कर दें, अनुच्छेद 356(1) के साथ पठित, अनुच्छेद 174(2)(ख) के अधीन राज्यपाल की शक्तियों का प्रयोग करके, विधानसभा का विघटन करना न्यायोचित नहीं होगा।

5. यदि जारी की गई अधिसूचना अविधिमान्य मानी जाती है, तो इस तथ्य के होते हुए भी कि उसका संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिया गया है, न्यायालय को उद्घोषणा जारी किए जाने से पूर्व विद्यमान स्थिति को बहाल करने

और इसलिए विधान-सभा और मंत्रिमंडल को बहाल करने का अधिकार प्राप्त होगा।

6. समुचित मामलों में, न्यायालय को, संपन्न कार्य से बचने और न्यायिक पुनर्विलोकन के उपचार को निरर्थक न होने देने के लिए, उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती के अंतिम निपटारे के लंबित रहते, विधानसभा के लिए नए सिरे से निर्वाचनों के आयोजन को अंतरिम व्यादेश द्वारा, निर्बन्धित (अवरुद्ध) कराने की शक्ति प्राप्त होगी। तथापि, न्यायालय उद्घोषणा के जारी किए जाने के कार्य या उद्घोषणा के अधीन किसी अन्य शक्ति के प्रयोग को निषिद्ध नहीं करेगा।

7. यथापूर्व स्थिति को बहाल करते हुए, न्यायालय को अनुतोष को समुचित रूप देने और उस तारीख तक राष्ट्रपति द्वारा की गई कार्यवाहियों को विधिमान्य घोषित करने का अधिकार होगा। संसद् और राज्य के विधानमंडल को भी राष्ट्रपति के उक्त कार्यों को विधिमान्य करने का अधिकार प्राप्त होगा।

8. पंथ-निरपेक्षता (धर्म-निरपेक्षता) संविधान के आधारभूत ढांचे का एक भाग है। किसी राज्य सरकार के ऐसे कार्यों के बारे में, जो हमारे संविधान में यथा-सन्निविष्ट पंथनिरपेक्षता को ध्वंस या नष्ट करने के लिए आशयित हैं, विधिपूर्ण रूप से यह माना जा सकता है कि वे ऐसी स्थिति को जन्म देंगे, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।

9. तारीख 21 अप्रैल, 1989 और 11 अक्तूबर, 1991 की उद्घोषणाएं और राष्ट्रपति द्वारा कर्नाटक राज्य और मेघालय राज्य से संबंधित मंत्रिमंडल और विधानसभाएं बर्खास्त करने के लिए की गई कार्यवाही, जिन्हें क्रमशः सिविल अपील सं० 3645/1989 और अंतरण मामला सं० 5 और 7/1992 में चुनौती दी गई है, असंवैधानिक हैं। नागालैंड राज्य की बाबत तारीख 7 अगस्त, 1988 को जारी की गई अधिसूचना भी असंवैधानिक घोषित की जाती है। तथापि, इस तथ्य को देखते हुए कि उसके पश्चात् तीनों राज्यों में नए सिरे से निर्वाचन कराए जा चुके हैं और नई विधानसभाएं और मंत्रिमंडल गठित किए जा चुके हैं, उपर्युक्त घोषणाओं के परिणामस्वरूप कोई अनुतोष मंजूर नहीं किया जाता है। तथापि यह घोषित किया जाता है कि वे सभी कार्यवाहियां विधिमान्य हैं, जो उस अवधि के दौरान, जब उद्घोषणा प्रवर्तन में रही, की गई हों। तदनुसार 1989 की सिविल अपील सं० 3645/1989 और अंतरण मामला सं० 5 और 7/1989 मंजूर किए जाते हैं, किंतु खर्चों के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है। 1989 की सिविल अपील सं० 193-94 का, गुवाहाटी उच्च न्यायालय में फाइल की गई रिट याचिकाएं मंजूर करके, किंतु खर्चों के बिना, तदनुसार निपटारा किया जाता है।

10. तारीख 15 दिसम्बर, 1992 की उद्घोषणाएं और उक्त उद्घोषणाओं के अनुसरण में मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान राज्यों में मंत्रिमंडल भंग करने और विधानसभाएं बर्खास्त करने के लिए की गई कार्यवाहियां, असंवैधानिक नहीं हैं। तदनुसार, 1993 की सिविल सं० 1692, 1692-ए, 1692-बी, 4627-30

मंजूर की जाती हैं और 1993 के अंतरण मामला सं० 8 और 9 खारिज किए जाते हैं। खर्चों के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।

न्या० के० रामस्वामी :

168. अपीलों और अंतरित मामलों में भारत के संविधान के अधीन परिसंघीय संरचना के कार्यकरण में दूरगामी परिणामों के प्रश्न उद्भूत हुए हैं। क्या भारत के राष्ट्रपति राज्य सरकार को बर्खास्त करने हेतु और राज्य विधान मंडलों का विघटन करने हेतु संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए और राज्य के प्रशासन को अपने शासन के अधीन लाने के लिए, जब रोम जल रहा था, तब मौज-मस्ती में समय नष्ट करने वाले सम्राट् नीरो के समान, व्यर्थ समय नष्ट कर सकते हैं या शेक्सपियर के (नाटक के) डेनमार्क के युवराज हेमलेट के समान, "करे या न करें" के बीच पेन्डुलम को लटकाए रख सकते हैं। यदि वह ऐसा करते हैं, तो अनुच्छेद 32 या 136 के अधीन प्रहरी के रूप में इस न्यायालय द्वारा, शक्ति के प्रयोग की परिधि और विस्तार तथा न्यायिक पुनर्विलोकन के प्राचल अथवा अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा किए गए समाधान पर विचार करने के लिए अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा शक्ति के प्रयोग की परिधि पर विचार अपेक्षित होगा; इस प्रश्न पर भी कि जब एक राज्य सरकार के कार्यों की उसी राजनीतिक दल द्वारा शासित अन्य राज्यों (विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल सर्वश्री पाराशरन् और पी० पी० राव की भाषा में, "सामान्य सूत्र शासन" में तीव्र गूंज होती है, तब क्या वे राज्य भी राष्ट्रपति शासन के अधीन लाए जाने के लिए दायी हैं, सर्वोच्च विधि द्वारा स्थापित लोकतांत्रिक संस्थाओं के सफल कार्यकरण के लिए गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना और उसका विनिश्चय किया जाना आवश्यक है। यद्यपि व्यावहारिक रूप से इन प्रश्नों को विनिश्चित करने की आवश्यकता राज्य विधान सभाओं के निर्वाचन हो जाने के कारण मात्र सैद्धांतिक रह गई और उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा हिमाचल प्रदेश, राज्यों में नई विधान सभाएं गठित हो चुकी हैं तथापि सभी काउंसेलों ने हमसे इस मामले में मंजूर किए जाने वाले अनुतोष को विचार में लाए बिना इन प्रश्नों को विनिश्चित करने का अनुरोध किया है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि (चूंकि) इन प्रश्नों का विनिश्चय संविधान के सफल कार्यकरण के लिए सर्वोच्च महत्त्व का है, अतः हम उनके अनुरोध को स्वीकार कर रहे हैं।

169. एस० आर० बोम्मई वाली अपील के तथ्य ये हैं : तारीख 5 मार्च, 1985 को कर्नाटक राज्य विधान सभा के लिए निर्वाचन कराए गए। जनता दल ने 225 स्थानों में से 139 स्थानों पर विजय प्राप्त की तथा कांग्रेस दल (पार्टी) 66 स्थान प्राप्त करने वाला दूसरा बड़ा दल था। श्री आर० के० हेगड़े को जनता दल के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया (चुना गया) और वह मुख्य मन्त्री बने। तारीख 12 अगस्त, 1988 को उनके त्यागपत्र दे देने के कारण श्री एस० आर० बोम्मई दल के नेता के रूप में चुने गए और वह मुख्य मन्त्री बने। तारीख 1 फरवरी, 1989 को अन्यों के अलावा, जनता दल के सदस्यों की संख्या 111 और कांग्रेस दल के सदस्यों की संख्या 65 तथा जनता पार्टी के सदस्यों की संख्या 27 थी। तारीख 15 अप्रैल, 1989 को उनके द्वारा मन्त्रि मण्डल में का विस्तार किए जाने से मन्त्रि पद की इच्छा रखने वाले कुछ व्यक्तियों ने स्वयं को असन्तुष्ट महसूस किया। कल्याण मलकारी और अन्यों ने जनता दल से दल-बदल किया और कल्याण मलकारी ने 17 और

18 अप्रैल, 1989 को राज्यपाल को पत्र लिखे, जिनके साथ 19 अन्य सदस्यों के पत्र भी संलग्न किए गए और इन पत्रों में श्री बोम्मई में विश्वास का अभाव व्यक्त किया गया। तारीख 19 अप्रैल, 1989 को कर्नाटक राज्य के राज्यपाल ने राष्ट्रपति को एक प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भेजा। तारीख 20 अप्रैल, 1989 को, 19 विधान सभा सदस्यों में से, जिन्होंने कल्याण मलकारी का समर्थन किया था, सात सदस्यों ने राज्यपाल को यह पत्र लिखा कि उनके हस्ताक्षर दुर्व्यपदेशन द्वारा प्राप्त किए गए थे और उन्होंने श्री बोम्मई का समर्थन करने की पुनः अभिपुष्टि की। उसी दिन मन्त्रि मण्डल ने भी विश्वास मत प्राप्त करने के लिए तारीख 27 अप्रैल, 1989 को 3.30 बजे (अपराह्न) विधान सभा सत्र बुलाने का विनिश्चय किया और श्री बोम्मई राज्य पाल से मिले और उन्होंने राज्यपाल से यह अनुरोध किया कि उन्हें विधान सभा पटल पर अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए अनुज्ञात किया जाए और यह कि वह विधान सभा सत्र की तारीख को आगे बढ़ाने (और पहले करने) के लिए भी तैयार थे। इस परिस्थिति को दृष्टिगत करते हुए (इसी दृश्य पटल की पृष्ठ भूमि में) राज्यपाल ने राष्ट्रपति को अपना दूसरा प्रतिवेदन भेजा और राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए उदघोषणा जारी करके बोम्मई सरकार को बर्खास्त कर दिया और 21 अप्रैल, 1989 को विधान सभा का विघटन करते हुए कर्नाटक राज्य का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। तारीख 26 अप्रैल, 1989 को रिट याचिका फाइल किए जाने पर कर्नाटक उच्च न्यायालय के तीन न्यायमूर्तियों की एक विशेष न्यायपीठ ने रिट याचिका खारिज कर दी (एस० आर० बोम्मई और अन्य बनाम भारत संघ—ए० आई० आर० 1990 कर्नाटक 5)। इसलिए यह अपील विशेष इजाजत द्वारा फाइल की गई है।

170. फरवरी, 1990 में हुए निर्वाचनों में भारतीय जनता पार्टी जिसे आगे संक्षेप में भा० ज० पा० कहा गया है, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की विधान सभाओं में बहुमत वाले दल के रूप में उभरी और उसने इन राज्यों में अपनी सरकारें बनाईं। भा० ज० पा० के कार्यक्रमों में एक कार्यक्रम श्री राम के जन्म स्थान अयोध्या में एक मन्दिर का सन्निर्माण करना था। भा० ज० पा० ने विधान सभाओं के निर्वाचनों के लिए अपने नीति-घोषणा-पत्र में इसे एक विवाद्यक (मुद्दा) बनाया था। तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को राम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद ढांचे को, [इस ढांचे के बारे में यह विवाद है कि मुगल आक्रमणकर्ता बाबर ने भगवान् श्री राम मन्दिर को ध्वस्त करने के पश्चात् श्री राम के जन्म-स्थान पर बाबरी मस्जिद का निर्माण किया था। इसकी सत्यता (का प्रश्न) गंभीर विवाद का विषय है] तथापि, राम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद ढांचे को भा० ज० पा०, विश्व हिन्दू परिषद, जिसे आगे संक्षेप में वि० हि० प० कहा गया है, बजरंग दल, जिसे आगे संक्षेप में ब० द० कहा गया है, शिव सेना, जिसे आगे संक्षेप में शि० से० कहा गया है, और अन्य संगठनों द्वारा उत्पन्न सतत आवेग के परिणामस्वरूप अयोध्या में एकत्रित कार सेवकों द्वारा गिरा दिया गया। उससे पूर्व, जब विवाद इस न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया था, तब भारत सरकार को उच्चतम न्यायालय की ओर से कार्रवाई करने के लिए माध्यम बनाया गया और (इस न्यायालय द्वारा) समय-समय पर राज्य सरकार को निदेश जारी किए गए, जिसने (राज्य सरकार ने) श्री राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद ढांचे को पूर्ण संरक्षण प्रदान करने का अश्वासन दिया। इसके गिराए जाने के पश्चात् यद्यपि (हालांकि) उत्तर प्रदेश सरकार ने त्यागपत्र दे दिया था, तथापि भारत के राष्ट्रपति ने 6 दिसम्बर, 1992 को

राज्य विधान मण्डल के विघटन के लिए अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी की। ढांचा गिराने का अनर्थकारी प्रभाव संपूर्ण देश में और पड़ोसी देशों में निर्दोष लोगों के बहुमूल्य जीवन और सम्पत्ति की हानि के रूप में सामने आया। अतः राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए 15 दिसम्बर, 1992 की उद्घोषणाओं द्वारा राज्य सरकारों को बर्खास्त कर दिया और राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश राज्यों की विधान सभाओं को विघटित करते हुए, इन राज्यों का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया।

171. श्री बोम्मई के विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री सोली सोराबजी ने यह दलील दी कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति न तो निरंकुश है, और न ही असीमित; इसका प्रयोग वस्तुपरक तथ्य की विद्यमानता पर आधारित होता (निर्भर करता) है अर्थात् इस तथ्य के होने पर कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन (सरकार) संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया सकता। यह पुरोभाव्य शर्त अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग और उद्घोषणा को जारी करने के लिए अनिवार्य है। उद्घोषणा में सामग्री से समर्थित समाधान करने के लिए आधार और कारण या उसके समर्थन में घटनाओं का सार उपवर्णित किया जाना चाहिए। आधार और कारण तर्कसंगत और विश्वसनीय होने चाहिए और अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग से इन आधारों और कारणों का निकट संबंध होना चाहिए। सांविधानिक मशीनरी (तन्त्र) का भंग सामान्यतया वस्तुपरक अवधारण के योग्य होता है। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग, सरकार की अक्षमता या गलत कार्य करने अथवा संविधान के कतिपय उपबंधों के अतिक्रमण मात्र की बाबत पर राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर या अन्यथा नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोग तभी किया जा सकता है, जब सरकार संविधान की मूल स्कीम और प्रयोजन के प्रतिकूल या राजनीतिक अथवा आर्थिक संकटों के कारण, जिनके परिणामस्वरूप राज्य प्रशासन पूर्णतया पंगु (निष्क्रिय) हो गया है, अपने मूल सांविधानिक कर्तव्यों और कृत्यों के निर्वहन के लिए अपनी अयोग्यता के कारण, अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग करे।

172. संविधान का परिसंघीय स्वरूप विवक्षा द्वारा, केवल तभी अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग की बाध्यता की ओर ले जाता है, जब राज्य का प्रशासन पूर्णतया ठप्प हो जाता है। अनुच्छेद 356 का निर्वचन करते समय, न्यायालय को अनुच्छेद 356 की विधायी और सांविधानिक पृष्ठ भूमि (इतिहास) और भारत शासन अधिनियम, 1935 के संगत उपबंधों को दृष्टिगत करना (ध्यान में रखना) चाहिए। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग परिसंघवाद से मेल नहीं खाता है और उसके गंभीर राजनीतिक परिणाम होते हैं। इसलिए न्यायालय को अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करना चाहिए और अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के व्यापक क्षेत्र को निषिद्ध और सीमित रखना चाहिए। न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र उन्हीं या वैसे ही आधारों पर होगा, जिन पर राज्य की कार्यपालक कार्रवाई इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित; सांविधानिक या प्रशासनिक विधि सिद्धान्तों के अधीन, अर्थात् नैसर्गिक न्याय की अपेक्षाओं के अननुपालन, अविवेकी या मनमाने, अनुचित, प्रयोजन से असंगत या बाह्य आधारों पर, जिन्हें राष्ट्रपति ने महत्व दिया, सभी या इनमें से कतिपय सिद्धांतों पर विधि के अपनिदेश या शक्ति के असद्भाविक या आभासी (छद्म) प्रयोग ये आक्षेपित किए जाने योग्य है। याची को न्यायालय का केवल

प्रथम दृष्ट्या यह समाधान करना है कि उद्घोषणा किसी उपर्युक्त एक या कतिपय आधारों पर दूषित है और तत्पश्चात् अनुच्छेद 356 के अधीन जारी राष्ट्रपतीय उद्घोषणा की वैधता और विधिमान्यता की बाबत न्यायालय का समाधान करने का भार मंत्रिपरिषद पर चला जाता है। अनुच्छेद 74 (2) के प्रतिषेध को इसी पृष्ठ भूमि में समझा जाना है। अनुच्छेद 74 (2) के अधीन विधिक उन्मुक्ति को अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा अपने प्रशासनिक कृत्यों के निर्वहन में किए गए कार्यों से प्रभेदित किया जाना चाहिए। कार्यपालिका न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन करने से निवारित करने के लिए, कारण वर्णित करने के लिए अनुच्छेद 361 के अधीन निषेध के रूप में या अपनी अभिरक्षा में की सभी सामग्री को प्रकट करने के लिए आवरण के रूप में अनुच्छेद 356 (1) में वर्णित "या अन्य जानकारी" का आश्रय नहीं ले सकती या उसका ढाल के रूप में प्रयोग नहीं कर सकती। केवल मन्त्री या मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई वास्तविक सलाह या सलाह का भाग ही न्यायिक पुनर्विलोकन की पकड़ और संवीक्षा से बाहर होगा। मंत्रिपरिषद् द्वारा किया गया प्रशासनिक विनिश्चय राष्ट्रपति को दी गई सलाह से पूर्णतया भिन्न है और पश्चात्वर्ती की राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के आधारों या इसके कारणों से बराबरी नहीं की जा सकती। पूर्ववर्ती (प्रशासनिक विनिश्चय) मन्त्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह का भाग नहीं है।

173. उपर्युक्त दलीलों का समर्थन करते हुए, विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री शान्ति भूषण ने यह दलील दी कि जब कोई सांविधानिक भंग नहीं हो, तब अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग को मनमाना समझा जाना चाहिए। राज्य सरकार के प्रत्येक कार्य को संविधान के उपबंधों के अतिक्रमण या सांविधानिक भंग के रूप में नहीं समझा जा सकता। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिए, जब सांविधानिक मशीनरी का वास्तविक भंग हो, न कि इस बाबत मात्र मन्त्रिपरिषद् की राय पर अपने कृत्य को न्यायोचित ठहराने के लिए, सरकार को न्यायालय के समक्ष सभी सुसंगत सामग्री प्रस्तुत करनी चाहिए और न्यायालय का यह समाधान हो जाने पर ही कि मामले, राज्य में सांविधानिक मशीनरी की वास्तविक भंग से संबंधित है, उद्घोषणा की पुष्टि की जा सकती है। अनुच्छेद 356 के अधीन जारी उद्घोषणा की विधिमान्यता या वैधता को साबित करने का भार सदैव सरकार पर ही होता है। श्रीराम जेठमलानी ने बहस (वाद-विवाद) से, जो संविधान सभा के पटल पर हुई थी, ऐतिहासिक साक्ष्य को उद्धृत (प्रस्तुत) करते हुए, यह दलील दी है कि "नहीं चलाया जा सकता" और "तन्त्र की विफलता" अर्थान्वयन के लिए संकेत शब्द हैं। अनुच्छेद 356 के उपबंधों का सूक्ष्मता (कड़ाई) से अर्थान्वयन किया जाएगा, जिससे कि संविधान का परिसंघीय स्वरूप सुरक्षित रखा जा सके। राज्य अपने क्षेत्र में एक संप्रभु और स्वायत्त सत्ता है और उसकी केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप तभी अनुज्ञेय होगा, जब अनुच्छेद 356 के अधीन अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए केन्द्र के पास अन्य कोई विकल्प न हो। राज्य के बेहतर शासन के लिए या राज्य के शासन के कुप्रबन्ध को रोकने के उद्देश्य से इसका अवलंब नहीं लिया जा सकता। "नहीं चलाया जा सकता है" शब्दों से "नहीं चलाया जा रहा है" शब्दों का भ्रम नहीं होना चाहिए और पूर्वकथित शब्द पश्चात् कथित शब्दों से पूर्णतया भिन्न हैं। संकेत शब्द का महत्त्व अनुच्छेद के पार्श्व-टिप्पण "सांविधानिक तन्त्र का विफल हो जाना" से और स्पष्ट हो जाता है और अनुच्छेद 356 के उचित अर्थान्वयन के लिए भारत शासन अधिनियम की धारा 45 और 93 के विधायी इतिहास को अवश्य ही

दृष्टिगत किया जाना (ध्यान में रखा जाना) चाहिए। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, अनुच्छेद 356 यह संकेत देता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा का आत्यंतिक (अतिवादी) कदम अत्यधिक असामान्य परिस्थितियों में केवल तभी उठाया जा सकता है, जब सभी विकल्प निःशेष हो चुके हों। उद्देशिका का धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) भाग संविधान का भाग नहीं है और धर्म प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार है, जो किसी राजनीतिक दल को संघटित करता है। यदि दूसरे अभ्यर्थी के धर्म को आक्षेपित किया जाता है, तो निर्वाचन विधि धार्मिक आधारों पर निर्वाचन को प्रतिषिद्ध करती है। इसकी अस्पष्ट धर्मनिरपेक्षता के आधार पर परीक्षा नहीं की जा सकती और न ही इसका विशेषतया किसी राजनीतिक दल के लिए धार्मिक अधिकार के रूप में समर्थन किया जा सकता है। इन मामलों में, वास्तविक आधार पर आधारित ऐसा कोई अभिवचन नहीं किया गया है कि भा० ज० पा० ने हिन्दुत्व को एक आधार के रूप में प्रयुक्त किया था और न ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इस्लामी विश्वास (पन्थ) की आलोचना की थी। उसने अपने घोषणापत्र में, पूर्णतया सम्मानित और गरिमापूर्ण भाषा में, बाबरी मस्जिद को गिरा कर श्रीराम के जन्मस्थान पर श्रीराम मन्दिर का निर्माण करने की आवश्यकता के प्रयोग पर बल दिया था। अन्यथा भी लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 29क और 123 (3क) अनुच्छेद 25 के अधिकारातीत हैं। इस न्यायालय का यह सुस्थिर विचार है कि धर्म के आधारों पर भ्रष्ट आचरण केवल दूसरे अभ्यर्थी का है, न कि याची का, (एक राजनीतिक दल के मामले में तो यह स्थिति और भी सही है) (भारत) संघ के विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री के० पाराशरन् और मध्य प्रदेश राज्य के विद्वान् काउंसेल श्री पी० पी० राव ने इन दलीलों का खंडन किया।

174. मूल मुद्दा अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति की विस्तृति (क्षेत्र) का है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति संविधान के भाग XVIII के आपातकालीन उपबंधों के वर्ग से हुई है। अनुच्छेद 355 बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति से राज्यों का संरक्षण करने के संघ के कर्तव्य को अधिरोपित करता है और यह सुनिश्चित करने के लिए उपबंध करता है कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार चलायी जाती है। परिणाम के रूप में जब राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलायी जाती है, तब संघ का यह सांविधानिक कर्तव्य और दायित्व है कि वह अपने अधिकार का प्रयोग करे। इस समाधान (निष्कर्ष) पर पहुंचने के लिए कि भारत संघ द्वारा हस्तक्षेप करने के लिए स्थिति उत्पन्न हो गई है, आधारभूत तात्त्विक तत्त्व राज्यपाल का प्रतिवेदन या अन्यथा प्राप्त संघ के कब्जे में अन्य सूचना है। तत्पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग किया जाएगा। किसी राज्य के राज्यपाल से या अन्यथा किसी प्रतिवेदन के प्राप्त होने पर यदि राष्ट्रपति (मन्त्रिपरिषद् के प्रधान के रूप में प्रधान मन्त्री सहित मंत्रि-परिषद्) का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा—(क) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधान मंडल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा; (ख) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधान-मंडल की शक्तियां संसद् द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी; (ग) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित संविधान के किन्हीं उपबंधों के

प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलम्बित करने के लिए उपबंधों सहित ऐसे आनुषंगिक या पारिणामिक उपबंध कर सकेगा जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों ; अनुच्छेद 356 के खंड (1) के परंतुक के प्रवर्तन द्वारा राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य शक्ति को अपने हाथ में लेने या उच्च न्यायालयों से संबंधित संविधान के किसी उपबंध के प्रवर्तन को संपूर्ण या भागतः निलम्बित करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया है ।

175. अनुच्छेद 356 का खंड (2) राष्ट्रपति द्वारा प्रयोक्तव्य शक्ति को उस स्थिति में नियंत्रित करता है, यदि उद्घोषणा किसी पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा प्रतिसंहृत या परिवर्तित नहीं की गई है; दूसरे शब्दों में राष्ट्रपति, मन्त्रिपरिषद् को प्रश्न (मुद्दे) पर पुनः विचार करने के लिए पूरा अवसर दिया गया है और वे संसद् का अनुमोदन प्राप्त करने से पूर्व ही इसे प्रतिसंहृत कर सकेंगे । ऐसी उद्घोषणा दो मास की अवधि तक प्रवर्तन में रहेगी, जब तक कि इसे या तो दूसरी उद्घोषणा द्वारा प्रतिसंहृत नहीं किया जाता या संसद् द्वारा इसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता । खंड (3) शक्ति के प्रयोग पर अन्तर्निमित नियन्त्रण की गारंटी देता है । उसमें यह उपधारित करता है कि खण्ड I के अधीन जारी प्रत्येक उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और जहां वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है वहां वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उस अवधि की समाप्ति के पहले संसद् के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है । दूसरे शब्दों में, राष्ट्रपति द्वारा जारी उद्घोषणा के प्रवर्तन की अवधि ऐसी उद्घोषणा के जारी होने की तारीख से केवल दो मास की अवधि के लिए परिसीमित की गई थी ।

176. जब तक कि इसे (अधिसूचना को) इसकी अवधि के दौरान संसद् द्वारा प्रतिसंहृत या अननुमोदित नहीं किया जाता, उसके द्वारा संविधान के उपबंधों और कार्य नियमों के अनुसार संसद् के दोनों सदनों के पटल पर उद्घोषणा को रखने का दायित्व अधिरोपित किया गया है । इससे स्पष्टतया यह अभिप्रेत है कि यह दो मास की अवधि के लिए प्रवर्तनीय थी और जब यह प्रवर्तन में थी, तो इससे आवश्यक रूप से यह विवक्षित है कि इस अवधि के दौरान उद्घोषणा के अधीन किए गए सभी कार्य या की गई कार्रवाईयां वैध और विधिमान्य हैं ।

177. अनुच्छेद 356 के खंड (3) के परंतुक के अधीन यदि ऐसी कोई उद्घोषणा, जो पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है, उस समय की जाती है जब लोक सभा का विघटन हो गया है या लोक सभा का विघटन इस खंड में निर्दिष्ट दो मास की अवधि के दौरान हो जाता है और यदि उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया गया है किन्तु ऐसी उद्घोषणा के संबंध में कोई संकल्प लोक सभा द्वारा उस अवधि की समाप्ति से पहले पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से जिसको लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोक सभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है ।

178. अनुच्छेद 356 के खंड (4) के प्रवर्तन द्वारा खंड 3 के परंतुक के अधीन इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, ऐसी उद्घोषणा किए जाने की तारीख से छह मास की अवधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, परंतु यदि और जितनी बार ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है, तो और उतनी बार वह उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, उस तारीख से जिसको वह अन्यथा प्रवर्तन में नहीं रहती, छह मास की अवधि तक प्रवृत्त बनी रहेगी, किंतु ऐसी उद्घोषणा द्वितीय अनुमोदन के साथ किसी भी दशा में एक वर्ष से अधिक प्रवृत्त नहीं रहेगी। द्वितीय परंतुक यह संकेत करता है कि यदि लोक सभा का संकल्प छह मास की ऐसी अवधि के दौरान हो जाता है और ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया गया है, किंतु ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने के संबंध में कोई संकल्प लोक सभा द्वारा उक्त तारीख (अवधि) के दौरान पारित नहीं किया गया है, तो उद्घोषणा उस तारीख से जिसको लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोक सभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है। तृतीय परंतुक इस मामले के प्रयोजनार्थ तात्त्विक नहीं है। इसलिए इसका लोप किया जाता है। खंड (5) के अधीन, एक वर्ष से ऊपर किंतु तीन वर्ष से अनधिक, उद्घोषणा को बनाए रखने के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं, अर्थात् (I) संकल्प पारित होने के समय संपूर्ण भारत में अथवा संपूर्ण राज्य या उसके किसी भाग में अनुच्छेद 352 के अधीन जारी आपातकाल की विद्यमानता; और (II) उस राज्य की विधान सभा का निर्वाचन कराने में अपनी असमर्थता का, निर्वाचन आयुक्त का प्रमाणपत्र। अनुच्छेद 357 में संसद् द्वारा विधायी शक्ति के पारिणामिक प्रयोग या अनुच्छेद 123 आदि के अधीन उनके प्रयोग के लिए उन्हें राष्ट्रपति को प्रत्यायोजित करने के संबंध में उपबंध किया गया है।

परिसंघवाद और अनुच्छेद 356 के अधीन किए गए कार्यों द्वारा उसका प्रभाव।

179. व्यापक भौगोलिक आयामों का बहुभाषी भारतीय समाज, जिसमें विभिन्न सामाजिक परिवेश, जातीय विभिन्नता या सांस्कृतिक विविधता, भाषाई बहुवाद, हिंदुओं में आधिक्रमिक जाति संरचना, धार्मिक बहुवाद, ग्रामीण जनसंख्या का बहुमत और अल्पसंख्यक नगरीय जनसंख्या और लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता, के तत्त्व अधिकता से उपलब्ध हैं, संयुक्त भारत के रूप में (अखंड भारत के रूप में) भारत को एकीकृत करने के लिए आधार के रूप में, परिसंघीय संरचना तैयार करने के लिए संविधान के निर्माताओं को प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करता है। परिसंघवाद में केंद्र और राज्यों के बीच निरंतरता के साथ परिवर्तन की उपर्युक्त प्रक्रिया के लिए आपसी संबंध और सामान्य प्रयोजन विवक्षित हैं, जो समस्याओं को सुलझाने के लिए और अपनी जनता के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अभिवर्द्धन (प्रगति) को बढ़ाने तथा लोगों के बीच बंधुत्व भाव सृजित करने के लिए सहमति और आश्वासन के सन्तुलनकारी चक्र पर चलने वाली संरचनात्मक इकाइयां (एकक) हैं। अनुच्छेद 1 इस इतिहास (पृष्ठभूमि) को मान्यता देता है कि भारत संघ की राज्य क्षेत्रीय सीमाएं अपरिवर्तनीय हैं और राज्य संविधान की सृष्टि हैं और वे,

विलग (अलग) होने के किसी अधिकार के बिना, जन्म या आवास द्वारा सभी लोगों की एकल नागरिकता सहित, राज्य क्षेत्रीय रूप से परिवर्तनीय घटक हैं। अनुच्छेद 2 और 4 के अधीन महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहां भारत की प्रादेशिक अखंडता पूर्णतया सुनिश्चित और पोषित है, वहीं अनुच्छेद 3 के अधीन संघटक राज्यों की प्रादेशिक अखंडता का महत्त्वपूर्ण अभाव है। संसद् विधि द्वारा किसी राज्य में से उसके राज्यक्षेत्र को पृथक् करके या दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्यक्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर या किसी राज्य के क्षेत्र को बढ़ाकर या किसी राज्य के क्षेत्र को कम (घटा) कर नए राज्य का निर्माण कर सकेगी अथवा किसी राज्य की सीमा में परिवर्तन कर सकेगी।

180. **दि बेरुबारी यूनियन एंड एक्सचेंज आफ एन्क्लेव रेफरेन्स अंडर आर्टिकल 143 आफ दि कांस्टीट्यूशन आफ इंडिया**[1] वाले (निर्देश वाले) मामले में, न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर ने (आठ न्यायमूर्तियों की न्यायपीठ की ओर से) निर्णय देते हुए, यह अभिनिर्धारित किया था—

> "उपर्युक्त अधिनियम में सन्निविष्ट परिसंघ, अन्य परिसंघों के विपरीत, ऐसे राज्यों के, जो कतिपय सामान्य प्रयोजनों के लिए एक साथ हो गए थे और जिन्होंने अपनी प्रभुता का एक भाग अभ्यर्पित कर दिया था, पृथक् और स्वाधीन समुदायों के बीच समझौता या संघ का परिणाम नहीं थे। परिसंघ की संघटक इकाइयां जानबूझ कर सृजित की गई थीं और यह महत्त्वपूर्ण है कि उनकी, अन्य परिसंघों की इकाइयों के विपरीत, पूर्व (विगतकाल) में कोई जीवन्त जड़ें नहीं थीं। इसलिए भारतीय संविधान में, अन्य परिसंघीय संविधानों से भिन्नता द्वारा, संघटक राज्यों की प्रादेशिक अखंडता के परिरक्षण पर बल का अभाव है। संविधान-निर्माता उन विशिष्ट दशाओं (अवस्थाओं) के प्रति सजग थे, जिनके अधीन और जिनके कारण, राज्य (मूल रूप से प्रान्त) बनाए गए थे और उनकी सीमाएं निर्धारित की गई थीं और इसलिए उन्होंने जानबूझकर इस दृष्टिकोण (उद्देश्य) से अनुच्छेद 3 के उपबंधों को अंगीकृत (ग्रहण) किया कि भारतीय राज्यों की अखंडता के पश्चात् उपर्युक्त राज्यक्षेत्रों के पुनः वितरण की संभावना से निपटा जा सके। वस्तुतः यह सुज्ञात है कि राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 (1956 का अधिनियम सं० 37) के परिणामस्वरूप मूल 27 राज्यों और एक क्षेत्र के स्थान पर, जो संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग 'घ' में अंतर्विष्ट थे, अब केवल 14 राज्य और 6 ऐसे क्षेत्र हैं जो प्रथम अनुसूची में अंतर्विष्ट संघ राज्यक्षेत्र का गठन करते हैं। इस प्रकार किए गए परिवर्तन भारतीय संविधान के विशिष्ट और प्रभावशाली लक्षण के कार्यकरण का स्पष्ट रूप से दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं।"

पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम भारत संघ[2] और **स्लगोयरमर बनाम भारत संघ**[3] वाले मामलों में भी इसी मत को दोहराया गया।

---

[1] (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

[2] (1964) 1 एस० सी० आर० 321.

[3] (1978) 2 एस० सी० आर० 1.

181. एम० सी० सीतलवाड ने 'टैगोर ला लेक्चर्स' के पृष्ठ सं० 10 में संविधान के अधीन संघ और राज्य संबंधों की बाबत यह कहा है—

> "..... परिसंघ में अंतर्निहित स्वीकृत विचारों से एक उल्लेखनीय विचलन, जब राज्यों की सीमा-रेखाओं को पुनः खींचने या उन्हें नष्ट तक करने के लिए शक्ति केंद्रीय सरकार में निहित है।"

182. संविधान द्वारा राज्यों के शासन का चार स्तरीय (श्रेणियों के) प्रशासन द्वारा विकेन्द्रीकरण किया गया है, अर्थात् केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार, संघ राज्यक्षेत्र, नगरपालिकाएं और पंचायतें। नगरपालिकाओं और पंचायतों के लिए देखिए संविधान में संविधान 73वां संशोधन अधिनियम द्वारा पुरःस्थापित भाग IX (पंचायतें) और भाग IX-क (नगरपालिकाएं), जिसके द्वारा आधारिक (निचले) स्तर से ही जनतांत्रिक प्रक्रिया में लोगों की सहभागिता को एक वास्तविकता बनाया गया है। राज्य के शासन में लोगों का भाग लेना क्रियाशील प्रजातंत्र की अनिवार्यता (आवश्यक शर्त) है। शासित किए जाने के अपने अधिकारों का अभ्यर्पण (त्याग) सामान्य समस्याओं के समाधान और समाज कल्याण के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनने के लिए निर्वाचन-प्रक्रिया में सीधे रुकावट डालने वाला है। स्वशासन में अनावश्यक हस्तक्षेप स्वशासन और उनकी जनतांत्रिक आकांक्षाओं (महत्वाकांक्षाओं) को पूरा करने के उनके विश्वास का वंचन (विश्वासघात) है। स्वस्थ परिपाटियों (कन्वेंशनों) पर आधारित सांविधानिक संस्कृति और राजनैतिक नैतिकता (आचार) संविधान द्वारा स्थापित परिसंघीय संस्थाओं के पोषण और सतत विकास के लिए उपयोगी खाद का काम करती हैं। भारतीय संविधान के संदर्भ में परिसंघवाद, परिसंघ बनाने वाली इकाइयों के बीच किसी करार पर आधारित नहीं है बल्कि वह एकीकृत 'पूर्ण' का (परिसंघवाद) है, जैसा कि विचार-विमर्श (बहस) के प्रारंभ में ही संविधान सभा के पटल पर डा० बी० आर० अम्बेडकर ने दूरदर्शिता के साथ कहा था और संविधान सभा ने सर्वसम्मति से परिसंघीय संरचना के संकल्प को अनुमोदित कर दिया था। उन्होंने "परिसंघ" शब्द से उद्भूत होने वाली (अप्रत्याशित) आपत्तियों को तीक्ष्णतापूर्वक निरूपित (उपदर्शित) किया।

183. परिसंघीय राज्य राष्ट्रीय एकता और अखंडता तथा शक्ति का राज्य के अधिकार को बनाए रखने के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए आशयित राजनीतिक सुविधा है। भारतीय परिसंघवाद के अनिवार्य स्वरूप का अंतिम उद्देश्य संपूर्ण राष्ट्र को राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण के अधीन रखना है, बल्कि राज्यों को अपने विधायी और सहविस्तृत कार्यपालिका और प्रशासनिक क्षेत्र के भीतर अपनी प्रभुत्व संपन्न शक्ति के प्रयोग की मंजूरी दी गई है। सामान्य हित केन्द्र का भाग है और स्थानीय हित राज्य के नियंत्रण में होते हैं। परिसीमाओं के साथ विधायी और कार्यपालिका शक्ति का वितरण और विभिन्न अंगों का समन्वित प्राधिकार देश की आधारभूत विधि, अर्थात् स्वयं संविधान, में अंकित हैं। इसलिए परिसंघवाद का मर्म राज्य के बल (शक्ति) का उसके समन्वित निकायों के बीच वितरण है। इसमें से प्रत्येक संविधान द्वारा संगठित और नियंत्रित है। संघ और राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन इस प्रकार किया गया है कि विभाजित शक्ति, विधायी और कार्यपालिका, अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक यूनिट को प्रभुत्वसंपन्न बनाते हुए, संबंधित इकाइयों द्वारा प्रयुक्त की जाएगी और विधि के नियम की यह अपेक्षा है कि ऐसी सरकार उत्तरदायी सरकार

होनी चाहिए। इसलिए राज्य एक परिसंघीय प्रास्थिति (हैसियत) रखता है। केन्द्र के मुकाबले राज्य परिसंघीयकल्प इकाई है। प्रो० के० सी० व्हेयर ने अपनी कृति 'फेडरल गवर्नमेंट' के 1963 के संस्करण में पृष्ठ सं० 12 पर कहा है कि परिसंघीय स्वरूप को अभिनिश्चित करने के लिए महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि "क्या सरकार की शक्तियां समन्वित स्वतन्त्र प्राधिकारियों के बीच विभाजित है या नहीं।" उन्होंने आगे पृष्ठ सं० 33 पर यह कहा है कि "सरकार की पद्धति में मुख्यतया, केन्द्र और प्रादेशिक प्राधिकारी के बीच शक्तियों का विभाजन सन्निहित है, जिनमें से प्रत्येक, स्वयं अपने क्षेत्र में, दूसरे से स्वतन्त्र रूप में, दूसरे के साथ समन्वय कर रहा होता है और यदि ऐसा है, तो क्या वह सरकार परिसंघीय है ?"

184. साल्मंड ने अपनी कृति 'ज्यूरिस्प्रूडेन्स' के नवें संस्करण में एकात्मक प्रकार की सरकार और परिसंघीय स्वरूप की सरकार के बीच अन्तर के बारे में लिखा है। उसके अनुसार, एकात्मक या साधारण राज्य वह राज्य है, जिसका प्रादेशिक विभाजन नहीं किया गया है, जो स्वयं राज्य है। दूसरी ओर, संयुक्त राज्य वह राज्य है, जो स्वयं संघटक राज्यों का समाहार या समूह है। ऐसे संयुक्त राज्य साम्राज्यिक, परिसंघीय या महासंघीय कहे जा सकते हैं। स्वयं भारत के संविधान में राज्यक्षेत्रीय सीमाओं में संशोधन का उपबंध किया गया है जिससे, हम समझते हैं, परिसंघीय ढांचा विलुप्त नहीं हुआ है बल्कि वह विधायी शक्तियों और उनके क्षेत्र तथा संघ और राज्यों की समविस्तीर्ण कार्यपालिक और प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन के साथ पुनः समूहबद्ध हो गया है। संविधान की सातवीं अनुसूची के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 245 से 255 में संघ और राज्यों की सापेक्ष विधायी शक्ति के संबंध में उपबंध हैं और सूची I की प्रविष्टियां अनन्य रूप से संसद् की विधि बनाने की शक्ति के लिए परिरक्षित रखी गई हैं और सूची II एकमात्र राज्य विधान मंडल तक सीमित है तथा सूची III ऐसी समवर्ती सूची है जिसमें संसद् तथा राज्य विधान मंडल, दोनों ही, को, अनुच्छेद 254 के खंड (2) के परंतुक के प्रवर्तन द्वारा संसद् द्वारा बनाई गई विधि के लिए प्रधानता के साथ, अपने अधिकार क्षेत्र में विधि बनाने के लिए समान अधिकारिता प्राप्त है। अनुच्छेद 248, किसी कर को, जो इन सूचियों में से किसी में अन्तर्विष्ट नहीं है, अधिरोपित करने वाली किसी विधि को बनाने सहित, किन्हीं विषयों की बाबत, जो समवर्ती सूची या राज्य सूची में प्रगणित नहीं हैं, कोई विधि बनाने के लिए संसद् को अनन्य रूप से अवशिष्ट विधायी शक्तियां प्रदत्त करता है। संसद् या किसी विधान मंडल के लिए समनुदेशित (नियत) सातवीं अनुसूची की सम्बन्धित सूचियों में प्रविष्टियों का सापेक्ष महत्त्व न तो सुसंगत है और न ही निर्णयिक, यद्यपि श्री के० पाराशरन् द्वारा ऐसी दलील दी गई है। भारतीय परिसंघवाद संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा में विद्यमान (प्रचलित) परिसंघवाद से भिन्न है।

185. कार्यपालिक शक्तियों के विभाजन के संबंध में स्वयं संविधान संघ और राज्यों के बीच सीमांकन करता है। परंतुक के साथ पठित, अनुच्छेद 73 (1) और परंतुक के साथ पठित अनुच्छेद 162 द्वारा इस प्रकार के सीमांकन को स्पष्ट किया गया है। संघ और राज्य की कार्यपालिक शक्ति उनकी विधायी शक्तियों के साथ समविस्तीर्ण (सह-व्यापी) है। तथापि, आपातकाल के दौरान, अनुच्छेद 352 और 250 के प्रवर्तन में ऐसी कतिपय आकस्मिकताएं परिकल्पित की गईं, जिनमें संबंधित राज्य की कार्यपालिक शक्ति, (राज्य से) निर्निहित कर दी जाएगी और भारत संघ द्वारा अपने हाथ में ली जाएगी और वह शक्ति, उस क्षेत्र में आपात के उठा लिए जाने या प्रवर्तन में न रहने के पश्चात्, 6 मास की अवधि तक रहेगी।

186. प्रशासनिक संबंधों को, राज्यक्षेत्र के भीतर राज्य की अनन्य और अनुज्ञेय अधिकारिता में बाधा डाले बिना या उसे कमजोर किए बिना, संघीय कार्यपालिका के प्रभावी कार्यकरण के लिए अनुच्छेद 256 और 258क के द्वारा विनियमित किया गया है। अनुच्छेद 268 और 269 संघ को, राज्यों को वित्तीय सहायता देने का आदेश करते हैं। संविधान संघ को संबंधित राज्यों के भीतर संघीय विधि के प्रवर्तन के लिए राज्यों पर निर्भर रहने के लिए भी आदेश करता है। अनुच्छेद 80 द्वारा यथाअधिकथित, राज्य सभा की संरचना द्वारा, अनुच्छेद 368 द्वारा किए गए सांविधानिक संशोधनों का अनुसमर्थन करने की भूमिका सहित, राज्य के विधान मंडल की भूमिका का उपबन्ध किया गया है। अनुच्छेद 54 के अधीन राज्य विधानमंडल के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन परिसंघीय इकाई के विधानमंडल को निर्वाचकगण (इलेक्टोरल कालेज) बनाता है। राज्य के विधानमंडल को संविधान के अनुच्चेद 246 (3) के प्रवर्तन द्वारा सातवीं अनुसूची की सूची II में प्रगणित किसी विषय की बाबत ऐसे राज्य या इसके किसी भाग के लिए विधियां बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है।

187. संविधान के उपबंधों के अध्यधीन, भारत संघ को अनुच्छेद 340 और 345 के प्रवर्तन द्वारा सम्पूर्ण भारत राज्य क्षेत्र के लिए या इसके किसी भाग के लिए विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त है और ऐसी विधि राज्यक्षेत्र-बाह्य प्रवर्तन के आधार पर निष्प्रभाव नहीं हो सकती और न ही वह अविधिमान्य हो जाएगी। भारत संघ को राष्ट्रीय हित में, अनुच्छेद 249 में यथाउपदर्शित, शास्तिक क्षेत्र में सूची II, राज्य सूची में अन्तर्विष्ट प्रविष्टियों की बाबत विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है। राज्य की सहमति से भारत संघ को अनुच्छेद 252 के अधीन विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है। संघीय न्यायपालिका, भारत के उच्चतम न्यायालय, को संविधान का निर्वचन करने और संघ और राज्यों तथा परस्पर राज्यों के बीच विवादों को विनिश्चित करने की शक्ति प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि, अनुच्छेद 141 के अधीन देश की विधि है। उच्च न्यायालय को ऐसे क्षेत्र पर राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता के ऊपर न्यायिक शक्ति प्राप्त है, जिस पर वह निम्नतर (निचली) न्यायपालिका के ऊपर नियंत्रण सहित, अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। अनुच्छेद 261, अपने आधार के रूप में भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र, संघ की और राज्यों की कार्यवाहियों या सार्वजनिक कार्यों या न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता देने के बारे में उपबंध करता है। भारतीय न्यायपालिका संरचना और प्रवर्तन में एकात्मक है। अनुच्छेद 339, 344, 346, 347, 353, 358, 360, 365 और 371-ग(2) संघ को राज्यों को निदेश जारी करने की शक्ति प्रदत्त करते हैं। अनुच्छेद 339 (2) के अधीन संघ को, जनजातीय कल्याण से संबंधित निदेश जारी करने के लिए शक्ति प्राप्त है और राज्य को ऐसे निदेशों का क्रियान्वयन करने के लिए व्यादिष्ट किया गया है। अनुच्छेद 352 के अधीन अनुध्यात युद्ध या आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से उद्भूत (उत्पन्न) होने वाली आपात या अनुच्छेद 356 के अधीन परिकल्पित किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने के कारण आपात या भारत के वित्तीय स्थायित्व अथवा प्रत्यय को संकट की दशा में अनुच्छेद 360 संघ को अधिष्ठायी शक्ति प्रदत्त करता है। आपात के प्रवर्तन के दौरान संविधान का अनुच्छेद 19 अप्रवर्तनशील हो जाएगा और केन्द्र किसी राज्य इकाई की विधायी शक्ति को अपने हाथ में ले लेगा। अनुच्छेद 312 के अधीन अखिल भारतीय सेवाओं की विद्यमानता (अस्तित्व) और

अनुच्छेद 263 के अधीन अंतरराज्यीय परिषदों की स्थापना तथा संविधान के भाग 12 में वित्तीय संबंधों की विद्यमानता भी राजस्व के वितरण की स्कीम को और अपनी भूमिका निभाने के लिए संघ को प्राथमिकता (अधिमान) को उपदर्शित करती है। संघ और राज्यों के बीच राजस्व के वितरण के लिए अनुच्छेद 288 के अधीन राष्ट्रपति को सिफारिशों के लिए वित्तीय आयोग की स्थापना और संविधान के भाग 13 में परिकल्पित ऐसे अन्तरराज्यिक व्यापार और वाणिज्य के उनके अपने-अपने अंशों का आबंटन और उसमें बनाई गई विधि को प्राथमिकता (महत्त्व) यद्यपि ये सब सशक्त रूप से एकात्मक संरचना के हक में है, किंतु सांकेतिक रूप से संघ और राज्यों के बीच परिचालन-संबंधी परिसंघीय संरचना के संतुलन के लिए हैं, संविधान को परिसंघीय बनाती है।

188. जैसा कि ऊपर कहा गया है कि संविधान के निर्माताओं द्वारा परिकल्पित आंगिक परिसंघवाद पारस्परिकता की भावना और सामान्य प्रयोजन का सम्वर्धन करने के उद्देश्य से भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल सरकार के संसदीय स्वरूप के अनुरूप होने के लिए आशयित है, जिससे किसी टकराव के बिना संविधान के कार्यकरण (प्रवर्तन) में अनुपूरक एककों (इकाइयों) के रूप में, क्षेत्रीय, धार्मिक, वर्गीय या भाषागत अवरोधों को पार करते हुए, सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समता और व्यक्ति की गरिमा प्रदान की जा सके। संस्थागत तंत्रवाद, जिसका लक्ष्य सामंजस्य को बढ़ावा देने के लिए पृथक्ता की भावना से बचना है, जनतांत्रिक संस्थाओं के सफलतापूर्वक कार्यकरण के लिए सांविधानिक संस्कृति को दृढ़ आधार पर स्थापित करना, उससे मिलती-जुलती राजनीतिक संस्कृति को प्रकाश में लाना, संक्रियात्मक तंत्रवाद में भूमिकाओं का समायोजन और वितरण, ये सब राष्ट्रीय अखंडता के लिए और गतिरुद्ध सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक रूप से, सामाजिक रूप से और सांस्कृतिक रूप से, व्यवस्था और निरंतरता सहित, जीवन्त समतामूलक सामाजिक परिवर्तन के रूप में, रूपांतरण के लिए आवश्यक है। **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण का आधार यह है कि केवल ऐसी शक्तियां और प्राधिकार, जो स्थानीय समस्याओं को नियमित करने से संबंधित हैं, राज्य में निहित हैं तथा ऐसी शक्तियां और प्राधिकार, जो आर्थिक प्रकृति और वाणिज्य तथा राष्ट्र की एकता बनाए रखने का स्रोत (साधन) हैं, संघ के लिए छोड़े गए हैं। **शमशेर सिंह बनाम भारत संघ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि परिसंघकल्पवाद की संसदीय पद्धति, कार्यपालिका की राष्ट्रपतीय पद्धति के सारतत्त्व को अस्वीकार करते हुए, स्वीकृत की गई थी। संविधान सभा के पटल पर डा० अम्बेडकर ने यह कहा था कि संविधान "समय और परिस्थितियों की अपेक्षा (मांग) के अनुसार, एकात्मक तथा परिसंघीय दोनों ही है।" उन्होंने आगे यह भी कहा था कि केन्द्र सामान्य कल्याण (बेहतरी) के लिए और संपूर्ण देश के सामान्य हित के लिए कार्य करेगा, जबकि राज्य स्थानीय हित के लिए कार्य करेंगे। उन्होंने राज्यों को अनन्य (पूर्ण) स्वायत्तता के अभिवाक् का भी खंडन किया था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि संविधान निर्मा-

[1] (1964) 1 एस० सी० आर० 371.
[2] (1975) 1 एस० सी० आर० 814.

ताओं की प्रबल राय (बहुमत) और देश की विधि, एकता और प्रादेशिक अखंडता को परिरक्षित करने के पक्ष में है और उनके द्वारा, भारत को खंडित करने के भावी विभाजक शक्तियों या स्थानीय कट्टरपंथियों के प्रयास से पृथक् करते हुए (बचाते हुए) सामान्य चक्र संघ को सौंपा गया है। यह संघ के पक्ष में व्यापक शक्तियों के पक्ष में अत्यधिक झुकाव नहीं है जबकि राज्यों की, जो संघ का अखंड भाग हैं, परिसंघीय संरचना को परिरक्षित रखा गया है। चूंकि संविधान स्थायी है और आत्मघाती नहीं है, इसलिए भारत संघ अनश्वर है। सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप को और विधि की पद्धति द्वारा उपबंधित सांविधानिक परिमापों का पोषण करना चाहिए और उसे उनके भीतर कार्य करना चाहिए तथा संतुलन-चक्र, मतभेद दूर करने और संविधान द्वारा परिकल्पित प्रयोजन की पूर्ति हेतु सांविधानिक अर्थान्वयन को अपनाने के लिए संघ न्यायपालिका के हाथों में सौंपा गया है।

राज्यपाल की भूमिका

189. केन्द्र-राज्य संबंधों का आधार राज्यपाल है और वह केन्द्र और राज्य के बीच एक सेतु के समान होता है। संविधान के निर्माताओं ने भाषाई कट्टरता से इस पद को पृथक् रखने के लिए राज्यपाल के पद के लिए जानबूझकर निर्वाचन को अस्वीकार किया जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका में चलन है। भाग VI, अध्याय II, में अनुच्छेद 155 के अधीन राष्ट्रपति को राज्य के कार्यपालक प्रधान के रूप में राज्यपाल की नियुक्ति करने के लिए सशक्त किया गया है। अनुच्छेद 154 द्वारा राज्य की कार्यपालक शक्ति उसमें निहित की गई है और यह शक्ति उसके द्वारा मंत्रिपरिषद् और इसके प्रधान के रूप में मुख्यमंत्री की सहायता और सलाह से प्रयुक्त की जाती है। अनुच्छेद 159 के अधीन राज्यपाल "विधि के संरक्षण और प्रतिरक्षण" की शपथ के साथ और उसके अनुसार अपने कृत्यों का निर्वहन करेगा। अतः राज्यपाल का पद निर्वाचित कार्यपालिका द्वारा संविधान के कार्यकरण की सांविधानिक प्रक्रिया के संरक्षण और प्रतिपालन को सुनिश्चित करने के लिए आशयित है और उसे एक अधिनिर्णायक की भूमिका दी गई है। जब संविधान सभा के एक गांधीवादी अर्थशास्त्री सदस्य ने गांधी जी को राज्यपाल का पद समाप्त करने के अभिवाक् के साथ पत्र लिखा था, तो गांधी जी ने उसके जवाब में इस प्रकार लिखा था—"राज्यपाल को, दल की स्कीम (प्रणाली) में एक बहुत ही उपयोगी और अपरिहार्य स्थान दिया गया था। राज्य में सांविधानिक संकट उत्पन्न होने की स्थिति में वह एक मध्यस्थ होगा और वह एक निष्पक्ष (पक्षपातरहित) भूमिका निभाने में समर्थ होगा। वह ऐसा प्रशासनिक तंत्र (ढांचा) होगा, जिसके द्वारा राज्य में सांविधानिक संकटों को सुलझाया जाएगा।" इस प्रकार राज्यपाल को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। राज्य के प्रमुख के रूप में उसकी दोहरी अविभाजित क्षमता में उसे राष्ट्रपति की पक्षपातरहित रूप से सहायता करनी चाहिए। सांविधानिक संकटों के समय में राज्य सरकार के सांविधानिक प्रमुख के रूप में उसे संयम और गंभीरता से कार्य करना चाहिए। यह सम्पर्क-सूत्र उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब हम यह पाते हैं कि अनुच्छेद 356 सामान्यतया राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर ही प्रवर्तन में लाया जाता है। उसे शपथ के निबंधनों के अनुसार, वास्तविकता पर आधारित आवश्यक ब्यौरों के साथ, सत्यनिष्ठा और उच्च स्तरीय सांविधानिक उत्तरदायित्व के साथ राष्ट्रपति को यह सूचना देनी चाहिए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य में सांविधानिक तंत्र विफल हो गया है और राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा

सकता। प्रतिवेदन समान्यतया राष्ट्रपति द्वारा समाधान किए जाने के लिए आधार होता है। इसलिए ऐसे प्रतिवेदन को संसद् द्वारा बाद में लाभकारी चर्चा के लिए, स्पष्टता के साथ सामग्री के रूप में होना चाहिए। किसी सांविधानिक न्यायालय में आक्षेपित किए जाने पर इससे राष्ट्रपति के समाधान में अन्तर्दृष्टि मिलती है। इसलिए राज्यपाल का आवश्यक वास्तविक ब्यौरों के साथ प्रतिवेदन भेजने का स्वयं अपना सांविधानिक कर्त्तव्य और दायित्व है और इसमें मंत्रिपरिषद् का अनुमोदन अपेक्षित नहीं है और समान रूप में न ही उसे मंत्रि-परिषद् की सहायता और सलाह लेना अपेक्षित है।

लोकतंत्र और धर्म निरपेक्षता

190. लोकतंत्र अन्तःकरण और विश्वास (अन्तर्भावना और विचारों) की स्वतंत्रता, सहिष्णुता और पारस्परिक सम्मान का प्रतीक है। भारत के बहुधर्म-विश्वासों, विभिन्न पंथों, जातियों और संस्कृतियों सहित, बहुवादीसमाज होने के कारण, सर्वधर्म समभाव इसकी सांवि-धानिक नीति के रूप में, भ्रातृत्व और व्यक्ति की गरिमा सहित सौहार्द स्थापित करने का आधार है। यह हेतु विभिन्न विश्वासों (धर्मों) को फलने-फूलने देता है और यह लोगों के विभिन्न वर्गों के बीच भाई-चारे और पारस्परिक सम्मान के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है और व्यापक राष्ट्रीय निष्ठा तथा प्रगति सहित, धार्मिक विश्वास के आत्मदर्शन की आकां-क्षाओं की गरिमा और पूर्ति के साथ लोगों को एकीकृत करता है। विधिसम्मत शासन का हितों के टकराव के सामाजिक समायोजन के लिए एक उपकरण के रूप में चयन किया गया है। एक स्वतन्त्र समाज में, विधि स्थिरता के साथ व्यवस्था को स्थापित करने के लिए किसी सतत प्रक्रिया में परस्पर-विरोधी दावों के बीच अन्तर-क्रिया करती है। विधि को न केवल सामाजिक और धार्मिक लचीलेपन को परिलक्षित करना चाहिए बल्कि संविधान की उद्देशिका में परिकल्पित आदर्श समतावादी सामाजिक व्यवस्था की दिशा में अपने सुव्यवस्थित प्रयाण हेतु निरन्तर नियमों को निर्धारित करके नेतृत्व प्रदान करना चाहिए। भारतीय लोकतांत्रिक गणराज्य में विधि का पालन धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए! इस-लिए पूर्ण निष्ठा और विश्वास के वातावरण को सुनिश्चित करने के लिए संतुलन कायम किया जाना है। सत्रहवीं शताब्दी में चार्ल्स ब्रोडलाफ ने प्रथमतः नीति और आचार की बंधन-कारी शक्ति के रूप में धार्मिक रूढ़ि के लिए प्रतिरोधी रूप में "धर्मनिरपेक्षता" शब्द का प्रयोग किया था। समय के साथ इस पाश्चात्य विचार को मानवीय स्वीकृति मिली। आक्सफोर्ड शब्दकोष में परिभाषित "सेक्युलरिज्म" शब्द से यह अभिप्रेत है कि "सदाचार, ईश्वर में विश्वास या भावी अध्ययन(चिन्तन)से निकाली गई सभी विचारणाओं को अपवर्जित करते हुए, वर्तमान जीवन में मानवता के कल्याण के संबंध मात्र पर आधारित होना चाहिए।" एन्साइ-क्लोपीडिया ब्रिटेनिका में सेक्युलरिज्म (धर्म-निरपेक्षता) को "सर्वसत्तात्मक नीतिशास्त्र की शाखा के रूप में परिभाषित किया गया है, वह मानवता के भौतिक, नैतिक और सामाजिक सुधार के लिए है, जो धर्म की ईश्वर संबंधी समस्याओं की न तो पुष्टि करती है और न उनका प्रत्याख्यान ही करती है।" बर्लिन विश्वविद्यालय के आचार्य गेट्सन द्वारा सेक्युलरिज्म (धर्म-निरपेक्षता) पर लिखित एन्साइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइन्सेज (संस्करण 1939) में इस शब्द को "अलौकिक, आस्था संबंधी पूर्वधारणाओं से परिष्कृत (पृथक्) ज्ञान के स्वतन्त्र क्षेत्र को स्थापित करने के लिए प्रयास" के रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने इस शब्द को अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से वर्णित करते हुए "धर्मशास्त्र के विरुद्ध और अन्ततः संपूर्ण और

सार्वभौम आध्यात्मिकता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में" वर्णित किया है। उन्होंने यह उपदर्शित किया कि "सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के प्रति दृष्टिकोणों में भी यही प्रवृत्ति बनाई जा सकती है", जिससे कि सामान्य व्यक्ति चर्च (धार्मिक सत्ता) पर अपनी निर्भरता को तोड़ सके, जिसे (चर्च को) शाश्वत कल्याण का संरक्षक माना जाता था, जिसमें इस लोक और परलोक दोनों का कल्याण सम्मिलित था और इसलिए उसे अस्थायी लौकिक (धर्म-निरपेक्ष) प्राधिकारियों पर प्राथमिकता या सर्वोच्चता के लिए हकदार माना गया। उन्होंने यह दर्शित किया कि किस प्रकार यह आन्दोलन अठारहवीं शताब्दी में सर्वमुक्तिवाद लौकिकता में विस्तारित हुआ जो "ज्ञानदीप" के रूप में वर्णित किया गया, जिसे पृथ्वी पर व्यक्ति ने संपूर्ण वास्तविक महत्ताओं और प्रमाणनीय ज्ञान तथा ज्ञानोदय के स्रोत के रूप में प्रकल्पित किया। यह प्रबल रूप से महसूस किया गया कि इस संसार में व्यक्ति अपने कल्याण के लिए अपनी विज्ञान-संबंधी जानकारी और प्रज्ञान पर और उनके प्रयोग तथा सामाजिक आर्थिक पद्धति पर निर्भर है जिनकी बाबत चाहे-अनचाहे वह अपने को उनके भाग के रूप में महसूस करता है। इसलिए उन्होंने यह दर्शित किया कि इसके लिए व्यक्ति को जिम्मेदारी लेनी है तथा स्वयं अपनी मूर्खताओं और अन्यायों (बेवकूफियों और बेइंसाफियों) के परिणामों को भुगतना है, न कि उन्हें उनके भाग्य को नियंत्रित करने उनके ऊपर बाहरी शक्तियों या व्यक्तियों के किसी अबोधगम्य परिकल्पना वाली (ढांचे) के रूप में देखना (महसूस करना) है। चार्ल्स बोडलाफ के सहयोग से जी० एल० होलियाक ने अपनी कृति "प्रिंसिपिल्स आफ सेक्यूलरिज्म" में 1859 में धर्मनिरपेक्षता (पन्थ-निरपेक्षता) का समर्थन किया था, जिसे प्रख्यात राजनीतिक दर्शन-शास्त्री जे० एस० मिल का अनुमोदन और स्वीकृति प्राप्त हुई थी। अठाहरवीं शताब्दी में विरचित जेरेमी बेन्थम के "प्रिंसिपिल्स आफ लेजिस्लेशन" (विधायन के सिद्धान्त) नैतिकता पर अवलंबित राजनीति पर आधारित हैं और उनमें लोकतांत्रिक उदार माध्यमों द्वारा ईप्सित मानव कल्याण के दृष्टिकोण से विधि को परिभाषित किया गया था और वे "अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुखों" को प्राप्त करने के लिए आशयित थे, जो सूक्ति लोकतांत्रिक उपयोगितावादी राजनीतिक दार्शनिकों को प्रिय (पसंदीदा) रही है।

191. धर्म-निरपेक्षता गुलामी, अज्ञानता, अंधविश्वास से, जो मानवता को पीछे की ओर ले जाते हैं, मानव भावना को विमुक्त करने हेतु मानव जीवन की संपूर्ण व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए साधन बन गई और उसने विवेकपूर्ण रूप से उन साधनों की खोज की। प्रत्येक सभ्य लोकतांत्रिक समाज का उद्देश्य मानव कल्याण और सुख को उच्चतम सीमा तक ले जाना है जो (उद्देश्य) किसी उपयुक्त संगठन द्वारा ही बेहतर रूप से पूरा होगा।

192. विश्वास और धर्म की स्वतन्त्रता सामाजिक संरचना के अभिन्न अंग (अखंड भाग) हैं। ऐसी स्वतन्त्रता राज्य की बाउंटी (उदारता) नहीं है, बल्कि वह ऐसा पूर्ण आधार गठित करती है जिस पर राज्य की स्थापना होती है। कभी-कभी मानव स्वतन्त्रता से किसी व्यक्ति की अपनी ही रीति में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति अभिप्रेत होती है। धार्मिक स्वतंत्रता प्रत्येक स्वतन्त्र समाज में प्रदत्त की जाती है क्योंकि यह (धार्मिक स्वतन्त्रता) ऐसे समाज में स्वतन्त्रता की सामान्य संरचना का एक भाग है और द्वितीयतः क्योंकि किसी एक धर्म द्वारा अधिरोपित निर्बंधन दूसरे धर्मों के लिए अवरोध (रुकावट) होते हैं। पूर्व में धार्मिक विश्वास शक्ति के लिए युद्ध-भूमि और स्वतन्त्रता के अधिलंघन (दमन) के मूल कारण

बने हैं। धर्म ने प्रायः समाज के सदस्यों की भारी बहुसंख्या को नियंत्रित करने के लिए एक निमित्त (बहाना) प्रदान किया है। लोकतांत्रिक समाज ने समाज में धार्मिक प्रथाओं के बल को मूर्खता अनुभव किया। तीव्र धार्मिक जागृति (धर्मान्धता) न केवल कल्पना शक्ति को संकीर्ण करती है बल्कि विधि के नियम को भी उलझाती है। इसलिए संविधान निर्माताओं ने आत्मार्पित करके स्वतः 'हम भारत के लोगों' को देश की सर्वोच्च विधि में समाज के सभी वर्गों के लिए समतावादी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य की नीति के रूप में मूल अधिकार और निदेशक तत्त्व प्रदत्त किए। यद्यपि (हालांकि) "धर्मनिरपेक्षता" की उपधारणा संविधान बनाते समय स्पष्टतया उल्लिखित नहीं की गई थी तथापि इसका विस्तार, प्रवर्तन और स्पष्टता मूल अधिकारों और निदेशक तत्त्वों और उनसे संबंधित उपबंधों से स्पष्ट होती है। इसे, संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम की उद्देशिका के संशोधन द्वारा स्पष्ट किया गया था। धर्मनिरपेक्षता की उपधारणा, जिसकी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रमुख है, न केवल ईश्वर संबंधी विषय है बल्कि व्यक्ति से व्यक्ति के बीच मेल-मिलाप के लिए भी है। संविधान में धर्मनिरपेक्षता शब्द ईश्वर विरोधी नहीं है और इसे कहीं-कहीं स्वतन्त्र समाज के लिए रोक माना गया है। ऐसे मामले, जो पूर्णतया धार्मिक विषय हैं, व्यष्टि के लिए छोड़ दिए गए हैं और धर्मनिरपेक्षता वाले भाग को लोकहित, व्यवस्था और सामान्य कल्याण के आधारों पर राज्य ने अपना लिया है। राज्य व्यष्टि को गारंटी देता है और धार्मिक स्वतंत्रता को निगमित करता है तथा किसी व्यष्टि को उसके विश्वास और धार्मिक मान्यता को विचार में लाए बिना नागरिक के रूप में विचारित करता है। राज्य न तो किसी विशिष्ट धर्म को बढ़ावा देता है और न ही एक धर्म को दूसरे धर्म के विरुद्ध वरीयता (अधिमान) देता है। इसलिए, धर्मनिरपेक्ष राज्य की संकल्पना लोकतांत्रिक सरकार के सफल कार्यकरण के लिए आवश्यक है। उस स्थिति में किसी प्रकार का जनतंत्र नहीं हो सकता है यदि धर्मनिरपेक्षता विरोधी शक्तियों को एक दूसरे का गला काटते हुए विभिन्न धार्मिक विश्वासों के अनुयायियों को बांटने का काम करने दिया जाता है। धर्म निरपेक्ष सरकार को ऐसे प्रयास को विफल करके समाज में व्यवस्था कायम करनी चाहिए। सकारात्मक अर्थ में धर्म नागरिक को न केवल भौतिक और तात्त्विक बल्कि अतात्त्विक तथा गैर-निरपेक्ष जीवन में अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास हेतु मंजूरी के लिए एक क्रियात्मक साधन है।

193. आचार्य गोधिनिसेम ने इस मामले में पूर्व निर्दिष्ट अपने लेख में ऐसे धर्म-निरपेक्ष जीवन और विचारों की प्रक्रिया का उल्लेख किया, जिसके द्वारा धार्मिक संप्रदायवाद दैनिक जीवन के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में संसर्ग में आता है और उन्होंने इस प्रकार खुलासा (स्पष्ट) किया था "संसार में सामाजिक न्याय और कल्याण को अधिकाधिक स्थापित करने के लिए अधिक ज्ञान सम्पन्न रीतियों द्वारा प्रयास करके देश के लोगों के सभी समूह (वर्ग), जीवन के धर्मनिरपेक्षीकरण द्वारा मानव आदर्श और सामाजिक समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू के अनुसार लोकतंत्र में आवश्यक रूप से कठोर स्व-अनुशासन विवक्षित है जिसके बिना लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य विचारों की तुलना में ईश्वर और धर्म के वेदान्तिक विचारों को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि धार्मिक अभिवृत्ति, सदैव हिन्दू धर्म के नैसर्गिक अभिलक्षणों के रूप में स्वयं अपनी अन्तर्मुखी गरिमा को खोजना है और धार्मिक अभिवृत्ति सदैव कर्ता को अपने अंदर की ओर देखते हुए अपनी आंखों को बन्द करके प्रस्तुत की जाती है। डा० थोलैस ने अपनी कृति

"इन्ट्रोडक्शन टू दि साइकोलोजी आफ रिलीजन" में विभिन्न तत्वों और धर्म की परिभाषा का विश्लेषण करते हुए धर्म को "एक अतिमानव या मानवों में विश्वास के साथ अनुभूति व्यावहारिक संबंध" के रूप में परिभाषित किया है। जीवन और विचार के अधार्मिकीकरण की प्रक्रिया संगत रूप से विस्तीर्यमान हो रही है, जीवन और विचार के ऐसे अन्य क्षेत्रों से तथाकथित उचित रीति से धर्म की वापसी और पृथक्करण हो रहा है जो स्वतन्त्र रूप से उपर्युक्त नियमों और मानकों से शासित होते हैं। सर जेम्स फ्रीजर की कृति "गोल्डन बोग" के अनुसार धर्म में विस्तृत रूप से न केवल जीवन के सभी पहलुओं द्वारा शासित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, विधिक, सांस्कृतिक, नैतिक या आचार संबंधी कार्यपद्धति और कर्मकाण्ड सम्मिलित हैं बल्कि प्रौद्योगिकी कार्य पद्धति भी शामिल है। अन्त में धर्म की अन्योन्यक्रिया (अन्तरक्रिया) और धर्म निरपेक्ष कारक धर्म के दुरुपयोग को और किसी विशिष्ट वर्ग या समूह या देश के आर्थिक या राजनीतिक हित को पूरा करने के पूर्णतया पक्षपाती संकीर्ण या स्वार्थ प्रयोजन के लिए ईश्वर में विश्वास को अनावृत्त करते हैं। मानव इतिहास की प्रगति इस संबंध में धार्मिक विश्वासों के पूर्ण दुरुपयोग से परिपूर्ण है। किन्तु वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक भावना ने धर्म निरपेक्षता को राजनीतिक और आर्थिक क्रियाकलापों से धर्म के कल्पित सम्मिश्रण के खतरों से लोगों को बचाया है और लोगों को प्रोत्साहित किया है। इसलिए धर्म निरपेक्षता तर्कसंगत मानसिक शक्तियों के प्रयोग से उत्पन्न विश्वासों का प्रतिनिधित्व करती है। यह सभी दृष्टिकोणों से (सभी पहलुओं में) मानव प्रगति हेतु और सांस्कृतिक और सामाजिक प्रगति और वस्तुतः स्वयं मानव उत्तरजीविता (अस्तित्व) के लिए अत्यावश्यक अपेक्षाओं को देखने के लिए लोगों को समर्थ बनाती है। यह केवल मानव जीवन की भौतिक दशाओं में ही सुधार नहीं करती है बल्कि अज्ञानता, दमन, तर्कहीनता, अन्याय, कपट, छल और अत्याचारपूर्ण शोषणों की दासता (गुलामी) से मानव-आत्मा (मनोवृत्ति) को स्वतन्त्र भी करती है। दूसरे शब्दों में, मानव-इतिहास की संपूर्ण दौर द्वारा उपदर्शित मानव-जाति की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन (बढ़ावा देना), गुणसम्पन्न (सुसंस्कृत) विचार—ये सभी धर्म निरपेक्षता पद के अन्तर्गत आते हैं। ट्रैवर लिंग ने बौद्ध मत पर लिखते हुए इसे ऐसे पंथ-निरपेक्ष धर्म के रूप में बताया, जो सही विश्वास, सही महत्वाकांक्षा, सही भाषण, सही आचार, आजीविका की सही रीतियां, सही प्रयास, सही मनोवृत्ति और सही धर्म ग्रन्थ के अष्टमार्ग की शिक्षा देता है। बौद्धमत, व्यक्ति को धार्मिक विश्वास के अन्धानुकरण से निकाल कर युक्तिसंगतता के स्तर तक लाकर उसे स्वतन्त्र करने के लिए धर्म और सभ्यता को युक्तिसंगत बनाता है जिसे ट्रैवर लिंग की भाषा में "धर्म-निरपेक्षता का स्वच्छ प्रवाहयुक्त विस्तार" कहा जा सकता है। डा० अम्बेडकर का वह विश्वास था कि बौद्ध मत भारतीय धरती के लिए सर्वाधिक उपयुक्त धर्म है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने धर्म की आवश्यकता पर बोलते हुए इस प्रकार कहा था, "धर्म मानव की आवश्यकता नहीं हैं बल्कि विभिन्न धर्मों के मानने वालों (उपासकों) में एक दूसरे के प्रति सम्मान और सहिष्णुता की अधिक आवश्यकता है। हमें आंकड़ा-स्तर पर जाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि विभिन्नता में एकता की आवश्यकता है। सभी धर्मों की भावना एक ही है किंतु इन पर विभिन्न रूपों का आवरण चढ़ा हुआ है। पश्चात्वर्ती अनन्त काल तक चलते रहेंगे।"

194. भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति दार्शनिक डा० एस० राधाकृष्णन् ने अपनी कृति "डिस्कवरी आफ फेथ" में कहा है कि भारत राज्य की धार्मिक निष्पक्षता (निरपेक्षता) का

धर्मनिरपेक्षता या निरीश्वरवाद से भ्रम नहीं होना चाहिए। धर्मनिरपेक्षता, जैसी कि यहां परिभाषित की गई है, भारत की बृहत् धार्मिक परंपराओं के अनुसार है। यह एक दूसरे के प्रति भाई-चारे से रहने के लिए है। यह मैत्रीभाव एकता में विविधता के सिद्धांत पर आधारित है जिसमें सृजनात्मकता के सभी गुण हैं। डा० आबिद हुसैन की "भारत की राष्ट्रीय संस्कृति" के लिए अपने दो शब्दों में डा० एस० राधा कृष्णन् ने यह इंगित किया था कि धर्मनिरपेक्षता से अनुज्ञप्ति या किसी तात्त्विक सुख की अनुज्ञप्ति या बल अभिप्रेत नहीं है। यह ऐसे सार्वभौम सर्वोच्च भ्रातृभाव पर बल देती है, जो विभिन्न साधनों (रीतियों) द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता की भारतीय संकल्पना (धारणा) से "सभी धर्मों के लिए समान प्रास्थिति (हैसियत)" अभिप्रेत है। उन्होंने यह भी कहा कि "किसी भी धर्म को अधिमानी हैसियत या एकात्मक विशेषता नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि राष्ट्रीय जीवन में किसी भी धर्म को असाधारण विशेषाधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।" ऐसा करना लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों का अतिक्रमण करना होगा। नागरिकों का कोई वर्ग ऐसे अनुचित अधिकार या विशेषाधिकारों का दावा नहीं कर सकता, जो दूसरे वर्गों (समूहों) को न दिए गए हों। किसी व्यक्ति को उसके धर्म के आधार पर अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा और न ही विभेद किया जाएगा बल्कि वह भी समान रूप में सामान्य जीवन के सभी स्तरों पर भाग लेने के लिए स्वतन्त्र होगा। यह धर्म और राज्य के पृथक्करण का मूल सिद्धांत है। ग्रानवैल आस्टिन ने अपनी कृति "दि इंडियन कांस्टीट्यूशन दि कॉर्नर्स्टोन आफ ए नेशन" में कहा है कि संविधान निर्माता संविधान की उद्देशिका में प्रकल्पित धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आशयित थे। **जियाउद्दीन बुरहानुद्दीन बुखारी बनाम ब्रजमोहन रामदास मेहरा और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया—

> "धर्मनिरपेक्ष राज्य, धर्म के सभी मतभेदों से ऊपर उठ कर अपने सभी नागरिकों का, उनके धार्मिक विश्वासों और आचरणों के बावजूद, कल्याण सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है। यह सभी जातियों और धर्मों के नागरिकों को तटस्थ और निष्पक्ष रूप से अपने फायदे देता है। मेटलैण्ड ने यह संकेत किया है कि ऐसे राज्य को अपनी विधियों की मार्फत यह सुनिश्चित करना होता है कि किसी राजनीतिक अथवा सिविल अधिकार का अस्तित्व अथवा उसका प्रयोग अथवा उसके अधीन किसी पद अथवा हैसियत का अधिभोग करने का अधिकार अथवा सक्षमता अथवा इससे संबद्ध किसी लोक कर्तव्य का पालन किसी विशेष धर्म के मानने या उस पर आचरण करने पर निर्भर नहीं करता।"

आगे यह अभिनिर्धारित किया गया —

> "हमारा संविधान और उसके अधीन विरचित विधियां हमारे नागरिकों को उनके धर्मों के, और विधि और राजनीति के बिल्कुल अलग किए जाने योग्य धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों के, बीच स्वस्थ और सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाने की सुविधा देती हैं। किन्तु वे वस्तुतः अन्य क्षेत्र से संबद्ध बात द्वारा किसी विशेष क्षेत्र की बात पर अनुचित अतिक्रमण अनुज्ञात नहीं करते। विवाद की दशा में यह अवधारण करना न्यायालयों

[1] [1975] 3 उम० नि० प० 1455=[1975] सप्ली० एस० सी० आर० 281.

का कर्तव्य है कि क्या किसी क्षेत्र में संविधान के अनुसार समुचित रूप से अथवा असमुचित (अयुक्तियुक्त) रूप से हस्तक्षेप किया गया था, भले ही वह तात्पर्यित विधि द्वारा हो।"

तद्द्वारा इस न्यायालय ने, धर्म की आड़ में शोषणात्मक प्रदर्शन करने के कार्य पर नियंत्रण का ठप्पा लगाने के लिए व्यापक छद्मावरण सहित, विधि और धर्म के बीच अलगाव की दीवार को स्वीकार नहीं किया। युगों-युगों से विभिन्न विश्वासों (पंथों), संस्कृतियों और जातियों (मूलवंशों) की अनन्त मानव धारा बाह्य क्षेत्रों से भारत में प्रविष्ट हुई है और उसने संपन्न सांस्कृतिक विविधता में योगदान किया है। हिन्दू धर्म ने धार्मिक आमेलन सहित सहिष्णुता के साथ सांस्कृतिक संपन्नता को स्वीकार करने में लचीलापन दिखाया और वह धार्मिक सहिष्णुता की भूमि बन गया।

195. स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि धार्मिक पद्धति का अधिकार और आदर्श का आधार एक ही आधार नीति है; केवल एक ही बात कही जाती है—मैं "ॐ" कहता हूं, दूसरे "जेहोवा" कहते हैं, कोई "अल्लाह-ओ-मोहम्मद" कहता है, तो कोई "जीसस" कहता है। गांधी जी ने यह अभिज्ञात किया कि सभी धर्म प्रयोक्तव्य हैं किंतु वे अपूर्ण हैं और चूंकि वे अपूर्ण हैं इसलिए व्यक्तियों को चलाने की अपेक्षा उनका स्वतः पूर्ण होना अभिप्रेत है। उन्होंने यह कहा—"विभिन्न धर्म-हिन्दू मत, इस्लामी मत, ईसाई मत, बौद्ध मत एक ही बिन्दु की ओर अभिमुख विभिन्न धर्म हैं, जिस प्रकार वृक्ष का एक ही तना होता है किंतु इसकी अनेक शाखाएं और पत्तियां होती हैं। इस प्रकार एक संपूर्ण धर्म है, किंतु मानव-माध्यमों से होकर गुजरने के कारण वह 'अनेक धर्म' बना जाता है। मुसलमानों का अल्लाह, ईसाईयों का 'गॉड' (खुदा) और हिन्दुओं का ईश्वर एक ही है।"

196. किसी राष्ट्र राज्य को बनाने में, समाज और संस्कृति के धर्म-निरपेक्षीकरण को बढ़ावा अन्तर्वलित है। धर्म-निरपेक्षता परंपरागतता से आधुनिकता की ओर बढ़ने में एक सेतु का कार्य करती है। भारत राज्य ने अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और विभिन्न धर्मविश्वासों के कारण सार्वभौमिक सहिष्णुता को पसन्द किया है। भारतीय संदर्भ में धर्म-निरपेक्षता में सकारात्मक शक्ति सम्मिलित है। आध्यात्मिक सहिष्णुता की धर्म-निरपेक्ष आकांक्षा वाले धर्म उन धर्मों की अपेक्षा मानव इतिहास में लम्बी अवधि के लिए और समृद्ध रूप में शेष रहे हैं, जो स्वयं अपने अस्तित्वहीन संसार में रहने का दावा करते हैं। इसलिए सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता व्यक्ति से उसके धार्मिक विश्वास को पृथक् करती है और मानव जीवन के तात्त्विक, लौकिक दृष्टिकोणों को परिसीमित करती है। सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की आधारिक मान्यताओं में विश्वास करती है। यह देश के इतिहास में वापस जाने अथवा अपने पूर्ण विकास के लिए मनुष्य की आवश्यकता से बाहर अपनी आध्यात्मिक या सांस्कृतिक पहचान का आश्रय लेने में विश्वास नहीं करती। यह मुख्यतया राज्य और इसकी संस्थाओं के चारों ओर घूमती है और इसलिए राजनीतिक प्रकृति की है। इसी प्रकार धर्म में अन्य सामाजिक-आर्थिक या सांस्कृतिक सामाजिक संरचना सम्मिलित नहीं है। राज्य सामाजिक शक्तियों की बुराईयों के विरोध के लिए, आन्तरिक शांति बनाए रखने के लिए और बाहरी हमले से राष्ट्र को बचाने के लिए व्यादेश करता है। संविधान के अधीन कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के भली प्रकार जीवन निर्वाह के

लिए साधन जुटाने; आवश्यक सेवाएं उपलब्ध कराने और अपने सभी लोगों के लिए सुख-सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए व्यादेशित है। सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता के अधीन सदाचार, मानव स्वतन्त्रता या धर्मनिरपेक्ष जीवन-यापन के पक्ष में एक व्यापक शक्ति है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, प्रोफेसर हालयेंकी ने, जो आधुनिक धर्मनिरपेक्षता के जनक हैं, यह कहा है कि "सदाचार ईश्वर या किसी भविष्य की स्थिति में विश्वास से उद्भूत सभी बातों का अपवर्जन करते हुए, व्यक्ति का कल्याण करने का ध्यान रखने की बात पर आधारित होना चाहिए।" उनके लिए सदाचार, मानव से प्रारंभ करते हुए, मानव कर्तव्य की एक पद्धति है, न कि ईश्वर से, जैसी कि स्थिति धर्म में होती है। उन्होंने अपनी धर्म निरपेक्षता को ईसाई मत से, जो संसार का विद्यमान हित है, अर्थात् एक दूसरे जीवन की संभावनाओं (भावदृश्य) से, प्रभेदित किया। सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता, सदाचार के स्रोत के रूप में मनुष्य की शारीरिक (जीव-विज्ञानी) और सामाजिक प्रकृति को जन्म देती है। सच्चा धर्म अखंडता के लिए प्रबल शक्ति में विकसित होना चाहिए जिसके बिना मानव मूलवंश की सतत विद्यमानता स्वतः अनिश्चित और अवास्तविक हो जाएगी। धर्म-निरपेक्षता सहिष्णुता की भावना, विस्तृत दृष्टिकोण, एक दूसरे के विश्वास के लिए सम्मान और स्व-अनुशासन के नियमों का पालन करने की स्वेच्छा के लिए पाठ पढ़ाती है। यह व्यक्ति के रूप में और समूह के सदस्य के रूप में दोनों के लिए ही होती है। धर्म और धर्मनिरपेक्षता विभिन्न अवस्थाओं को प्रवृत्त करती है। धर्म व्यष्टि का स्वयंकृत वैयक्तिक विश्वास और उपासना की रीति और प्रार्थना का मामला है जबकि धर्मनिरपेक्षता जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, विभिन्न धार्मिक विश्वासों को मानने वाले लोगों के साथ व्यवहार करने में राज्य क्रियाकलाप के ऐहिक भाग पर प्रभाव डालती है। जितना अधिक कोई व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वास में निष्ठावान् होता है उसके हृदय की भावना, सहिष्णुता की भावना और धर्म-निरपेक्ष पक्ष का पालन उतना ही अधिक होना चाहिए। अतः धर्मनिरपेक्षता धार्मिक धर्म-परायणता की विरोधी नहीं है। स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी जी हालांकि ये पूर्ण रूप से हिंदू थे, किंतु उनकी शिक्षा और जीवन निर्वाह के दृष्टांत हमें धर्म और एकाकार होने के सभी व्यक्तियों के कल्याण के लिए धर्मनिरपेक्षता का संदेश देते हैं। सच्चा धर्म उन व्यक्तियों से घृणा करने की शिक्षा नहीं देता जो दूसरे विश्वासों (धर्मों) के मानने वाले हैं। धर्मान्धता (कट्टरता) धर्म नहीं है और न ही अपने धर्म के लिए किसी व्यक्ति की निष्ठा के सूचक को संकीर्ण मनस्क पक्षपात के रूप में लिया जा सकता है। धर्म-निरपेक्षता दूसरे समुदाय के लोगों के दुखों के लिए एक दूसरे की आवाजों को दबाना अनुध्यात नहीं करती और न ही यह उस दशा में चुपचाप रहने की परिकल्पना करती है जब व्यक्ति द्वारा या अन्य समुदाय द्वारा विधिमान्य मांगें की गई हों। यदि लोगों का कोई समूह कष्ट या दुखों से गुजर रहा हो तो धर्मनिरपेक्षता की सदैव यह अपेक्षा होती है कि व्यक्ति को कभी भी व्यथित व्यक्ति के प्रति भावशून्य और संवेदना से विलग नहीं रहना चाहिए। परीक्षा की घड़ी में लोग "सम्प्रदाय" से ऊपर उठे और उन्होंने घटना के शिकार व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान किया। भारत में ऐसी सांस्कृतिक विरासत सभी धार्मिक विश्वासों में विश्वास करने, देश के विभिन्न भागों में निवास करने, अन्य धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णु बनने के लिए आकार प्रदान करती है और प्रत्येक धर्म सुखदायी मेलजोल या एकीकरण के रूप में मिश्रित भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने के लिए अपना योगदान करता है। हमारी धार्मिक सहिष्णुता हमारे सांविधानिक विश्वास में परिलक्षित होती है।

197. संविधान की उद्देशिका अन्य बातों के साथ-साथ प्रत्येक नागरिक के लिए विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता सुनिश्चित करती है। अनुच्छेद 5 प्रत्येक भारतीय को जन्म द्वारा नागरिकता की गारंटी देता है। किसी विशिष्ट धर्म, जाति या क्षेत्र में जन्मे किसी व्यक्ति के साथ विभेद नहीं किया गया है। जन्म माता-पिता का जैविक कार्य है। अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समता या विधियों का समान संरक्षण देने की गारंटी देता है। अनुच्छेद 15 द्वारा धर्म के आधारों पर विभेद को प्रतिषिद्ध किया गया है। अनुच्छेद 16 राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए समान अवसर देने की आज्ञा करता है और अन्य बातों के साथ-साथ केवल धर्म के आधार पर विभेद करने को प्रतिषिद्ध करता है। जहां अनुच्छेद 25 सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है वहीं इस अनुच्छेद की कोई बात ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालती या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करती जो धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी सामाजिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है। यह अनुच्छेद सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए या सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं,को हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने के अध्यधीन उपबंध करता है। अनुच्छेद 26 लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए समान रूप से धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। अनुच्छेद 27 राज्य को किसी व्यक्ति को किसी ऐसे कर का, जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक संप्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण के लिए समेकित निधि से विनियोजित किया जाना विनिर्दिष्ट रूप से प्रतिषिद्ध किया गया है, संदाय करने के लिए बाध्य करने या उसे दायी ठहराने से व्यादेशित करते हुए भारतीय लोकतंत्र की धर्मनिरपेक्ष संरचना को प्रबलित करता है। समेकित निधि में जाने वाले कर सामान्यतया ऐसे धर्म निरपेक्ष प्रयोजनों को सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किए जाने चाहिए जिनमें से केवल सामाजिक कल्याण आदि नियमित करने के सदृश, कुछ अनुच्छेद 25 और 26 में वर्णित हैं। अनुच्छेद 28(1) में यह उपबंध है कि राज्य-निधि से पूर्णतः पोषित या राज्य से सहायता प्राप्त करने वाली किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। समान रूप में राज्य से मान्यताप्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए या ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि उस व्यक्ति ने, या यदि वह अवयस्क है तो उसके संरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति न दे दी हो। अनुच्छेद 30(2) द्वारा राज्य को शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में इस आधार पर, कि वह धर्म या भाषा पर आधारित एक अल्पसंख्यक संस्था है, विभेद न करने का आदेश किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान ने व्यष्टि के व्यक्तिगत धार्मिक कार्य और इसके धर्म निरपेक्ष कार्य के बीच सीमांकन किया है। राज्य किसी विशिष्ट धर्म का संवर्धन नहीं कर सकता इसलिए राज्य न तो किसी विशिष्ट धर्म का समर्थक है और न ही किसी विशिष्ट धर्म का विरोधी। दूसरे शब्दों में, यह स्पष्ट होता है कि राज्य का कार्य धर्म के मामलों में तटस्थता बनाए रखना और विनियम के अध्यधीन सभी धर्मों को समान संरक्षण प्रदान करना तथा धर्मनिरपेक्षता के क्षेत्र में सक्रिय रूप से कार्य करना है।

198. **रति लाल पन्ना चंद गांधी बनाम मुंबई राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए धर्म को परिभाषित किया था कि वस्तुतः भारत में बौद्ध मत और जैन मत सदृश सुज्ञात धर्म हैं जो ईश्वर और जाति की विद्यमानता में विश्वास नहीं करते और यह आवश्यक रूप से नास्तिकता नहीं है। कोई धर्म निस्संदेह ऐसे विभिन्न गुण रखता है जो उन व्यक्तियों द्वारा गिनाए जाते हैं जो उस धर्म को अपने आध्यात्मिक कल्याण में सहायक मानते हैं किंतु यह कहना सही नहीं होगा या जैसा कि उस मामले में उनमें से एक विद्वान् ज्ञाता द्वारा कहा गया प्रतीत होता है कि धर्म के विषय धार्मिक मान्यता और धार्मिक विश्वास के मामलों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। धर्म मात्र एक सिद्धांत या विश्वास नहीं है जैसा कि इस बाबत अधिनियमों में भी अभिव्यक्त है। **कमिश्नर आफ मद्रास बनाम श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियार**[2] वाले मामले में जो चिरूर मठ वाले मामले के रूप में जाना जाता है, इस न्यायालय ने धर्म का निर्वचन व्यक्तिगत विश्वास और गृह कर्मों या कर्मकांड के पालन के लिए परिसीमित करते हुए निर्बंधित अर्थ में किया। संविधान के भाग III में अनुध्यात निर्बंधन राज्य द्वारा इस रूप में वैयक्तिक धार्मिक आचरणों पर नियंत्रण नहीं है बल्कि ये उनके ऐसे क्रियाकलापों का जो ऐसे विनियम के अधीन है, विनियमित करने के लिए हैं जो यद्यपि अर्थ से संबद्ध होते हुए भी, यथा धर्मनिरपेक्ष क्रियाकलाप पर आधारित धार्मिक संस्थाओं या विन्यासों से सहबद्ध संपत्ति का प्रबंध धर्मनिरपेक्ष प्रकृति के हैं। ऐसे विषय जो देवत्व (ईश्वरवाद) को बढ़ावा देते हैं, आवश्यक रूप से धर्म संबंधी हैं और राज्य उनके विनियमन के लिए व्यष्टियों को छोड़कर इन्हें विनियमित नहीं कर सकता। जाति पद्धति हालांकि हिंदू मत के मूल से बनी है और चूंकि चलन के अनुसार भारतीय जनसंख्या (अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों) को एक चौथाई सहस्राब्दी के लिए धार्मिक संस्थाओं में यथा मंदिरों, मठों, इत्यादि में अस्पृश्यता के आधार पर प्रवेश करने से निषिद्ध किया गया था इसलिए अनुच्छेद 17 द्वारा ऐसे चलन को विधि बाह्य बनाते हुए इसे अपराध घोषित किया गया। अनुच्छेद 25 और 26 द्वारा उपासना के लिए सभी हिंदू धर्म संप्रदायों या पंथों को सभी लोक स्थानों और लोक उपासना के सभी स्थानों पर जाने की स्वतंत्रता और लोक उपासना के स्थलों में प्रार्थना करने या किसी धार्मिक सेवा या कार्य को पूरा करने की स्वतंत्रता दी गई है और जाति या पंथ या धर्म संप्रदाय के आधारों पर कोई विभेद नहीं किया जाना चाहिए। **केशवानंद भारती**[3] और **इन्दिरा गांधी बनाम राज नारायण**[4] वाले मामलों में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि धर्मनिरपेक्षता संविधान का आधार तत्व है। यह सही है कि संविधान की अनुसूची III ईश्वर के नाम से शपथ लिए जाने की रीति को उपबंधित करती है। यह बात मान्य नहीं है कि वह किसी विशिष्ट धर्म के ईश्वर में अपनी आस्था या धार्मिक विश्वास रखता है बल्कि उसे न्याय के लिए और उनकी आज्ञा के अनुसार सदाचारी होने के रूप में संविधान और विधियों का पालन करने के लिए शपथ द्वारा आबद्ध होना चाहिए और व्यक्ति यह सुनिश्चित करेगा कि वह अपने द्वारा ली गई शपथ का भंग नहीं करेगा। यह उल्लेखनीय है कि शपथ अधिनियम, 1873 को शपथ

[1] [1954] एस० सी० आर० 1035.
[2] [1994] एस० सी० आर० 1005.
[3] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली० 1 एस० सी० आर० 1.
[4] [1976] 1 उम० नि० प० 1=[1976] 2 एस० सी० आर० 347.

अधिनियम, 1966 द्वारा निरसित कर दिया गया और धर्मनिरपेक्षता की सांविधानिक स्कीम, विशेषतया धारा 7 से 11 से, संगत बनाया गया।

199. इसी प्रकार किसी शैक्षिक संस्था में प्रवेश प्रत्येक व्यक्ति के लिए मूल अधिकार बनाया गया है और उसके साथ मात्र धर्म या जाति के आधार पर विभेद नहीं किया जाएगा। राज्य निधि द्वारा घोषित या सहायता प्राप्त संस्थाओं में भी शिक्षा केवल धर्म निरपेक्ष नीतियों पर दी जाएगी। अतः राज्य की हिन्दू समाज, हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के सुधार के लिए एक मशीनरी भूमिका है और वह जाति परम्परा के विश्वासों को क्षीण करता है। धार्मिक संस्थाओं या लोकाश्रम के स्थलों में प्रवेश के विषयों में भी मात्र जाति या धर्म के आधार पर प्रवेश का निषेध विधि विरुद्ध कर दिया गया है।

200. डा० एस० राधा कृष्णन् ने कहा था कि "धर्म को भावना, मनोभाव, भावुकता, उपासना-पद्धति, कर्मकाण्ड, आस्था धर्म के सचेतन विश्वास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" गांधी जी के अनुसार—मैं अपने धर्म को औपचारिक धर्म या रूढ़िगत धर्म नहीं समझता बल्कि उसे एक ऐसा धर्म समझता हूं जो सभी धर्मों का मूल है।" उनके अनुसार धर्म पूर्ण रूप से आध्यात्मिक प्रतिबद्धता किन्तु आशयित रूप से व्यक्तिगत प्रतिबद्धता है। दूसरे शब्दों में, यह (धर्म) कतिपय क्षेत्र में, जो अच्छा समझा जाता है, अपने चैतन्य के उद्धार के लिए लोगों के विकास के लिए ही है। इसलिए धर्म व्यक्ति के लिए आस्था का विषय है; जो कोई भी चीज उसे अपने देश के प्रति आबद्ध करती है और जो भी नैतिक और आधारभूत सिद्धांत मनुष्य के जीवन का नियमन करता है—ये सब चीजें धर्म को गठित करती हैं, जैसा कि उसे हमारे संविधान में समझा गया है। चैतन्य की स्वतन्त्रता किसी व्यक्ति को अपनी पसन्द के विशिष्ट धार्मिक मतों में आस्था रखने के लिए अनुज्ञात करती है। यह धर्म के अनुसरण में बाह्य कार्यों को पूरा करने की स्वतन्त्रता से पूर्णतया भिन्न है इसलिए अन्तःकरण की स्वतन्त्रता से यह अभिप्रेत है कि किसी व्यक्ति को धर्मों के अधिकारों के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। निस्संदेह इससे यह अभिप्रेत है कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को यह आदेश देने के अधिकार नहीं रखता कि उसे किस धर्म में आस्था रखनी है और उसे कौन से दर्शन का मानना है, उसकी राजनीति क्या होगी या किस उपयोग के लिए वह इसे स्वीकार करेगा इत्यादि। अनुच्छेद 25 (1) द्वारा सभी व्यक्तियों के अन्तःकरण की स्वतन्त्रता और विशेष संबद्धता का विचार किए बिना, केवल विश्वास और निष्ठा के संगठित तन्त्र (पद्धति) के ही सदस्यों के धर्म को संरक्षण प्रदान किया गया है और स्वयं अपने सरोकार से इस दिशा में आगे नहीं बढ़ता है बल्कि वह व्यक्ति के अन्तःकरण और गरिमा तथा ऐसे विश्वास और आचरण की स्वतन्त्रता के लिए अधिकार के भाग के रूप में है जो युक्तिसंगत है। अतः संविधान धर्म के केवल अनिवार्य और अभिन्न आचरणों को ही संरक्षण प्रदान करता है। धार्मिक आचरण, लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य इसके नियन्त्रण के अध्यधीन हैं जिसमें आर्थिक, वित्तीय या अन्य लौकिक क्रियाकलाप सम्मिलित हैं। क्या विभिन्न धर्म, राष्ट्रीय ध्वज की उपेक्षा करते हुए या राजनीतिक संस्थाओं के अधीन मत देने या मत न देने के लिए अपने सदस्यों पर नियंत्रण रख सकते हैं। इस प्रकार क्या अनुच्छेद 25 द्वारा धार्मिक दलों के लोगों को या धार्मिक जुलूस के लोगों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता या सार्वजनिक उपासना करने का अधिकार

प्रदत्त करने की गारंटी दी गई है। भारत में सामाजिक व धार्मिक इतिहास का यह तथ्य है कि धार्मिक जुलूस गंभीर साम्प्रदायिक दंगे भड़काने और शांति, परिशांति और लोक व्यवस्था को भंग करने के लिए जाने जाते हैं। भड़काने वाले भाषणों के साथ धार्मिक सभा का आयोजन करके धर्म को स्वतन्त्रता पूर्वक मानने के अधिकार के प्रयोग द्वारा हिंसा, धार्मिक असहिष्णुता फैलाना अनुज्ञात नहीं है बल्कि यह अधिकार राज्य के नियन्त्रण के अध्यधीन है। सांविधानिक संरक्षण प्राप्त करने के अनुक्रम में धार्मिक आचरण मात्र आवश्यक अवयव ही नहीं होना चाहिए बल्कि मानने वाले के धर्म का अखंड भाग भी होना चाहिए। अन्यथा भी धार्मिक क्रियाकलाप जो आवश्यक या धर्म का अखंड भाग नहीं है, धार्मिक नियम के रूप में उत्कथित किए जाने के लिए प्रवृत्त हैं और धार्मिक आचरणों के रूप में समझे जाने के लिए वातावरण तैयार करते हैं। सामाजिक व्यवस्था के रूप में विधि साधन उपबंधित करती है तथा सामाजिक नियन्त्रण के लिए और मानव समाज में सभी प्रकार के झगड़ों को समाप्त करने के लिए नियम अधिकथित करती है। किन्तु सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए हेतुक बल ऐसे व्यक्तियों से मिलता है जो समाज को जोड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति जो समाज को जोड़ते हैं नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था या सामाजिक अखंडता और लोगों के बीच भ्रातृ-भाव के लिए किसी व्यवस्थित हेतुक के मूल स्रोत के रूप में विधि की संरचना के प्रवर्तक है। संविधान ने समान सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए अपने यान के रूप में धर्म निरपेक्षता को चुना है। मैं अपने भ्राता न्यायमूर्ति सावंत और जीवन रेड्डी से ससम्मान सहमत हूं। इसलिए धर्म निरपेक्षता मूल विधि का भाग है और भौतिक और आचारिक समृद्धि तथा राजनीतिक न्याय के साथ लोगों के उत्कर्ष के लिए आवश्यक सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को अपने सभी लोगों को सुनिश्चित करने के लिए भारतीय राजनीतिक पद्धति की आधारिक संरचना है।

राजनीति और धर्म का पृथक्करण

201. ब्लैक कृत ला डिक्शनरी के छठे संस्करण के पृष्ठ 1158 में पोलीटिक्स (राजनीति) को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—सरकार राज्य या राष्ट्र सरकार की नीति या प्रशासन से संबंधित या के संबंध में (कोई चीज या कोई बात); उन लोगों में, जिन्हें सरकार का संचालन सौंपा गया है, सभी कृत्यों का प्रयोग करने से संबंधित या आनुषंगिक (कोई चीज या कोई बात); राजनीतिक बल के रूप में राज्य के प्रबंध के संबंध में; ये सब चीजें अधिकारों और विशेषाधिकारों या उस सहमति से संबंधित हैं जिसके द्वारा राज्य के व्यक्ति उसकी लोक नीति को अवधारित या नियंत्रित करते हैं, जिनका अलग-अलग दलों या उन हितों से संबंध है, जिन्हें वे नियंत्रित करते हैं और उन व्यक्तियों के कार्य से भी संबंध है जो राज्य का कार्य करते हैं। राजनीतिक दल के लोक पदों, ओहदों या नौकरियों के लिए निर्वाचनों या नियुक्तियों को प्रवर्तन में लाने या निष्पादित करने के संसदीय प्रयोजन के लिए व्यक्तियों के किसी संगम के रूप में परिभाषित किया गया था। कोई राजनीतिक दल, संगम या संगठन जिसने किसी वैयक्तिक या राजनीतिक दल की, जिसका नाम किसी राज्य या स्थानीय निर्वाचित लोक पद के निर्वाचन के लिए प्रस्तुत हुआ है चाहे वह व्यक्ति निर्वाचित हुआ हो या नहीं, निर्वाचित प्रक्रिया को प्रभावित करने या प्रभावित करने का प्रयास करने के प्रयोजन के लिए योगदान किया है, राजनीतिक दल है।

सकारात्मक रूप से धर्म निरपेक्ष राज्य में राजनीति को धर्म से अलग रखा गया है। दूसरे शब्दों में किसी राजनीतिक दल को राजनीति में न तो धर्म का सहारा लेना चाहिए और न ही अपने समर्थन या अस्तित्व के लिए इस पर निर्भर होना चाहिए। संविधान व्यक्ति को विश्वास के लिए धर्म संबंधी अधिकार का संरक्षण सुनिश्चित करता है या धर्म निरपेक्ष जीवन के लिए साधक शिक्षा देता है, पश्चातवर्ती को मानव जीवन की बेहतरी और प्रगति के लिए राज्य द्वारा नियंत्रित किया जाता है। सकारात्मक धर्म निरपेक्षता मानव जीवन के ऐसे ही पहलुओं से संबंधित है। डा० अम्बेडकर ने अपने "पालिटिकल थॉट" में, जिसे इंटेलेक्चुल पब्लिक हाउस, संस्करण 1992, पृष्ठ 155 में आर० के० क्षीरसागर ने संकलित किया है, राजनीतिक आचार की बाबत इस प्रकार कहा है—"भारत में बहुमत, राजनीतिक बहुमत नहीं है। बहुमत उत्पन्न होता है न कि बनाया जाता है, अर्थात् साम्प्रदायिक बहुमत और राजनीतिक बहुमत के बीच अन्तर है। राजनीतिक बहुमत पूर्ण बहुमत नहीं है बल्कि यह ऐसा बहुमत है जिसे सदैव बनाया जाता है, रद्द किया जाता है और पुनः बनाया जाता है। साम्प्रदायिक बहुमत अपनी नीतियों और अपने रुख से अपरिवर्तनीय बहुमत होता है।" "क्या हिन्दू साम्प्रदायिक बहुमत अल्पसंख्यकों के मतों को स्वीकार करने के लिए बनाया गया था, क्या इसे अल्पसंख्यकों के लिए सांविधानिक सुरक्षा कल्पित करने के लिए बनाया गया था।" डा० अम्बेडकर के अनुसार समस्याओं को ऐसे सही सिद्धांतों को अपना कर सुलझाया जाना चाहिए जो बिना किसी भय या पक्षपात के समान रूप से विकसित और लागू किए जाने चाहिए। उनके अनुसार बहुमत समुदाय को सापेक्ष बहुमत स्वीकार किया जाना चाहिए और पूर्ण बहुमत की मांग नहीं करनी चाहिए। साम्प्रदायिक बहुमत एक राजनीतिक बहुमत नहीं है और राजनीति में एक मत का एक ही मूल्य के सिद्धांत को, संबंधित बातों को विचार में लाए बिना, अपनाया जाना चाहिए। अब्दुल कलाम आजाद के अनुसार—"भारत एक ऐसा लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष राज्य है जहां प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या सिख, समान अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रीय या प्रादेशिक राजनीति में रूढ़िवाद और संप्रदायवाद की उत्पत्ति धर्म-निरपेक्षता के विरुद्ध है और यह संसदीय लोकतांत्रिक पद्धति को विखंडित करने के लिए बीज बोने वाली पृथकतावादी और विभाजनात्मक (फूट डालने वाली) शक्तियों को बढ़ावा देने के लिए अग्रसर होती है। राजनीतिक दलों या अभ्यर्थियों को वोट बैंकों की ओर भागने से रोका जाना चाहिए और न्यायिक-प्रक्रिया को संविधान के निर्वचन द्वारा नागरिकों की सक्रिय भूमिका द्वारा प्रोन्नत किया जाना चाहिए जिससे कि विधियों को समान स्तरों पर लोक-तांत्रिक प्रक्रिया को बनाए रखने के अनुक्रम में उचित भूमिका हो।

202. ऐसे किसी राजनीतिक दल या संगठन को, जो सरकार के संसदीय स्वरूप के शासन के लिए निर्वाचन में संप्रवर्तन या पूर्ण सफलता के लिए निर्वाचकगण को प्रभावित करना चाहता है, ऐसे सिद्धांतों का, जो अधिकारों और भाग IV(क) के मूल कर्त्तव्यों के संदर्भ में संविधान के नीति-निदेशक तत्वों में सन्निहित हैं, संविधान के अनुसार पालन करना चाहिए और धार्मिक, भाषागत, क्षेत्रीय या वर्गगत विविधताओं से परे भारत के सभी लोगों के बीच सहिष्णुता, सामंजस्य और समानता के भाव का संवर्धन करना चाहिए और हमारी सामासिक (मिश्रित) संस्कृति की संपन्न विरासत को परिरक्षित रखना चाहिए, मानववाद, सुधार की भावना का विकास करना चाहिए और हिंसा से विरत रहना चाहिए, इसलिए

किसी राजनैतिक दल का घोषणा-पत्र संविधान की इन मूल और आधारभूत विशेषताओं, धर्म निरपेक्षता, सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक न्याय, बन्धुत्व, एकता और राष्ट्रीय अखंडता के अनुरूप होना चाहिए।

203. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, जिसे आगे संक्षेप में "लो० प्र० अधिनियम" कहा गया है, की धारा 29क के अधीन किसी राजनीतिक दल या स्वयं को राजनीतिक दल कहे जाने वाले भारत के नागरिकों के किसी समूह को रजिस्ट्रीकरण के लिए ज्ञापन या नियमों या संगम के विनियमों की प्रति के साथ, जो इसके कार्यपालक अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित हो, राजनीतिक दल के रूप में अपने रजिस्ट्रीकरण हेतु अनुच्छेद 324 के अधीन गठित निर्वाचन आयुक्त को आवेदन करने का अधिकार दिया गया है। आवेदक यह विनिर्दिष्ट उल्लेख करेगा कि ऐसा संगम या निकाय विधि द्वारा यथा स्थापित भारत के संविधान के प्रति पूर्ण विश्वास और निष्ठा रखेगा और इसके सदस्य समाजवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतंत्र द्वारा आबद्ध होंगे तथा भारत की प्रभुसत्ता और अखंडता को बनाए रखेंगे। इसलिए प्रत्येक राजनीतिक दल, व्यक्तियों के निकाय या संगम और इसके सदस्यों का संविधान और विधियों का पालन करने का आज्ञापक कर्त्तव्य है, उन्हें राष्ट्र की प्रभुसत्ता और अखंडता कायम रखते हुए धर्म निरपेक्षता, समाजवाद और लोकतंत्र को कायम रखना चाहिए। धारा 123(3) राजनीति में धर्म या जाति के प्रयोग को प्रतिषिद्ध करती है और यह उपबंध करती है कि अभ्यर्थी के निर्वाचन की संभाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए या किसी अभ्यर्थी के निर्वाचन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए भारत के नागरिकों के बीच धर्म और जाति के आधार पर हिंसा और घृणा का संप्रवर्तन या संप्रवर्तन का प्रयत्न भ्रष्ट आचरण के रूप में घोषित किया (माना) जाएगा। धारा 123 की उपधारा 3क के अनुसार किसी अभ्यर्थी, उसके निर्वाचन अभिकर्ता या उसकी सम्मति से किसी व्यक्ति द्वारा उस अभ्यर्थी के निर्वाचन की संभाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए या किसी अभ्यर्थी के निर्वाचन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए शत्रुता या घृणा की भावनाएं भारत के नागरिकों के विभिन्न वर्गों के बीच धर्म इत्यादि के आधार पर संप्रवर्तन या संप्रवर्तन का प्रत्यन करना भ्रष्ट आचरण के रूप में घोषित किया गया था। इसलिए किसी राजनीतिक दल द्वारा संविधान और विधियों के मूल तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। अपने घोषणापत्र में सभी कृत्रिमताओं और इसकी (घोषणा पत्र की) भाषा में सहजताओं (सूक्तियों) के बावजूद भी कोई राजनीतिक दल सांविधानिक आदेश से नहीं बच सकता और धारा 29क के अधीन रजिस्ट्रीकृत हो जाने के पश्चात् भी संविधान और विधियों का सत्यता और निष्ठा से पालन करने के दायित्व तथा उन पर कायम रहने के वचनबंध कर्त्तव्य से नहीं मुकर सकता। समान रूप में राजनीतिक दल/दलों को संविधान की इन आधारभूत विशिष्टताओं को, चाहे वह निर्वाचन प्रक्रिया को प्रभावित करने संबंधी हों या संविधान अथवा विधि के कार्यकरण संबंधी, भंग नहीं करना चाहिए। राजनीतिक दलों से या मतदान प्रक्रिया द्वारा विधान मंडल में बहुमत प्राप्त करके शासन करने वाली राजनीतिक कार्यपालिका से यह अपेक्षित है कि संविधान और विधियों का सही भावना से पालन करे।

204. अनुच्छेद 25 सरकार को प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से किसी विशिष्ट धर्म को संरक्षण देने से निषिद्ध करता है। इसलिए राजनीतिक दलों को धार्मिक विश्वासों में तटस्थता बरतने के लिए असकारात्मक रूप से आदेशित किया गया है और संविधान तथा

विधियों के प्रति अनादरपूर्ण आचरणों को निषिद्ध किया गया है। राजनीति में धर्म का प्रवेश न केवल सांविधानिक आज्ञाओं के प्रतिकूल है बल्कि सांविधानिक दायित्व, कर्तव्य, उत्तरदायित्व का सकारात्मक अतिक्रमण भी है और निषेध का सकारात्मक प्रदेशन संविधान और लो० प्र० अधिनियम द्वारा विनिर्दिष्टतया व्यादेशित है। कोई राजनीतिक दल जो धार्मिक नीति या जाति अभिविन्यास द्वारा सत्ता प्राप्त करने की ईप्सा करता है, धर्म और जाति के आधार पर लोगों को पृथक् करता है। ऐसा दल लोगों को विभाजित करता है और धर्म और जाति के आधार पर सामाजिक संरचना (ढांचा) को भंग करता है जो सांविधानिक संस्कृति और आधारभूत विशिष्टताओं के लिए हानिकर है तथा, अभिशाप है। धर्म के आधार पर अनुरोध धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र को आघात पहुंचाता है।

205. धर्म के आधार पर निर्वाचकगण से कोई अनुरोध धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र को आघात पहुंचाने वाला होता है। **एस० वीर० भद्रन् चेन्हियार बनाम ई० बी० रामस्वामी नायकर और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि न्यायालयों को ऐसे व्यक्तियों के वर्ग की संभावनाओं का पता लगाना होगा जिनके लिए धार्मिक संवेदनशीलता के लिए आग्रह किया जाता है और यह एक भ्रष्ट आचरण है। इस न्यायालय ने धारा 123(3) का निर्वचन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि "यह धारा, विभिन्न धर्मों या समूहों के व्यक्तियों का विचार किए बिना, सभी धर्मों का सम्मान करने के लिए आशयित है·····, ऐसे मामलों में बहुत ही सतर्कता बरती जानी चाहिए और इस बात का विचार किए बिना कि व्यक्ति उन विश्वासों को मानते हैं या नहीं या वे सुधारवादी हैं या अन्यथा, विभिन्न विश्वासों वाले व्यक्तियों के विभिन्न वर्गों की भावनाओं के प्रति सम्यक् सम्मान दर्शित करना चाहिए।"

206. इस न्यायालय ने **शुभनाथ देवग्राम बनाम रामनारायण प्रसाद**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया—

> "ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं की प्रसन्नता कुक्कुट (मुर्गे) द्वारा भोजन ले लेने से प्रकट होती है, जो उसे दिया जाता है, और देवता केवल उसके पश्चात् ही मुर्गे की बलि स्वीकार करते हैं। इसलिए जब पर्णक (पत्रक) में यह कहा गया कि मुर्गे को मतों के रूप में भोजन दिया जाना चाहिए, तो इसका अर्थ यह था कि देवता तभी प्रसन्न होंगे, जब मत मुर्गे के प्रतीक वाली मतपेटी में डाले जाएंगे।"

जियाउद्दीन बुरहानुद्दीन बुखारी बनाम बृजमोहन रामदास मेहरा[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

> "हमारे संविधान के निर्माताओं का निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्रीय गणतन्त्र स्थापित करने का आशय था जिसकी आबद्धकारी प्रकृति का सारांश उद्देशिका में उपवर्णित उद्देश्य में दिया गया है। ऐसी कोई प्रजातंत्रीय, राजनैतिक और

---

[1] (1959) एस० सी० आर० 1211 (पृष्ठ 1217 से 1218).

[2] (1960) एस० सी० आर० 953 (पृष्ठ 959).

[3] [1975] 3 उम० नि० प० 1455=[1975] सप्ली० एस० सी० आर० 281, पृष्ठ 288.

सामाजिक व्यवस्था, जिसमें और सभी के लिए उत्तरोत्तर वृद्धि की अवस्थाएं न हों, जो सभी कार्यकलापों का विनियमन आज्ञापक बनाती हों, उन आधारभूत तत्वों पर सहमति दिए बिना नहीं बनी रह सकती जो धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय, संस्कृति, पंथ और भाषा में सभी उपवंधों के होते हुए भी नागरिकों को एकीकृत कर सके और एक-साथ बनाए रखे। हमारे राजनैतिक इतिहास ने, इसे विशेष रूप से आवश्यक बना दिया कि इन भिन्नताओं का अनुचित लाभ उठाने की अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए जो सशक्त भावों को उत्पन्न कर सकती है जिससे कि व्यक्ति अपने तर्कपूर्ण विचार और कार्य की शक्ति से वंचित हो जाए जिससे कि ऐसा न हो कि प्रजान्त्रीय स्वतंत्रताओं को बनाए रखने के लिए आज्ञापक शर्तों में विघ्न पड़े।"

एस० हरचरण सिंह बनाम एस० सज्जन सिंह[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस मुद्दे पर पूर्ण रूप से चर्चा की थी कि जब कोई अपील धर्म के आधार पर फाइल की गई हो तो लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 123(3) और धारा 123(3क) के परिधि के अंतर्गत आने वाले धर्म के आधारों पर कोई अपील क्या गठित करती है। लो० प्र० अधिनियम की धारा 123(3) धारा के निर्वचन के बारे में तकनीकी दलीलों का अवलंव लेने हेतु वंचित किए जाने के लिए अनुज्ञात नहीं करती क्योंकि हमारा संविधान पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्रीय संविधान है। **एस० वीर भद्रन चेत्तियार**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

"हमारे मतानुसार ऐसे सामान्य महत्त्व के पदों के निर्वचन में ऐसा सीमित अर्थ लगाना निर्वचन के सभी सुस्थापित सिद्धांतों के विरुद्ध है। तथापि, ऐसा कोई उद्देश्य, जो अपने वास्तविक मूल्य में महत्त्वहीन या शून्य है, लोगों के किसी वर्ग द्वारा पुनीत (धार्मिक) रूप में समझा जाता है तो वह शास्तिक धारा के अर्थों के अन्तर्गत आएगा। यह पूर्णतया आवश्यक नहीं है कि पुनीत समझा जाने वाला उद्देश्य वस्तुतः उपासना योग्य ही होना चाहिए। कोई उद्देश्य व्यक्तियों के किसी वर्ग द्वारा धार्मिक समझा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि निचले न्यायालय व्यक्तियों को ऐसे वर्ग की धार्मिक संभाव्यताओं की इस प्रकार हल्के रूप में उपेक्षा करने में ठीक ही उदासीन थे जिनसे परिवादी के दावे संबंधित थे। धारा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों या पन्थों वाले व्यक्तियों की धार्मिक सम्भाव्यताओं को सम्मान देने के लिए आशयित है। न्यायालयों को ऐसे मामलों में बहुत सावधानी बरतनी होगी और इस बात का विचार किए बिना कि क्या वे इन विश्वासों को मानते हैं या नहीं, न्यायालय की राय में क्या वे तर्कसंगत हैं या नहीं, विभिन्न विश्वासों को मानने वाले व्यक्तियों के विभिन्न वर्गों की संवेदनाओं और धार्मिक भावनाओं को सम्यक् सम्मान देना होगा।"

श्री मुल्लापुड़ी वेंकट कृष्ण राव बनाम श्री वेदुला सूर्यनारायण[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

---

[1] (1985) 2 एस० सी० आर० 159.

[2] (1959) एस० सी० आर० 1211.

[3] जे० टी० 1993 सप्ली० एस० सी० 100=1993 (2) स्केल 170 (पृष्ठ 172).

"हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि आक्षेपित इश्तहार एक धार्मिक प्रतीक है। "शंख" बजाते हुए भगवान कृष्ण के वेश में, चाहे वह एन० टी० रामाराव हों या कोई अन्य व्यक्ति, किसी व्यक्ति का चित्रण करना और भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन को संबोधित भगवद्गीता से इन शब्दों को उद्धृत करना कि वह धर्म की पुनः स्थापना के लिए समय-समय पर भूमि पर जन्म लेकर देहधारण करेंगे, न केवल धर्म द्वारा किसी हिन्दू के लिए संदेश है बल्कि हिन्दू धर्म के प्रतीक के रूप में प्रत्येक भारतीय के लिए है। ऐसे अनादरसूचक शब्दों को इश्तहार पर छापने के साथ ऐसे किसी दोहरे प्रतीक के अभ्यर्थी द्वारा प्रयोग से विरोधी राजनैतिक दल को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि धार्मिक प्रतीक का प्रयोग विरोधी राजनैतिक दल के अभ्यर्थी के निर्वाचन पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव डालने के दृष्टिकोण से किया गया था।"

207. श्रीराम जेठमलानी की यह दलील, कि लो० प्र० अधिनियम की धारा 123 की उपधारा (3) और (3क) का निर्वचन और प्रवर्तन मात्र ऐसे मामलों तक सीमित होगा जिनमें विशिष्ट अभ्यर्थी निर्वाचन लड़ने में विरोधी अभ्यर्थी के धर्म को आक्षेपित करता हो और यह सिद्धांत इस सीमा तक विस्तारित नहीं किया जा सकता जहां किसी राजनैतिक दल ने धार्मिक पक्ष को अपने घोषणा पत्र के भाग के रूप में ग्रहण किया हो, स्वीकार करने योग्य नहीं है। इस न्यायालय ने, हालांकि लड़ने वाले अभ्यर्थियों के संदर्भ में, यह विधि अधिकथित की है कि निर्वचन धर्म के आधार पर निर्वाचन प्रत्याशाओं को प्रभावित करने के लिए किसी राजनैतिक दल को कोई अनुज्ञप्ति प्रदान नहीं करता। हमारे जैसे धर्म निरपेक्ष प्रजातंत्र में, राजनीति को धर्म के साथ जोड़ना असंवैधानिक है। दूसरे शब्दों में, यह धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र की सांविधानिक विशिष्टताओं का सुस्पष्ट भंग है। इसलिए यह आज्ञापक है कि धर्म और जाति को किसी राजनैतिक दल, संगम या किसी व्यक्ति द्वारा राजनीति में सम्मिलित नहीं करना चाहिए और यह अत्यावश्यक है कि राजनीति में धर्म और जाति की बुराइयों को रोका जाए। निर्वाचन लड़ने वाले प्रत्येक राजनैतिक दल, व्यक्तियों या व्यक्तियों के संगम को सांविधानिक आदर्शों (विचारों) का, संविधान और इसकी विधियों का पालन करना चाहिए। इस संबंध में मैं अपने भ्राता न्यायमूर्ति सावंत और जीवन रेड्डी से सहमत हूं।

208. राजनीति में रूढ़िवादिता और सम्प्रदायवाद की उत्पत्ति धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध है। ये पृथकतावाद को बढ़ावा देते हैं और सत्ता का विभाजन करते हुए राष्ट्रीय विखंडन के लिए आधार उत्पन्न करते हैं तथा संसदीय लोकतान्त्रिक पद्धति और संविधान को विफल करते हैं। न्यायिक प्रक्रिया को नागरिकों को अपने स्वतंत्र और ऋजु मताधिकार के प्रयोग के लिए किसी भ्रष्ट आचरण द्वारा प्रभावित हुए बिना निर्वाचन प्रक्रिया में अपने सक्रिय योगदान द्वारा बढ़ावा मिलना चाहिए। उचित परिप्रेक्ष्य में सही निर्वचन प्रजातन्त्र के बचाव में होगा और संभावित संघर्ष की परिस्थिति में समान स्तरों पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को बनाए रखेगा इसलिए न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे राजनैतिक दलों को उत्तरदायित्व के लिए सांविधानिक प्राचलों की परिधि के भीतर रखने के लिए और उनसे पूरी सख्ती से संविधान और विधियों का पालन कराने के लिए संविधान का सही निर्वचन करें।

अनुच्छेद 356 के न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि

209 प्रशासनिक विधि और सांविधानिक विधि के क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन के मामले में न्यायालयों का विनिश्चय का गुणागुण से संबंध न होकर उस रीति से संबंध है जिस रीति में विनिश्चय किया गया था या आदेश किया गया था। न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोजन यह सुनिश्चित करना है कि प्राधिकारी या अधिकरण द्वारा व्यक्ति को ऐसा ऋजु उपचार दिया गया है जिसके लिए वह आशयित था। न्यायालय का यह कर्तव्य या उसको यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह प्रश्नगत मामले को विनिश्चित करने में अधिकरण या प्राधिकारी या विधि द्वारा नियुक्त व्यक्ति या प्रशासनिक अभिकर्ता को इस बाबत अपनी राय दे। सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के झीने आवरण में यह संदेह छुपा है कि न्यायालय स्वतः इस सत्ता को छीनने का दोषी है। इसलिए न्यायालय का कर्तव्य यह पता करने के लिए स्वतः अधिकरण या प्राधिकारी द्वारा अपनायी गई प्रक्रिया की विधिमान्यता, औचित्य या नियमितता के प्रश्न तक सीमित है कि क्या उसने विनिश्चय करने में या आदेश करने में विधि या अधिकारिता की कोई गलती की है। इसलिए न्यायिक पुनर्विलोकन एक संरक्षण है किन्तु शस्त्र नहीं। न्यायालय खुले प्रयास से न्याय करने के लिए यह देखने की दृष्टि से नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों को लागू करता है कि प्राधिकारी ऋजुतापूर्वक कार्य करेगा। इसलिए (ये सिद्धान्त) अविधिमान्यता, असंगतता, अयुक्तियुक्तता, प्रक्रियात्मक अनौचित्य और कतिपय मामलों में अनुरूपता के आधार विनिश्चय या आदेश के अधिकारातीत, असद्भाविक या असंवैधानिकता के अलावा इसकी विधिमान्यता की परीक्षा करने के लिए लागू होते हैं। प्रारंभिक रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया में न्यायालय "शक्ति को स्रोत" के क्षेत्र से कार्यों की परीक्षा करता है। न्यायिक पुनर्विलोकन के विकास के अनुक्रम में यह (न्यायालय) व्यक्ति या जनता पर आदेश या विनिश्चय के "विषय-वस्तु की प्रकृति", "सत्ता की प्रकृति", "प्रयोजन" या "स्थायी प्रभाव" की परीक्षा करता है। लोक तत्त्व राज्य के कृत्यों, लोक प्राधिकारी या राज्य की सहायता के लिए प्रारंभिक रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन को नियंत्रित करने की बाबत विकसित किया गया था किंतु समय के साथ अपने सम्यक् अनुक्रम में यह ऐसे प्राइवेट विधि-क्षेत्र में संस्थापित हो गया जहां लोक तत्त्व या लोक कर्तव्य या लोक हित प्राइवेट व्यक्ति या निगमित व्यक्ति द्वारा सृजित किए गए और प्राइवेट विधिक उपचार के लिए पूर्णतया प्राइवेट विषय परावर्तित किए गए। इस न्यायालय ने विशेषाधिकृत या व्यक्तियों के अक्षम समूह की ओर से उनके पक्ष समर्थन के लिए सद्भाविक व्यक्तियों या अधिकृत संगमों के हक में स्थायी छूट दी है। अनुच्छेद 14 और 21 का निर्वचन करते हुए मनमानेपन, असंगतता, अऋजुता या अन्यायोचित के आधार पर प्रशासनिक आदेशों या कृत्यों या प्रक्रियाओं की परीक्षा की है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करने में भारत में सांविधानिक न्यायालयों ने प्रशासनिक या सांविधानिक कृत्यों की सांविधानिकता की परीक्षा करने में सभी अवसरों पर समान (सार्वभौम) रूप से लागू किसी दृढ़ सिद्धांत को नहीं अपनाया। इसलिए सुनवाई के दौरान हमारे समक्ष निर्दिष्ट विभिन्न विनिश्चयों या पाठ्य पुस्तकों पर विस्तार से विचार करने से कोई उपयोगी प्रयोजन पूरा नहीं होता। यह कहना पर्याप्त होगा कि उस प्राधिकारी पर, जो शक्ति का प्रयोग करता है, शक्ति के स्रोत, प्रकृति या परिधि तथा उन स्थायी प्रभावों पर जिन्हें वह विधि के प्रवर्तन में पैदा करती है या किन्हीं निःशेषकारी या सूचीबद्ध सिद्धांतों को अभिलिखित किए बिना व्यक्ति

या समाज को प्रभावित करती है, निर्भर करते हुए, प्रत्येक मामले पर अलग-अलग विचार किया जाना चाहिए। अन्यथा उसके परिणामस्वरूप मानकीकृत शासन सामने आ सकता है। यह अवधारित करने के लिए कि क्या कोई विशेष नीति या उसे अग्रसर करने के लिए किया गया कोई विनिश्चय उपर्युक्त नीति की पूर्ति के लिए है या संविधान या विधि के अनुसार है अथवा नहीं, अनेक अकल्पनीय बातें सामने आएंगी जिनमें विनिश्चय की प्रकृति, विनिश्चय किए जाने से पूर्व दोनों ओर से अन्तर्वलित व्यक्तियों का संबंध, उस तार्किक आधार का होना या न होना, जिस पर विनिश्चय किया गया था या प्राधिकारी अथवा कृत्यकारी के विवेकाधिकार की परिधि सम्मिलित है। न्यायालय का पर्यवेक्षण अन्ततः विनिश्चय के परिणाम की प्रकृति के विश्लेषण पर निर्भर करता है, तथापि वह अनेक बार प्राधिकारी के व्यक्तित्व और उन विशेष परिस्थितियों पर, जिनमें उस व्यक्ति से विनिश्चय करने के लिए कहा गया था तथा स्वयं विनिश्चय पर भी निर्भर करता है।

210. अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र की प्रथमतः इस न्यायालय ने **राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में परीक्षा की थी। इस मामले में संविधान अड़तीसवां संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित खंड (5) द्वारा राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के न्यायिक पुनर्विलोकन को प्रतिषिद्ध किया गया था जिसे बाद में संविधान चवालिसवें संशोधन अधिनियम द्वारा निरसित करके प्रवृत्त किया गया था। इसके निरसन से पूर्व गृह मंत्री द्वारा जारी पत्र की सांविधानिकता और उत्तर भारत के राज्यों की विधान सभाओं का विघटन प्रश्नगत था। विघटन के लिए कारण यह था कि कांग्रेस दल सभी राज्यों में 1977 के संसदीय निर्वाचन में पूर्णतया पराजित हो गया था और इस कारण जनता की कांग्रेस दल द्वारा प्रतिनिधित्व किए जा रहे राज्यों की सरकारों के सत्ता में बने रहने की वैधता के विरुद्ध मांग कर रही थी। अनुच्छेद 133 और अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय में वाद फाइल किए गए थे। इस संदर्भ में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यद्यपि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति अनुच्छेद 356 के खंड (5) द्वारा, जैसा कि यह उस समय था, सीमित आधारों पर अर्थात् असद्भाविक, प्रयोक्तव्य शक्ति और उसके समर्थन में कारणों के बीच अन्तर्बन्धन के बिना पूर्णतया असम्बद्ध या असंगत आधारों पर वर्जित की गई थी। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि संघ के विद्वान काउन्सेल श्री पाराशरन की दलील यह है कि यद्यपि न्यायिक पुनर्विलोकन उपलब्ध है, उन्होंने स्थिरता से अनुच्छेद 74(2) के प्रवर्तन को नकारते हुए यह दलील दी है कि भारत संघ को अभिलेखों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है; यह साबित करने का भार रिट याचियों पर है कि आदेश असंवैधानिक या अधिकारातीत है; अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा शक्ति का प्रयोग अनुच्छेद 123 के अधीन या विधायी प्रक्रिया के ही सदृश्य शक्ति का संवैधानिक प्रयोग है और प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में उत्सर्जित सिद्धांत अप्रवर्तनीय हैं। इसकी परीक्षा केवल अधिकारातीत या असंवैधानिकता के आधार पर की जानी चाहिए। राष्ट्रपति द्वारा किए गए समाधान के समर्थन में कारक मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह का भाग हैं। इसलिए वे न्यायिक जांच से मुक्त हैं भले ही राष्ट्रपति द्वारा पारित प्रत्येक आदेश को अनुच्छेद 74(2) या साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन संरक्षण प्राप्त नहीं होता।

[1] [1977] 3 उम० नि० प० 1107=[1978] 1 एस० सी० आर० 1.

211. अतः प्रश्न यह उद्भूत होता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र क्या है। हालांकि न्यायालय के हाथ अन्याय का पता लगाने के लिए, जहां कहीं यह पाया जाता है, बहुत लम्बे हैं और कोई आदेश या कार्य इसकी पहुंच से बाहर नहीं है, चाहे इसकी पहुंच उच्चतर कार्यपालिका द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए अपना व्यक्तिपरक समाधान अभिलिखित करते समय सरकार की नियामक शाखा के सांविधानिक असाधारण कार्य के लिए प्रक्षिप्त हो सके या नहीं। सर्वश्री शान्ति भूषण, सोली सोराबजी और राम जेठमलानी की यह दलील कि प्रशासनिक कार्रवाई के न्यायिक पुनर्विलोकन के सभी सिद्धांत अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के लिए लागू होंगे, संपूर्ण रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। समान रूप में श्री पारासन द्वारा प्रस्तुत की गई विधि की व्यापक प्रतिपादना भी तर्कसंगत नहीं है : यह बार-बार दोहराया गया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान की आधारभूत विशेषता है। इस न्यायालय का, संविधायी शक्ति के रूप में, चूंकि इसे स्पष्टतया न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति सौंपी गई है, कार्यपालक या संविधान के अधीन विधानमंडल या विधि अथवा प्रशासनिक आदेशों के अधीन, या इनके समतुल्य शाखाओं द्वारा किए गए कार्यों की किसी विशिष्ट आक्षेपित कार्रवाई के लिए लागू प्राचलों के भीतर न्यायिक पुनर्विलोकन का संविधानिक कर्तव्य और दायित्व है। इस न्यायालय का, समकक्ष प्राधिकारियों और विधि की खोज करने के लिए शक्ति के विस्तार और परिसीमाओं का पता लगाने का कर्तव्य और दायित्व है। संविधान के अंतिम (आखिरी) निर्वचनकर्ता के रूप में इस न्यायालय का यह कहने का अधिकार क्षेत्र और कर्तव्य है कि विधि क्या है। यह अवधारित करने के लिए न्यायालय को यह दुर्बोध कार्य सौंपा गया है कि संविधान ने सरकार की प्रत्येक शाखा को क्या शक्ति प्रदत्त की है। क्या यह शक्ति परिसीमित है और यदि हां, तो इसकी क्या परिसीमाएं हैं और क्या उस शाखा की किसी कार्रवाई से ऐसी परिसीमाएं भंग हुई हैं। अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति का कार्य एक सांविधानिक कार्य है और ऐसा कार्य न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है। महाराष्ट्र राज्य के विद्वान् महाधिवक्ता श्री टी० आर० अन्ध्यरुजिन ने यह दलील दी है कि यद्यपि राष्ट्रपतीय उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है तथापि यह राजनैतिक मुद्दे में उलझी हुई है और सामान्यतया न्यायालय में विचारणीय नहीं है। यह न्यायालय स्वअधिरोपित परिसीमाओं को लागू करते हुए न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग से विरत रह सकता है। इस दलील को भी प्रतिबंधित और परिसीमित किए जाने की आवश्यकता है।

212. न्यायिक पुनर्विलोकन को न्याय्यता से भिन्न किया जाना चाहिए। दोनों संकल्पनाएं समानार्थक नहीं हैं। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति न्यायालय का प्राधिकार है। यद्यपि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करने में न्यायालय समुचित मामले में न्यायालय के विचार योग्य न होने के कारण शक्ति के प्रयोग से इनकार कर सकता है। संविधान शक्ति का स्रोत है तथा यह प्राधिकारी की शक्ति की परिसीमाओं का भी स्रोत है। अनिवार्यतः न्यायपालिका को शक्ति के स्रोत, विस्तार, परिसीमाओं और कतिपय मामलों में शक्ति का प्रयोग करने वाले प्राधिकारी की वैधानिकता की बाबत विनिश्चय करना होता है। ऐसे कोई पक्के नियम नियम नहीं हैं जो संविवाद की न्याय्यता के लिए हों। अनुच्छेद 356 (1) के अधीन राष्ट्रपति का समाधान आधारिक रूप से अभिलेख पर की सामग्री के आधार पर व्यक्तिपरक समाधान है। यह संभव नहीं हो सकता कि विभिन्न अकल्पनाओं को घेरे में लेकर उनका

वैज्ञानिक सत्यापन किया जाए। इसलिए इस मुद्दे (प्रश्न) को सदैव इस परिसीमित व्यवहारिक ज्ञान के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है कि संविधान ने मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से तथा इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 74 (1) के परंतुक में दिए गए उसके अपने विवेकाधिकार के अध्यधीन अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए उच्चतर कार्यकारी भारत के राष्ट्रपति को शक्ति न्यस्त की है। क्या विनिश्चय के लिए उद्भूत मुद्दा न्यायिक रूप से शासनीय स्तरों पर आधारित है? अनुच्छेद 356 के विस्तार, क्षेत्र और राष्ट्रपति की शक्ति से संबंधित प्रश्न यद्यपि राजनैतिक जंजाल (झुरमुट) से आच्छादित है तथापि यह न्यायिक पुनर्विलोकन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

213. तथापि, आदेश के निर्वचन को न्यायिक पुनर्विलोकन या अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा शक्ति के प्रयोग के विस्तार के बीच भेद किया जा सकता है। बाद वाली स्थिति में अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा के जारी करने में राष्ट्रपति की शक्ति की परिसीमाओं और न्यायिक पुनर्विलोकन की परिसीमाओं को स्वतः विचार में लिया जाएगा। न्याय्य का प्रश्न किसी भी मामले में परस्पर रूप से विनिश्चय के लिए उद्भूत होगा। इस संबंध में प्रश्न यह उद्भूत होगा कि क्या संविवाद किसी परिसीमित क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए परीक्षणीय है किन्तु बाद वाली स्थिति आदेश की प्रकृति और इसकी अन्तर्वस्तु पर निर्भर करेगी। मुद्दा (प्रश्न) राजनीतिक जंजाल के छद्मावरण से छिपा हो सकता है तब भी चूंकि संविधान ने समुचित मामले में इस न्यायालय को स्वतः संविधान की स्कीम में यह दुर्बोध कार्य सौंपा है इसलिए न्यायालय इसकी विधिमान्यता के अवधारण के लिए मुद्दे को सुविन्यस्त करके असंवलित कर सकता है। राजनीतिक जंजाल का सिद्धान्त कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों के प्रथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान ने संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय) को न्यायिक पुनर्विलोकन की कोई स्पष्ट शक्ति प्रदत्त नहीं की है। इसलिए जब **बेकर बनाम कार**[1] वाले मामले में राजनीतिक मुद्दे का क्षेत्र विचार के लिए न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुआ था तो इसे निर्बंधित अर्थ में अभिनिर्धारित किया गया था किंतु इसे इस न्यायायय के बाद के विनिश्चय में यथेष्ट रूप से कम कर दिया गया था। (**गिलेगन बनाम मोरगन**[2] वाला मामला देखिए)। किन्तु राजनीतिक मुद्दे को विनिश्चित करते समय न्यायालय को यह दृष्टिगत करते हुए, कि व्यक्तिपरक समाधान स्वतः संविधान द्वारा किसी समकक्ष राजनीतिक विभाग के लिए विस्तृत अर्थ में प्रदत्त किया गया था, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि क्या न्यायालय न्यायिक रूप से अपने समक्ष प्रस्तुत किए गए विशिष्ट संविवाद को विनिश्चित करने के लिए ज्ञेय और प्रबंधनीय मानक रखता है।

214. ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में न्यायमूर्ति चंद्रचूड ने, जैसे कि वे उस समय थे। पृष्ठ सं० 61 (उम० नि० प० का पृष्ठ सं० 1209) पर यह अभिनिर्धारित किया कि "गृहमंत्री द्वारा दिए गए कारणों की और अधिक गहराई से जांच करने पर हम एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं जहां से न्यायाधीशों को सतर्कतापूर्वक दूर रहना चाहिए। वह क्षेत्र राजनीतिज्ञों के लिए आरक्षित है और न्यायालयों को उसका अतिचार नहीं करना

[1] (1962) 27 एल० एड० सेकेन्ड 663, पृष्ठ 686.
[2] (1973) 37 एल० एड० सेकेन्ड 407, पृष्ठ 416.

चाहिए।" न्यायमूर्ति भगवती ने, जैसे कि वे उस समय थे, अपना निर्णय देते हुए पृष्ठ संख्या 81 (उम० नि० प० का पृष्ठ सं० 1243) पर इस प्रकार अभिनिर्धारित किया "यह ऐसा विनिश्चय नहीं है जिसे उस बात पर अवधारित किया जा सके जिसे संयुक्त राज्य अमरीका की सुप्रीम कोर्ट ने न्यायिक रूप से ज्ञेय और प्रबन्धनीय मानक कहा है। यह मुख्य रूप से विभिन्न और अनेक प्रकार की बातों, शीघ्रता से परिवर्तित होने वाली स्थितियों, सारवान परिणामों, सार्वजनिक प्रतिक्रिया, विभिन्न वर्गों के दृष्टिकोणों और उनकी प्रतिक्रियाओं तथा उनके अनुमानित भावी व्यवहार और अन्य अनेक विचारों, सार्वजनिक मामलों के अनुभव तथा जटिल और प्रायः विचित्र समायोजनों के, जिनसे आधुनिक प्रजातांत्रिक सरकार के अति जटिल तन्त्र का निर्माण होता है, निर्धारण पर आधारित राजनीतिक निर्णय होगा। अतः यह स्वभावतः न्यायिक अवधारण के लिए उपयुक्त विषय नहीं हो सकता और इसलिए इसे केन्द्रीय सरकार के व्यक्तिपरक समाधान के लिए छोड़ दिया गया है, जो इसका विनिश्चय करने की सर्वोत्तम स्थिति में होती है।" न्यायमूर्ति ऊंटवालिया ने पृष्ठ सं० 94 (उम० नि० प० का पृष्ठ संख्या 1263) पर यह अभिकथित किया था कि "यदि वादियों या पिटीशनरों के पक्ष में ऐसा तथ्य मान लिया जाए तो भी प्रकट किए गए तथ्य असंदिग्ध रूप से विशुद्ध राजनीतिक प्रकृति के क्षेत्र या दायरे में आते हैं, जो निश्चित रूप से अन्याय्य है। ऐसे क्षेत्र को निषिद्ध क्षेत्र कहना उचित होगा जिसमें प्रवेश करना न्यायालयों के लिए न तो अनुज्ञेय है और न ही उन्हें ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने के जोखिमपूर्ण कार्य को अपने ऊपर लेना चाहिए।" न्यायमूर्ति फजल अली ने इसी मत को दोहराते हुए इस प्रकार अभिनिर्धारित किया "यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि न्यायालय के पास राजनीतिक जरूरतों (आवश्यकताओं) को ज्ञात करने के लिए और राष्ट्र की भावनाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने में आवश्यक होने के लिए जो कि किसी समय विशेष पर विशिष्ट कार्रवाई के लिए किए जाने की अपेक्षा करती हो, ऐसे स्रोत नहीं है जो कि सरकार के पास हैं। इस न्यायालय के लिए इस प्रकार की जांच करना कठिन है।" मुख्य न्यायमूर्ति बेग ने पृष्ठ सं० 26 (उम० नि० प० का पृष्ठ सं० 1151) पर यह अभिनिर्धारित किया "जहां तक अनुच्छेद 356 (1) के अन्तर्गत राजनीतिक तथा कार्यपालिका नीति और समीचीनता के विषय समाविष्ट हैं, न्यायालय इसमें तब तक हस्तक्षेप नहीं कर सकते जब तक कि यह दर्शित न कर दिया गया हो कि राष्ट्रपति कौन से सांविधानिक उपबंध का उल्लंघन करने जा रहे हैं।"

215. हम इस बात से ससम्मान सहमत हैं कि उपर्युक्त निष्कर्ष समस्या को हल करने के लिए समीचीन होगा। अभी भी इस प्रक्रम पर निपटान के लिए दूसरा मुद्दा अनुच्छेद 74 (2) का क्षेत्र है। सरकार की मंत्रिमंडलीय पद्धति में प्रधान के रूप में प्रधान मंत्री सहित मंत्रिपरिषद् संविधान के अधीन कृत्यों के प्रयोग के लिए राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देती है, सिवाय उसके जहां स्पष्ट रूप से शक्ति राष्ट्रपति को उसके व्यक्तिगत विवेकाधिकार के अन्तर्गत प्रदत्त की गई हो। इसके क्षेत्र पर विचार साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार के दावे के मुकाबले किया गया था। आरम्भ में ही हम कह चुके हैं कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 राष्ट्रपति को विशेषाधिकार का दावा करने के लिए उपलब्ध है। आर० के० जैन बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में, पृ० सं० 143 पर पैरा 23 में

[1] (1993) 4 एस० सी० सी० 119.

यह अभिनिर्धारित किया गया था कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 77 (3) के अधीन बनाए गए सरकारी कार्य के सुविधापूर्वक किए जाने के लिए कार्य-नियमों के अनुसार मंत्रिपरिषद् के द्वारा अपनी कार्यपालिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। भारत सरकार (कारबार का संव्यवहार) नियम, 1961 [गवर्नमेंट ऑफ इंडिया (ट्रांजेक्शन ऑफ बिजनेस) रूल्स, 1961] में इस संबंध में प्रक्रिया उपबंधित है। पैरा 24 से 28 में सरकार की मंत्रिमंडलीय पद्धति के क्षेत्र की चर्चा करते हुए, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद् के रूप में ज्ञात मंत्रिमंडल देश के शासन के लिए दायी निकाय द्वारा चलाया और संचालित किया जाता है। वे संसद् का विश्वास प्राप्त करते हैं और पद पर तभी तक बने रह सकते हैं जब तक वे बहुमत का विश्वास बनाए रखते हैं। वे संसद् और जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनका सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। उनके कार्यपालक कृत्यों में नीति निर्धारण तथा इसका निष्पादन करना, विधान का प्रवर्तन, व्यवस्था कायम रखना, सामाजिक और आर्थिक कल्याण की वृद्धि और विदेश नीति का संचालन सम्मिलित हैं। संक्षेप में संघ के ऐसे कार्यों में सामान्य प्रशासन का चलाना या पर्यवेक्षण करना सम्मिलित है, जिनमें राजनीतिक क्रियाकलाप और सभी व्यवसाय-संबंधी क्रियाकलाप को चलाना इत्यादि सम्मलित हैं और वे संविधान के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व रखते हैं। उसमें यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि इस संबंध में साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार के दावे के अध्यधीन, मंत्री न्यायालय के समक्ष दस्तावेज प्रस्तुत करके न्यायालय की सहायता करने के लिए अनुच्छेद 142 के अधीन सांविधानिक रूप से आबद्ध था और न्यायालय को, विरोधी पक्षकार को दस्तावेज प्रकट करने के लिए निदेश करने से पूर्व, लोक न्याय के हित और राज्य के हित—परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हितों—के बीच संतुलन कायम रखना होता है। किन्तु दस्तावेज न्यायालय के समक्ष, बंद कमरे में उसके परिशीलन के लिए, प्रस्तुत किए जाएंगे।

216. अनुच्छेद 74 (2) में यह उपबंध है कि इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी। दूसरे शब्दों में, इससे न्यायालय द्वारा विचार के लिए सलाह को पेश करने से इनकार करने के लिए मंत्रिपरिषद् को उन्मुक्ति दिया जाना आशयित है। अन्य शब्दों में, यह एक निर्बन्धनात्मक-शक्ति है। न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान की आधारभूत और मूल विशेषता है और सांविधानिक न्यायालय का यह कर्तव्य और दायित्व है कि वह न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करे। अनुच्छेद 142, विशेषतया, इस न्यायालय को अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, "अपने समक्ष लंबित किसी वाद या विषय (मामले) में पूर्ण न्याय करने के लिए" कोई आवश्यक आदेश पारित करने के लिए शक्ति प्रदत्त करता हैं और इस प्रकार पारित आदेश, भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र ऐसी रीति से, जो संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन विहित की जाए, और ऐसी विधि के अध्यधीन, प्रवर्तनीय होगा। उपर्युक्त निर्बन्धन मात्र प्रक्रिया के विषय में है और वह अनुच्छेद 142 के अधीन प्रदत्त शक्ति को प्रभावित नहीं करता। इस न्यायालय को "किसी व्यक्ति को हाजिर कराने, किन्हीं दस्तावेजों के प्रकटीकरण या पेश करने या अन्वेषण कराने" के लिए कोई आदेश करने की समस्त और प्रत्येक शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार इस न्यायालय की किसी दस्तावेज को पेश करने या प्रकट करने का निदेश करने की शक्ति एक सांविधानिक शक्ति है। अनुच्छेद 74(2)

के अधीन निर्बन्धनात्मक खण्ड और अनुच्छेद 142 के अधीन इस न्यायालय की व्यापकतर शक्ति को सुमेलित करने की आवश्यकता है।

217. आर० के० जैन वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायालय को यह विचार करना चाहिए कि क्या लोकहित इतना सशक्त है कि यह मुकदमेबाज के साधारण अधिकार और हित पर अभिभावी हो सकेगा और यह कि वह न्यायालय के समक्ष प्रतिस्पर्धी हित को संतुलित करने के लिए सुसंगत साक्ष्य प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकेगा। यह देखना न्यायालय का कर्तव्य है कि इसमें कोई लोकहित है और यह कि राष्ट्र या लोक सेवा को किसी दस्तावेज के प्रकटीकरण से कोई हानि नहीं होगी और ऐसा कोई लोकहित है जहां दस्तावेजों के प्रकटीकरण से यदि न्याय होता है तो उन्हें पेश किया जाना चाहिए, इससे न्याय-प्रशासन विफल नहीं होगा। इसलिए न्यायालय का यह सर्वोच्च अधिकार और कर्तव्य है, न कि शासन का, कि वह यह विनिश्चित करे कि दस्तावेज को पेश किया जाए या नहीं। न्यायालय को यह विनिश्चित करना चाहिए कि लोकहित का कौन सा पक्ष प्रभावी है, दूसरे शब्दों में, कौन सा लोकहित यह अपेक्षा करता है कि दस्तावेज न्याय को और अर्थपूर्ण न्यायिक पुनर्विलोकन को प्रभावशील करने के लिए पेश किए जाने चाहिए और/या उन्हें पेश नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार कुछ मामलों में राज्य और न्याय-प्रशासन के बीच लोकहितों की प्रतिस्पर्धा के टकराव में न्यायालय को इनके क्रम का मूल्यांकन करके यह विनिश्चित करना चाहिए कि संतुलन कैसे कायम किया जाए। न्यायालय को आक्षेप की विधिमान्यता को प्रश्नगत करने के लिए प्रयोजन हेतु विचार करने के लिए यह देखना चाहिए कि क्या दस्तावेज राज्य के कृत्यों से संबंधित है, दूसरे शब्दों में यह ऐसी प्रकृति का है कि इसका प्रकटीकरण राज्य या राज्य के हित या लोक सेवा के विपरीत होगा और यदि ऐसा है तो क्या अप्रकटीकरण से लोकहित इतना मजबूत है कि यह न्याय के प्रशासन में लोकहित पर अभिभावी होगा। उस आधार पर इसे प्रकट किया जाना अनुज्ञात नहीं किया जाना चाहिए। (देखिए पैरा 16 और 17)

218. जब किसी एक वर्ग के रूप में कारबार के सामान्य संव्यवहार में मंत्रि-परिषद् द्वारा राज्य के दस्तावेजों के प्रकटीकरण के लिए लोकहित में छूट का दावा किया गया हो और यह ऐसे हित से टकराव रखता है तो यह न्यायालय का अधिकार और कर्तव्य है कि यह उस मामले में भी संतुलन बनाए और यह कि इससे राष्ट्र को या लोक सेवा को कोई हानि न पहुंचे और न्याय-प्रशासन में प्रत्येक मामले पर उसकी पृष्ठभूमि में विचार किया जाना चाहिए।

219. संविधान के अधीन राष्ट्रपति को दस्तावेजों को प्रकट न करने का कोई विवक्षित प्राधिकार नहीं है। दूसरी ओर न्यायिक पुनर्विलोकन को प्रभावी बनाने के लिए यह उनका सत्यनिष्ठ सांविधानिक कर्तव्य है कि वह न्यायालय की सहायता के लिए कार्य करे। (देखिए पैरा 54 और 55)। यह मामला शक्ति के कानूनी प्रयोग से संबंधित था। कारबार के नियमों के अनुसार सीगेट (सी ई जी ए टी) के अध्यक्ष को नियुक्त करने में और उस मामले के तथ्यों विचार करने के उपरान्त यह अभिनिर्धारित किया गया था कि दूसरे पक्ष को दस्तावेजों पर का सीधा प्रकटीकरण आवश्यक नहीं था। संविधान की स्कीम और पूर्ण रूप से न्याय करने के

लिए सर्वोच्च न्यायिक पुनर्विलोकन को दृष्टिगत करते हुए प्रत्येक मामले में यह विचार किया जाना चाहिए कि क्या अभिलेख को पेश किया जाना चाहिए। किन्तु अनुच्छेद 74(2) के अनुसार मंत्रिपरिषद् द्वारा वस्तुतः दी गई सलाह पेश किए जाने से उन्मुक्त है और न्यायालय इस प्रश्न की जांच नहीं कर सकता कि यदि ऐसा है, तो मंत्री द्वारा क्या सलाह दी गई थी। दूसरे शब्दों में सलाह के अतिरिक्त दूसरे अभिलेख में राष्ट्रपति को मंत्री द्वारा दी गई सलाह के अतिरिक्त अन्य अभिलेख, यदि आवश्यक हो, सांविधानिक न्यायालय के समक्ष पेश किया जाना अपेक्षित है। यह सीमित निर्वचन इस न्यायालय को अनुच्छेद 142 के अधीन दी गई बृहत शक्ति के लिए एक हितसाधन होगा और अनुच्छेद 74(2) द्वारा प्रदत्त संरक्षण से संतुलन को कायम रखेगा।

220. अनुच्छेद 74(2) इस बारे में जांच का वर्जन करता है, न कि अधिकारिता के प्रयोग में विनिश्चय के लिए विशेषाधिकार के इस दावे का, कि क्या राष्ट्रपति को मन्त्रि-परिषद् द्वारा सलाह दी गई थी और यदि ऐसा है, तो राष्ट्रपति को मंत्रि-परिषद् द्वारा क्या सलाह दी गई थी। अनुच्छेद 74(2) के अधीन प्रदत्त शक्ति केवल ऐसे सीमित मामलों में लागू होती है जहां वह मामला मंत्रिपरिषद की सलाह पर राष्ट्रपति के आदेशों के लिए उसके पास गया हो। ऐसी राजनीतिक पार्टी के नेता को सरकार बनाने के लिए बुलाने के व्यक्तिगत स्वविवेक का प्रयोग जिसके पक्ष में बहुमत है या ऐसे नेता को जिसने इसके लिए अपनी असमर्थता प्रकट कर दी है या दूसरी संभाव्यताओं का पता लगाने का उनका व्यक्तिगत निर्णय न्यायिक संवीक्षा के अधीन नहीं है। सलाह और सहायता पर आधारित कृत्य भी इसके विस्तार को सीमित करता है, उदाहरणार्थ राष्ट्रपति की क्षमा प्रदान करने की शक्ति या मंत्री आदि को नियुक्त करने की शक्ति राष्ट्रपति का विवेकाधिकार है। इसी प्रकार अनुच्छेद 85 के अधीन संसद् के सत्रावसान या संसद् के विघटन का न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता। लोगों के प्रति यह उत्तरदायित्व प्रधान मंत्री का है यद्यपि राष्ट्रपति अपनी स्वविवेकीय शक्ति के अधीन भी प्रधान मंत्री की सहायता और सलाह से कार्य करता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 86 के अधीन राष्ट्रपति का लोक सभा और राज्य सभा को संबोधित करने और उन्हें संदेश भेजने का अधिकार भी मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से उसके स्वविवेकीय क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। राष्ट्रपति की अनुच्छेद 123 के अधीन अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति तथा अनुच्छेद 200 के अधीन विधेयकों पर अनुमति देने की शक्ति अनुच्छेद 201 के अधीन विचार किए जाने के लिए आरक्षित रखी गई है। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रधान मंत्री के चयन पर राष्ट्रपति का स्वविवेक उनका व्यक्तिगत वैवेकिक अधिकार है यद्यपि ऐसे व्यक्ति के चयन पर सर्वोच्चता के साथ विचार किया जाएगा जो सदन में बहुमत का नेता होना चाहिए। इस प्रकार जब सरकार का सदन में बहुमत समाप्त हो जाता है और वह सत्ता छोड़ने से इंकार करती है तो सरकार को बर्खास्त करने का उनका सर्वोच्च कर्तव्य है। जैसा कि पहले कहा गया है, लोक सभा का विघटन प्रधान मंत्री की सलाह पर होता है। राष्ट्रपति राजनीति में अंतर्विष्ट हुए बिना लोक सभा को विघटित करते समय अनुच्छेद 85 के अधीन अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करेंगे। किन्तु ऐसी सलाह की अन्तिम जिम्मेदारी और उत्तरदायित्व प्रधान मंत्री पर होता है। राष्ट्रपति प्रचलित परिपाटियों (कन्वेंशन) के अनुसरण में कार्य करते हुए लोगों को सदन को विघटन करने की आवश्यकता की अपील का संदेश देते हैं और उन्हें चुनाव में अपनी राय व्यक्त करने की आवश्यकता बताते हैं। इस संबंध में सहायता और सलाह

की संसूचना गोपनीय होगी और ऐसी सलाह की प्रकृति या स्वयं अभिलेख की जांच वर्जित होगी। अतः अनुच्छेद 74(2) के अधीन जांच सलाह के संबंध में है। ऐसी दशा में राष्ट्रपति को दी गई सलाह की जांच, केवल शक्ति को सीमित करने तक है, न कि संविधान के अनुच्छेद 71 के साथ पठित अनुच्छेद 73 के अधीन राष्ट्रपति के नाम में व्यक्त किए गए प्रायिक प्रशासनिक निर्णय को सीमित करने के लिए।

221. यह बात एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखी जा सकती है कि अनुच्छेद 361 के अधीन राष्ट्रपति किसी भी न्यायालय में अपनी शक्ति और कर्तव्यों के निर्वहन या उन शक्तियों के अनुपालन में तथा अपने कर्तव्यों के निर्वहन में तात्पर्यित किसी कृत्य के करने में उन्हें उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। जब राष्ट्रपति आवश्यक रूप से मंत्रिपरिषद की सलाह और सहायता से ही कार्य नहीं करते बल्कि केवल "या अन्यथा अर्थात किसी दूसरी सूचना पर" कार्य करते हैं तो अनुच्छेद 356(1) के अधीन उनका यह समाधान व्यक्तिपरक होता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती, और वह संविधान के अनुच्छेद 356(1) के अधीन अपेक्षित उद्घोषणा जारी करते हैं। यदि उसे आक्षेपित करते हुए उनसे इसके कारण बताने के लिए कहा जाए तो वे ऐसी स्थिति में न्यायिक प्रक्रिया से उन्मुक्त हैं। अनुच्छेद 356 के अधीन अधिसूचना जारी करने के लिए "अन्यथा स्वयं के समाधान" पर राष्ट्रपति का समाधान होने में भारत संघ का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। न्यायालय को राष्ट्रपति द्वारा उनकी शक्ति के प्रयोग के आधारों पर कोई भी सन्तुष्ट नहीं करा सकता। इस प्रकार हम इस सुविचारित मत के हैं कि क्या सलाह, यदि सलाह दी गई है, मंत्रिपरिषद् द्वारा अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए दी गई थी—यह प्रश्न संविधान के अनुच्छेद 74(2) के अधीन किसी भी न्यायिक जांच से परे है। ऐसा होने पर भी वह अभिलेख जिसके आधार पर सलाह दी गई थी, सलाह की सामग्री का गठन करता है। किन्तु अभिलेख, की सामग्री, सलाह के आधार या विनिश्चय को अनुच्छेद 74(2) के अधीन पूर्ण संरक्षण प्राप्त नहीं है। सामान्य रूप से "प्रारम्भिक आदेश" या "प्रारम्भिक जांच आदेश" द्वारा अभिलेख को समन नहीं कराया जाता। यदि इसे इस प्रकार मंगाया भी जाता है तो उद्घोषणा के आदेश, यदि प्रस्तुत, और दूसरे अभिलेख की सुसंगत सामग्री को तब तक नहीं देखा जाता जब तक कि अभिवचनों द्वारा ऐसा करने के लिए मजबूत मामला साबित नहीं कर दिया जाता। यदि न्यायालय द्वारा सम्यक् रूप से विचार करने के उपरान्त और किसी उच्च न्यायालय द्वारा कारण सहित आदेश दिए जाने पर प्रारम्भिक आदेश जारी किया जाता है तो इस न्यायालय द्वारा या उच्च न्यायालय द्वारा साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन संरक्षण के अध्यधीन ऐसे अभिलेख की बन्द कमरे में परीक्षा करने के उपरान्त प्रारम्भिक जांच आदेश के अनुसरण में ऐसा अभिलेख पेश करना होगा।

222. इस प्रक्रम पर हम यह दोहराते हैं कि न्यायिक पुनर्विलोकन विनिश्चय के गुणागुण से संबंधित नहीं होता बल्कि यह विनिश्चय किए जाने की प्रक्रिया से संबंधित होता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति यह मानती है कि राजनैतिक उत्तरदायित्व दूसरे प्रकार के उत्तरदायित्वों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं अतः न्यायपालिका को, यह महसूस करने पर कि संविवाद न्यायिक रूप से खोजे जा सकने वाले (ज्ञेय) तथा प्रबन्धनीय मानकों पर आधारित नहीं है, न्यायिक पुनर्विलोकन से विरत रहना चाहिए। तथापि, यदि

राजनैतिक झुरमुट में छद्मवत कोई विधिक प्रश्न उत्पन्न होता है तो सांविधानिक न्यायालय की शक्ति और दरवाजे बन्द नहीं है और न ही किसी राजनैतिक निकुंज की आड़ में ऐसे राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करने से उन्हें प्रतिषिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि संविधान ने व्यक्त रूप से यह कार्य करने का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा है। यदि इस बात का समाधान हो जाता है कि न्यायिक रूप से खोजे जा सकने वाले और प्रबन्ध योग्य विवाद्यक उत्पन्न हुए हैं तो न्यायालय प्रारम्भिक जांच आदेश जारी करने के लिए स्वतंत्र है और मामले पर विचार कर आरम्भिक आदेश जारी कर सकता है। इस प्रकार इस न्यायालय का यह कर्तव्य और उत्तर-दायित्व है कि इस पक्ष से संबंधित विधि का पता लगाए तथा इसे निर्धारित करे और इस विधि को अभिनिर्धारित करते हुए संविधान द्वारा सौंपे गए कर्तव्य को, संविधान के अंतिम निर्वचनकर्ता के रूप में, पूरा करे; हालांकि यह एक संवेदनशील बात है, और इस संबंध में समुचित घोषणा करे। इसी प्रकार यह न्यायालय सीमा की घोषणा और निर्धारण करता है, और क्या कार्यवाही से किसी सीमा का अतिक्रमण हुआ है या नहीं।

संविधान का निर्वचन तथा महत्त्व-निर्धारण का विस्तार।

223. इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर चर्चा करने से पहले इसकी भूमिका बताना आवश्यक है कि संविधान उत्तरवर्ती पीढ़ियों के लिए आशयित है। संविधान निर्माताओं की बेहतरीन दूरदृष्टि, भी भारत सरकार अधिनियम में आपातकालीन उपबंधों के क्रियान्वयन के पुराने इति-हास के सिवाय, राजनैतिक शासन की कमियों को नहीं देख सकती थी। उन्होंने यह चाहा था कि अनुच्छेद 356 को लागू नहीं किया जाना चाहिए या यह एक निष्क्रिय उपबंध बना रहे तथा आपवादात्मक स्थिति में (कोताही से) ही इसका प्रयोग किया जाए। इस संविधान के प्रवर्तन में अनुच्छेद 356 का प्रयोग 90 बार किया गया है—शक्ति का यह प्रयोग भयभीत करने वाला है। किन्तु यह एक सुस्थापित विधि है कि संविधान के निर्वचन में हेतु, असद्-भावना या शक्ति के दुरुपयोग की उपधारणा नहीं की जाती जब तक कि किसी विशिष्ट मामले में उसे आक्षेपित न किया गया हो और उस आधार पर वह प्रश्न विचारार्थ न उठा हो। साक्ष्य अधिनियम की धारा 114(ङ) की एक कानूनी उपधारणा यह है कि शासकीय कृत्यों का नियमित रूप से पालन किया गया है।

224. प्रोफेसर बोर्क ने अपने लेख **"न्यूट्रल प्रिंसिपिल्स एण्ड सम फर्स्ट अमेंडमेंट्स प्रोब्लम्स"**[1] में यह कहा है कि न्यायालयों द्वारा मूल मान्यताओं (सिद्धांतों) के चयन को न्यायो-चित नहीं ठहराया जा सकता। जब सांविधानिक सामग्री किसी सिद्धांत को स्पष्ट रूप से अधिमान देने का उल्लेख नहीं करती तो किसी एक सिद्धांत के ऊपर दूसरे सिद्धांत को अधिमान नहीं दिया जा सकता। न्यायाधीश को कानून की भाषा, उसके इतिहास तथा उनके ऋजु तात्पर्यों तक सीमित रहना चाहिए, न कि नए अधिकारों का सृजन करना चाहिए। इसी तटस्थ सिद्धांत को प्रोफेसर हंसालिन्डे द्वारा अपने लेख **"जस्टेज क्रिटिक्स एण्ड रियलिस्टिक ट्रेडिशन्स"**[2] में मान्यता देते हुए यह कहा गया है कि न्यायिक उत्तरदायित्व किसी विनिश्चय के वर्तमान विस्तार और अर्थ का अवधारण करने के साथ आरंभ होता है और वहीं समाप्त हो जाता है

---

[1] 47 इंडियन ला जर्नल पृष्ठ 1, 1971 संस्करण पृष्ठ 8.

[2] 82 येल ला जर्नल 227 पृष्ठ 254 (1972)

जिसे पूर्ववर्ती समय में राष्ट्र ने संविधान के रूप में स्पष्ट और अधिनियमित किया। प्रोफेसर एली ने अपने लेख "वेजेज ऑफ क्राइंग वुल्फ में, जो रिओ बनाम वेड"[1] वाले मामले पर एक टिप्पणी है, यह कहा है कि यदि कोई तटस्थ नियम सैद्धांतिकता (मान्यता)से जुड़ा नहीं है तो संविधान उसे विशेष रूप में चिह्नित करता है। यह कोई सांविधानिक सिद्धांत नहीं है और इसकी अनदेखी करना न्यायालय का कार्य नहीं है। लियोनार्ड डब्ल्यू लेवी की कृति "अमेरिकी संविधान का विश्वकोष" के पृष्ठ 464 पर यह कहा गया है कि "संविधान एक राजनैतिक दस्तावेज है, इससे राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है; इसके निर्वचन का कार्य राजनीतिक कार्य है। इसलिए सांविधानिक निर्वचन का कोई सिद्धांत संविधान के ही मानक सिद्धांत की पूर्व कल्पना कर लेता है—उदाहरणार्थ प्रतिबंधों से संबंधित यह सिद्धांत कि अंगीकारकों के शब्द और आशय उन पर अधिरोपित किए जाने चाहिए जो संविधान को लागू करते हैं या उसका निर्वचन करते हैं। रोनाल्ड डोरकिन ने यह मत व्यक्त किया है "कि किसी भी सांविधानिक सिद्धांत के कुछ भाग आशयों या विश्वासों या वस्तुतः लोगों के कार्यों पर निर्भर नहीं होने चाहिए जिन्हें सिद्धांत निर्माताओं के रूप में नामित किया है। कुछ भाग स्वतः ही राजनैतिक या नैतिक सिद्धांत पर आधारित होने चाहिए अन्यथा यह सिद्धांत पूर्ण रूप से चक्रिल हो जाएगा।" निर्वचनकर्ताओं के रूप में न्यायालयों को अनेकों मामलों में ऐसी महत्त्वपूर्ण सांविधानिक रिक्तियों को पूरा करना चाहिए। न्यायालयों को स्वयं को लोक मूल्यों के निर्धारक तथा परिवर्तन करने में सक्षम और सिद्धांतों के निर्धारक के रूप में स्थापित करना चाहिए। उनकी नैतिक युक्ति का स्रोत और नैतिक सत्य की खोज ही महत्त्वपूर्ण प्रकृति के मामलों के लिए, जिनमें लोक मूल्य, नैतिक मूल्य या नियम अन्तर्ग्रस्त हैं, उस समय सर्वोत्तम उपलब्ध नैतिक सत्य है। दूसरे सामाजिक विनिश्चयकर्ताओं के लिए, यथा राज्य विधायिका और कार्य पालिका के लिए, क्या शेष रहता है। गैर मौलिक राजनैतिक प्रक्रिया कहां उपयुक्त है। प्रोफेसर नेल के० कोमुजर ने अपने लेख "दि फीचर्स ऑफ इन्टरप्रेटिंग कांस्टीट्यूशन"[1] में यह कहा है कि गैर मौलिक निर्वचन करने वालों ने उपरोक्त प्रश्नों को बहुत हद तक अनुत्तरित छोड़ दिया है। उन्होंने कहा है कि "वे ऐसे प्रतीत होते हैं या विश्व को यह विश्वास दिलाने में व्यस्त रहते हैं कि किसी को भी विस्तीर्ण मौलिक दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए और न ही भाषा के दर्शन का कोई एक आशय अभिभावी होना चाहिए क्योंकि वे इस अवयव को बताने में असफल हुए हैं—मेरे विचार से प्रश्न यह है कि सांविधानिक विधि का आवश्यक प्रश्न यह है कि सांविधानिक विधि के आवश्यक प्रश्न को कौन विनिश्चित करता है? अस्पष्ट रूप से भी किसी गैर मौलिक विचारधारा ने न्यायपालिका के लिए किसी नियत कार्य को अभिव्यक्त नहीं किया है—जैसे कि "लोक या पारम्परिक मूल्यों की खोज" या "सिद्धांतों का संरक्षण" या "नैतिकता का उद्भव" यह बताते हैं कि न्यायालयों को क्या करना चाहिए या क्या अभिनिर्धारित या व्याख्या करनी चाहिए और वस्तुतः वे क्या करते हैं। न्यायपालिका को इन स्कीमों के अधीन सभी कार्य करते हुए या कुछ भी नहीं करते हुए देखा जा सकता है। यदि न्यायपालिका मात्र ऐसे मूल्यों या सिद्धांतों की सूची बनाने का कार्य करती है जिनके ऊपर राजनैतिक प्रक्रिया में विचार करना चाहिए तो ऐसे न्यायिक कार्य को व्यर्थ का कार्य कहा जाएगा। न्यायालय द्वारा विचारणीय मूल्यों और सिद्धांतों की सूची वस्तुतः अनंत है।

---

[1] 1982 येल ला जर्नल 1920 पृष्ठ 1949 और 1973.

[2] नोर्थ वैस्टर्न ला रिव्यू, 1986-87 पृष्ठ 191, 202 से 210.

थोड़े से कुतर्क प्रयोग से कोई भी व्यक्ति किसी भी विधान में कोई मूल्य या न्यायालय द्वारा विचारणीय सिद्धांत की खोज कर सकता है। इसी प्रकार सामान्य रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन की न्यूनतम जांच या तर्कसंगत पुनर्विचार तकनीक लागू की गई है। पुनर्विलोकन का यह स्तर वस्तुतः पुनर्विलोकन नहीं है। दूसरी ओर, ऐसा कोई व्यक्ति जो दलीलों की इस प्रवृत्ति के निकट है कि गैर मौलिक विचारधारा वाले लोग, न्यायिक कृत्य केवल उद्घोषणा के लिए लोक मूल्यों के टकराव को संतुलित करने में समझते हैं, वे इनसे किस सिद्धांतों की प्राप्ति करते हैं। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका का काम मुख्य सामाजिक विनिश्चय करना हो जाता है। लोक मूल्यों में विरोधों का निराकरण करना सामाजिक विनिश्चय करने वाले के समवर्ती होता है। यही कार्य विधायिका, कार्यपालिका और यहां तक की मार्कंड करती है। सरल रूप में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि गैर मौलिक विचारधारा वाले, पूर्ववर्ती चर्चा द्वारा उठाए जाने वाले आवश्यक मुद्दों पर विचार नहीं करते। तब इस विश्व में विनिश्चय करने का उत्तरदायित्व अत्यन्त दोषपूर्ण विनिश्चय करने वालों को कैसे आबंटित किया जा सकता है। जब कैसे इन विद्वानों (यदि दूसरी संस्थाओं को छोड़ इसे अकेले ही लें) की न्यायपालिका अविश्वास, अनिश्चितता और अनभिज्ञता जैसे शब्दों का मुकाबला करेगी। न्यायिक पुनर्विलोकन के मनीषी भूमिका के प्रति ऐसी स्थिति में विमुक्त नहीं हुआ जा सकता जब ऐसी सांविधानिक विद्वता की सीमा एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन गई हो। विभिन्न गैर मौलिक स्थितियों के अस्पष्ट निरूपण में अन्तर्निहित सीमाओं को पार किए बिना कोई व्यक्ति हमारे सांविधानिक इतिहास की अपेक्षा महत्वपूर्ण रूप से अधिक न्यायिक क्रियावाद को स्पष्ट कर सकता है। अत्यधिक क्रियावादी भाव में भी सामान्य रूप से उदाहरणार्थ "दी लोशनर एण्ड बारेन्स कोर्ट्स इराज" के अनुसार यह प्रतीत होता है कि न्यायपालिका ने अधिकतर प्रश्नों को विनिश्चित न करने का निर्णय लिया है और अधिकांश क्षेत्रों में लोक मूल्यों या नैतिक उद्भवों की खोज अन्य सामाजिक विनिश्चयकर्ताओं पर छोड़ दी है। हालांकि ऐसे मामलों का उपाय है तो भी यह प्रतीत होता है कि विधायिका, कार्यपालिका और बहुत अधिक सीमा तक निर्वचन करने वाले प्रशासनिक अभिकरणों ने क्रियात्मक रूप से लोक विनिश्चय करने का एक छोटा अंश मात्र ही प्रभावित किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गैर मौलिक विचारधारा वाला साहित्य बहुत सीमा तक उस "संवैधानिक विश्लेषण" से असंगत है जहां तक यह अत्यधिक सावधानीपूर्वक यह विचार नहीं करता कि किन परिस्थितियों में प्रायिक रूप से न्यायिक निर्वचन की निष्क्रिय पद्धति को कम प्रचलित किंतु अधिक महत्वपूर्ण सक्रिय पद्धति द्वारा प्रतिस्थापित किया जाए। पृष्ठ 721 पर कानूनी निर्वचन के संबंध में बेनियन ने कहा है कि क्योंकि सांविधानिक विधि एक राज्य की चहारदीवारी है, इसलिए इसकी एक दिशा बदल कर इसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यहां एक चेतावनी देना आवश्यक है। संविधान का निर्वचन करने में, दैहिक स्वतंत्रता को या किसी समाज के एक वर्ग के अधिकारों को प्रभावी बनाने में थोड़ा सा योगदान विधि को लागू करके या "उद्देश्यपूर्ण सिद्धांत" द्वारा उत्कंठित रिक्तियों को पूरा करने के लिए अंगीकार करने से होगा जो विधि के उद्देश्य को पूरा करेगी। किन्तु हमें राजनैतिक क्षेत्र में संविधान के क्रियान्वयन का निर्वचन करने के लिए कहा गया है। प्रश्न यह है कि क्या यह अनुज्ञेय है।

राष्ट्रपति का समाधान और न्याय्यता

225. राष्ट्रपति का यह समाधान कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य की सरकार को संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, सामान्यतया राज्यपाल की रिपोर्ट पर या किसी ऐसी दूसरी सूचना पर आधारित होता है जो राष्ट्रपति के पास होती है, दूसरे शब्दों में "मंत्रिपरिषद", "राष्ट्रपति" का समाधान हुआ। सामान्यतया राज्यपाल की रिपोर्ट इसका आधार होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि राज्यपाल की रिपोर्ट में राष्ट्रपति के समाधान पर पहुंचने के सुसंगत तात्त्विक तथ्य होने चाहिए। किसी ऐसे समुचित मामले में जिसमें अनुच्छेद 356 में तात्पर्यित स्थिति को राष्ट्रपति को सूचित करने में राज्यपाल इच्छुक नहीं हो, वहां राष्ट्रपति संचार के अधिकृत माध्यमों से प्राप्त अन्यथा सूचना प्राप्त करेगा और अपने पास उपलब्ध सूचना पर विचार करने के उपरान्त राष्ट्रपति का यह समाधान होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य की सरकार उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती।

"अन्यथा"

226. अनुच्छेद 356(1) में शब्द "अन्यथा" प्रारम्भ से प्रारूप अनुच्छेद 278 में नहीं था बल्कि इसे एक संशोधन द्वारा बाद में पुरःस्थापित किया गया था। डाक्टर अम्बेडकर ने संविधान सभा में यह कहते हुए इस संशोधन का समर्थन किया था कि "मूल अनुच्छेद मात्र यह उपबंधित करता है कि राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट पर कार्रवाई कर सकता है। "या अन्यथा" शब्द इसमें नहीं थे। अब यह महसूस किया गया है कि इन तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए कि अनुच्छेद 277क (अब अनुच्छेद 355), जो अनुच्छेद 278 (अब अनुच्छेद 356) का पूर्ववर्ती है, केन्द्र पर एक यह कर्तव्य और उत्तरदायित्व अधिरोपित करता है कि राज्य के राज्यपाल द्वारा दी गई रिपोर्ट पर ही राष्ट्रपति की कार्यवाही को निर्बन्धित और सीमित करना उचित नहीं होगा, जो निस्संदेह अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए ऐसी कार्यवाही करेगा। यह हो सकता है कि राज्यपाल कोई रिपोर्ट ही न दे। मैं अनुच्छेद 277क को प्रभावी करने के लिए एक आवश्यक परिणाम के रूप में यह मानता हूं कि हमें राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट न मिलने पर भी कार्यवाही की स्वतंत्रता देनी चाहिए। जब राष्ट्रपति को कुछ तथ्यों की जानकारी हो जाती है, भले ही वह उनके ज्ञान के आधार पर हो, तो उन्हें अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए कार्यवाही करनी चाहिए।" यह शक्ति बहुत ही विस्तृत है। राष्ट्रपति का समाधान एक व्यक्तिपरक समाधान है। यह सुसंगत सामग्री पर आधारित होना चाहिए। यह सिद्धांत, कि किसी प्रशासनिक अधिकारी का ऐसा समाधान जो असंगत और सुसंगत आधारों पर होता है तथा जब कुछ असंगत आधारों पर विचार किया जाता है तो सम्पूर्ण आदेश दूषित हो जाता है, अनुच्छेद 356 के अधीन की गई कार्यवाही को लागू नहीं होता है। राष्ट्रपति की उद्घोषणा का न्यायिक पुनर्विलोकन विनिश्चय के गुणागुण से संबंधित नहीं होता है बल्कि यह उस रीति से संबंधित है जिसमें यह विनिश्चय किया गया था। राष्ट्रपति के समाधान की तुलना किसी प्रशासनिक अभिकरण को प्रदत्त वैवेकिक अधिकार के प्रयोग में उसके ऐसे समाधान से नहीं की जा सकती जो उसके व्यक्तिपरक समाधान पर पहुंचने के लिए उसके द्वारा कुछ वस्तुपरक सामग्री को विचार में लेने पर होता है, जैसे निरोध के मामले में प्रशासनिक कार्यवाही या अधीनस्थ विधायन के अधीन कार्यवाही। भारत

सरकार अधिनियम के उपबंधों या इसी प्रकार के पाकिस्तान के संविधान के उपबंधों की पाकिस्तान के सुप्रीम कोर्ट द्वारा किए गए निर्वचन से हमें कोई सहायता नहीं मिलती। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से होता है, जिसका प्रमुख प्रधान मंत्री होता है। वे संसद के प्रति जवाबदेह हैं और लोगों के प्रति उत्तरदायी हैं।

227. राष्ट्रपति के समाधान की जांच के लिए न्यायिक रूप से खोजी जा सकने वाली और नियंत्रणीय स्तरमानों के रूप में कही जा सकने वाली ऐसी कोई संतोषप्रद कसौटी नहीं है, जिससे यह मालूम किया जा सके कि राष्ट्रपति का व्यक्तिपरक समाधान होते समय क्या आधार विद्यमान थे। राष्ट्रपति का समाधान विभिन्न, विविध और बहुवर्णी आधारों पर हो सकता है। प्रारम्भिक रूप से समाधान का प्रश्न एक राजनैतिक प्रश्न है। व्यवहारिक रूप से अथवा किसी न्यायिक रूप से नियंत्रणीय स्तरमानों के आधार पर इस प्रश्न का न्याय-निर्णयन करना असंभव है। स्पष्ट रूप से संविधान निर्माताओं ने इस शक्ति को सर्वोच्च कार्यपालक, यथा भारत के राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् की सलाह और सहायता से प्रयोग करने के लिए न्यस्त किया है। राष्ट्रपति का समाधान व्यक्तिपरक होने से किन्हीं नियंत्रणीय स्तरमानों के आधार पर इसे न्यायिक रूप से मालूम नहीं किया जा सकता। न्यायालय को राष्ट्रपति के समाधान के स्थान पर अपना समाधान प्रतिस्थापित नहीं करना चाहिए। राष्ट्रपति का समाधान उनके द्वारा अपने तरीके से आकलन का परिणाम होता है, जो सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर किया जाता है कि राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती। ऐसी अनेक स्थितियां हो सकती हैं और कभी-कभी इन्हें प्रगणित भी नहीं किया जा सकता और न ही इसके लिए कोई संतोषप्रद कसौटी है किन्तु तथ्यों और परिस्थितियों के विवरण के आधार पर राष्ट्रपति इस समाधान पर पहुंच सकते हैं कि राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती। इसलिए व्यक्तिपरक समाधान किसी भी प्रकार से न्यायिक रूप से नियंत्रणीय स्तरमानों के आधार पर न्यायालय के विचार के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति के कार्यपालिक विनिश्चय को संसद के दोनों सदनों में अनुमोदन प्राप्त होने पर इसे विधायी अनुमोदन प्राप्त हो जाता है। उस दशा में, कार्यपालिका का समाधान सुसंगत नहीं रह जाता। संविधान का अनुच्छेद 100 संसद के अनुमोदन को किसी भी आधार पर आक्षेपित करने को सुरक्षा प्रदान करता है। उस स्थिति में न्यायिक पुनर्विलोकन अनुपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 226 के अधीन यदि रिट याचिका द्वारा समाधान के प्रश्न को कायम रखा जाता है तो इसी के अनुरूप यह उद्घोषणा कि राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि वहां न्यायिक आदेश द्वारा आपातकाल या राष्ट्रपति शासन लागू किया जाए, अनुज्ञेय किया जाना चाहिए और इससे इंकार नहीं जा सकता। क्या ऐसा हो सकता है?

228. अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) में शब्द 'सकेगा" ("may") का प्रयोग विवेकाधिकार को प्रकट करता है तथा राष्ट्रपति में (मंत्रिपरिषद् में) यह विचार करने की शक्ति निहित करता है कि क्या अनुच्छेद 356 में अनुध्यात स्थिति उत्पन्न हो गई है और राज्यपाल द्वारा पेश की गई रिपोर्ट से या अन्यथा दूसरी सूचना से यह दृष्टिगोचर होता है कि राज्य सरकार को बर्खास्त किया जाना आवश्यक है और विधानसभा को भंग करके राज्य का

प्रशासन अपने पास ले लेना चाहिए या खण्ड (1) के उपखंड (क) से (ग) में परिकल्पित कोई अन्य कदम उठाना आवश्यक हो गया है। जारी की गई उद्घोषणा संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन के अध्यधीन है (इसमें समुचित मामले में अननुमोदन भी सम्मिलित है)। दूसरे शब्दों में उद्घोषणा का जारी किया जाना तथा इसके अनुक्रम में कार्यवाही करना संसदीय नियंत्रण के अध्यधीन है जो स्वयं में एक प्रतिबंध है तथा राज्य के संघीय ढांचे तथा सरकार के प्रजातांत्रिक स्वरूप की संरक्षा का एक सुरक्षोपाय है। मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह का अनुमोदन करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करना कोई बाध्यता नहीं है। अनुच्छेद 74 के खंड (1) का परन्तुक, जो संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा अंत:स्थापित किया गया था, स्वयं एक और यह आश्वासन है कि यह सम्यक् और गहन विचार-विमर्श के पश्चात् जारी की गई थी यह इसे भी सुनिश्चित करता है कि राष्ट्रपति ने उसे दी गई सलाह और उसके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री पर अपने व्यक्तिपरक समाधान पर पहुंचते हुए सक्रिय रूप से विचार किया है। किसी समुचित मामले में वह मंत्रिपरिषद् को ऐसी सलाह को सामान्य रूप से पुनर्विचार करने के लिए कह सकता है या वह स्वयं भी मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई प्रस्तावित सलाह पर कोई वैकल्पिक उपाय सुझा सकता है। आवश्यक विवक्षा द्वारा यह सुनिश्चित करता है कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 73 के अधीन मात्र सांविधानिक प्रधान के रूप में कार्य नहीं करते हैं बल्कि वह विनिश्चय करने की प्रक्रिया में एक सक्रिय भागीदार भी है तथा ऐसी उद्घोषणा सम्यक् विचार-विमर्श के पश्चात् जारी की गई है। इस प्रकार न्यायालय अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा पर विचार नहीं कर सकता और राष्ट्रपति के स्थान पर अपना समाधान प्रतिस्थापित नहीं कर सकता।

"नहीं चलाया जा सकता"—अर्थ और विस्तार

229. हम यह दोहराते हैं कि भाग 18 में "स्रोत के सिद्धांत" का लागू होना, आपात उपबंधों को सुविधानुसार लागू किया जाना या वैयाकरण नियम, संविधान में विचार-विमर्श के उपरान्त अंतर्विष्ट किए गए अनुच्छेद 356 के प्रवर्तन को प्रभावहीन कर देगा। इसके बजाय फलानुमान के साथ सप्रयोजन प्रवर्तन की दृष्टि से यह विभिन्न स्थितियों, जो इसके प्रवर्तन से उत्पन्न हो सकती है, से निपटने के लिए आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रभावकारी होगा। अनुच्छेद 356 के खंड (1) में पद "नहीं चलाई जा सकती" से यह अभिप्रेत नहीं है कि राज्य की सरकार का चलाया जाना असंभव हो गया है। इसका केवल यह अर्थ है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि राज्य की सरकार का प्रशासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं लाया जा सकता। यह संविधान के किसी भी ऐसे उपबंध का अतिक्रमण नहीं है जो अनुच्छेद 356 के अधीन की गई कार्यवाही के उद्देश्य से कोई संबंध नहीं रखता हो। अनुच्छेद 356 के पार्श्व टिप्पण में महत्त्वपूर्ण शब्द "सांविधानिक तंत्र का विफल होना" अनुच्छेद 356(1) के प्रवर्तन के क्षेत्र में लागू होते हैं। मान लीजिए आम चुनावों के पश्चात् कोई भी राजनैतिक पार्टी या पार्टियों की संविद या समूह विधान सभा से पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में समर्थ नहीं है और राज्यपाल द्वारा किसी विकल्प का पता लगाने के बावजूद ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें कोई भी राजनैतिक पार्टी समुचित सरकार का गठन करने में समर्थ नहीं है, ऐसी दशा में यह पूर्ण रूप से किसी राजनैतिक पार्टी द्वारा ऐसी स्थिर सरकार बनाने में दृश्यमान असमर्थता का मामला है जिसे विधान मण्डल में बहुमत से सदस्यों

का विश्वास प्राप्त नहीं है। यह सांविधानिक तंत्र के विफल होने का एक मामला होगा। मान लीजिए, मंत्रिपरिषद् के गठन के पश्चात् आंतरिक विरोधों के कारण किसी पार्टी द्वारा या पार्टियों के समूह द्वारा या सदस्यों द्वारा एक विमर्शित संकट पैदा कर दिया गया हो और राज्यपाल ने राष्ट्रपति से विधानसभा को भंग करने की सिफारिश की हो, ऐसी स्थिति अकल्पनीय विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर उत्पन्न हो सकती है और यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि राज्य की सरकार नहीं चलाई जा सकती और वह अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा द्वारा विधानसभा को भंग कर देता है तो क्या इस विवाद्यक का विनिश्चय न्यायिकत: खोजे जा सकने वाले और नियंत्रणीय स्तरमानों के आधार पर किया जा सकेगा ? या यदि किसी मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाता है किन्तु मुख्यमंत्री त्याग-पत्र देने से इंकार करता है या वह समर्थन की कमी के कारण त्याग-पत्र दे देता है और दूसरी कोई राजनैतिक पार्टी वैकल्पिक सरकार का गठन करने की स्थिति में नहीं है या बहुमत रखने वाली पार्टी मंत्रि-परिषद् का गठन करने से इंकार करती है, क्या इससे सांविधानिक संकट पैदा नहीं होता है। इन परिस्थितियों में राज्यपाल ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजी और राष्ट्रपति उद्घोषणा ज़ारी कर देते हैं तो क्या यह कहा जा सकता है कि यह इस शक्ति का अयुक्तियुक्त या असद्भावी प्रयोग हुआ है। एक दूसरा उदाहरण लें, जिसमें राज्य की सरकार, हालांकि इसे विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है, निश्चित अवधि के पश्चात् भी जानबूझकर संविधान और विधि के उपबंधों के विपरीत प्रशासन चलाती है और दिखावे के रूप में यह सांविधानिक ढांचे के भीतर काम करती है, परन्तु अन्तर्निहित रूप से सांविधानिक सिद्धांतों और अभिसमयों का उत्तरदायी सरकार के रूप में निर्वहन न करके उनका उल्लंघन करती है या विदेशी ताकतों या अभिकरणों से गुप्त मिली भगत करके विध्वंसक स्थिति उत्पन्न कर देती है, इन सभी मामलों से प्रत्येक सांविधानिक तंत्र विफल होने का मामला है।

230. जबकि उन विभिन्न स्थितियों को निःशेष रूप में सूचीबद्ध करना संभव नहीं है जब न्यायोचित रूप से सांविधानिक संकट उत्पन्न हुआ माना जा सकता है जैसे (i) विस्तृत रूप में विधि और व्यवस्था तथा लोक व्यवस्था भंग होने की स्थिति; (ii) राज्य सरकार द्वारा अपने कार्यों का गम्भीर कुप्रबन्ध; (iii) शक्ति का दुरुपयोग या भ्रष्टाचार; (iv) राष्ट्रीय एकता या राज्य की सुरक्षा को खतरा या राष्ट्र के विघटन में सहायता करना या उसके लिए अवप्रेरित करना या स्वतंत्र प्रभुत्वसम्पन्न हैसियत की मांग करना और (v) संविधान के अधीन कार्य करने के छद्म वेश में संविधान का भंग या लोगों में प्रजातांत्रिक सामाजिक ताने-बाने के बिखराव के लिए भिन्नता या दुराव पैदा करना।

231. संविधान के अनुच्छेद 365 में यह उपबंधित है कि जहां इस संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए किन्हीं निदेशों का पालन करने या संविधान के दूसरे उपबंधों को प्रभावी करने में राज्य सरकार असफल रहती है, वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है, उदाहरण के तौर पर, राज्य संविधान के अनुच्छेद 257(2) के अधीन परिकल्पित राष्ट्रीय महत्व के घोषित साधनों या अन्य तात्विक साधनों की देखभाल और उनका अनुरक्षण

करने में असफल रहता है तथा निदेशों के बावजूद राज्य सरकार उनका अनुपालन करने में असफल रहता है। यह अनुच्छेद 356 के अधीन, परिकल्पना का एक दृष्टांत है। इसी प्रकार राज्य के भीतर रेलवे की सुरक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि अनुच्छेद 257(3) के अधीन जारी किया गया कोई निदेश रेलवे की सुरक्षा करने में राज्य सरकार द्वारा अनुपालित नहीं किया जाता है तो अनुच्छेद 365 के अधीन परिकल्पित यह एक अन्य उदाहरण है। इनमें और ऐसी ही समान स्थितियों में डा० अम्बेडकर द्वारा परिकल्पित चेतावनी देना आवश्यक है और इसकी अनुपालना करने में असफल रहने पर यह सांविधानिक तंत्र की असफलता का एक स्पष्ट मामला होगा। अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की उद्घोषणा के दौरान यदि अनुच्छेद 353-क के अधीन जारी किए गए निदेशों की अनुपालना नहीं की जाती या उन्हें प्रभावी नहीं किया जाता तो अनुच्छेद 365 के अधीन यह भी एक उदाहरण होगा। इसी प्रकार अनुच्छेद 360(3) के अधीन वित्तीय औचित्य का अनुपालन करने के लिए दिए गए निदेश की अनुपालना या वित्तीय आपात के बारे में उद्घोषणा अनुच्छेद 365 में परिकल्पित एक दूसरा उदाहरण है। हाल की घटनाएं कि मुख्य मंत्री प्रत्येक दिन राष्ट्रीय और क्षेत्रीय समाचार पत्रों में अपना आदमकद फोटो बहुत बड़े राज्य के खर्चे पर प्रकाशित कराता है। केन्द्र सरकार ऐसे व्यर्थ के व्यय को रोकने के लिए दायित्वाधीन है। पर्याप्त चेतावनी का कोई असर नहीं हुआ और न ही मुख्यमंत्री ने इसके प्रकाशन को रोका क्या यह अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही किए जाने के लिए उचित मामला नहीं है? ये उदाहरण उन परिस्थितियों के लिए एक साक्ष्य पेश करती हैं जिनमें राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है। ये उदाहरण सुधारात्मक प्रकृति के प्रतीत होते हैं। इन मामलों में अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही करने से पहले एक चेतावनी दी जानी चाहिए।

232. एक दूसरा उदाहरण लें। संविधान के अनुच्छेद 339(2) के अधीन भारत संघ किसी राज्य को उस राज्य में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए विनिर्दिष्ट स्कीम बनाने और उन्हें प्रवृत्त करने का निदेश देता है तथा इस प्रयोजन के लिए निधि आबंटित करता है। राज्य इसके अवज्ञा करके न तो कोई योजना बनाता है और न ही ऐसी स्कीम को प्रवृत्त करता है बल्कि ऐसे आबंटित वित्त को दूसरे प्रयोजनों के लिए व्यय कर देता है। यह सांविधानिक तंत्र के असफल होने का एक मामला है जिसमें निदेशक तत्वों में परिकल्पित जनजातियों के सामाजिक आर्थिक न्याय प्राप्त करने के सांविधानिक उद्देश्य को बढ़ावा देने में असफल होने पर राष्ट्रपति का यह समाधान उचित है कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है। जहां सशस्त्र विद्रोहों के कारण या भूकंप जैसी प्राकृतिक आपदाओं के कारण राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार अपना कर्तव्य करने में असमर्थ है, ऐसी स्थिति में भी राष्ट्रपति का यह समाधान कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार एक उत्तरदायी सरकार के कर्तव्यों का पालन करते हुए नहीं चलाया जा रहा है, न्यायालय की परिधि से बाहर है।

233. इसके विपरीत, मुख्य मंत्री के त्याग-पत्र देने पर यदि राज्यपाल किसी विरोधी पार्टी द्वारा वैकल्पिक सरकार के गठन का प्रयास या परीक्षा किए बिना विधान सभा भंग करने की सिफारिश करता है तो स्पष्टतया यह शक्ति के अत्यन्त अयुक्त प्रयोग का मामला

होगा। जहां स्वयं मुख्य मंत्री अपने बहुमत के विधायकों के सहयोग से असमर्थता व्यक्त करते हुए राज्यपाल को विधान सभा भंग करने की सिफारिश करता है और राष्ट्रपति द्वारा इस शक्ति का प्रयोग करते हुए तदनुसार सदन भंग कर दिया जाता है तो यह शक्ति के अत्यन्त अयुक्त प्रयोग का एक मामला होगा। जहां राज्यपाल राष्ट्रपति को विधान सभा भंग करने की सिफारिश इस आधार पर करता है कि मुख्य मंत्री किसी विशिष्ट धर्म, जाति या पंथ से संबंधित है तो यह भी एक ऐसा मामला होगा जिसमें राष्ट्रपति का समाधान अत्यन्त अयुक्त आधारों पर हुआ है और की गई कार्यवाही के संभावित प्रयोजन से इसका कोई संबंध नहीं है। यह स्पष्ट रूप से असांविधानिक है। एक उदाहरण लें, राष्ट्रीय भाषा हिन्दी है। केन्द्र अहिन्दी भाषी राज्य को देवनागरी लिपि में हिन्दी को राज्य की भाषा के रूप में अंगीकार करने के लिए निदेश देता है, हालांकि 95 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या हिन्दी नहीं जानती और न ही इसे सामान्य भाषा के रूप में अंगीकार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत होती, ऐसे निदेशों का अतिक्रमण, राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

234. मंत्रिपरिषद के माध्यम से अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा शक्ति का प्रयोग इनके ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और इसके प्रयोग में भारत संघ तथा राज्यों के बीच कटुकरण के बीज अन्तर्निहित हैं। अपेक्षित बहुमत के साथ जनादेश रखने वाली राजनैतिक पार्टी या मूल्यों पर आधारित सिद्धांत और कार्यक्रम, न कि सुविधा के अनुसार, के साथ संविद, सरकार का गठन करने और पूरी अवधि तक प्रशासन चलाने के लिए हकदार हैं जब तक कि उन्हें संविधान के अनुसार अपदस्थ नहीं कर दिया जाता। हमारे यहां बहु-पार्टी पद्धति है और अभी हाल ही में क्षेत्रीय पार्टियां भी बनी हैं। इसलिए एक से अधिक राजनैतिक पार्टियां केन्द्र में सत्तारूढ़ होगी और किसी राज्य में अन्य पार्टी सत्तारूढ़ होगी। विशेष रूप से जब भारत संघ किसी भिन्न राजनैतिक पार्टी से सम्बद्ध राज्य मंत्रिमंडल को बर्खास्त करना चाहता है तो निस्संदेह इसमें संघर्ष उत्पन्न होगा। अनुच्छेद 356(1) के अधीन कार्यवाही करने के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी को ऐसी कार्यवाही राजनैतिक अभिलाभ के लिए नहीं करनी चाहिए बल्कि यह केवल तभी करनी चाहिए जब इस बात का समाधान हो जाए कि सांविधानिक तंत्र असफल हो गया है। इसको दोहराया जाता है कि सरकार का संघीय स्वरूप इस विश्वास को सुदृढ़ करता है कि प्रजातांत्रिक रूप से निर्वाचित बहुमत या संविद सरकार में लोगों की निष्ठा इसकी पूर्ण अवधि तक बनी रहेगी और इसे तब तक नहीं हटाया जाना चाहिए जब तक कि स्थिति अन्यथा रूप से अपरिहार्य न हो गई हो। बार-बार होने वाले चुनाव राज्य और चुनाव लड़ने वाले अभ्यर्थियों पर बहुत अधिक चुनाव खर्च पड़ने के अतिरिक्त सरकार की संसदीय प्रणाली में लोगों के विश्वास और निष्ठा को तोड़ देते हैं। इससे प्रजातांत्रिक प्रक्रिया की प्रभाविकता में अविश्वास उत्पन्न होता है जो स्वयं संसदीय प्रणाली के लिए मृत्युसूचक है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी करने की शक्ति का प्रयोग सतर्कता के साथ किया जाना चाहिए और यह भेदभावरहित रीति से होना चाहिए। यह कोई राजनैतिक अभिलाभ प्राप्त करने का या किसी अच्छे या बुरे प्रशासन के लिए किसी असुविधापूर्व राज्य सरकार से मुक्ति पाने के स्रोत के रूप में नहीं है बल्कि यह राज्य के सांविधानिक तंत्र को असफल होने के मामलों में ही प्रयोग की जानी चाहिए।

235. जैसा कि ऊपर कहा गया है, सांविधानिक और राजनैतिक विशेषताओं को सशक्त बनाया जाना चाहिए तथा निश्चित अभिसमयों को राजनैतिक पार्टियों के बीच आपसी करार या इस संबंध में पारित संकल्प के द्वारा सर्वसम्मति से अधिकथित करने चाहिए। इसमें संदेह नहीं है कि भारत संघ द्वारा नियुक्त सरकारिया आयोग तथा तमिलनाडु की राज्य सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार आयोग के मनीषी न्यायमूर्तियों ने मार्गदर्शन करते हुए अनुच्छेद 356 में कुछ संशोधनों की सिफारिश की थी। हालांकि वे महत्वपूर्ण हैं किन्तु इन पर राजनैतिक पार्टियों या सरकारों द्वारा विचार किया जाना चाहिए किन्तु न्यायिक रूप से इसे मार्गदर्शक के रूप में अंगीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें से कुछ इनके लागू करने के मार्ग में कठिन रोक लगा देगी तथापि, इन अड़चनों को सम्मेलन करके या राजनैतिक पार्टियों की सर्वसम्मति से दूर किया जा सकता है। विधायकों की सौदेबाजी के संबंध में ऐसे न्यायिक रूप से खोजे जा सकने वाले और नियंत्रण किये जा सकने वाले स्तरमान नहीं हैं जिन्हें न्यायिक पुनर्विलोकन की कार्यवाही में विनिश्चित किया जाए। सदन के पटल पर की जाने वाली जांच भ्रष्टाचार को गति प्रदान कर सकती है तथा बाहुबल वाले लोगों के द्वारा बल का प्रयोग करके उपद्रव कराया जा सकता है या सदन में बहुमत प्राप्त करने के लिए विधायकों का सदोष परिरोध या उनकी ऐच्छिक बंदिता सदन के पटल पर की जाने वाली जांच होने तक जारी रहेगी।

236. कुछ क्षेत्रों में यह विश्वास किया जाता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का दुरुपयोग किया गया है। हम प्रत्येक मामले की परीक्षा नहीं कर सकते। अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी उद्घोषणाओं पर विहंगम दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि तीन अवसरों पर विधानसभा के अध्यक्ष द्वारा वित्तीय विधेयकों के पारित होने के संबंध में गतिरोध पैदा किया गया है। यह शक्ति ऐसे गतिरोध को हल करने के लिए प्रयोग की गई है। जब तेलंगाना और आंध्र को अलग राज्य बनाने के लिए आन्दोलन होने से विधि और व्यवस्था तथा लोक-व्यवस्था का संकट उत्पन्न हो गया था तो आन्ध्र प्रदेश विधान सभा को भंग कर दिया गया था और कांग्रेस की मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त कर दिया गया था जबकि केन्द्र में इसी पार्टी की सरकार थी। ऐसा उदाहरण यह दर्शित करता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग सांविधानिक तंत्र के असफल हो जाने पर किया गया था। इससे यह साबित होता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के विस्तार को न्यून, संक्षिप्त या सीमित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त राज्य से निर्वाचित प्रतिनिधि संसद में उस राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं और उस राज्य के संबंध में विधायी कारबार के तथा राष्ट्रपति की उद्घोषणा के अनुमोदन के समय हुए विचार-विमर्श में भाग लेते हैं और जब इसका दुरुपयोग होता है तब वे इससे विसम्मति व्यक्त करते हैं। हालांकि उस राज्य में सरकार का प्रजातांत्रिक स्वरूप कुछ समय के लिए प्रशासन में ही नहीं होता तो भी संविधान का आधारिक लक्षण नामतः प्रजातंत्र, प्रभावित नहीं होता क्योंकि कुछ ही समय के लिए और अधिक से अधिक तीन वर्षों के लिए निर्वाचित कार्यपालिका द्वारा शासन किया जाता है।

237. राज्य का सर्वोच्च कार्यपालक होने के कारण राष्ट्रपति के विरुद्ध व्यक्तिगत असद्भाव या दुर्भाव अधिरोपित करना अनुज्ञेय नहीं है। अनुच्छेद 74(1) का परन्तुक, जब तक कि प्रारम्भ से ही अखण्डनीय साक्ष्य द्वारा इसे साबित न कर दिया जाए, ऐसे किसी आरोप

के प्रतिषेध की उपधारणा करता है। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए प्रधान मंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद् के मंत्री संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं और लोगों के प्रति जवाबदेह हैं। राष्ट्रपति द्वारा शक्ति के दुरुपयोग के मामले में केवल एक रास्ता यह है कि या तो राष्ट्रपति के विरुद्ध अनुच्छेद 61 के अधीन महाभियोग की कार्यवाही चलाई जाए या चुनाव कराकर लोगों का विश्वास प्राप्त किया जाए।

238. ये निष्कर्ष मामले को निपटाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। तथापि, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग के संबंध में न्यायालय मात्र दर्शक बनकर रहेगा या असहाय दृष्टा की भूमिका अदा करेगा। न्यायालय प्रजातंत्र की रक्षा करने के लिए कर्तव्य और उत्तरदायित्व के अधीन हैं। यदि न्यायालय अपने समक्ष पेश की गई सामग्री पर विचार करने के उपरान्त यह पाता है कि राष्ट्रपति का समाधान असांविधानिक अत्यधिक अयुक्त या असम्बद्ध है तो न्यायालय उद्घोषणा से संबंधित विषय-वस्तु और उसमें बताए गए कारणों पर विचार करेगा और आत्यन्तिक मामलों में ऐसी खोज के लिए प्रारंभिक आदेश जारी करेगा जिसके अनुसरण में सामग्री, यह जानने हेतु पेश की जाएगी कि क्या की गई कार्यवाही पूर्ण रूप से असंगत हैं या कार्यवाही के प्रयोजन और राष्ट्रपति के समाधान के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है या यह उद्घोषणा के आसन्न प्रयोजन के युक्तिसंगत नहीं है। ऐसी अवस्था में न्यायालय यह घोषणा कर सकता है कि राष्ट्रपति का समाधान या तो पूर्ण रूप से असंगत आधारों पर आधारित है या इस शक्ति का छद्म प्रयोग किया गया है और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 356 के अधीन जारी उद्घोषणा असांविधानिक घोषित की जाएगी। न्यायालय राष्ट्रपति शासन की घोषणा को न्यायोचित ठहराने के संबंध में पेश की गई सामग्री या परिस्थितियों की पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता। रोस्कोपाउंड ने अपनी पुस्तक डिवल्पमैंट ऑफ दी कांस्टीट्यूशनल गारन्टीज आफ लिबर्टी, 1963 का संस्करण, में जेहरिंग को उद्धृत करते हुए कहा है कि "विधि स्वेच्छाचारिता की कट्टर शत्रु है, ये स्वतंत्रता की दो शाखाएं हैं, विधि अनुशासन और व्यवस्था के अध्यापन की शाखा है, इस प्रकार ये स्वयं स्वतंत्रता हैं।" राष्ट्रपति द्वारा विवेकाधिकार के प्रयोग पर सांविधानिक प्रतिबंध होने से यह रोक है कि उसे जारी होने की तारीख से दो महीने के भीतर संसद से अनुमोदित कराना होता है। यह स्वयं में इस शक्ति के उचित प्रयोग का एक आश्वासन है कि राष्ट्रपति के इस समाधान में कि राज्य का प्रशासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है, शक्ति का प्रयोग उचित और विधिमान्यपूर्ण तरीके से हुआ है।

बर्खास्त सरकार की पुनर्स्थापना का विस्तार, भंग विधान सभा की पुनर्अधिसूचना और पुनः प्राणप्रतिष्ठा तथा इसका प्रभाव

239. यह दलील दी गई है कि जब तक केन्द्रीय सरकार द्वारा समुचित निदेशों द्वारा सांविधानिक तंत्र की असफलता को रोकने के सभी उपाय समाप्त नहीं हो जाते या यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य सरकार के लिए संविधान के उपबंधों के अनुसार प्रशासन चलाया जाना पूर्ण रूप से असंभव हो गया है या शक्ति का दोहरा प्रयोग, अंशतः राज्य द्वारा और अंशतः राष्ट्रपति द्वारा या वैकल्पिक रूप से विधान सभा का किया जाना, उस समय तक मुल्तवी कर दिया जाना चाहिए जब तक कि इसे संसद् अनुमोदित करके राष्ट्रपति शासन

की उद्घोषणा के क्रियान्वयन पर उस समय तक रोक नहीं लगा देती। राज्यों की ओर से काउन्सेल द्वारा यह बहस की गई है। यह पहले ही विचार किया जा चुका है कि चेतावनियां वित्तीय कुप्रबन्ध के समुचित मामलों में केवल सीमित क्षेत्रों में दी जानी चाहिए न कि अन्य सभी स्थितियों में।

सांविधानिक परिपाटियां निष्क्रिय विधि को क्रियान्वित करती हैं

240. अनुच्छेद 356 के लागू होने से ही यह परिपाटी प्रचलन में है कि विधान सभा भंग कर दी जाती है, राज्य सरकार बर्खास्त कर दी जाती है तथा राष्ट्रपति को प्राप्त कार्यपालिक शक्ति उसके द्वारा नियुक्त किए हुए सलाहकारों की सहायता और सलाह से कार्यपालिक कार्यवाहियों को चलाने के लिए राज्यपाल में निहित हो जाती हैं। संसद अनुसूची की सूची-2 की प्रविष्टियों में दी गई विधायी शक्तियों का प्रयोग करती है और राष्ट्रपति को विधायी शक्ति प्रत्यायोजित कर देती है। राष्ट्रपति आनुषंगिक और परिणामिक उपबंध करता है। इस प्रकार राज्य की सरकार केन्द्रीय सरकार के प्रशासन के अधीन रहती है। यद्यपि संविधान में इस संबंध में विस्तृत विवरण के साथ विस्तृत प्रक्रिया उपबंधित की गई है, तथापि यदि अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा को संसद् द्वारा अनुमोदित नहीं कर दिया जाता है तो बर्खास्त की गई सरकार की बहाली और भंग विधान सभा के पुनः स्थापन की आकस्मिकता का, स्पष्टतः इस उत्कट आशा से कि अनुच्छेद 356 "निष्क्रिय" रहेगा या इसे लागू नहीं किया जाएगा या अधिक से अधिक इसका प्रयोग बहुत ही अपवादात्मक स्थिति में होगा, उपबन्ध नहीं है। संविधान सभा में अपने समापन भाषण में डा० अम्बेडकर ने यह कहा था कि परिपाटी (कन्वेंशन) और "राजनीतिक नैतिकता" संविधान के सफल क्रियान्वयन में सहायता देते हैं। प्रत्येक दशा में प्रत्येक स्थिति के लिए विस्तृत नियमों का उपबंध संविधान में नहीं किया जा सकता। सभी विद्यमान संविधानों में अभिसमय पाए जाते हैं। अभिसमय विधि में औपचारिक परिवर्तन के बिना सांविधानिक विकास करते हैं। प्रोफेसर के० सी० व्हीयर ने अपनी पुस्तक "दि स्टेट्यूट ऑफ वैस्ट मिनिस्टर एण्ड डोमिनियन स्टेटस" (चौथा संस्करण) में अभिसमयों को निम्न प्रकार परिभाषित किया है :—

> "इस प्रकार परिपाटियों की परिभाषा यह कहकर विस्तृत की जा सकती है कि इनका प्रयोजन सांविधानिक विवेकाधिकार के प्रयोग को परिभाषित करना है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि अभिसमय वे विधिकेतर नियम हैं जो उस रीति को विनियमित करते हैं जिसमें विधिक नियम लागू किए जाते हैं।"

241. सर डब्ल्यू० आयवर जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक "लॉ एण्ड दि कांस्टीट्यूशन", (5वां संस्करण), में सांविधानिक परिपाटी को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है :—

> "इस प्रकार विधि के ढांचे के भीतर ऐसे व्यवहारिक नियमों के विकसित होने की गुंजाइश है जिन्हें सतत रूप से विधि के नियमों के रूप में अपनाया जा सकता है और जो उस प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं जिसे सरकार से सम्बद्ध व्यक्तियों को अनुसरण करना चाहिए।".

242. सांविधानिक परिपाटियां ऐसी सामग्री प्रदान करती हैं जिससे निष्क्रिय विधि सक्रिय बन जाती है। ये संविधान को क्रियान्वित करती हैं। ये नए विचारों के विकास से

सम्पर्क रखती हैं। कोई संविधान स्वतः ही कार्य नहीं करता बल्कि लोग इसे क्रियान्वित करते हैं। यह राष्ट्रीय सहकारिता का एक साधन होते हैं जो उतने ही आवश्यक हैं जितना संविधान। अभिसमय ऐसी सहकारिता को प्रभावी बनाने के लिए वर्णित किए गए नियम होते हैं। अभिसमय संविधान में मंजूर की गई शक्ति को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सौंपने का कार्य करते हैं, जहां विधि का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है जिनके द्वारा यह किया जाना चाहिए। अभिसमय कुछ व्यक्तियों या व्यक्तियों के निकाय द्वारा व्यवहार में लाए जाते हैं। अभिसमयों का प्राथमिक कार्य शक्ति के अनुत्तरदायित्वपूर्ण दुरुपयोग को रोकते हुए विवेकाधिकार के प्रयोग को विनियमित करना है।

243. के० सी० व्हीयर ने अपनी पुस्तक "माडर्न कांस्टीट्यूशन" (1967 का संस्करण) में कहा है कि अभिसमय सरकार को केवल वैवेकिक शक्तियां ही प्रदान नहीं करते बल्कि कार्यपालिक शासन और ऐसे विधान मंडल या कार्यपालिक संबंधों में भी सहायता प्रदान करते हैं जहां ऐसे नियम और व्यवहार लागू होते हैं। ये दूसरी सांविधानिक गतिविधियों में भी देखे जा सकते हैं। उन्होंने कहा है कि "आचरण का एक मार्ग लम्बी अवधि से बनाए रखा गया हो सकता है और धीरे-धीरे यह पहले प्रत्यापक और उसके पश्चात् बाध्यात्मक शक्ति प्राप्त करता है। एक अभिसमय उससे भी तीव्र गति से उत्पन्न हो सकता है। सम्बद्ध लोगों के बीच किसी विशिष्ट रीति में कोई कार्य करना और किसी आचरण के विशिष्ट नियम को अंगीकार करने के संबंध में एक करार हो सकता है। सर डब्ल्यू० आइवर जेनिंग्स ने यह कहा है कि "विधि केवल एक स्वरूप प्रदान करती है। जो लोग विधि को प्रवर्तित करते हैं, वे इस स्वरूप को अर्थपूर्ण बनाते हैं और इसकी कमियों को पूरा करते हैं। जो विनिश्चय करते हैं, वे ऐसी नजीर सृजित करते हैं, जिनका दूसरे लोग अनुसरण करते हैं और जब वे लम्बी अवधि तक अनुसरित किए जाते हैं, तो उन्हें पवित्र मान लिया जाता है और उस समय ये आदर के साथ स्वीकार किए जाते हैं। इनका न केवल अनुसरण किया जाना चाहिए बल्कि इनका अनुसरण करना आवश्यक है।" हम में से एक, विद्वान न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह ने अभिसमय के विस्तार पर विस्तृत रूप से विचार किया था जिससे इस पर आगे विचार करने की आवश्यकता का निवारण हो गया है। उन्होंने इस बारे में **सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-आन-रिकार्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में इस प्रकार कहा था :—

> "लिखित संविधान प्रत्येक आकस्मिकता के लिए उपबंध नहीं कर सकता। बहुधा सांविधानिक संस्थाएं ऐसे उपबंधों के अधीन सृजित की जाती हैं जो सामान्य रूप से लिखे हुए होते हैं। इन उपबंधों का निर्वचन अभिसमयों की सहायता से किया जाता है, जो समय व्यतीत होने पर सृजित होते हैं। जहां तक स्वयं संविधान में रिक्तियों को भरने का संबंध है, अभिसमय महत्त्वपूर्ण है, ये निर्वचन से संबंधित समस्याओं में सहायता करते हैं और उन्हें हल करते हैं तथा भविष्य में सांविधानिक ढांचे में होने वाली उत्पत्ति को अनुज्ञात करते हैं। संविधान की प्रकृति कुछ भी हो, इनमें इनका बहुत बड़ा भाग विधिक नियमों में बिना कुछ कहे छोड़ दिया जाता है

1 जे० टी० 1993 (5) एस० सी० 469

जो सांविधानिक प्राधिकारियों में वृहत्त विवेकाधिकार अनुज्ञात करते हैं। परिपाटियां ऐसे विवेकाधिकार के प्रयोग को विनियमित करती हैं।"

244. संविधान के अनुच्छेद 356 में अंतर्विष्ट परिपाटियां स्थापित हो चुकी हैं और ये विधायी प्रक्रिया की रिक्ति को भरते हुए सांविधानिक विधि के रूप में स्थापित हुए हैं। अनुच्छेद 366 के खण्ड (क) से (ग) द्वारा प्रदत्त उनके विवेकाधिकार के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा किए जाने वाले कार्य और अनुच्छेद 357 के अधीन संसद् द्वारा विधान सभा का भंग किया जाना, राज्य सरकार को बर्खास्त किया जाना, प्रशासन को ग्रहण करने और प्रशासन को अन्य को सौंपा जाना तथा कार्यपालिक शक्ति को नियुक्त सलाहकारों की सहायता और सलाह से उस राज्य के राज्यपाल में कार्य करने के लिए सौंपा जाना तथा संसद् द्वारा विधायी कृत्यों का किया जाना और राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति आदि, अनुच्छेद 357 के प्रवर्तन द्वारा और राज्यों की कार्यपालिक सरकार के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाए जाने के लिए आकस्मिक और पारिणामिक उपबंधों का किया जाना, आदि कार्यों को सांविधानिक विधि का रूप प्राप्त हो गया है। यह सांविधानिक परिपाटी संविधान को सुचारू रूप से कार्य करने का एक दृढ़ आधार प्रदान करता है और पूर्व वर्षों से प्रचलन में है। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि स्थापित परिपाटी और विधि से अन्यथा आधार पर किए गए निर्वचन को अंगीकार करना अनिश्चितता उत्पन्न करेगा और इससे प्रशासन और सरकार में सांविधानिक संकट उत्पन्न हो जाएगा तथा इससे स्वयं संविधान ही विफल होगा।

राष्ट्रपति की उद्घोषणा—जहां तक इसे संसद् द्वारा अनुमोदित नहीं किया गया है।

245. अनुच्छेद 356 के अधीन जारी उद्घोषणा को, इसके जारी होने की तारीख से दो महीने के भीतर संसद के समक्ष पेश करना होता है। जब तक इसे अनुमोदित नहीं कर दिया जाता, यह दो महीने के पश्चात् प्रवर्तन में नहीं रहेगी। जैसा कि पहले कहा गया है, उद्घोषणा का विधिक परिणाम यह है कि राज्य सरकार बर्खास्त हो जाती है, विधानसभा भंग हो जाती है तथा अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के उपखण्ड (क), (ख) और (ग) में उल्लिखित शक्तियों का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति या तो उनमें उल्लिखित कोई कार्यवाही करता है और संसद अनुच्छेद 357 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति को विधायी शक्ति प्रदत्त करती है तथा संविधान की अनुसूची 7 की सूची 2 की प्रविष्टियों में उल्लिखित विधायी शक्तियों का प्रयोग करते हुए सुचारू रूप से प्रशासन की व्यवस्था करती है। यह दलील दी गयी है कि जब तक दो महीनों की अवधि नहीं बीत जाती विधान सभा को भंग नहीं किया जाना चाहिए और संसद के दोनों सदनों से अनुमोदन प्राप्त हो जाने पर ही राष्ट्रपति को इसे भंग करना चाहिए। यदि राष्ट्रपति को ऐसे अनुमोदन प्राप्त नहीं होता है तो भंग विधान सभा पुनरुज्जीवित होनी चाहिए तथा बर्खास्त मंत्रिपरिषद् को पुनः कारबार सौंपा जाना चाहिए। हमारे द्वारा इस दलील को स्वीकार किया जाना कठिन है और यदि हम इसे स्वीकार करते हैं तो इससे गम्भीर विसंगतियां पैदा होंगी तथा यह सम्यक रूप से कार्य नहीं कर पायेगी। संसद ने अभी तक जारी की गई किसी भी उद्घोषणा को अनुमोदित नहीं किया है। संविधान में ऐसी आकस्मिकता से निपटने के लिए कोई भी व्यक्त उपबंध नहीं है।

राजस्थान वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा इस आकस्मिकता पर विचार किया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विधान सभा एक ही उद्घोषणा से भंग की जाती है या किसी पश्चात्वर्ती आदेश द्वारा भंग की जाती है और यह कि यदि संसद उद्घोषणा को अनुमोदित नहीं करती है तो भंग विधान सभा और बर्खास्त की गई मंत्रिपरिषद् को पुनरुज्जीवित नहीं किया जा सकता। सादर हम इस मत से सहमत हैं जिसके कारण हम इसके पश्चात् अलग से देंगे।

क्रियात्मक विसंगति और असामंजस्य

246. संघ या राज्य की कार्यपालिक शक्ति क्रमशः उनकी विधायी शक्तियों के सहविस्तीर्ण है। जब अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति किसी राज्य का प्रशासन ग्रहण करता है तो क्या विधान सभा भंग किए बिना राष्ट्रपति, जब तक संसद द्वारा उसे विधायी शक्तियों से सशक्त नहीं कर दिया जाता, कार्यपालिक शक्तियों का निर्वहन कर सकता है। यदि समुचित विधायी मंजूरी पारित करने की आवश्यकता हो तो क्या राष्ट्रपति राज्य विधान मंडल के निदेशों के अधीन अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर सकता है। विधायी और कार्यपालिक शक्तियों का राज्य विधानमंडल तथा संसद द्वारा सातवीं अनुसूची की सूची II के अधीन दोहरा प्रयोग प्रजातांत्रिक सिद्धांत और सांविधानिक स्कीम के लिए अभिशाप है। संसदीय सर्वोच्चता तथा कार्यपालिका के प्राधिकार के द्वंद्व का प्रश्न वास्तविक की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है।

247. राज्य सरकार को पुनः सत्तारूढ़ अनेकों विसंगतियों के कारण भी नहीं किया जा सकता। यह नहीं माना जा सकता कि राष्ट्रपति ने राज्य सरकार को गंभीर विचार करके नहीं हटाया है। यह सुदृढ़ आधारों पर होना चाहिए हालांकि कठोर न्यायिक समीक्षा न्यायिक रूप से खोजे जा सकने वाले या इन्द्रीयगोचर आधारों पर नहीं की जा सकती। अभी तक जारी की गई कोई भी उद्घोषणा संसद द्वारा अननुमोदित नहीं की गई है। यदि बर्खास्त सरकार को पुनः सत्तारूढ़ किया जाता है तो इससे शेष अवधि के लिए संविधान और विधियों के उपबंधों का खुले रूप में अतिक्रमण होगा जो विधान मंडल में बहुमत का सहारा लेकर किया जाएगा तथा पूर्ण रूप से भ्रष्टाचार व्याप्त होगा और दूसरे असांविधानिक कृत्य निर्बाध रूप से किए जाएंगे। स्वयं राजनैतिक पार्टी और विधान मंडल में उनके सदस्यों को अपनी सरकार की बर्खास्तगी के उत्तरदायित्व को सामूहिक रूप से स्वीकार करना चाहिए कि उनका असांविधानिक शासन ही उनकी बर्खास्तगी का कारण है। इस प्रकार पुनः सत्तारूढ़ करना संविधान के विफलीकरण को बढ़ावा देता है। राजनैतिक पार्टी को मतदाताओं से नया आदेश प्राप्त करना चाहिए तथा बहुमत प्राप्त करके अपनी विश्वसनीयता कायम करनी चाहिए। राज्य में विधान परिषद्, जो राज्य सभा की भांति ही भंग नहीं की जा सकती, स्वयं कोई कारबार नहीं कर सकती, विशेष रूप से वित्तीय विधेयकों या विनियोग विधेयक या वार्षिक वित्तीय विवरणों के बारे में। इसलिए इसका अस्तित्व विधानमंडल के बने रहने की कोई कसौटी नहीं है या वैय्याकरण सिद्धांत के आधार पर इसके भंग न होने की उपधारणा करके भंग विधानसभा को पुनर्गठित नहीं किया जा सकता, जिसके बहुमत के सदस्य उसी पार्टी से संबंधित है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधान मंडल का भंग किया जाना शाब्दिक रूप से विधान परिषद् को भी सम्मिलित करता है किन्तु प्रत्येक राज्य में ऐसी

परिषद् नहीं है। दो प्रकार के राज्यों में, एक जिनमें परिषद् है और दूसरे में, जिनमें परिषद नहीं है इस आधार पर कोई भेद नहीं किया सकता कि परिषद् वाले राज्य पुनर्अधिष्ठापन के पात्र होंगे और दूसरे राज्य नहीं। संविधान का ऐसा मन्तव्य नहीं है और व्याकरणीय नियम इससे संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त यह समस्या सुगमता और क्रियागत क्षमता के आधार पर भी परखी जा सकती है। पुनर्अधिष्ठापन की अधिसंभाव्यता क्रियागत रिक्ति उत्पन्न करती है। मान लीजिए न्यायालय उद्घोषणा पर संसद द्वारा उसे अनुमोदित करने तक रोक लगा देता है, उस दशा में यदि अध्यादेश जारी करने की या विधायी या वित्तीय कारबार करने की तुरन्त आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है तो इसे कौन करेगा। निलम्बित विधान सभा या संसद इसे नहीं कर सकती। बर्खास्तगी मंत्रिपरिषद् विधायी कारबार नहीं कर सकती और यदि इसे कार्य करना अनुज्ञात किया भी जाए और अंततोगत्वा उद्घोषणा संसद द्वारा अनुमोदित हो जाए तो उस अंतराल में किए गए शासकीय और विधायी कृत्यों की विधिमान्यता का क्या होगा? जैसा कि कहा गया है, क्या व्यक्तिगत और राजनैतिक अभिलाभ के लिए पद के खुले दुरुपयोग की किसी संभाव्यता से इंकार किया जा सकेगा। यदि उपयोगिता पर आधारित राय के अनुसार न्यायालयों द्वारा आदेश जारी कर दिए जाते हैं तो इसकी अंतिमता क्या है और यह कहां समाप्त होगी? क्या यह न्यायालय के आदेशों से अस्तित्व में बनी रहेगी। निर्वाचन आयोग द्वारा चुनाव कैसे कराए जाएंगे। क्या चुनाव न्यायालय के आदेशों से होंगे या अनुच्छेद 324 के अधीन शक्ति के प्रयोग के द्वारा। क्या न्यायालय की रिट के अधीन दिन-प्रतिदिन किए जाने वाले शासकीय, विधायी और प्रशासनिक कार्य किए जाते रहेंगे? यदि कोई उच्च न्यायालय किसी भंग विधान सभा को निलम्बित अवधि सहित शेष अवधि के लिए पुनरुज्जीवित करने का निदेश देता है तो इसका क्या परिणाम होगा? क्या यह अनुच्छेद 172 का अतिक्रमण नहीं है। क्या ऐसा करने से इसे रोका जा सकता है। यदि ऐसे आदेश की पालना नहीं की जाती है तो क्या राष्ट्रपति न्यायालय की अवमानना के लिए दायी नहीं होगा और यदि वह दायी होगा तो अनुच्छेद 361 में दिए गए संरक्षण का क्या होगा? समस्याओं को सुलझाने की बजाय क्या न्यायालय की रिट सांविधानिक संकट पैदा नहीं करेगी? गहन और जिज्ञासापूर्वक विचार करने तथा विस्तृत सांविधानिक संकट को दृष्टिगत करते हुए हमारा यह मत है कि हमारा आत्मसंयम इस मामले पर संसद द्वारा विचार किया जाना उचित मानता है तथा हम किसी उपयोगितावादी राय को व्यक्त करने से इंकार करते हैं। यदि आवश्यक समझा जाए तो अनुच्छेद 356 को उपयुक्त रूप से संशोधित किया जाय।

248. संविधान को 77 बार से भी अधिक संशोधित किया गया है और स्वयं अनुच्छेद 356, संविधान 38वां संशोधन अधिनियम; 42वां संशोधन अधिनियम; 44वां संशोधन अधिनियम, 59वां संशोधन अधिनियम; 64वां संशोधन अधिनियम और 68वां संशोधन अधिनियम से संशोधित हुआ है। कांग्रेस पार्टी के अतिरिक्त इन 44 वर्षों में केन्द्र में तीन गैर कांग्रेसी राजनैतिक पार्टियां सत्ता में रही हैं और ऐसा कोई संशोधन अनुच्छेद 356 (2) में नही लाया गया कि संसद द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन होने पर भंग विधान सभा पुनरुज्जीवित हो जाएगी और अपदस्थ सरकार पुनः अधिष्ठापित होगी। इस निष्कर्ष को कानूनी अर्थान्वयन पुष्ट करता है।

क्या कारण/लोप की कमी को पूरा किया जाना अनुज्ञेय है ?

249. इसके पश्चात् प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या निर्वचन की प्रक्रिया द्वारा रिक्तियों को पूरा किया जा सकता है। हालांकि यह स्थापित विधि है कि विधि के प्रवर्तन में और उसकी शून्यता को जानने के लिए और विधायी आशय को बल और जीवन प्रदान करने के लिए प्रारूपकार को आरोपित करने के बजाय न्यायालयों को निर्वचन की समुचित तकनीक द्वारा इन कमियों को दूर करना चाहिए और निष्क्रिय विधि को जीवन प्रदान करना चाहिए। किन्तु हमारे विचार से जब हमें मूल संविधान का निर्वचन करने के लिए और उसके द्वारा सृजित राजनैतिक संस्थाओं के क्रियाकलाप का निर्वचन करने के लिए कहा जाए तो ऐसा निर्वचन अनुज्ञेय नहीं है। जब संसद के पास यह जानने का अवसर हो कि संविधान द्वारा सृजित राजनैतिक पद्धति में क्या कमी आ गई है फिर भी इसके द्वारा इस संबंध में संविधान को संशोधित करने का कोई कदम नहीं उठाया गया है तो लोक नीति का यह एक सिद्धांत है कि विधि को आकस्मिक रूप से भागत: परिवर्तित करने के बजाय उसे गम्भीर और सुविचारित प्रक्रिया द्वारा सोच-विचार करके किया जाना चाहिए। संविधान में संशोधन एक गंभीर विधायी कार्य है और ऐसी मूलभूत विधि में परिवर्तन बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए। गम्भीर प्रकृति के परिवर्तन विस्तार से तथा गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श करने के पश्चात् किये जाने चाहिए और उन्हें प्रवर्तित करने के लिए विशिष्ट उपबंधों की व्यवस्था की जानी चाहिएं। किसी भी सभ्य राष्ट्र में विधायी प्रक्रिया द्वारा इस समस्या से निपटने का यही एक मार्ग है। अर्थान्वयन का यह एक स्थापित सिद्धांत है कि किसी कानून को संसदीय परिवर्तन द्वारा किसी सामान्य विधि में किये गये परिवर्तन के साथ प्रभावित हुआ नहीं माना जाना चाहिए। जब तक कि उसमें प्रयुक्त शब्दों से त्रुटिरहित यही निष्कर्ष निकाला जाना दर्शित न होता हो। विधान मंडल को किसी हेतु से प्रेरित या असद्भावी रूप से कार्य करने वाला नहीं माना जा सकता। इंस्टीट्यूट ऑफ दी लॉ ऑफ स्काटलैंड खण्ड 3, पृष्ठ 1 के दि प्रैक्टिस बाई डेविड मैक्सवैल, पृष्ठ 127 पर, बैनियन ने पृष्ठ 338 पर यह उद्धृत किया है कि "जहां कोई मामला पूर्ण रूप से किसी कानून के शब्दों-के अर्थान्वयन पर निर्भर करता है, वहां साम्या की बात नहीं की जा सकती। उन्होंने पृष्ठ 344 पर यह कहा है कि "जहां किसी अधिनियमिति का शाब्दिक अर्थ विधानमंडल के उद्देश्य से संकुचित प्रतीत होता है, वहां न्यायालय इसमें सुधार करने वाला अर्थान्वयन लागू कर सकते हैं। आजकल यह लोक नीति के अनुसार नहीं माना जा रहा है कि प्रारूपकार की अकुशलता को न्याय प्रदान करने से रोकने के लिए स्वीकार किया जाए। किन्तु हमेशा ही ऐसी बात नहीं है।" जहां किसी कानून की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है, वहां केसस ओमिसस (वह विषय जिसके संबंध में कानून में कोई उपबन्ध नहीं है) के सिद्धांत को लागू करना या किसी बाह्य सहायता का प्रयोग करना अनुज्ञात नहीं है क्योंकि ऐसे मामले में संविधान में या कानून में प्रयुक्त शब्द अपने बारे में स्वयं स्पष्ट होते हैं और विधान मंडल के ऐसे अनुमानित आशय को, जो न्यायालय को उचित प्रतीत हो रहा है, अपने शब्दों या पदों से पूरा करने का कार्य न्यायालय का नहीं है। अमेरिकन जुरिसप्रूडेंस, 2 डी सिरीज, खण्ड 73 पृष्ठ 397 के पैरा 203 में कहा है कि "यह एक सामान्य नियम है कि न्यायालयों को अर्थान्वयन के द्वारा किसी कानून में शब्द या पद अंतर्विष्ट नहीं करने चाहिएं या कानून को बल प्रदान करने के लिए और कानून की भाषा को प्रभावी बनाने के लिए केसस ओमिसस के सिद्धांत पर उनमें कुछ भी जोड़ा नहीं जाना चाहिए। जबकि किसी

ऐसे मामले पर विचार किया जा रहा है, जिसके बारे में उसे गम्भीरता से देखने पर यह प्रतीत होता है कि विधि को अधिनियमित करते समय विधान मंडल द्वारा इस आधार पर विचार नहीं किया गया था। इस परिस्थितियों में नए उपबंध और नए विचारों का किसी कानून में न तो अंतर्वेशन होना चाहिए और न ही उनमें कुछ जोड़ा जाना चाहिए। पृष्ठ 434 के पैरा 366 में आगे यह कहा गया है कि "जबकि यह अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि न्यायालयों को किसी कानून का उसी प्रकार निर्वचन करने का कर्तव्य है जैसा कि वे उसके उपबंधों को, समीचीन या असमीचीन के संदर्भ में देखे बिना, समझते हैं। इसे भी मान्यता दी गई है कि जहां कोई कानून संदिग्ध है और उसका एक से अधिक निर्वचन हो सकता है तो किसी एक या अन्य अर्थान्वयन की समीचीनता पर उचित रूप से विचार किया जाना चाहिए। वस्तुतः जहां ऐसी दलीलों को उचित रूपेण संतुलित किया गया है, वहां समीचीनता किसी एक विशिष्ट अर्थान्वयन के पक्ष में संकेत कर सकती है। कानूनों के निर्वचन में न्यायालयों का यह कर्तव्य नहीं है कि विधि की प्रज्ञा को दोषरहित बनावें। मात्र यह तथ्य कि किसी कानून का परिणाम अव्यवहारिक है, न्यायालय द्वारा असंदिग्ध शब्दों के शाब्दिक अर्थ को नामंजूर करने का या किसी कानून को ऐसा अर्थ प्रदान करने का जो इसके आशय में नहीं है या किसी कानून के विस्तार को सीमित करने का पर्याप्त औचित्य नहीं है। इसी प्रकार कोई लोप या कुछ आकस्मिकताओं के लिए उपबंध करने में हुई असफलता, जिसे विशेष रूप से उपबंधित किया जाना न्यायालय द्वारा उचित माना जा सकता है, किसी न्यायिक प्रक्रिया द्वारा कानून की भाषा में किसी योगदान का कोई न्यायौचित्य नहीं है। इसके विपरीत न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे किसी कानून का निर्वचन उसके उपबंधों की व्यवहारिकता वा अव्यवहारिकता, आवश्यकता या अनावश्यकता, उनके समुचित या असमुचित होने या अच्छे या बुरे प्रभाव का संदर्भ दिए बिना करे।"

250. क्रेइज रचित स्टेट्यूट लॉ, 7वां संस्करण के पृष्ठ 69 पर यह कहा गया है कि केसस ओमिसस (वह विषय जिसके संबंध में कानून में कोई उपबंध न हो) के सिद्धांत का दूसरा परिणाम यह है कि कानून का विस्तार ऐसे मामलों में नहीं किया जाना चाहिए जिसके संबंध में स्पष्ट रूप से और असंदिग्ध रूप से कोई उपबंध नहीं किया गया है। क्राफोर्ड रचित कंस्ट्रक्शन ऑफ स्टेट्यूट्स के पृष्ठ 269 के पैराग्राफ 169 में यह कहा गया है कि किसी कानून में के लोपों को, साधारण सिद्धांत के रूप में निर्वचन द्वारा पूरे नहीं किए जा सकते। इसलिए यदि किसी कानून के अधीन कोई विशिष्ट मामला नहीं आता भले ही ऐसा मामला कानून के स्पष्ट उद्देश्य के अन्तर्गत आता हो और ऐसा लोप असावधानी या आकस्मिकता के कारण हुआ प्रतीत होता हो, तो भी न्यायालय ऐसे लोप को पूरा करके उस मामले को उस कानून में सम्मिलित नहीं कर सकता। यह उन मामलों में भी सत्य है जहां लोप विधानमंडल द्वारा ऐसे मामले का पूर्वानुमान करने में असफल होने के कारण हुआ है। जैसाकि स्पष्ट है, कानूनों में ऐसे लोपों को पूरा करने के लिए न्यायालय को अनुज्ञात करना, सामान्य रूप से, विधान मंडल के क्षेत्र में अतिक्रमण करना करेगा। संविधान का निर्वचन, हम किसी ऐसी वस्तु को अंगीकार करके जो संदर्भ से हमें विवक्षित जान पड़ती है, संविधान के लिखित शब्दों से बाहर नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न पर विचार करते हुए न्यायमूर्ति कोनर, ने **स्टेट आफ तसमानिया**

बनाम कामनवैल्थ आफ आस्ट्रेलिया एण्ड स्टेट ऑफ विक्टोरिया[1] वाले मामले में इस प्रकार मत व्यक्त किया था :—

"मुझे कानून को दृष्टिगत करके और इसी से उसके आशय का पता लगाना मात्र सुरक्षित नियम प्रतीत होता है। यदि हम इस नियम से विचलन करते हैं तो हमें सी० बी० पोलक द्वारा माइल बनाम सोलोमन्स वाले मामले में वर्णित किए गए संकट का जोखिम उठाना पड़ेगा। उनके अनुसार "यदि भाषा का अर्थ सरल और स्पष्ट है तो हमें इसे स्वीकार करना पड़ेगा इसके अतिरिक्त कुछ नहीं—जैसा हम इसे समझते हैं, उसके अनुसार इसका निर्वचन करना; और मैं समझता हूं कि इससे भिन्न किसी निर्वचन को अपनाना न्यायाधीश के कर्तव्यों की अवहेलना करना है और विधान मंडल के कार्यों को ग्रहण करना है। "इन्टरप्रेटेशन ऑफ लॉज" नामक ब्लैक रचित पुस्तक में से श्री ग्लाइन ने कुछ पैरे उद्धृत किए हैं जिनमें यह विवक्षित प्रतीत होता है कि संविधान और संसद द्वारा बनाए गए दूसरे अधिनियमों के संबंध में निर्वाचन के भिन्न-भिन्न नियम लागू हो सकते हैं किन्तु ऐसे विभेद का कोई आधार नहीं है। अधिनियमिति का आशय उसके शब्दों से लिया जाता है। यदि शब्द सरल हैं या स्पष्ट हैं तो उन्हें उसी प्रकार लागू किया जाना चाहिए। यदि वे संदेहपूर्ण है तो विधान मण्डल का आशय व्याप्त परिस्थितियों पर विचार करके उससे सहायता लेकर उस कानून के दूसरे उपबन्धों से ज्ञात किया जाता है। सभी मामलों में आशय ज्ञात करने के लिए समकालिक परिस्थितियों पर विचार किया जा सकता है जैसे विधि का इतिहास और स्वयं दस्तावेज से ही इसे पारित करने में विधान मंडल के आशय की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। विधि के इतिहास पर विचार करते समय पहले कानून पर दृष्टिपात कर सकते हैं। उस विधि को बनाते उस समय के उसके चारों ओर के ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करना चाहिए। संघीय संविधान के मामले में ऐसी जांच का क्षेत्र किसी राज्य के कानून के मामले की अपेक्षा अधिक विस्तृत है किन्तु दोनों मामलों को लागू होने वाले सिद्धांत समान हैं। विधान मंडल के आशय को इन तथ्यों और परिस्थितियों के संदर्भ में स्वयं कानून पर विचार करके प्राप्त कर सकते हैं किन्तु आप इससे बाहर नहीं जा सकते। यदि यह निर्बन्धन संसद के किसी सामान्य अधिनियम के निर्वचन के संबंध में लागू होनी है तो कम से कम इसी प्रकार की किसी भी ऐसी लिखत के निर्वचन के मामले में इसे इतनी ही कठोरता से लागू किया जाना चाहिए जो न केवल एक कानूनी लिखत है बल्कि उसमें ऐसा एक समझौता भी अंतर्विष्ट है जिसके द्वारा आस्ट्रेलिया के अनेकों उपनिवेशों के लोग एक चिरस्थायी संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत हुए हैं।"

251. क्रेग आर० डुकेट कृत इनसाइक्लोपीडिया ऑफ दी अमेरिक जुडिशियल सिस्टम : दि कांस्टीट्यूशनल इन्टरप्रेटेशन, में यह कहा गया है कि सांविधानिकता को निर्धारित करने का मानक संविधान के शब्द होने चाहिएं न कि न्यायाधीशों द्वारा संविधान का लगाया जाने वाला अर्थ। सांविधानिक सर्वोच्चता आवश्यक रूप से यह स्वीकार करती है कि श्रेष्ठ नियम वही है जो संविधान कहता है कि वह जिसे न्यायाधीश उचित समझता है। (देखिए पृष्ठ

[1] (1904) 1 सी० एल० आर० 329 पृष्ठ 358-59.

973) बल देने के लिए रेखांकन किया गया है। प्रतिस्पर्धी हित को संतुलित करने के लिए न्यायिक योगदान प्रोफेसर डुकेट ने पृष्ठ 798 पर बाइकल के कथन को अनुमोदित करते हुए इस प्रकार उद्धृत किया है :—

> "न्यायिक प्रक्रिया सिद्धांत-प्रणत और सिद्धांत-आबद्ध है—इसे ऐसा होना चाहिए। इसके कार्य का कोई दूसरा न्यायौचित्य या व्याख्या नहीं है। यह शर्तों से भी बहुत परे है और प्रत्येक मामले में वास्तविकता पर बहुत बारीकी से विचार करती है। गम्भीर परिणाम वाले किसी ऐसे मामले में जिसमें यह भिन्न-भिन्न हितों पर विचार करती है, गम्य नहीं है। बहुत उचित रूप से यह कहा जाए तो यह स्वतंत्र है। यह निष्क्रिय है। यह उन प्रक्रमों को नियंत्रित करने में कठिनाई महसूस करती हैं, जिसके द्वारा किसी समस्या तक पहुंचा जाता है। यह बहुत तेजी से आगे दौड़ती है या पिछड़ जाती है। इसकी गति शायद ही कभी उचित प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणों से, एक विस्तृत क्षेत्र में यह एक ऐसा परिवर्तनशील समाज है जो नीति निर्धारण में एक अत्यधिक अनुपयुक्त लिखत होती है।

252. क्रेग आर० डुकेट द्वारा रचित मोड्स ऑफ कांस्टीट्यूशनल इन्टरप्रेटेशन, 1978वां संस्करण, पृष्ठ 125 पर यह कहा गया है कि न्यायाधीशों के विनिश्चय का अर्थ सामाजिक मूल्य होना चाहिए न कि उनका अपना निर्णय। उन्होंने नेचर ऑफ जुडिशियल प्रोसैस, नामक कृति से कार्डोज़ो का पैराग्राफ पृष्ठ 108 पर इस प्रकार उद्धृत किया है, "मैं समझता हूं कि यदि कोई न्यायाधीश अपने स्वयं का आचरण या विशेषता किसी समुदाय पर जीवन के नियम के रूप में अधिरोपित करता है तो वह गलती करता है।" जब कोई न्यायालय असमंजस की गतिहीनता में पड़ जाता है तो उसे स्वनियंत्रण को अपनाना चाहिए, न्यायिक पुनर्विलोकन को बहुत अधिक सावधानी के साथ प्रयोग किया जाना चाहिए। राजनैतिक कथन में राजनैतिक ताकतों के संघर्ष का निर्वचन, केवल अपवादात्मक और विशिष्टतम अवसरों पर ही अत्यधिक मनमानी और सम्पूर्ण रूप से ऐसी असंगत उद्घोषणाओं को अधिकारातीत रूप से अकृत घोषित करने के किया जाना चाहिए जो उद्घोषणा जारी किए जाने के प्रमुख प्रयोजन से किसी भी प्रकार संबंधित नहीं हैं ऐसी स्थिति में ही इसे असांविधानिक घोषित किया जाए इससे अधिक और कुछ नहीं।

253. **डेनिस बनाम यूनाइटेड स्टेट्स**[1] वाले मामले में न्या० फ्रैंकफर्टर ने इस प्रकार कहा है :—

> "किन्तु प्रतिस्पर्धी-हितों को कैसे निर्धारित किया जाए ? क्योंकि उनकी मात्रा का अभिनिश्चय नहीं हो सकता। यह विवाद्यक आवश्यक रूप से इस प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमता है कि सामंजस्य कौन करे ? सुसंगत तथ्यों का संतुलन कौन करे और यह कौन अभिनिश्चय करे कि उन परिस्थितियों में कौनसा-हित अभिभावी होगा। इसका निर्णय करने का पूर्ण उत्तरदायित्व न्यायालयों को नहीं दिया जा सकता। न्यायालय चुनी हुई संस्था नहीं है। वे किसी प्रजातांत्रिक समाज के पूर्ण प्रतिबिंब नहीं हैं। उनका निर्णय सर्वोत्तम सूचनाओं पर आधारित होता है, इसलिए यह सीमित सीमाओं

[1] 341 यू० एस० 494, 525 (1951).

के भीतर, अत्यधिक विश्वसनीय होता है । स्वतंत्रता पर आधारित उनका आवश्यक गुण विलगाव है । इतिहास यह बताता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता तभी जोखिम में पड़ती है जब न्यायालय किसी क्षणिक आवेश में उलझकर प्रतिस्पर्धी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दबावों में से चयन करने के प्राथमिक उत्तरदायित्व को ग्रहण करते हैं·····।"

254. क्षेत्रीयता, भाषाई और धार्मिक कट्टरता देश की एकता और अखंडता को कमजोर करने वाली विघटनकारी ताकतें बन गई हैं । लोगों को अलग रखने में भाषायी धर्मान्धता बहुत सहायता कर रही है । संकीर्ण राजनैतिक उपलब्धियों के लिए साम्प्रदायिकता और जातिवाद गन्दा वातावरण तैयार कर रहे हैं । अलगाववादी ताकतें राष्ट्रीय एकता को तोड़ने के लिए देश के भीतर और बाहर काम कर रही हैं । राष्ट्र की एकता और अखंडता को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अधीन दी गई शक्ति का उपयोग चतुराई से करके इन पर रोक लगाए जिससे राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार कार्य करे । इसलिए अनुच्छेद 356 का प्रयोग अपवादात्मक स्थिति में ऐसे मामलों में किया जाना चाहिए जहां इस शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता है । अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही के विस्तार की सीमा विशिष्ट परिस्थितियों तक बांधना संभव नहीं है क्योंकि सांविधानिक तंत्र की असफलता भिन्न-भिन्न कारणों से, चाहे ये राजनैतिक, आंतरिक, ध्वंसात्मक या आर्थिक कारणों से ही क्यों न हो, अनेकों प्रकार से हो सकता है । इसके लिए कोई स्पष्ट नियम ढूंढना संभव नहीं है । इस प्रकार संविधान निर्माताओं ने इस शक्ति का प्रयोग सर्वोच्च कार्यपालिका यथा भारत के राष्ट्रपति में, अपनी मंत्रिपरिषद के माध्यम से जिसका प्रधान देश का प्रधान मंत्री होता है जो देश के लोगों के प्रति उत्तरदायी है, विहित किया है ।

क्या निर्वाचन को रोका जा सकता है ?

255. अनुच्छेद 168 के अधीन प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान सभा होगी और कुछ राज्यों में विधान-परिषद भी । अनुच्छेद 172(1) यह उपबंध करता है कि प्रत्येक राज्य की प्रत्येक विधान सभा, जब तक कि इसे जल्दी ही विघटित नहीं कर दिया जाता, इसकी प्रथम बैठक के लिए नियत तारीख से पांच वर्षों के लिए होगी "इससे अधिक नहीं" और इस पांच वर्ष की अवधि की समाप्ति विधान सभा के विघटन की अवधि मानी जाएगी । खण्ड (1) या उपखण्ड (2) का परन्तुक सुसंगत नहीं है । इस प्रकार यह एक घोषित सांविधानिक नीति है कि विधानमंडल का पांच वर्ष का कार्यकाल इसकी प्रथम बैठक के लिए नियत तारीख से प्रारम्भ होता है और सांविधानिक रूप से इस अवधि की समाप्ति विधान सभा के विघटन की तारीख को होती है । पद "इससे अधिक नहीं" इसके आज्ञापक स्वरूप का द्योतक है । अनुच्छेद 324(1) संसद् और प्रत्येक राज्य के विधानमंडल आदि में निर्वाचन कराने के लिए निर्वाचन आयोग को आदेशित करता है । लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, नियम और अनुदेश विघटन की तारीख की समाप्ति के चार महीने पहले निर्वाचन कराने और उन्हें पूर्ण करने की प्रक्रिया विहित करते हैं । अनुच्छेद 329(ख) में यह निषेधाज्ञा है कि "किसी सक्षम प्राधिकारी के समक्ष या समुचित विधान मंडल द्वारा बनाई गई विधि के अधीन ऐसी रीति में निर्वाचन अर्जी पेश करने के सिवाए "संसद के किसी सदन या किसी राज्य के विधान

मंडल के किसी सदन का कोई निर्वाचन प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।" दूसरे शब्दों में एक बार निर्वाचन प्रक्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् यह पूर्ण रूप से सम्पन्न की जानी चाहिए और निर्वाचन से संबंधित सभी विवाद लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के द्वारा प्रस्थापित प्रक्रिया के अनुसार निपटाए जाएंगे।

256. **एन० पी० पुन्नुस्वामी बनाम रिटर्निंग आफिसर, नमक्कल निर्वाचन क्षेत्र**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ववर्ती सांविधानिक न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि प्रजातांत्रिक देशों में विधानमंडलों द्वारा महत्वपूर्ण कृत्य किये जाने को दृष्टिगत करते हुए यह हमेशा ही प्रथम महत्व के विषय के रूप में मान्यताप्राप्त है कि जहां तक सम्भव हो सकेगा, समय-सारणी के अनुसार निर्वाचन शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न कराए जाएंगे और सभी विवादित मामले और निर्वाचन से संबंधित सभी विवाद निर्वाचन समाप्त होने तक मुलत्वी कर दिए जाएंगे जिससे कि निर्वाचन की कार्यवाहियों में असम्यक् रूप से बाधा न पड़े या वे लम्बे समय तक न खिचें। **लक्ष्मी चरण सेन बनाम ए० के० एम० हसन उज्जमान**[2] वाले मामले में एक दूसरी सांविधानिक न्यायपीठ ने एक रिट कार्यवाही में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा पश्चिमी बंगाल की विधान सभा के सामान्य चुनावों में दिए गए अंतरिम आदेशों की मंजूरी के प्रभाव पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि उच्च न्यायालय को अनुच्छेद 226 के अधीन कार्य करने की अपनी शक्ति पर ऐसे आदेश पारित करके या ऐसे निदेश देने में जो अनिवार्य रूप से विधायी निकायों के निर्वाचनों को अनिश्चित काल तक मुल्तवी करने के परिणाम के रूप में हो सकते हैं, अपने ऊपर स्व-अधिरोपित प्रतिबंध लगाना चाहिए। निर्वाचन हमारे संविधान के क्रियान्वयन और प्रजातांत्रिक आधार के सार हैं। ऐसा प्रतिबंध इस तथ्य के होते हुए भी लगाया जाना चाहिए चाहे निर्वाचन नामावली की तैयारी और उनके प्रकाशन संविधान के अनुच्छेद 329(ख) के अर्थ के भीतर निर्वाचन की प्रक्रिया का एक भाग है या नहीं। ऐसी सांविधानिक संस्थाओं की अखंडता को सुरक्षित रखने और उन्हें बनाए रखने का न्यायालय का कर्तव्य है। ये प्रजातंत्र को सुदृढ़ करने के लिए बनाई गई हैं और जब इनके कार्य करने की रीति को प्रश्नगत किया जाता है जो नागरिकों के लिए अनुज्ञात है, ऐसी दशा में न्यायालय को सामान्य सावधानी से अधिक सावधानी बरतते हुए ऐसे आरोपों की जांच करनी चाहिए। बहुधा अधिकारिता के प्रयोग में, विशेष रूप से रिट अधिकारिता, शक्ति की अपेक्षा औचित्य का प्रश्न अन्तर्निहित होता है। यह तथ्य कि न्यायालय को कोई कार्य करने की शक्ति है, इसका यह अर्थ नहीं है कि इसे इस शक्ति का प्रयोग परिणामों से बेखबर रहते हुए करना चाहिए। विधान मंडल के लिए निर्वाचन कराने और उन निर्वाचनों को विधि के अनुसार कराने वाले दोनों ही अत्यधिक महत्व के कार्य हैं और यह अनुच्छेद 168 द्वारा अधिरोपित एक सांविधानिक बाध्यता है। पृष्ठ 523 पर यह व्यवहारिक दृष्टिकोण इस प्रकार दिया गया है :—

> "·····भारत प्रजातंत्र का एक आशा दीप है। यह समकालीन इतिहास का एक ऐसा तथ्य है जो न्यायालय को इस संविधान के अधीन उन्हें दी गई असाधारण शक्तियों के प्रयोग में कुशल राजनीतिमत्ता की अपेक्षा करता है। उच्च न्यायालयों

[1] (1952) एस० सी० आर० 218.

[2] (1985) सप्ली० 1 एस० सी० आर० 493.

को आदेश पारित करने या ऐसे निदेश देने से इंकार करने में जो वस्तुतः अनिवार्य रूप से विधायी निकायों के निर्वाचनों को, जो प्रजातांत्रिक आधार है और हमारे संविधान के क्रियान्वयन के सार हैं, अनिश्चित काल के लिए मुल्तवी करने के तुल्य हो, अनुच्छेद 226 के अधीन कार्य करते हुए अपनी शक्ति पर स्वअधिरोपित निर्बंधन लगाने चाहिएं। ये निर्बन्धन इस बात के होते हुए भी लगाए जाने चाहिए कि निर्वाचन नामावली की तैयारी और उनका प्रकाशन संविधान के अनुच्छेद 329(ख) के अर्थ के भीतर निर्वाचन की प्रक्रिया का भाग हैं या नहीं·····।"

इस संबंध में नजीरों का भण्डार है किन्तु इस सीमित प्रयोजन के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 32 या अनुच्छेद 136 के अधीन किसी भी शक्ति के प्रयोग में अनुच्छेद 356 के अधीन विघटित विधान सभा के निर्वाचन पर रोक लगाना न केवल सांविधानिक आदेशों तथा स्पष्टतया इस न्यायालय द्वारा अभिकथित विधि को नकारता है बल्कि अनिश्चितता पैदा करके, जैसा कि पहले कहा गया है, एक सांविधानिक संकट पैदा करता है। संसद के भीतर और बाहर प्रबुद्ध लोकमत जागरूक लोकनिष्ठ आलोचना, वास्तविकता का वस्तुपरक मूल्यांकन शक्ति के दुरुपयोग को प्रतिषिद्ध करेगा और इस शक्ति के अत्यन्त अयुक्त प्रयोग को रोकेगा।

257. अंतिम रूप से उत्पन्न हुआ प्रश्न यह है कि क्या अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा किसी विशेष मुख्य मंत्री को जनता दल में अपने पार्टी विधायकों के बहुमत के समर्थन या संविदा द्वारा दिए गए बहुमत से समर्थन को सदन में परखे बिना मनमानी है या इसका कोई युक्तियुक्त संबंध नहीं है या यह अयुक्त है। बोम्मई वाले मामले के तथ्यों को हमारे द्वारा गंभीरता से विचार किए जाने के पश्चात् और इसमें इसके पश्चात् किए गए विचार-विमर्श के प्रकाश में उस सुसंगत समय में जो अनिश्चितता की स्थिति विद्यमान थी उसी ने राष्ट्रपति को यह विश्वास दिलाया प्रतीत होता है कि वह प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में शुद्धता को कायम करने के लिए सांविधानिक रूप से कर्तव्यबद्ध था और उनसे विधायकों की सौदेबाजी (खरीद फरोख्त) समाप्त करने की अपेक्षा थी जिससे सांविधानिक तंत्र भी असफल हो गया था और इससे उनका अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी करने की आवश्यकता से संबंधित समाधान हुआ था। हालांकि विधान मण्डल में शासक दल या संविद का बहुमत सदन में परखा जाता है और यह जैसा कि राज्यपालों के सम्मेलन द्वारा सिफारिश किया गया था एक हितकारी सिद्धांत है। यह प्रतीत होता है कि इसके क्रियान्वयन में बहुत सी कमियां उत्पन्न हुई हैं इसलिए यह अभिसमय के रूप में प्रवर्तनीय नहीं हुआ था। इसका निर्णय राजनीतिक पार्टियों या मुख्य मंत्रियों के सम्मेलन द्वारा किया जाना चाहिए। यह न्यायालय द्वारा न्यायिकतः नियंत्रणीय नहीं है कि वह इस सम्बन्ध में कोई घोषणा करे। उत्तर प्रदेश विधान सभा के विघटन के संबंध में हालांकि कोई रिट याचिका फाइल नहीं की गई है क्योंकि उस सरकार का सरकारी तंत्र श्रीराम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवादित ढांचे के विध्वंस को रोकने में असफल रहा था और धार्मिक संपत्ति की सुरक्षा करने में असफल रहा था चाहे यह संपत्ति हिन्दुओं की हो या मुसलमानों की और ऐसे आवेषित वातावरण में जब यह कार्य किया गया था यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राष्ट्रपति ने असांविधानिक रूप से कार्य किया था या उनके कार्य और ढांचे को गिराने की कार्यवाही के बीच अनुच्छेद 356 के अधीन दी गई शक्ति के प्रयोग करने का कोई

निकटस्थ संबंध नहीं था। इसी प्रकार मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश की विधान सभाओं के विघटन के संबंध में राज्यपालों की रिपोर्ट यह प्रकट करती है कि कुछ मंत्री और कुछ मुख्यमंत्रियों ने सक्रिय रूप से संबद्ध होकर राम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद को गिराने में भाग लेने के लिए कार सेवकों को प्रोत्साहित किया था और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर अधिरोपित प्रतिबंध की भी आलोचना की थी। विधि और व्यवस्था की स्थिति या लोक व्यवस्था की स्थिति नियंत्रण में लाई गई प्रतीत नहीं होती थी। इन तमाम घटनाओं में पंथ निरपेक्षता को भंग किया जाना सामान्य रूप से विद्यमान था और पूर्व अनुमान के आधार पर कार्यवाही की गई थी। हमारे विद्वान् बन्धु न्यायमूर्ति जीवन रेड्डी ने उनके, पक्षकारों के अपने-अपने काउन्सेलों की दलीलों और अभिवाकों पर विस्तार से विचार किया है और उन्होंने निष्कर्ष भी निकाले हैं। इसलिए पुनः इस पर चर्चा किया जाना व्यर्थ है, हम सादर उनसे सहमत हैं तथा मेघालय वाले मामले से भी। हम यह निष्कर्ष देते हैं कि राष्ट्रपति का समाधान न्यायिकतः खोजे और नियंत्रण किए जा सकने वाले स्तर मान के आधार पर न्यायनिर्णीत नहीं किया जा सकता किन्तु एक कटु सत्य जो उत्पन्न हुआ है वह यह है कि भारतीय जनता पार्टी के सतत आन्दोलन के कारण और दूसरे संगठनों के कारण श्रीराम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवादित ढांचा ध्वस्त किया गया था। परिणामस्वरूप जो स्थिति उत्पन्न हुई उसी कारण राष्ट्रपति का यह समाधान हुआ है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश राज्यों की सरकारें संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा रही हैं और उन्होंने संविधान के आधारिक स्वरूप यानतःपंथ निरपेक्ष स्वरूप को भंग किया है। इसलिए राष्ट्रपति के इस समाधान को असंगत नहीं माना जा सकता। इसलिए इसमें हस्तक्षेप किए जाने की आवश्यकता नहीं है। जहां तक मेघालय का संबंध है हालांकि एक घोषणा राष्ट्रपति की उद्घोषणा की विधिमान्यता के संबंध में किया जाना संभव है। अब क्योंकि निर्वाचन पहले ही हो चुके हैं अतः यह संपन्न कार्य हो गया है।

निष्कर्ष

258. भारत के संविधान में परिकल्पित संघीय रूप एक आधारिक लक्षण है जिसमें भारत संघ संविधान के अनुच्छेद 1 में वर्णित क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर स्थायी और अखण्डनीय है। राज्य, संविधान और अनुच्छेद 2 से 4 के अधीन बनाई गई विधि से जिसमें सीमा की अखंडता का कोई बंधन नहीं है, सृष्ट है किन्तु यह एक स्थायी अस्तित्व है जिसकी सीमाएं संसद द्वारा बनाई गई विधि से परिवर्तित की जा सकती हैं। न तो संविधान की अनुसूची 7 की सूची 1 और 2 की विधायी प्रविष्टियों का सापेक्ष महत्व है और न ही अपने आप में संघ का आर्थिक नियंत्रण इस निष्कर्ष का निश्चायक है कि संविधान एकात्मक है। इनकी अपनी-अपनी विधायी शक्तियां संविधान के अनुच्छेद 245 से 254 तक में दी गई हैं। राज्य के रूप में संविधान का स्वरूप संघीय है और यह विधायी और कार्यपालिक शक्ति का प्रयोग स्वतंत्र रूप से कर सकता है। तथापि, राज्य संविधान द्वारा सृष्ट होने के कारण अलग होने का अधिकार नहीं रखता और यह प्रभुसत्ता सम्पन्न होने का दावा नहीं कर सकता। संघ के रूप में राज्य संघीयकल्प है। दोनों संस्थाएं समन्वयकारी हैं और इन्हें अपनी-अपनी शक्तियों का प्रयोग समायोजन, सूझ-बूझ और समझौते से लोगों को सामाजिक-आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय देने के लिए, पंथनिरपेक्षता सहित सांविधानिक उद्देश्यों को कायम रखने और बढ़ावा देने के लिए करना चाहिए।

259. संविधान की उद्देशिका संविधान का एक अविच्छिन्न भाग है। सरकार का प्रजातांत्रिक स्वरूप, संघीय स्वरूप, राष्ट्र की एकता और अखण्डता, पंथनिरपेक्षता, समाजवादी, सामाजिक न्याय और न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान के आधारिक लक्षण हैं।

260. राज्यपाल का पद, राज्य सरकार द्वारा संविधान के क्रियान्वयन को निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठ रूप में भारत के राष्ट्रपति को संसूचित करने के लिए उनसे महत्वपूर्ण रूप से संबंधित है और जुड़ा हुआ है। वह निष्पक्ष रूप से कार्य करते हुए राज्य में संविधान के क्रियान्वयन की सांविधानिक प्रक्रिया की सुरक्षा और पुष्टि को सुनिश्चित करता है। कार्यपालिका का प्रधान होने के रूप में उसे ईमानदारी से अत्यधिक सांविधानिक उत्तरदायित्व के साथ राष्ट्रपति को यह सूचित करना चाहिए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें सांविधानिक तंत्र असफल हो गया है और राज्य संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है। इसे आवश्यक वस्तुस्थिति के विवरण के साथ निष्पक्षता से प्रेषित किया जाना चाहिए।

261. भारत संघ राज्य सरकार की सुरक्षा करेगा और इसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 356 के अधीन यह आदेशित है कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाई जानी चाहिए। राज्यपाल से रिपोर्ट प्राप्त होने पर या अन्यथा राष्ट्रपति (मंत्रिपरिषद्) का यह समाधान होने पर कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें किसी राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा रही है, वह अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने के लिए सशक्त है और संविधान के अनुच्छेद 356(1) के खण्ड (क) से (ग) में अधिकथित रीति के अनुसार राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है।

262. अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग एक असाधारण प्रयोग है। जब अनुच्छेद 356 में अनुध्यात स्थिति में सरकार के प्रजातांत्रिक स्वरूप को कायम रखने के लिए आवश्यक हो और राजनैतिक प्रक्रिया को अशक्त होने से बचाने के लिए आवश्यक हो तभी इस शक्ति का प्रयोग अन्य साधन अपर्याप्त होने पर किया जाना चाहिए। संविधान के अतिक्रमण का कोई एक या विशिष्ट कार्य चाहे यह अच्छा हो, बुरा हो या उदासीन प्रशासन के संबंध में हो, आवश्यक रूप से सांविधानिक तंत्र की असफलता का प्रमाण नहीं है या इसे इस प्रकार नहीं कहा जा सकता कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग किसी भी स्थिति में केन्द्र सरकार में सत्तारूढ़ दल के लिए राजनैतिक उपलब्धि प्राप्त करने हेतु नहीं किया जाना चाहिए। इसका प्रयोग कम-से-कम और सावधानी से किया जाना चाहिए जिससे कि राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कार्य करे।

263. विधिसम्मत शासन का सामाजिक समायोजन और विरोधी सामाजिक समस्याओं के निराकरण के तंत्र (उपकरण) के रूप में चयन किया गया है, जिससे अनेक धार्मिक विश्वासों, (निष्ठा), पंथ, जाति या धर्म के मानने वाले समाज के विभिन्न वर्गों के सामाजिक, धार्मिक, भाषायी या क्षेत्रीय अवरोधों को पार करके बन्धुत्व की भावना का विकास करते

हुए, एक साथ रखा जा सके। नागरिकता या तो जन्म से होती है या अधिवास के आधार पर न कि किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र या भाषा के आधार पर। पंथ निरपेक्षता के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू हैं। संविधान लौकिक भागों के मध्य इन्हें किसी ऐसे व्यक्ति की मान्यता तक सीमित रखते हुए संतुलन कायम करता है जो एक विशिष्ट धार्मिक निष्ठा या विश्वास को मानता है और उसे इस पर आचरण करने, इसे मानने तथा अपने धर्म का प्रचार करने की अनुज्ञा लोक व्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य के अध्यधीन रहते हुए देता है। पंथ निरपेक्षता का सकारात्मक पक्ष राज्य को प्रदत्त किया गया है जिसे वह विधि द्वारा या कार्यपालिक आदेश द्वारा विनियमित करता है। राज्य को, राज्य के धर्म के रूप में किसी विशिष्ट धर्म को संरक्षण देने से प्रतिषिद्ध किया गया है और इसे तटस्थता बरतने के लिए आदिष्ट किया गया है। राज्य अपने लोगों में पूर्ण निष्ठा और विश्वास का वातावरण बनाने के लिए तथा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिए और उसे पंथ निरपेक्षता के आधार पर व्यक्तिगत श्रेष्ठता, प्रादेशिक विकास, उन्नति और राष्ट्रीय अखण्डता बनाए रखने हेतु एक विवेकी व्यक्ति बनाने के लिए सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास करता है। चूंकि धर्म किसी विशिष्ट धर्म के मानने वाले व्यक्तियों या लोगों के समूहों के लिए संवेदनशील (नाजुक) विषय होता है, जो दूसरे धर्म या उसे मानने वाले लोगों के समूहों का विरोधी हो सकता है, अतः उससे है। यह अनिवार्य रूप से सामाजिक और धार्मिक तनाव उत्पन्न होता है। यदि धर्म को इन सब पर अभिभावी होने दिया जाए तो सामाजिक भेदभाव राष्ट्रीय विघटन की ओर बढ़ने के लिए बाध्य होगा। पंथ निरपेक्षता संविधान के आधारभूत लक्षणों में से एक है। राजनैतिक दल, व्यक्तियों या व्यक्तियों के ऐसे समूह, जो राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए निर्वाचन प्रक्रिया को प्रभावित करना चाहते हैं, को संविधान और पंथ निरपेक्षता, प्रभुत्व सम्पन्नता तथा राष्ट्र की अखण्डता सहित सभी विधियों को मानना चाहिए। उन्हें राजनीति के साथ धर्म को नहीं मिलाना चाहिए। धार्मिक सहिष्णुता और भाई-चारा संविधान के आधारिक लक्षण और आधारतत्व हैं। ये राष्ट्रीय अखण्डता और वर्गीय या धार्मिक एकता की स्कीम के रूप में हैं। राजनैतिक दलों द्वारा धर्म पर आधारित विकसित किए गए कार्यक्रम और सिद्धांत राजनैतिक शासन में धर्म को मान्यता देने के तुल्य है। इसे संविधान में व्यक्त रूप से प्रतिषिद्ध किया गया है। यह संविधान के आधारिक लक्षणों का अतिक्रमण है। सकारात्मक पंथ निरपेक्षता ऐसी नीति (पॉलिसी) को नकारती है और इसके अनुसरण में किया गया कोई कार्य संविधान के आधारभूत लक्षणों के अतिक्रमण में होगा। राजनैतिक दल द्वारा किया गया ऐसा कोई कार्य या उस दल द्वारा इसके कार्यक्रम या नीति (पालिसी) के अनुसरण में चलाई जा रही राज्य सरकार द्वारा किये गए कार्य संविधान और विधि का भी अतिक्रमण करने वाले होंगे। जब राष्ट्रपति राज्यपाल से रिपोर्ट प्राप्त करता है या अन्यथा यह सूचना पाता है कि उस राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा रही है तो राष्ट्रपति उस रिपोर्ट पर विचार करके विधि के अनुसार अपना समाधान करने का हकदार है।

264. किसी भी व्यक्ति को जो राष्ट्रपति की उद्घोषणा को आक्षेपित करता है, प्रथमदृष्टया यह मामला सशक्त रूप से साबित करना चाहिए कि राष्ट्रपति की उद्घोषणा असंवैधानिक या अविधिमान्य है और विधि के अनुसार नहीं है। न्यायालय का यह समाधान हो जाने पर कि प्रथमदृष्टया सशक्त रूप से यह मामला साबित कर दिया गया है और यदि

यह मामला उच्च न्यायालय में है तो उसे भारत संघ से अभिलेख मंगाने के लिए एक प्रारंभिक जांच आदेश करने से पहले कारण अभिलिखित करना चाहिए। सरकार भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन तथा संविधान के अनुच्छेद 74(2) के अधीन विशेषाधिकार का दावा करने की हकदार है। इस मामले में आगे कोई कार्यवाही करने से पहले न्यायालय को इस अभिलेख पर बंद कमरे में विचार करना चाहिए। अनुच्छेद 74(2) न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए कोई बाधा नहीं है। यह केवल ऐसी परीक्षा करने पर प्रतिबंध लगाती है कि क्या कोई सलाह दी गई है और यदि दी गई है तो मंत्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को क्या सलाह दी गई है। अनुच्छेद 74(2) में प्रकटीकरण से केवल यह एक सीमित सुरक्षात्मक कवच का उपबंध है। किन्तु ऐसी सामग्री जिसके आधार पर मंत्रिपरिषद् द्वारा सलाह दी गई थी, न्यायिक संवीक्षा के अध्यधीन है।

265. जब इस न्यायालय द्वारा प्रारम्भिक जांच आदेश जारी कर दिया जाता है तो भारत संघ अनुच्छेद 142(2) के अधीन इस न्यायालय की सहायता करेगा और वह ऐसी सामग्री को पेश करेगा जो अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही का आधार है। जैसा कि पहले अभिनिर्धारित किया जा चुका है, भारत संघ को सामग्री पेश करने के लिए कहने से पहले न्यायालय के पास प्रथमदृष्टया मजबूत मामला होना चाहिए और जब यह अभिलेख पेश कर दिया जाता है तो इस पर बंद कमरे में विचार किया जाना चाहिए।

266. न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का एक आधारिक लक्षण है। यह न्यायालय/उच्च न्यायालय सजग प्रहरी के रूप में न्यायिक पुनर्विलोकन करने के लिए सांविधानिक कर्तव्य और उत्तरदायित्व के अधीन है। न्यायिक पुनर्विलोकन विनिश्चय के गुणागुण से संबद्ध नहीं है बल्कि यह उस रीति से संबंधित है जिसके अनुसार विनिश्चय किया गया था। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग इस शक्ति का सांविधानिक प्रयोग है। किसी प्रशासनिक विनिश्चय के संबंध में न्यायालयों द्वारा लागू किए गए वस्तुपरक आधारों पर सामान्य व्यक्तिपरक समाधान के आधार जो अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा या न्यायिककल्प या अधीनस्थ विधायन के अधीन प्रशासनिक निर्णयों को लागू किए जाते हैं अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति के विनिश्चय को लागू नहीं होते।

267. न्यायिक पुनर्विलोकन, न्यायालय द्वारा विचार किए जाने वाले सामान्य मामलों से भिन्न रूप में माना जाना चाहिए। दोनों संकल्पनाएं समानार्थी नहीं हैं। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति एक संघटक शक्ति है और इसका निर्वचन की न्यायिक प्रक्रिया द्वारा अधित्यजन नहीं किया जा सकता। तथापि, राष्ट्रपति द्वारा लिए गए विनिश्चय की न्याय्यता न्यायालय द्वारा शक्ति का एक ऐसा प्रयोग है जो स्व-अधिरोपित न्यायिक अवरोध के अधीन है। हमारे संविधान का यह एक आधारभूत सिद्धांत है कि चाहे कोई कितने भी उच्चपद पर क्यों न हो वह संविधान के अधीन दी गई शक्ति का एकमात्र निर्णायक होने का दावा नहीं कर सकता। इसके कर्तव्य संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों की सीमाओं के भीतर होते हैं।

268. संविधान के निर्वचन के मामले में अंतिम निर्णायक के रूप में यह न्यायालय यह घोषित करता है कि विधि क्या है? उच्च न्यायपालिका को यह अवधारण करने के लिए एक संवेदनशील कार्य सौंपा गया है कि संविधान द्वारा सरकार की प्रत्येक शाखा को क्या

शक्तियां दी गई हैं और क्या उस शाखा द्वारा किए गए कार्य ऐसी सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। यह इस न्यायालय/उच्च न्यायालय का कर्तव्य और उत्तरदायित्व है कि वह विधि को अधिकथित करे। संविधान का अंतिम रूप से निर्वचन करने वाले के रूप में इस न्यायालय का यह एक सांविधानिक कर्तव्य है कि वह सांविधानिक सिद्धांतों को बनाए रखे तथा सांविधानिक प्रतिबंधों का प्रवर्तन करे। इसलिए न्यायिक पुनर्विलोकन का विस्तार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा की संवैधानिकता की परीक्षा करने तक है। यह एक संवेदनशील बात है जो राजनैतिक व्यंजना से भारित है, इसे चतुराई और बहुत सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिए। अंतिम रूप से इस उद्घोषणा की विधिमान्यता का विनिश्चय करने के लिए कठोर नियमों या सिद्धांतों का कोई नियत समूह नहीं है कि राष्ट्रपति का समाधान कब न्याय्य और विधिमान्य होगा।

269. न्याय्यता कोई ऐसी विधिक संकल्पना नहीं है जिसकी अन्तर्वस्तु नियत हो और न ही इसका वैज्ञानिक सत्यापन किया जा सकता है। इसका प्रयोग अनेकों दबावों और विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप होता है। सामान्य ज्ञान की सीमा की दृष्टि से न्याय्यता पर विचार किया जा सकता है। शुद्ध राजनैतिक प्रकृति के प्रश्नों को न्यायिक पुनर्विलोकन से दूर रखा जा सकता है हालांकि ऐसे शुद्ध विधिक प्रश्न जो राजनैतिक प्रश्नों में छिपे रहते हैं, हमेशा ही न्यायालय द्वारा विचारणीय होते हैं। किसी विशिष्ट संविवाद को विनिश्चित करने के लिए न्यायालय के पास न्यायिकत: नियंत्रणीय स्तरमान होने चाहिएं। स्वयं संविधान की स्कीम द्वारा सृजित राजनैतिक समकक्ष कार्यपालिका को वृहत् रूप में प्रदत्त व्यक्तिपरक समाधान के आधार पर न्याय्यता अनेक आधारों में से एक है, जिसका ध्यान न्यायिक पुनर्विलोकन करते समय रखा जाना चाहिए। यह एक प्रारम्भिक उपधारणा है कि राष्ट्रपति द्वारा किए गए कृत्य नियमित रूप से अनुपालित किए गए हैं।

270. अनुच्छेद 74(1) का परन्तुक इस बात पर बल देता है कि राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई सलाह पर राष्ट्रपति ने सक्रिय रूप से विचार करके अपना यह समाधान किया है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती। "अन्यथा" शब्द राष्ट्रपति के समाधान के विस्तार और परिधि को और विस्तृत करता है। कुछ मामलों में ऐसा समाधान विनिश्चय के लिए न्यायिकत: नियंत्रणीय स्तरमान से रहित होता है। उच्च स्तरीय सांविधानिक तंत्र द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की उपधारणा नहीं की जा सकती। किन्तु इसे कठोरता के साथ साबित किया जाना चाहिए। यह भी नहीं उपधारित किया जा सकता कि राष्ट्रपति की उद्घोषणा हल्के ढंग से जारी की गई थी। विवेकिक समाधान का प्रयोग विभिन्न, विविध और बहुवर्ण परिस्थितियों पर निर्भर करता है। संविधान द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग देश की सर्वोच्च कार्यपालिका, यथा भारत के राष्ट्रपति, में मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह द्वारा, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है, सौंपा गया है। प्रधान मंत्री और उसकी मंत्रि परिषद् संसद के प्रति सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हैं और लोगों के प्रति जवाबदेह हैं। सर्वोच्च कार्यपालिका में यह विश्वास रखना ऐसी परिस्थिति है जिसे यह न्यायनिर्णीत करते समय ध्यान में रखना चाहिए कि क्या राष्ट्रपति का समाधान विधि के अनुसार न होने से दूषित है। अनुच्छेद 361 के अधीन जवाबदेही के सांविधानिक

प्रतिषेध के रहते हुए, राष्ट्रपति को असद्भाव या व्यक्तिगत असद्भावपूर्ण कार्य करने के आरोप को अनुज्ञात नहीं किया गया है किन्तु यदि शक्ति के असद्भावपूर्ण प्रयोग का सबूत उपलब्ध है तो अनुच्छेद 61 के अधीन संविधान में समुचित उपाय उपलब्ध होंगे ।

271. राष्ट्रपतीय उद्घोषणा जारी करने के विनिश्चय की जांच, जो वैवेकिक शक्ति के प्रयोग में जारी हुआ है, विधिक असद्भाव या अत्यधिक अयुक्तता के आधार पर की जा सकती है । इस प्रकार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा के लिए उनके समाधान की जांच केवल असांविधानिकता के उन आधारों पर की जा सकती है जिनके आधार पर उनका समाधान हुआ है न कि ऐसे आधारों पर कि सामग्री पर्याप्त नहीं थी या वह अपर्याप्त थी । इसलिए न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रारम्भिक मानदण्ड अनुच्छेद 356 के अधीन अपवादात्मक और असाधारण शक्तियों के प्रयोग के संबंध में विहित नहीं किए जा सकते । आनुपातिकता का सिद्धांत अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग को लागू नहीं किया जा सकता । राष्ट्रपति के कृत्य के संबंध में अंतिम अपील मतदाताओं से है और न्यायिक स्वप्रतिबंध (आत्म-संयम) से सहायता ली जाती है, उस दशा में न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रभाविकता में लोगों का विश्वास और बढ़ेगा और न्यायिक उपचार अर्थपूर्ण होगा ।

272. अनुच्छेद 356 के अधीन जैसे ही उद्घोषणा जारी की जाती है, अनुच्छेद 356 के उपखण्ड 3 के अधीन राष्ट्रपति इसके जारी होने के दो महीने के भीतर, यदि इसे इस बीच वापस नहीं ले लिया जाता है, संसद के दोनों सदनों से इसका अनुमोदन कराएगा। एक सुसंगत सांविधानिक परिपाटी यह स्थापित हो चुकी है कि उद्घोषणा जारी करने पर राष्ट्रपति राज्य की सरकार के कृत्यों को ग्रहण करने के उपरान्त राज्यपाल को राज्य की सरकार के सभी कार्यपालिक कार्यों का प्रयोग नियुक्त सलाहकारों की सहायता और सलाह से करने का निदेश देता है । वह यह घोषणा करता है कि राज्य के विधानमंडल की शक्ति संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोग की जाएगी और वह संविधान के किसी ऐसे उपबंध को पूर्ण रूप से या उसके किसी एक भाग को निलम्बित करके जो किसी व्यक्ति या राज्य के प्राधिकारी से संबंधित है, जिसमें राज्य विधानमंडल का विघटन और राज्य सरकार का हटाया जाना भी सम्मिलित है, आकस्मिक और पारिणामिक ऐसे उपबंध कर सकता है जो उद्घोषणा के उद्देश्य को प्रभावी करने के लिए आवश्यक होते हैं । संसद अनुच्छेद 357 के अधीन विधायी शक्ति का प्रयोग करती है और इसके बदले में राष्ट्रपति को अनुसूची 7 की सूची 2 में सम्बद्ध प्रविष्टियों द्वारा प्रदत्त शक्तियां सौंपती है । राज्य का राज्यपाल सलाहकारों की सहायता और सलाह से राष्ट्रपति की ओर से कार्यपालिक कृत्यों को करता है । इस परिपाटी ने विधि का रूप धारण कर लिया है । यह सुसंगत विधि बिना किसी सांविधानिक रिक्ति के प्रवर्तन में रही है । राष्ट्रपति की उद्घोषणा के प्रवर्तन पर रोक मंजूर करना सांविधानिक और प्रशासनिक रिक्ति और असंगति को जन्म देगा । संघ और राज्य दोनों एक साथ संविधान की अनुसूची 7 की सूची 2 में दी गई विधायी और कार्यपालिक शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकते, इसलिए संघ और राज्य द्वारा एक साथ दो प्रकार के कृत्यों का किया जाना प्रजातांत्रिक सिद्धांत और सांविधानिक स्कीम के लिए अभिशाप है, इससे असंगति और असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न होगी ।

273. संविधान में राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के अधीन विघटित (विधान) सभा को पुनरुज्जीवित करने या राज्य की हटाई गई (बर्खास्त की गई) सरकार को पुनः सत्ता में लाने के लिए कोई अभिव्यक्त उपबंध नहीं है। संविधान के अधीन स्थापित जनतांत्रिक संस्थाओं के कार्यकरण पर संविधान का निर्वचन करने में, अन्तरालों (रिक्तियों) को भरना या विघटित (विधान) सभा को पुनरुज्जीवित करने और राज्य की बर्खास्त सरकार को पुनः सत्ता में लाने के लिए निदेश देना अनुज्ञेय नहीं है। इसी प्रकार, राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के प्रवर्तन पर रोक मंजूर नहीं की जा सकती, जब तक, संसद के दोनों सदन राष्ट्रपतीय उद्घोषणा का अनुमोदन कर देते हैं। राज्य की विधान सभा का, विघटन बिना, निलम्बन कृत्यकरण सम्बन्धी असामंजस्य सर्जित करता है, जिसके परिणामस्वरूप सांविधानिक संकट उत्पन्न होता है? राष्ट्रपतीय उद्घोषणा के अनुसरण में हुए, विधान सभा के लिए निर्वाचनों पर रोक की मंजूरी से भी सांविधानिक संकट उत्पन्न होता है। अतः न्यायालयों को ऐसे निदेश जारी नहीं करने चाहिए और संविधान में संशोधन का काम, यदि आवश्यक हो, संसद के लिए छोड़ देना चाहिए।

274. सदन के पटल पर शक्ति-परीक्षण ऐसी एक विचारणा हो सकती है, जिसे राज्यपाल ध्यान में रख सकते हैं। किंतु यह बात कि उसका अवलंब लिया जाए या नहीं, उस समय की राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर करेगी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, "खरीद-फरोख्त" की संभावना को भी ध्यान में रखा जाना है। सदन के पटल पर शक्ति परीक्षण करने के लिए राज्यपाल द्वारा शक्ति के प्रयोग के लिए निश्चित नियम विरचित या अवधारित करना संभव नहीं है। राज्यपाल को, संविधान और सरकार की संसदीय पद्धति को ध्यान में रखते हुए, अपने उत्तम निर्णय के अनुसार स्थिति से निपटने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए। यद्यपि इस देश के दो विशिष्ट न्यायाधीशों की अध्यक्षता में बने सरकारिया आयोग और राजमन्नार आयोग ने सदन के पटल पर परीक्षण की सिफारिश की, तथापि उसका केवल यही अर्थ हो सकता था कि वह एक विचारणा है, जिस पर राज्यपाल को ध्यान देना चाहिए। यह कहना पर्याप्त होगा कि राज्यपाल को स्थिति से अवगत रहना चाहिए किंतु इस प्रश्न के बारे में निर्णय करने के लिए वह एकमात्र निर्णायक होंगे कि सदन के पटल पर परीक्षण का अवलम्ब लेने के लिए परिस्थितियां अनुरूप हैं या नहीं।

275. राष्ट्रपतीय उद्घोषणा जारी करने और मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश की विधान सभाओं का विघटन करने में राष्ट्रपति द्वारा किया गया समाधान दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह संविधान की धर्म निरपेक्ष बातों के उल्लंघन के तथ्य पर आधारित था, जो, स्वयं, यह अभिनिर्धारित करने के लिए आधार है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें संबंधित राज्यों का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अतः (राष्ट्रपति का) समाधान अनुचित नहीं कहा जा सकता है। तदनुसार मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध संघ की अपील मंजूर की जाती है और उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त किया जाता है। मेघालय विधान सभा का विघटन, यद्यपि वह आक्षेपणीय था, पश्चात्वर्ती निर्वाचनों के कारण निरर्थक हो गया है, और अब मेघालय की नव-निर्वाचित विधानसभा और राज्य सरकार सुचारू रूप से कार्य कर रही हैं। अतः कोई निरर्थक रिट जारी नहीं किया जा सकता क्योंकि न्यायालय व्यर्थ कार्य नहीं करता है।

तदनुसार श्री बोम्मई की अपील और अन्तरित याचिकाएं खारिज की जाती हैं; किंतु परिस्थितियों को देखते हुए, खर्चों के संबंध में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है ।

न्या० बी० पी० जीवन रेड्डी

276. भारत के संविधान का अनुच्छेद 356 एक ऐसा उपबंध है जिसका समानांतर नहीं है (जिसके समान कोई अन्य उपबंध नहीं है) । किसी अन्य देश के संविधान में समरूप उपबंध अंतर्विष्ट नहीं हैं । एकमात्र अन्य संविधान जो कुछ-कुछ वैसे ही उपबंध को अंतर्विष्ट करता है, 1973 का पाकिस्तान का संविधान है, अर्थात अनुच्छेद 58(2) और अनुच्छेद 112(2) । भारतीय और पाकिस्तानी दोनों ही उपबंध भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 45 और धारा 93 द्वारा प्रेरित प्रतीत होते हैं । तथापि, अनुच्छेद 356, गुणात्मक रूप से भिन्न है, जबकि पाकिस्तानी उपबंध 1935 के अधिनियम के उपबंधों के अधिक निकट है । अनुच्छेद 356 के अधीन, राष्ट्रपति राज्य सरकार, को हटाने, राज्य की विधान सभा को विघटित करने और यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि उक्त राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलायी जा सकती, तो उस दशा में राज्य की सरकार के कृत्यों को अपने हाथ में लेने को सशक्त है । भारतीय संविधान के संदर्भ में [अधिक विनिर्दिष्ट रूप में 42वां संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 74 (1) के संशोधन के पश्चात्] वास्तव में यह शक्ति केन्द्र में प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद में निहित है । कार्रवाई राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अन्यथा प्राप्त की गई सूचना में से किसी के आधार पर या दोनों के आधार पर की जा सकती है । वास्तव में यह भयभीत करने वाली शक्ति है । न्यायिक पुनर्विलोकन के अलावा संविधान द्वारा परिकल्पित की गयी एकमात्र जांच-संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन है, जो प्रचलन में अप्रभावी साबित हुआ है, जैसा कि इस निर्णय से स्पष्ट होगा । और अनुच्छेद 356 के अधीन कार्रवाई के न्यायिक पुनर्विलोकन के संबंध में, भारत संघ के विद्वान काउन्सेल और अन्य प्रत्यर्थियों द्वारा गंभीर बातें (शंकाएं) अभिव्यक्त की गई हैं । यदि जैसा कि वे कहते हैं, उसे स्वीकार किया जाता है, तो इस शक्ति द्वारा हमारे राज्य के संघीय स्वरूप को ही नष्ट कर देने और हमारी सांविधानिक स्कीम में गंभीर असंतुलन होने का खतरा है । इसलिए, हमारी सांविधानिक पद्धति के हित में, इन मामलों में इस शक्ति की सीमाओं और न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमाओं को परिभाषित करना आवश्यक है । यह इस कारण से है कि हमने, इस अनुच्छेद के अधीन शक्ति के अर्थ, विस्तार और सीमाओं पर हमारे समक्ष सभी पक्षकारों की विस्तृत दलीलों को सुना । हम यह कह सकते हैं कि, हम इस समस्या की नाजुक प्रकृति से पूर्णतया भिज्ञ हैं । हमें यह मालूम है कि, यद्यपि, इसमें यहां उठाए गए प्रश्न प्रकृति में सांविधानिक हैं, वे राजनीतिक पुट लिए हुए हैं । यह नितांत संभाव्य है कि हमारे विचार कुछ को रुचिकर नहीं लगेंगे किंतु उसमें संभाव्य रूप से सहायता नहीं की जा सकती । संविधान की प्रतिष्ठा को बनाए रखने की शपथ के साथ, हमें वह कहना चाहिए जो कि अनुच्छेद कहता है और उससे अभिप्रेत है ।

277. यह सत्य है कि इसमें यहां आक्षेपित उद्घोषणाओं के जारी होने के पश्चात्-वर्ती हुए चुनावों के कारण, इन मामलों में कोई प्रभावी अनुतोष प्रदान नहीं किया जा सकता, तब भी इसमें यहां संबंधित सभी पक्षकारों द्वारा हमसे यह प्रार्थना की गई है कि हम

इसमें यहां उत्पन्न हुए सभी विवाद्यकों पर अपने मत अभिव्यक्त करें, जिससे कि इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत, भविष्य में सभी संबंधित व्यक्तियों के लिए मार्गदर्शक के रूप में हों।

अनुच्छेद 356 : पृष्ठभूमि :

278. भारत, वर्ष 1858 में ब्रिटिश उपनिवेश हो गया था। इसका लगभग दो-तिहाई भाग ब्रिटिश शासन के सीधे अधीन था जबकि शेष एक तिहाई भाग 500 से भी अधिक राजाओं के शासनाधीन था, जो ब्रिटिश सम्राट के सीधे अधीन थे। 1935 के अधिनियम ने प्रथम बार केन्द्र और प्रांतों के मध्य शक्ति के विभाजन की संकल्पना प्रस्तुत (आरंभ) की थी। अधिकतर शक्तियां, केन्द्र द्वारा रखी गई थीं। प्रांतीय सरकारें सदा सतर्क (चौकस) और सर्वशक्तिशाली केन्द्र के अधीन रखी गई थीं। प्रांतों में गवर्नर और केन्द्र में गवर्नर-जनरल, संविधान के अधीन राज्यपालों और राष्ट्रपति के विपरीत, वास्तविक और सारभूत शक्ति प्रयोग करते थे, ब्रिटिश की दृष्टि से, यह एक ऐसा प्रयोग था, जो भारतीयों द्वारा स्व-शासन में पहला था। केन्द्र या प्रांतों में निर्वाचित सरकारों को कुछ शक्तियां सौंपी (प्रदान) गई थीं; वे भी जैसा कि मामला हो, गवर्नर-जनरल या गवर्नरों द्वारा पुनः ग्रहण और वापस ली जा सकती थीं, जब कभी उनका यह समाधान हो जाए कि केन्द्र या प्रांत की सरकार अधिनियम के उपबंधों के अनुसार चलायी नहीं जा सकती। 1935 अधिनियय के अधीन, गवर्नर-जनरल और गवर्नर से, साम्राज्यवादी उपनिवेशिक शक्ति अभिप्रेत थी। वास्तव में (साक्ष्यित रूप से) ब्रिटिश संसद भारतीय राजनीतिक दलों पर विश्वास (भरोसा) करने को तैयार नहीं थी। उनमें से अनेक, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध थे और उनके नेताओं में से कुछ ने खुले तौर पर यह घोषित किया था कि वे विधान-मण्डलों और सरकार में, पद्धति को भीतर से तोड़ने की दृष्टि से प्रवेश करेंगे। धारा 45 और 93 इस अविश्वास के उपज थे।

279. किंतु तब, संविधान में अनुच्छेद 356 जैसा उपबंध क्यों बनाया गया था? इसके लिए क्या औचित्य और आवश्यकता थीं? इसको अभिनिश्चित करने के लिए, हमें संविधान सभा में चर्चाओं (डिबेट) को देखना होगा। प्रारूप अनुच्छेद 277(क) और 278 (अनुच्छेद 355 और 356 का अनुवर्ती) विचार के लिए तारीख 3 अगस्त, 1949 को लिए गए थे। यह समुचित होगा कि संविधान सभा द्वारा अधिनियमित किए गए दोनों अनुच्छेदों 355 और 356 का पठन किया जाए—

> 355. **"बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति से राज्य की संरक्षा करने का संघ का कर्तव्य**—संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करे और प्रत्येक राज्य की सरकार का इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे।
>
> 356. **राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में उपबंध**—(1) यदि राष्ट्रपति का, किसी राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा—

(क) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधान-मंडल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा;

(ख) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधान-मंडल की शक्तियां संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी;

(ग) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित इस संविधान के किन्हीं उपबंधों के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलंबित करने के लिए उपबंधों सहित ऐसे आनुषंगिक और पारिणामिक उपबंध कर सकेगा जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों :

परन्तु इस खंड की कोई बात राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य किसी शक्ति को अपने हाथ में लेने या उच्च न्यायालयों से संबंधित इस संविधान के किसी उपबंध के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलम्बित करने के लिए प्राधिकृत नहीं करेगी ।

(2) ऐसी कोई उद्घोषणा किसी पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा वापस ली जा सकेगी या उसमें परिवर्तन किया जा सकेगा ।

(3) इस अनुच्छेद के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और जहां वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है वहां वह दो मास की समाप्ति पर यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है; तो प्रवर्तन में नहीं रहेगी :

परंतु यदि ऐसी कोई उद्घोषणा (जो पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है) उस समय जारी की जाती है जब लोकसभा का विघटन हो गया है या लोकसभा का विघटन इस खंड में निर्दिष्ट दो मास की अवधि के दौरान हो जाता है और यदि उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया गया है, किंतु ऐसी उद्घोषणा के संबंध में कोई संकल्प लोकसभा द्वारा उस अवधि की समाप्ति से पहले पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से जिसको लोकसभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोकसभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है, तो उस प्रवर्तन में नहीं रहेगी ।

(4) इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, ऐसी उद्घोषणा के किए जाने की तारीख से छह मास की अवधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी :

परन्तु यदि और जितनी बार ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तो

और उतनी बार वह उद्घोषणा, यदि वापस नहीं ली जाती है तो, उस तारीख से जिसको वह इस खंड के अधीन अन्यथा प्रवर्तन में नहीं रहती, छह मास की और अवधि तक प्रवृत्त बनी रहेगी, किंतु ऐसी उद्घोषणा किसी भी दशा में तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नहीं रहेगी :

परन्तु यह और कि यदि लोक सभा का विघटन छह मास की ऐसी अवधि के दौरान हो जाता है और ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित कर दिया गया है, किंतु ऐसी उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने के संबंध में कोई संकल्प लोक सभा द्वारा उक्त अवधि के दौरान पारित नहीं किया गया है तो, उद्घोषणा उस तारीख से, जिसको लोक सभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर, यदि उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति से पहले उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाए रखने का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोक सभा द्वारा भी पारित नहीं कर दिया जाता है तो, प्रवर्तन में नहीं रहेगी ।"

280. डा० बी० आर० अम्बेडकर का यह मत था कि संविधान को, 1935 के अधिनियम की धारा 93 में अंतर्विष्ट उपबंधों के समान (सदृश्य) राज्यों में सांविधानिक तंत्र के ठप्प हो जाने की स्थिति के लिए उपबंध करना चाहिए । उनके अनुसार यदि किसी कारणवश कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है, जहां राज्य की सरकार, संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाई जा सकती, वहां भारत के राष्ट्रपति को इसका उपचार करने को सशक्त होना चाहिए । उक्त प्रयोजन के लिए, वह सरकार और इसी भांति राज्य विधान मण्डल के सभी या किसी कृत्य को हाथ में ले सकता है । वह उच्च न्यायालय से संबंधित उपबंधों के सिवाए संविधान के उपबंधों के निलम्बन को सम्मिलित करते हुए ऐसे अन्य उपबंधों को भी बना सकता है जो वह आवश्यक समझे । उनके अनुसार यह शक्ति अनुच्छेद 277(क) (अनुच्छेद 355) के प्रारूप के संदर्भ में समझी जानी चाहिए, जो केन्द्र पर प्रत्येक राज्य की बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशान्ति से संरक्षा करने की बाध्यता डालता है और यह सुनिश्चित करने की बाध्यता डालता है कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाई जाती है । उनके अनुसार इस बाध्यता का निर्वहन करने को, केन्द्र को राज्य की सरकार के शासन को हाथ में लेने को सशक्त किया जाना चाहिए । उन्होंने कथन किया कि इसी समय राष्ट्रपति से स्वैरता या मनमाने तरीके से कृत्य करने की प्रत्याशा नहीं की जाती अपितु राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या उसके कब्जे में अन्य सामग्री जैसा कि मामला हो, के आधार पर कृत्य करने की प्रत्याशा की जाती है ।

281. अनेक सदस्यों ने अनुच्छेद 278 के प्रारूप में अंतर्विष्ट उपबंध के जैसे उपबंध को सम्मिलित करने का अन्य बातों के साथ इस आधार पर प्रबलता से विरोध किया कि यह राज्य के लिए आरक्षित क्षेत्र का अतिक्रमण होगा और यह कि राष्ट्रपति को "अन्यथा" प्राप्त की गई सूचना अर्थात्, राज्यपाल से उक्त प्रभाव की रिपोर्ट के न होने के आधार पर भी राज्य सरकार के शासन को हाथ में लेने को अनुज्ञप्त करने का दुरुपयोग होना अनिवार्य है । कुछ सदस्यों ने अभिवाक् किया कि यह शक्ति केवल राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर ही प्रयोग की जानी चाहिए और यह कि शब्द "या अन्यथा" को अनुच्छेद से काट दिया जाना

चाहिए। यह सभी आपत्तियां, डा० अम्बेडकर द्वारा इस तर्क के साथ अस्वीकार कर दी गईं कि तत्प्रयोजनार्थ किसी संविधान का कोई उपबंध दुरुपयोग किए जाने से उन्मुक्त नहीं है। इसके आगे उन्होंने यह महत्वपूर्ण कथन किया : "वस्तुतः, मैं अपने सम्मानीय मित्र श्री गुप्ते द्वारा कल अभिव्यक्त की गई भावनाओं से सहमत हूं कि उचित बात जिसकी हमें प्रत्याशा करनी चाहिए यह है कि ऐसे अनुच्छेद कभी भी प्रवर्तित नहीं किए जाएंगे और यह कि वे निष्प्रभाव बने रहेंगे। यदि किसी प्रकार वे प्रवर्तन में लाए जाते हैं तो मैं आशा करता हूं कि राष्ट्रपति जिन्हें यह शक्तियां दी गई हैं, प्रान्तों के प्रशासन को वास्तविक रूप से निलम्बित करने के पूर्व उचित सावधानियां बरतेंगे।" उन्होंने यह जोड़ा कि : मैं आशा करता हूं कि पहली बात जो वह करेंगे, प्रांत, जिसने गलती की है को यह स्पष्ट चेतावनी जारी करना होगा कि कार्य उस रीति में नहीं हो रहे जिनमें कि वे संविधान के अधीन किए जाने आशयित थे।

282. इस प्रकार अनुच्छेद 356 यह सुनिश्चित करने के तंत्र के रूप में सूत्रबद्ध (समझा गया) था कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाता है। वयस्क मताधिकार के आधार पर लोकतांत्रिक नियम पहली बार प्रविष्ट किया गया था। राजसी शासन के अधीन देश के करीब-करीब 1/3 भाग में कभी भी निर्वाचन नहीं हुए थे। विधिसम्मत शासन उन क्षेत्रों में एक अपूर्व बात थी। नवीन लोकतंत्र को सावधानीपूर्ण पालन-पोषण अपेक्षित था। आने वाले दिनों में अनेक कठिनाई आने के प्रत्याशा थी। कदाचित यह अनुच्छेद 356 जैसे एक उपबंध के लिए आवश्यकता को स्पष्ट (व्यक्त) करता है।

283. अनुच्छेद 356, भाग XVIII में दिया गया है, जिसका शीर्षक "आपात उपबंध" है। इस भाग में पहला अनुच्छेद, अनुच्छेद 352 भारत के राष्ट्रपति को उद्घोषणा द्वारा सम्पूर्ण भारत या उसके राज्यक्षेत्र के ऐसे भाग के संबंध में जो उद्घोषणा में विनिर्दिष्ट किया जाए, आपात की घोषणा करने को सशक्त करता है, यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि गंभीर आपात की स्थिति विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है। (44वें संशोधन द्वारा "सशस्त्र विद्रोह" शब्द, "आंतरिक अशांति" शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित किए गए थे।) अनुच्छेद 353 और 354 ऐसी उद्घोषणा के प्रभावों का वर्णन करते हैं और कतिपय आनुषंगिक विषयों के लिए उपबंध करते हैं। यहां इसमें इसके ऊपर वर्णन किया गया अनुच्छेद 355, संघ पर यह कर्तव्य अधिरोपित करता है कि संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह बाह्य आक्रमण और सशक्त-विद्रोह से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करे और प्रत्येक राज्य के शासन का इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे। अनुच्छेद 355, 356 और 357 एक ही क्षेत्र से संबंध रखते हैं। अनुच्छेद 356, राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली कार्यवाही के लिए उपबंध करता है, यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, वहां राष्ट्रपति इस निमित्त उद्घोषणा करने के द्वारा कार्रवाई कर सकता है, जबकि अनुच्छेद 357 ऐसी शक्तियों का वर्णन करता है जो संसद् द्वारा प्रयोग की जा सकती है जब अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा प्रवर्तन में हैं। अनुच्छेद 358 और 359, अनुच्छेद 352 के अधीन उद्घोषणा की अवधि के दौरान कतिपय मूल

अधिकारों को निलंबित करने के सम्बन्ध में हैं। जबकि अनुच्छेद 360 राष्ट्रपति को कुछ स्थितियों में वित्तीय-आपात् की घोषणा करने को सशक्त करता है।

284. अनुच्छेद 356 एक अर्थ में आपात उपबंध है, यद्यपि यह सत्य है कि यह अनुच्छेद 352 द्वारा अनुध्यात किए गए आपात से गुणात्मक रूप से भिन्न है या इसी संदर्भ में अनुच्छेद 360 द्वारा अनुध्यात वित्तीय आपात् से भिन्न है। निस्संदेह किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र का ठप्प हो जाना, आपात् की स्थिति को उत्पन्न करता है। आपात् से एक ऐसी स्थिति अभिप्रेत है जो सामान्य नहीं है, ऐसी स्थिति जो शीघ्र उपचारात्मक कार्रवाई की अपेक्षा करती है। अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को अनुच्छेद 355 द्वारा उन पर अधिरोपित बाध्यता का निर्वहन करने के लिए आपवादिक मामलों में प्रयोग किए जाने के लिए एक शक्ति प्रदान करता है। यह, संविधान की संरक्षा और परिरक्षण के लिए, उनकी शपथ से संगत अध्युपाय है। वह अनुच्छेद 356 द्वारा अनुध्यात स्थिति में इस शक्ति का प्रयोग करने को उतने ही आबद्ध हैं जितना कि वह जहां ऐसी स्थिति वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई है, इसका प्रयोग न करने को आबद्ध हैं।

285. संविधान के 42वें (संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 356 में खण्ड (5) जोड़ा गया था। इसका 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा विलोप कर दिया गया था, जिसने खण्ड (5) से पूर्णतया भिन्न एक उपबंध सम्मिलित किया था। अनुच्छेद के अर्थ, अभिप्राय और विस्तार को समझने का प्रयत्न करते समय यह उचित होगा कि इसको इस रूप में लिया जाए जैसा कि यह अब है। किंतु हमारे ऐसा करने पूर्व हमारे संविधान द्वारा विधान (विहित) किए गए भारतीय परिसंघ की प्रकृति की परीक्षा करना उचित होगा।

संविधान की परिसंघीय प्रकृति :

286. अभिव्यक्त "परिसंघ" या "परिसंघीय स्वरूप की सरकार" का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। विस्तृत रूप से यह केन्द्र सरकार (परिसंघीय) और उसमें समाविष्ट इकाईयों (राज्यों) के मध्य शक्तियों के विभाजन को इंगित करती है। कोई भी दो परिसंघीय संविधान एक जैसे नहीं हैं। चाहे यह संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया या अन्य किसी देश को हो, उनमें से प्रत्येक का संविधान अपना सुभिन्न स्वरूप रखता है। उनमें से प्रत्येक कतिपय ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। ऐसा ही हमारा संविधान है। इसलिए हमारे संविधान को किसी विशेष ढांचे (स्वरूप) में अभिनिश्चित करने या बैठाने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। इसे हमारी स्वयं की ऐतिहासिक प्रक्रिया और सांविधानिक विकास को देखते हुए समझा जाना चाहिए। एक बात स्पष्ट है : यह स्वतंत्र राज्यों का एक साथ होकर किसी परिसंघ को गठित करने का मामला नहीं था, जैसा संयुक्त राज्य अमेरिका के मामले में है।

287. संविधान के उपबंधों का पुनर्विलोकन सुस्पष्ट रूप से यह दर्शित करता है कि परिसंघ को सृजित करते समय, संविधान निर्माताओं ने शक्तिशाली (सशक्त) केन्द्र को स्थापित करने की इच्छा की थी। इस उप-महाद्वीप के पूर्व इतिहास को दृष्टिगत करते हुए यह संभवतया एक प्राकृतिक और आवश्यक विनिश्चय था। भारत जैसी विविध भूमि में सशक्त केन्द्र कदाचित एक आवश्यकता है। केन्द्र के प्रति यह पक्षपात केन्द्र और राज्यों के मध्य विधायी शीर्षों (कार्यों) के वितरण से दर्शित होता है। इसके अतिरिक्त विधान के

महत्वपूर्ण शीर्ष सूची-I में रखे गए हैं। सूची-II में वर्णन किए गए विधायी शीर्षों के बीच भी, उनमें से अनेक यथाप्रविष्टि 2, 13, 17, 23, 24, 26, 27, 32, 33, 50, 57 और 63 सूची-I की कतिपय प्रविष्टियों के द्वारा या तो कुछ या किसी सीमा तक सीमित की गई हैं या अध्यधीन की गई हैं। समवर्ती सूची (सूची-III) में भी, संसदीय अधिनियमिति को इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना प्रधानता प्रदान की गई है कि क्या ऐसी अधिनियमिति समान विषयवस्तु पर राज्य अधिनियमिति से पूर्वतर समय की या उसके बाद के समय की है। समवर्ती शक्तियां केन्द्र के पास हैं। 42वें संशोधन द्वारा सूची-II की कुछ प्रविष्टियों का लोप कर दिया गया था और/या अन्य सूचियों में अंतरित कर दिया गया था। इन सबसे ऊपर अनुच्छेद 3 संसद को, विद्यमान राज्यों के भागों को मिलाने के द्वारा या अलग करके नए राज्यों का निर्माण करने और राज्यों की सीमाओं को बढ़ाने, घटाने या परिवर्तन करने को भी सशक्त करता है। इस प्रक्रिया में, विद्यमान राज्य लुप्त हो सकते हैं और नए राज्य अस्तित्व में आ सकते हैं। राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 के परिणामस्वरूप सत्ताईस राज्यों और एक क्षेत्र के स्थान पर चौदह राज्य और छह संघ राज्य क्षेत्र अस्तित्व में आए थे। यहां तक कि संसद द्वारा राज्यों के नाम भी एक पक्षीय रूप से बदले जा सकते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में एकमात्र अध्यपेक्षा वह है जो अनुच्छेद 3 के परन्तुक में विहित की गई है, यथा प्रभावित राज्यों के विधान मण्डलों के विचारों को अभिनिश्चित करना। हमारे यहां संयुक्त राज्य अमेरिका के विपरीत एकल नागरिकता है। पुनः राज्य के तीन अंगों में से एक, न्यायिक अंग, संयुक्त राज्य अमेरिका जहां पृथक रूप से संघीय न्यायपालिका और राज्य न्यायपालिका हैं, के विपरीत सम्पूर्ण देश के लिए एक और एकल है। अनुच्छेद 249 से 252 संसद की प्रमुखता को अतिरिक्त रूप से दर्शित करते हैं। यदि राज्यसभा 2/3 बहुमत से संकल्प पारित करती है कि राष्ट्रीय हित में संसद को सूची-II में दिए गए किसी विषय के संबंध में कानून बनाने चाहिए तो निस्संदेह संसद सीमित अवधि के लिए ऐसा कर सकती है (अनुच्छेद 249)। आपात् उद्घोषणा के प्रवर्तन के दौरान, संसद सूची-II में किसी विषय के संबंध में कानून बना सकती है। (अनुच्छेद 250)। इसी भांति संसद को अंतरराष्ट्रीय करारों को प्रभावी करने के लिए कानूनों को बनाने की शक्ति है (अनुच्छेद 253)। जहां एक वित्त का संबंध है, राज्यों को कम अनुकूल दशा में रखा गया प्रतीत होता है, यह एक ऐसा पहलू है जिसकी राज्यों और राज्यों की स्वायत्तता के पक्षकारों द्वारा काफी आलोचना की गई है। केन्द्र द्वारा अनेक कर वसूल किए जाते हैं और या तो आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से राज्यों को दे दिए जाते हैं। यह कहना पर्याप्त होगा कि केन्द्र को राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। सदृश रूप से केन्द्र पर अनुच्छेद 356 के अधीन, प्रत्येक राज्य का बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति से संरक्षा करने के कर्तव्य को सम्मिलित करते हुए, अनेक बाध्यताएं सौंपी गई हैं। वास्तव में यह अनुच्छेद, केन्द्र पर बाध्यता डालने के नाम पर अर्थात् "यह सुनिश्चित करने के लिए कि प्रत्येक राज्य की सरकार इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाई जाती है" उसको अधिक शक्ति प्रदान करता है। यह एक जिम्मेदारी और शक्ति दोनों है।

288. यह तथ्य कि हमारे संविधान की स्कीम के अधीन केन्द्र को राज्यों के मुकाबले अधिक शक्ति प्रदान की गई है, से यह अर्थ नहीं है कि राज्य केन्द्र के उपांग (अनुलग्नक) मात्र हैं। अपने को आबंटित क्षेत्र के भीतर राज्य सर्वोपरि है। केन्द्र उनकी शक्तियों में हस्तक्षेप

नहीं कर सकता। अतिविशेषरूप से न्यायालयों को ऐसा कोई दृष्टिकोण, निर्वचन अंगीकृत नहीं करना चाहिए जिनका राज्यों को आरक्षित शक्तियों को कम करने का प्रभाव हो या ऐसा करने को प्रवृत्त (अभिमुख) हो। यह सामान्य जानकारी का विषय है कि अंतिम अनेक दशकों से विश्व भर में झुकाव केन्द्र सरकारों को शक्तिशाली बनाने (मजबूत करने) की ओर है—चाहे यह तकनीकी/वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रगति का परिणाम हो या इससे अन्यथा का परिणाम हो, और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी केन्द्र, उनके संविधान में राज्यों के पक्ष में स्पष्ट पक्षपात के होते हुए भी अत्यंत सशक्त हो गया है। इस सबके कारण न्यायालय को राज्यों की शक्ति को मान के साथ (जानकारी के साथ) कम करने के विरुद्ध निगरानी करनी चाहिए। यह कहना उचित होगा कि भारतीय संविधान में परिसंघवाद, प्रशासनिक सुविधा का नहीं अपितु सिद्धान्त का विषय है—हमारी स्वयं की ऐतिहासिक प्रक्रिया और मूल वास्तविकताओं की मान्यता का परिणाम है। इस पहलू पर श्री एम० सी० शीतलवाड ने अपने टैगोर ला लैक्चर्स "भारतीय संविधान के अधीन संघ और राज्य संबंध" (यूनियन एंड स्टेट रिलेशंस अंडर दि इंडियन कान्स्टीट्यूशन) (ईस्टर्न ला हाउस, कलकत्ता, 1974 द्वारा संप्रकाशित) में विस्तार से चर्चा की है। भारतीय परिसंघ की, प्रकृति पर इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि विधायी शक्तियों के विभाजन, वित्तीय और प्रशासनिक संबंध, कराधान की शक्तियों, व्यापार, वाणिज्य और उद्योग से संबंधित उपबंध के संदर्भ में विश्लेषणात्मक रूप से विचार किया गया है। वर्तमान प्रयोजनों के लिए उन्हें निर्देश करना संभव नहीं है और न ही यह आवश्यक है। यह अवेक्षा करना पर्याप्त है कि हमारा संविधान राज्यों के मुकाबले केन्द्र की ओर निश्चित रूप से पक्षपात करता है। (देखिए **आटोमोबाइल ट्रांसपोर्ट (राजस्थान) लिमिटेड बनाम राजस्थान राज्य और अन्य**)[1]। इस पर जोर देना भी समान रूप से आवश्यक है कि न्यायालयों को उत्कृष्ट रूप से बनाई गई सांविधानिक स्कीम को निर्वचन की प्रक्रिया द्वारा अस्त व्यस्त न करने की सावधानी रखनी चाहिए।

289. इसमें यहां इसके ऊपर अभिव्यक्त किए गए मत का समर्थन करने वाले कुछ विनिश्चयों को संक्षेप में निर्दिष्ट किया जा सकता है। **"बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज आफ एनक्लोवज"**[2]—वाले मामले में अनुच्छेद 143 के संदर्भ में विद्वान न्यायमूर्ति गजेन्द्रगड़कर ने निम्न मत व्यक्त किया—

> "इसलिए यह धारणा की जा सकती है कि अनुच्छेद 3 का अर्थान्वयन करते समय, हमें इस तथ्य को भी विचार में लेना चाहिए कि संविधान ने संघटक राज्यों की राज्य क्षेत्रीय सीमाओं के परिवर्तन (बदलाव) को अनुध्यात किया था और उनकी राज्य क्षेत्रीय अखंडता की बाबत कोई गारंटी नहीं थी।"

290. इसी भांति **"पश्चिम बंगाल राज्य बनाम भारत संघ"**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न मत व्यक्त किया—

---

[1] [1963] 1 एस० सी० आर० 491, 540

[2] [1960] 2 एस० सी० आर० 250 और 286.

[3] [1964] 1 एस० सी० आर० 371 और 405.

"राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन के विरुद्ध कोई सांविधानिक गारंटी नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 2 द्वारा संसद् विधि द्वारा ऐसे निबंधनों और शर्तों पर जो वह ठीक समझे संघ में नए राज्यों का प्रवेश या उनकी स्थापना कर सकती है और अनुच्छेद 3 द्वारा, संसद् विधि द्वारा किसी राज्य के राज्यक्षेत्र के पुनः वितरण द्वारा या किसी राज्य के कोई भाग को मिलाने के द्वारा नए राज्य का निर्माण करने को और किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ाने, किसी राज्य का क्षेत्र घटाने, किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन करने और किसी राज्य के नाम में परिवर्तन करने को प्राधिकृत है। विधान जो राज्यों के अस्तित्व को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है, को राष्ट्रपति की सिफारिश पर पेश किया जा सकता है, जिससे वस्तुतः संघ मंत्रिमण्डल अभिप्रेत है और यदि विधेयक में प्रस्थापना किसी राज्य को क्षेत्र, सीमाओं या नाम को प्रभावित करती है तो राष्ट्रपति को उक्त विधेयक उस राज्य के विधान मण्डल को मात्र उस पर अपना मत अभिव्यक्त करने के लिए निर्दिष्ट करना होगा। इसलिए संसद् को, किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन करने और इसके क्षेत्र को घटाने की, विधि द्वारा प्राधिकारिता प्रदान की गई है, जिससे कि यह अपनी समस्त शक्तियों और प्राधिकार के साथ किसी राज्य को समाप्त कर सके।"

291. **अनुच्छेद 356 का विश्लेषण** :—अनुच्छेद 356 का शीर्षक, इसे राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने की दशा में उपबंध करने के रूप में विशेषित करता है। तथापि खण्ड (1) "सांविधानिक तंत्र के विफल होने" शब्दों को प्रयुक्त नहीं करता है। ऐसा होने पर भी अनुच्छेद के शीर्ष के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। यह उस स्तर, प्रक्रम, स्थिति पर बल देता है जिसमें शक्ति का प्रयोग किया जाना है। खण्ड (1) राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाने के विषय में कथन करता है कि "ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।" ऐसा समाधान हो जाने पर राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा उपखण्ड (क), (ख) और (ग) में वर्णन की गई अनेक शक्तियों को धारण और उनका प्रयोग कर सकता है। अनुच्छेद के खण्ड (1) का विश्लेषण निम्नलिखित घटकों को स्पष्ट करता है—

(क) यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाता है;

(ख) राज्य के राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा;

(ग) कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है;

(घ) राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा,

(i) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधान मण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा;

(ii) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियां संसद् द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी; और

(iii) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित इस संविधान के किन्हीं उपबंधों के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलंबित करने के लिए उपबंधों सहित ऐसे आनुषंगिक और परिणामिक उपबंध कर सकेगा जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हो। [खण्ड (1) का परन्तुक यह स्पष्ट करता है कि उक्त खण्ड का कुछ भी राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य किन्हीं शक्तियों को अपने हाथ में लेने या उच्च न्यायालयों से संबंधित किसी उपबंध के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलंबित करने को प्राधिकृत नहीं करेगा।]

खण्ड (2) के अनुसार ऐसी कोई उद्घोषणा किसी पश्चात्वर्ती उद्घोषणा द्वारा वापस ली जा सकेगी या उसमें परिवर्तन किया जा सकेगा। खण्ड (3) यह उपबंध करता है कि खंड (1) के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा (जहां वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा को वापस लेने वाली उद्घोषणा नहीं है) संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और दो मास की समाप्ति पर, यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता है, तो प्रवर्तन में नहीं रहेगी। खण्ड (3) का परन्तुक ऐसी स्थिति के लिए उपबंध करता है जहां उद्घोषणा की तारीख पर लोकसभा का विघटन हो जाता है या ऐसी उद्घोषणा के दो माह के भीतर लोकसभा का विघटन हो जाता है। खण्ड (4) के अनुसार संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा यदि वापस नहीं ली जाती है,तो ऐसी उद्घोषणा के जारी किए जाने की तारीख से छह मास की अवधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी। (42वें संशोधन द्वारा शब्द "छह मास" के स्थान पर शब्द "एक वर्ष" प्रतिस्थापित किए गए थे, किंतु 44वें संशोधन द्वारा शब्द "छह मास" बहाल कर दिए गए हैं)। खण्ड (4) के तीन परन्तुक कतिपय स्थितियों के बारे में उपबंध करते हैं जो इन मामलों के प्रयोजन के लिए हमारे द्वारा विचार किए जाने को आवश्यक नहीं है। 38वें संशोधन द्वारा प्रविष्ट किया गया खण्ड (5) निम्न प्रकार है—

"(5) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, खण्ड (1) में वर्णन किया गया राष्ट्रपति का समाधान अंतिम और निश्चयात्मक होगा और किन्हीं आधारों पर किसी न्यायालय में प्रश्न नहीं किया जाएगा।"

तथापि 44वें संशोधन द्वारा यह खण्ड बिल्कुल ही निरसित कर दिया गया था और इसके स्थान पर एक नया खण्ड (5) प्रविष्ट किया गया था जो अधिकतम कालावधि को, सिवाए ऐसे मामले में जहां आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है एक वर्ष के लिए सीमित करता है। जिसके दौरान ऐसी उद्घोषणा प्रवर्तन में रह सकती है। इन मामलों के प्रयोजन के लिए खंड (5) पर भी विचार करना आवश्यक नहीं है।

292. अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति एक सशर्त शक्ति है, यह राष्ट्रपति के विवेकाधिकार पर प्रयोक्तव्य एक आत्यंतिक शक्ति नहीं है। शर्त, आत्मपरक समाधान का होना है, निस्संदेह—यह कि खण्ड द्वारा अनुध्यात किस्म की स्थिति, उत्पन्न हो गई है। यहां समाधान राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या राष्ट्रपति द्वारा प्राप्त की गई अन्य सूचना के आधार पर या दोनों के आधार पर हो सकता है। सुसंगत सामग्री की विद्यमानता, 'समाधान' होने

के लिए पूर्व शर्त है। शब्द "कर सकेगा" का प्रयोग न केवल विवेकाधिकार को इंगित करता है अपितु कार्रवाई के औचित्य और आवश्यकता पर विचार करने की बाध्यता को भी इंगित करता है। यह इस पर विचार करने की बाध्यता को भी अंतर्वलित करता है कि उपखण्ड (क), (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट अनेक कदमों में से कौन सा कदम उठाया जाना चाहिए और किस सीमा तक। यह मानते हुए कि विधान सभा का विघटन अनुज्ञेय है—सामान्य अनुक्रम की बात नहीं है। यह केवल तभी प्रयोग किया जाना चाहिए जब यह उद्घोषणा के प्रयोजनों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक हो। शक्ति का प्रयोग संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन किए जाने के अध्यधीन है। खण्ड (3) शक्ति पर नियंत्रण और शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध रक्षोपाय, दोनों हैं। खण्ड (1) : खण्ड (1) शब्द "यदि राष्ट्रपति का·····यह समाधान हो जाता है" से आरंभ होता है। यह शब्द समाधान के आत्मपरक होने के सूचक हैं। "**बेरियम केमिकल्स बनाम कंपनीला बोर्ड**"[1]—ऐसा विनिश्चय जो इसके सुनाए जाने के समय से एकरूपात्मक रूप से अनुसरण किया गया है—वाले मामले में न्यायमूर्ति शेलट ने अनेक ब्रिटिश और भारतीय प्राधिकारियों के मतों पर विचार करने पर यह उल्लिखित किया कि अभिव्यक्तियां "समाधान हो जाता है" "का यह मत है", या "विश्वास करने का कारण है", आत्मपरक समाधान की सूचक हैं, यद्यपि यह सत्य है कि शक्ति की प्रकृति, सभी सुसंगत उपबन्धों पर पूर्ण रूप से विचार करने पर अवधारित की जानी चाहिए। वास्तव में, हमारे समक्ष इस शक्ति की प्रकृति के संबंध में कोई विवाद न था। यह टिप्पण किया जा सकता है कि खण्ड (1), शब्द "समाधान हो जाता है" का प्रयोग करता है, जो, "का यह मत है" या "विश्वास करने का कारण है" पदों द्वारा इंगित किए गए अर्थ से अधिक निश्चितता की दशा को इंगित करता है।

चूंकि यह आत्मपरक समाधान का मामला है, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पालन करने का प्रश्न नहीं उठता और उठाया नहीं जा सकता। शक्ति की प्रकृति और स्थिति जिसमें इसका प्रयोग किया जाना है को देखते हुए, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों को खण्ड में अंतर्विष्ट नहीं किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति द्वारा समाधान, उसके समक्ष रखी गई राज्यपाल की रिपोर्ट और/या अन्य सामग्री यदि कोई है, पर विचार करने के उपरांत ऋजुता से किया जाता है। निस्संदेह राष्ट्रपति के हमारे संविधान के अधीन मन्त्रिपरिषद की सहायता और सलाह पर कार्य करने (जो सहायता और सलाह अनुच्छेद 74 के खंड (1) के कारण उस पर बाध्यकर है) को आबद्ध सांविधानिक राष्ट्रपति होने पर, अनुच्छेद 356(1) में निर्दिष्ट समाधान से वास्तव में, प्रधानमन्त्री के नेतृत्व वाली संघ की मन्त्रिपरिषद का समाधान अभिप्रेत है।

293. खण्ड (1) राष्ट्रपति से इस बाबत अपना समाधान करने की अपेक्षा करता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन "इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार", "नहीं चलाया जा सकता है।" शब्द "नहीं चलाया जा सकता", खण्ड द्वारा अनुध्यात स्थिति के प्रकार पर बल देते हैं। अनुच्छेद के शीर्ष "राज्य में सांविधानिक तन्त्र के

[1] [1966] सप्ली० एस० सी० आर० 311.

विफल होने की दशा में उपबन्ध" के साथ पठन किए जाने पर यह शब्द अनुध्यात की गई स्थिति की प्रकृति पर बल देते हैं।

294. शब्द, "इस संविधान के उपबन्धों" से वही अभिप्रेत है जो यह कहते हैं। उक्त शब्दों को, संविधान में किसी विशेष अध्याय या अनुच्छेद के किसी विशेष समूह पर सीमित नहीं किया जा सकता है। किसी सांविधानिक उपबंध का अर्थान्वयन करते समय, ऐसी परिसीमा सामान्य रूप से निष्कर्ष नहीं की जानी चाहिए जब तक कि संदर्भ स्पष्ट रूप से ऐसी अपेक्षा न करे। संविधान के उपबन्ध मूल अधिकारों से संबंधित अध्याय, राज्य की नीति के निदेशक तत्वों और इसी प्रकार संविधान की उद्देशिका से सम्बन्धित अध्याय को भी सम्मिलित करते हैं। यद्यपि किसी समय यह विचार किया गया था कि उद्देशिका संविधान का भाग गठित नहीं करती, उक्त मत अब प्रवृत्त नहीं है।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य[1] वाले मामले में बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि उद्देशिका संविधान का भाग गठित नहीं करती है। यह अन्यथा नहीं हो सकता है। उक्त शब्दों को संविधान में कतिपय तन्त्र सम्बन्धी उपबन्धों पर सीमित करने का प्रयास, मिथ्या धारणा पर आधारित है और प्रभावी नहीं किया जा सकता है। यह विश्वास करना कठिन है कि उक्त शब्द अध्याय-III में मूल अधिकारों के जैसे मूल उपबन्धों को नहीं लेते हैं। तथापि, यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि यह संविधान के किसी विशेष उपबंध का प्रत्येक अननुपालन नहीं है जो अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति के प्रयोग की वांछा करता हो। संविधान का अननुपालन या उल्लंघन ऐसा होना चाहिए जो ऐसी स्थिति पर पहुंचाए या उत्पन्न करे जहां राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अनेक स्थितियां, जो उत्पन्न हो सकती हैं और जो खण्ड (1) के भीतर समाविष्ट हों को सूचीबद्ध करना वास्तव में कठिन है और न ही यह उचित है। यह अधिक उपयुक्त होगा कि उचित मामलों पर तब विचार (चर्चा) किया जाए, जैसे और जब वे उत्पन्न हों।

295. राष्ट्रपति का खण्ड (1) में निर्दिष्ट किया गया समाधान राज्यपाल की रिपोर्ट (रिपोर्टों) मिलने पर या अन्यथा आधार पर गठित हो सकता है। किसी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 155 के अधीन नियुक्त किया जाता है। वह वास्तव में, राज्य के शासन का एक भाग है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति उसमें निहित की गई है और उसके द्वारा इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या उसके अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा किया जाता है। राज्य के शासन की समस्त कार्यपालिका कार्रवाईयों का, राज्यपाल के नाम पर किया जाना अभिव्यक्त किया गया है, सिवाए कुछ कृत्यों के जो, राज्यपाल से अपने विवेकाधिकार में प्रयोग करने अपेक्षित हैं। राज्यपाल को अपनी शक्तियों का प्रयोग मुख्यमंत्री की प्रधानता वाली मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह से करना होता है (अनुच्छेद 163)। राज्यपाल अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करने के लिए अनुच्छेद 159 द्वारा विहित शपथ को लेता है। यह वह बाध्यता है जो उससे अपने राज्य की सरकार के कृत्यों और लोपों की, राष्ट्रपति को रिपोर्ट करने की अपेक्षा करती

[1] [1973] 2 उम० नि० प० 159=[1973] सप्ली० एस० सी० आर० 166.

है जो उसके अनुसार ऐसी स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं या जिन्होंने ऐसी स्थिति उत्पन्न की है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। वस्तुतः यह उसका अपनी स्वयं की सरकार के विरुद्ध रिपोर्ट करने का मामला होगा किन्तु यह उसके दो ताज पहनने का मामला हो सकता है, एक राज्य सरकार के अध्यक्ष के रूप में, जिसका कर्तव्य संविधान का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करना है (देखिए—**शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य**[1]) चूंकि वह अनुच्छेद 356 (1) द्वारा अनुध्यात की गई प्रकृति की कार्रवाई को स्वयं नहीं कर सकता, इसलिए वह राष्ट्रपति को मामला रिपोर्ट करता है और यह राष्ट्रपति के लिए है कि उक्त रिपोर्ट के आधार पर या किसी अन्य सूचना जो उसे अन्यथा मिल सकती है, के आधार पर इस बाबत अपना समाधान करे कि अनुच्छेद 356 (1) द्वारा अनुध्यात की गई प्रकृति की स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह केवल इसके पश्चात् ही है कि वह उद्घोषणा को जारी कर सकता है। उद्घोषणा के एक बार अनुच्छेद 356 (1) के अधीन जारी होने पर या इसके जारी होने के साथ-साथ ही, राष्ट्रपति खण्ड (क), (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट कोई या सभी कार्रवाईयां कर सकता है।

296. **राष्ट्रपति की राज्य की विधान-सभा का विघटन करने की शक्ति :**

अब हम इसकी परीक्षा करेंगे कि क्या अनुच्छेद 356 (1) राष्ट्रपति को राज्य की विधान सभा का विघटन करने को सशक्त करता है। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं—जो हम अपना अभिमान अभिव्यक्त करने से पूर्व वर्णित कर सकते हैं :

प्रथम दृष्टिकोण जो "**राजस्थान राज्य और अन्य बनाम भारत संघ**[2] वाले मामले में कुछ विद्वान न्यायाधीशों के मतों द्वारा समर्थन किया गया है, यह है कि विघटन की शक्ति उप-खण्ड (क) में अंतर्निहित (विवक्षित) है। कारण निम्न प्रकार हैं : राष्ट्रपति, राज्य सरकार के कृत्यों और इसी भांति राज्यपाल की शक्ति उक्त उप-खण्ड के अधीन धारण करता है; विधान सभा, राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 174 (2) (ख) के अधीन विघटित की जा सकती है; निस्संदेह यह मुख्य मंत्री की प्रधानता वाली मन्त्रिपरिषद की सलाह पर किया जाना चाहिए; चूंकि राष्ट्रपति शासन और राज्यपाल दोनों की शक्तियों और कृत्यों को स्वयं धारण कर लेता है वह उसी उद्घोषणा के भागस्वरूप या किसी पश्चात्वर्ती आदेश द्वारा विधान सभा को विघटित कर सकता है।

297. दूसरा दृष्टिकोण, जिसके अनुसार राष्ट्रपति को ऐसी कोई शक्ति नहीं है निम्न प्रकार है—

खण्ड, सरकार के बर्खास्त किए जाने या विधान सभा के विघटन के विषय में नहीं कहता। इसके अनुसार यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाता है कि "ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता" वहां राष्ट्रपति (i) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य अपने हाथ में ले सकेगा ; (ii) राज्यपाल में निहित या प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा ;

---

[1] [1975] 1 एस० सी० आर० 814, 835.

[2] [1978] 1 एस० सी० आर० 1.

(iii) राज्य के विधान मण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी के सभी या कोई कृत्य हाथ में ले सकेगा ; (iv) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधान मंडल की शक्तियां संसद् द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी; और (v) उच्च न्यायालय के सिवाय राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित इस संविधान के किन्हीं उपबंधों के प्रवर्तन को पूर्णत: या भागत: निलम्बित करने के लिए उपबंधों सहित ऐसे आनुषंगिक और पारिणामिक उपबंध कर सकेगा जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों। अब जबकि उप-खण्ड (क) राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में लेने के बारे में बताता है, इससे निश्चित रूप से राज्यपाल की बर्खास्तगी या हटाया जाना अभिप्रेत या विवक्षित नहीं है। इसी भांति राष्ट्रपति द्वारा (राज्य के विधान मण्डल से भिन्न) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी के सभी या किन्हीं कृत्यों या शक्तियों को हाथ में लेने से ऐसे निकाय या प्राधिकारी की बर्खास्तगी या विघटन अभिप्रेत नहीं है। इसी कारण से, यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उप-खण्ड (क) में "राष्ट्रपति राज्य की सरकार के सभी या किन्हीं कृत्यों को अपने हाथ में ले सकेगा" शब्द स्वयं में ही राज्य सरकार की बर्खास्तगी अभिप्रेत नहीं करते हैं। किन्तु यदि उन शब्दों का खण्ड (i) के मुख्य भाग के साथ पठन किया जाता है, जो ऐसी स्थिति का वर्णन करते हैं जिसमें "राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता" तो यह इस कारण से सरकार की बर्खास्तगी को अभिप्रेत कर सकते हैं और करते हैं कि राज्य का शासन अकेले राज्य की सरकार द्वारा चलाया जाता है। यह बर्खास्तगी किसी प्राणी की भौतिक मृत्यु के भाव में आत्यंतिक नहीं है। इससे केवल सरकार को पटरी से हटाना (निष्प्रभाव करना) है। ऐसी बर्खास्तगी राष्ट्रपति को उद्घोषणा की कालावधि के समाप्त होने के पश्चात् या उद्घोषणा को पूर्व में ही किसी समय वापस लेने पर यदि उसे ऐसी सलाह दी जाती है सरकार को बहाल करने से प्रवारित नहीं करती है। उप-खण्ड (ख), जब राज्य के विधान मण्डल की शक्तियों के संसद् द्वारा या इसकी प्राधिकारिता के अधीन प्रयोक्तव्य होने की बाबत कहता है, तो इससे राज्य के विधान मण्डल का विघटन अभिप्रेत या विवक्षित नहीं हो सकता और न ही यह ऐसा करता है। यह टिप्पण करना महत्वपूर्ण है कि उप-खण्ड राज्य के विधान मण्डल को निर्दिष्ट करता है न कि विधान सभा को। किसी विशेष स्थिति में, विधान मण्डल, विधान सभा और इसी प्रकार विधान परिषद से गठित हो सकता है। ऐसी स्थिति में, विधान परिषद का विघटन करने का कोई प्रश्न नहीं हो सकता चूंकि यह [(अनुच्छेद 172(3)] एक सतत् (सदा चालू) रहने वाला निकाय है। केवल विधान सभा विघटित की जा सकती है [अनुच्छेद 174(2)(ख)]। दूसरे शब्दों में, उप-खण्ड (ख) में प्रयुक्त की गई अभिव्यक्ति "राज्य के विधान मण्डल" के विघटन का कोई प्रश्न नहीं हो सकता तब प्रश्न यह उठ सकता है कि उप-खण्ड (ख) को क्यों रखा गया था और इससे क्या विवक्षित (तात्पर्यित) है ? उत्तर यह होना चाहिए कि जब राज्य की सरकार बर्खास्त की जाती है या कार्यभार से हटायी जाती है तो सामान्यतया विधान सभा कृत्य नहीं कर सकती। किसी मंत्रिपरिषद, अर्थात् सरकार के बिना कार्य करने वाली विधान सभा या तत्प्रयोजनार्थ विधान मण्डल की कल्पना करना कठिन है। इस प्रकार जहां किसी राज्य की सरकार बर्खास्त की जाती है या कार्यभार से हटा दी जाती है वहां राज्य का विधान मण्डल स्वत: ही अव्यवहार्य हो जाता है। यह इस कारण से है कि उप-खण्ड (ख) उपबंध करता है कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियां, संसद द्वारा या इसकी

प्राधिकारिता के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। वास्तव में, यह तथ्य कि खण्ड (ख) ने केवल एक स्थिति के लिए उपबंध किया है (यथा, विधान मण्डल की शक्तियों का संसद् में निहित होना) से यह अभिप्रेत और विवक्षित होता है कि कोई अन्य कदम जैसे विधान सभा का विघटन, संविधान निर्माताओं के अवलोकन (अभिप्राय) में नहीं था। उप-खण्ड (ग) राष्ट्रपति को ऐसे आनुषंगिक या पारिणामिक उपबंधों को बनाने को सशक्त करता है जो उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों। ऐसे आनुषंगिक या पारिणामिक उपबंध निस्संदेह उच्च न्यायालय के सिवाए "राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित इस संविधान के किन्हीं उपबंधों के प्रवर्तन को पूर्णतः या भागतः निलम्बित करने" को भी सम्मिलित कर सकते हैं। राज्य की विधान सभा से संबंधित संविधान के उपबंध उद्घोषणा की कालावधि के दौरान उप-खण्ड (ग) के अधीन निलंबित किए जा सकते हैं—सामान्य रूप से विधान सभा को निलम्बित स्थिति के अधीन रखे जाने के रूप में निर्दिष्ट किया गया है जिससे कि बहुमत दल (या कोई अन्य दल) द्वारा राज्यपाल से इसे मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित करने को कहने का निवारण किया जा सके और/या विधान मण्डल को ऐसे संकल्पों या दूसरे कारबार करने से रोका जा सके, जो राज्य में राष्ट्रपति शासन में हस्तक्षेप कर सकते हों। इस संदर्भ में यह अवेक्षा करना महत्वपूर्ण है कि इन अनुच्छेदों पर संविधान सभा डिबेटों (चर्चाओं) के दौरान डा० अम्बेडकर ने केवल विधान मण्डलों की शक्तियों के निलम्बन के विषय में कहा था न कि उनके विघटन के बारे में [देखिए—पृष्ठ 134—जिल्द IX—संविधान सभा डिबेट (वाद-विवाद)]।

298. इस तर्क पद्धति के अनुसार चूंकि राज्य के विधानमण्डल को संविधान के सुसंगत उपबंधों को निलम्बित करते हुए केवल निलम्बित स्थिति में रखा जा सकता है—उद्घोषणा की कालावधि के समाप्त होने के साथ ही राज्य का विधानमण्डल पुनः प्रभावी हो जाता है (अस्तित्व में आ जाता है)। यह इस कारण से है कि उद्घोषणा की कालावधि के समाप्त होने के साथ ही या उद्घोषणा की कालावधि के समाप्त होने के साथ ही या उद्घोषणा के वापस लेने पर जैसा कि मामला हो, संविधान के उपबंधों का निलम्बन भी समाप्त हो जाता है।

299. इस मत के प्रतिपादक, अन्य (प्रथम) दृष्टिकोण की अनेक आधारों पर आलोचना करते हैं : प्रथमतः उनके अनुसार इसके द्वारा इस तथ्य को विचार में लेना दृष्टिगोचर नहीं होता कि विधान सभा का विघटन अत्यधिक गंभीर कदम है ; यदि यह शक्ति अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) के अधीन राष्ट्रपति को प्रदान की गई अनुमति की गई थी तो संविधान-निर्माताओं ने ऐसा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया होता और इसे अनुमान लगाने के लिए नहीं छोड़ते। दूसरे यह उप-खण्ड (ख) की भाषा को अनदेखा करता है। उप-खण्ड (ख) "राज्य के विधानमण्डल की शक्तियों" के संसद द्वारा या इसकी प्राधिकारिता के अधीन प्रयोग किए जाने की कहता है। खण्ड (ख) "राज्य के विधान मण्डल" के विघटन की नहीं कहता चूंकि वह असंभव है इसलिए केवल विधान-सभा विघटित की जा सकती है और न कि विधान परिषद जैसा कि इसमें यहां इसके ऊपर स्पष्ट किया गया है। ऐसे केवल कुछ राज्य हैं जहां विधान मण्डल, विधान सभा और इसी भांति विधान परिषद से गठित होते हैं। तीसरे, खण्ड (1) सरकार के विफल होने की कहता है न कि विधान सभा के विफल होने की, यद्यपि यह सत्य है कि सरकार विधान सभा में बहुमत वाले दल से बनायी जाती है और

प्राय: बहुमत वाले दल को गठित करती है। किन्तु विधान सभा में विरोधी दल और अन्य दल समूह और स्वतन्त्र सदस्य भी होते हैं, जो स्वयं ही सरकार के असांविधानिक कार्य करने को इंगित करते हैं और उसके विरुद्ध विरोध प्रकट करते हैं। इसके लिए कोई अच्छा कारण प्रतीत नहीं होता कि विधान सभा को सरकार के कृत्यों और व्यतिक्रमों के लिए क्यों विघटित किया जाना चाहिए। इस मत के प्रतिपादकों के अनुसार यह सत्य है कि यदि राष्ट्रपति विधान-सभा को विघटित नहीं कर सकते हैं तो यह (विधान सभा) उद्घोषणा की कालावधि के पश्चात् पुन:प्रभावी हो जाएगी और उसी सरकार को निर्वाचित करेगी जो बर्खास्त की गई थी। वे यह कहते हुए इसका उत्तर देते हैं कि प्रथमतया ऐसा घटित हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। दूसरे, उनके अनुसार तब भी यदि वही सरकार पुन: निर्वाचित की जाती है तो यह किसी प्रकार से अनुच्छेद की भावना के प्रतिकूल नहीं है। आपत्ति इसके अस्तित्व के प्रति नहीं थी अपितु इसकी कार्य पद्धति के प्रति थी। यह उपधारणा करने के लिए कोई कारण नहीं है, वह पुन: संविधान के उपबंधों के अनुसरण से भिन्न रीति में सरकार चलाएगी।

300. दोनों परस्पर विरोधी मतों (दृष्टिकोणों) पर अपनी ओर से पूरा विचार किए जाने पर और द्वितीय मत (दृष्टिकोण) के स्पष्ट रूप से आकर्षक होते हुए भी—हम प्रथम दृष्टिकोण से सहमत होने को आनत हैं जिसके अनुसार खण्ड (1) राष्ट्रपति को विधान सभा विघटित करने को सशक्त करता है। इस मत का राजस्थान राज्य वाले मामले में दिए गए विनिश्चय द्वारा भी समर्थन, इस तथ्य के अलावा किया गया है कि चौवालीस वर्षों से अधिक से उक्त शक्ति कभी आक्षेप नहीं की गई है। हम यह अभिनिर्धारित करने को आनत हैं कि विधान सभा को विघटित करने की शक्ति खण्ड (1) के उप-खण्ड (क) में अन्तर्निहित है यद्यपि वहां "राज्य के विधान मण्डल" के विघटन जैसी कोई बात नहीं है जहां यह दो सदनों से गठित होता है। यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि कतिपय स्थितियों में विधान-सभा का विघटन उद्घोषणा के प्रयोजनों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक पाया जा सकता है। शक्ति वहां है। इसका प्रयोग भिन्न विषय है। शक्ति की विद्यमानता से यह अभिप्रेत नहीं है कि विधान सभा के विघटन को या तो अनिवार्य समझा जाना चाहिए या वहां निरपवाद रूप से आदेश किया जाना चाहिए, जब कभी राज्य की सरकार बर्खास्त की जाती है। सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों को विचार में लेते हुए राष्ट्रपति के लिए यह विचार करने का विषय होना चाहिए कि क्या विधान सभा भी विघटित की जानी चाहिए या नहीं। यदि राष्ट्रपति यह विचार करते हैं कि इसे विघटित किया जाना चाहिए तो यह उपयुक्त और वास्तव में अत्यंत ही वांछनीय होगा कि वह ऐसे असाधारण कदम के लिए कारणों का उल्लेख आदेश में ही करें।

301. तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किस प्रक्रम पर राष्ट्रपति को इस शक्ति का प्रयोग करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए, हमें खण्ड (3) को देखना चाहिए। खण्ड (3) के अनुसार, अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई प्रत्येक उद्घोषणा, संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखी जाएगी। और दो मास की समाप्ति पर यदि उस अवधि की समाप्ति से पहले संसद के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन नहीं कर दिया जाता, तो प्रवर्तन में नहीं रहेगी। यह शक्ति पर नियंत्रण और कार्यपालिका पर संसदीय प्रधानता (प्रमुखता) के सिद्धांत की पुष्टि, दोनों के रूप में कल्पित किया गया है। राष्ट्रपति की कार्रवाई जो वास्तव में संघ की मन्त्रिपरिषद् की कार्रवाई है—संसद के दोनों सदनों के

अनुमोदन के अध्यधीन है। जब तक संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन नहीं कर दिया जाता उद्घोषणा, दो मास की अवधि के समाप्त होने पर और उससे पूर्वतर प्रवर्तन में नहीं रहती यदि यह संसद के दोनों सदनों द्वारा अननुमोदित या अनुमोदन किए जाने से इंकार कर दी जाती है जैसा कि इसमें यहां इसके पश्चात् वर्णन किया गया है। विधान मण्डल का विघटन करने की (भले ही वह राज्य का हो) कार्यपालिका (यद्यपि संघ कार्यपालिका) की अनुपयुक्तता को देखते हुए, यह अभिनिर्धारित करना संविधान की स्कीम और भाव के साथ संगत होता—विशेष रूप से राष्ट्रपति को ऐसा करने के लिए अभिव्यक्त रूप से अशक्त करने वाले संविधान में किसी विनिर्दिष्ट उपबंध के अभाव में, कि विघटन की यह शक्ति राष्ट्रपति द्वारा केवल संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिए जाने के पश्चात् ही प्रयोग की जा सकती है न कि ऐसे अनुमोदन से पूर्व। उद्घोषणा पर संसद द्वारा एक बार अपना अनुमोदन कर दिए जाने पर, उद्घोषणा के प्रयोजनों को प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त कदम जो आवश्यक पाए जाएं, यथा विधान सभा का विघटन, आदेश किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, एक बार जब संसद राष्ट्रपति द्वारा अपनी शक्ति के आरम्भिक प्रयोग किए जाने का अनुमोदन कर देती है, अर्थात् उसका यह समाधान हो जाने की ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलायी जा सकती, तो राष्ट्रपति आगे जाकर कार्रवाई कर सकते हैं और उद्घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी रूप से प्राप्त करने के लिए आवश्यक अतिरिक्त कदम उठा सकते हैं। अनुमोदन के समय तक राष्ट्रपति विधान सभा को केवल निलम्बित स्थिति में रख सकता है किन्तु इसका विघटन नहीं करेगा।

302. इस प्रक्रम पर भी यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि जब कि खण्ड (1) के अधीन उद्घोषणा के वास्तविक रूप से जारी किए जाने के पूर्व किसी न्यायालय द्वारा कोई रिट याचिका ग्रहण नहीं की जाएगी, उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के लिए उद्घोषणा को आक्षेप करने वाली रिट याचिका को ग्रहण करना खुला होगा, (स्वतन्त्र होगी) यदि इसका समाधान हो जाता है कि रिट याचिका उद्घोषणा की विधिमान्यता के संबंध में तर्कपूर्ण प्रश्नों को उठाती है। न्यायालय, ऐसी रिट याचिका को, संसद द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन किए जाने के पूर्व और इसी भांति ऐसे अनुमोदन के पश्चात् भी ग्रहण करने को सशक्त होगा। किसी समुचित मामले में और यदि स्थिति यह अपेक्षा करती है तो उच्च न्यायालय/उच्चतम न्यायालय विधान सभा के विघटन को रोक भी सकते हैं किन्तु ऐसी रीति में नहीं कि विधानसभा को इसकी मूल अवधि से परे सतत् रहने को मंजूर करे। किन्तु प्रत्येक ऐसे मामले में जहां ऐसा आदेश पारित किया जाता है, वहां उच्च न्यायालय/उच्चतम न्यायालय को मामला दो से तीन माह के भीतर निपटाना होगा। ऐसे अंतरिम आदेश को प्रदान करते समय रिट याचिका का निपटाया न जाना, अनेक कठिनाईयों को उत्पन्न करेगा क्योंकि उद्घोषणा की अवधि संसद द्वारा अनुमोदन किए जाने के पश्चात् भी छह माह से अधिक नहीं होती और किसी भी दशा में उद्घोषणा खण्ड (5) द्वारा अनुध्यात की गई स्थिति के सिवाए एक वर्ष से परे प्रभावी नहीं हो सकती (जीवंत नहीं रह सकती) जो निस्संदेह, एक आपवादिक स्थिति है।

302-क. खण्ड (3) में अनुमोदन का अर्थ : राजस्थान राज्य वाले मामले में विद्वान् न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़, भगवती और ए० सी० गुप्ता ने यह मत अभिव्यक्त किया कि खण्ड (1)

के अधीन जारी की गई उद्घोषणा किसी भी दशा में दो माह की अवधि के लिए प्रवर्तन में रहती है। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि संसद उक्त दो माह की अवधि के भीतर उद्घोषणा का अननुमोदन करती है या अनुमोदन करने से इनकार कर देती है तो भी, उद्घोषणा दो माह के लिए विधिमान्य बनी रहती है। खण्ड (3) के अधीन संसद का अनुमोदन, केवल उद्घोषणा के दो माह की अवधि से परे सतत् रहने के प्रयोजन के लिए सुसंगत अभिनिर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि दोनों सदन उद्घोषणा का अनुमोदन नहीं करते हैं या अननुमोदन करते हैं तो, सरकार जो बर्खास्त की गई है या विधान सभा जो विघटित की गई हो सकती है, पुनरुज्जीवित (बहाल) नहीं होती। विद्वान न्यायाधीशों को पूर्ण सम्मान देते हुए, हम अपने को उक्त मत से सहमत नहीं पाते हैं जहां तक यह, यह मत व्यक्त करता है कि जहां संसद के दोनों सदन भी उद्घोषणा का अननुमोदन कर देते हैं या अनुमोदन करने से इनकार करते हैं, वहां सरकार जो बर्खास्त की गई है, पुनरुज्जीवित (बहाल) नहीं होती। (राजस्थान राज्य वाले मामले में यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि ऐसा अननुमोदन या निरनुमोदन, विधान सभा को पुनरुज्जीवित (बहाल) नहीं करता, जो बर्खास्त की गई हो सकती है, किंतु हमें इस पहलू पर चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसमें यहां इसके ऊपर हमारे द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत के अनुसार ऐसा कोई विघटन दोनों सदनों के अनुमोदन के पूर्व अनुज्ञेय नहीं है। इस पर जोर दिया जा सकता है कि, खण्ड (3) शब्दों "संसद के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा अनुमोदित" को प्रयुक्त करता है। शब्द, "अनुमोदन" से उच्चतर या वरिष्ठ प्राधिकारी द्वारा कार्रवाई की पुष्टि अभिप्रेत है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रपति की कार्रवाई संसद द्वारा अनुमोदन की जानी चाहिए। अभिव्यक्ति "अनुमोदन" एक अन्तर्भूत अर्थ रखती है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। अननुमोदन या निरनुमोदन से यह अभिप्रेत है कि संसद् के सदनों का यह मत है कि राष्ट्रपति की कार्रवाई न्यायानुमत नहीं थी या उसकी आवश्यकता नहीं थी और यह कि, यह और अधिक सतत् नहीं रहेगी। ऐसे मामले में, उद्घोषणा व्यपगत हो जाती है, अर्थात् दो माह की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहती—जिसका आवश्यक परिणाम यह है कि यथापूर्व स्थिति बहाल हो जाती है। यह कहना कि अननुमोदन या निरनुमोदन के होते हुए भी, यथापूर्व स्थिति बहाल नहीं होती है, यह अनुमोदन की संकल्पना को इसकी अंतर्वस्तुओं और अर्थ से वंचित करना है। ऐसा मत खण्ड (3) द्वारा उपबंध किए गए नियंत्रण को अप्रभावी और किसी महत्व के बिना जो कोई भी हो, कर देता है। यह कार्यपालिका का संसद को यह बताना होगा कि : "मैंने सरकार को बर्खास्त कर दिया है। अब, चाहे आप अनुमोदन करें या अननुमोदन करें, उससे कोई परिणाम नहीं निकलता क्योंकि सरकार किसी भी दशा में पुनरुज्जीवित (बहाल) नहीं हो सकती। कार्य किया जा चुका है। आपके लिए यह अच्छा होगा कि इसका अनुमोदन कर दें क्योंकि व्यावहारिक रूप से आपको कोई विकल्प नहीं है। "हम यह नहीं सोचते हैं कि ऐसा अनुक्रम संसदीय प्रमुखता (सर्वोपरिता) के सिद्धांत और कार्यपालिका के ऊपर संसदीय नियंत्रण, जो संसदीय सर्वोपरिता का मूल आधार है, से संगत है। वस्तुतः इससे संसद् के ऊपर कार्यपालिका की सर्वोपरिता अभिप्रेत होगी। खण्ड (1) के उप-खण्ड (क) के अधीन सरकार की बर्खास्तगी की, किसी प्राणी की भौतिक मृत्यु से बराबरी भी नहीं की जा सकती है। इसकी बाबत कोई अप्रतिसंहरणीयता नहीं है। यह बहाल (पुनरुज्जीवित) किए जाने योग्य है और यह बहाल होती

है। विधानसभा, जो निलम्बित स्थिति में रखी गई हो सकती है, वह भी पुनःजीवित हो जाती है। जहां तक उद्घोषणा के प्रवर्तन की कालावधि के दौरान किए गए कृत्यों, पारित किए गए आदेशों और बनाए गए कानूनों की विधिमान्यता का संबंध है, वे अप्रभावित बने रहेंगे, क्योंकि अननुमोदन या निरनुमोदन, उद्घोषणा को भूतलक्षी प्रभाव से अविधिमान्य नहीं करते। यह स्मरण किया जा सकता है कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति राष्ट्रपति में निस्संदेह दो माह के भीतर अनुमोदन करने के अध्यधीन, निहित की गई शक्ति है। निरनुमोदन से यह अभिप्रेत है कि उद्घोषणा, जैसा कि राजस्थान राज्य वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, दो माह की अवधि के समाप्त होने पर प्रवर्तन में नहीं रहती।

303. न्यायालय द्वारा उद्घोषणा के असंवैधानिक पाए जाने पर सरकार को बहाल करने की शक्ति पर आते हुए, हमारे मत में यह आक्षेप किए जाने के परे है। संसद् द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन किए जाने की दशा में भी, न्यायालय को राज्य सरकार को बहाल करने की स्वतंत्रता होगी, यदि यह उद्घोषणा को असंवैधानिक होने के रूप में अभिखण्डित करता है। यदि यह शक्ति न्यायालय को न दी गई होती, तो न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति निरर्थक हो जाएगी और सम्पूर्ण प्रक्रिया अर्थहीन हो जाएगी। यदि न्यायालय, उद्घोषणा के अविधिमान्य किए जाने से उद्भूत हुए अनुतोष को प्रदान नहीं कर सकता, तो यह इसी प्रकार उद्घोषणा के प्रति चुनौती को ग्रहण करने से भी बिल्कुल इनकार कर सकता है। न्यायालय द्वारा चुनौती को विचारार्थ ग्रहण करने, इसकी परीक्षा करने, संघ सरकार से उस सामग्री को प्रस्तुत करने को कहने में, जिसके आधार पर अपेक्षित समाधान किया गया था, और तब भी अनुतोष प्रदान न करने, में कोई तत्व नहीं है। हमारे सुविचारित मत में ऐसा उपाय अकल्पनीय है।

304. यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि—न्यायालय द्वारा उद्घोषणा के असांविधानिक घोषित किए जाने की दशा में, उद्घोषणा के प्रवर्तन की कालावधि के दौरान, संसद द्वारा या इसकी प्राधिकारिता के अधीन किए गए कृत्यों, पारित किए गए आदेशों और बनाए गए कानूनों, की क्या स्थिति होगी? क्या वे सभी असांविधानिक या शून्य हो जाएंगे? प्रथमतया, यह उपधारणा करने के लिए कोई कारण नहीं है कि कोई न्यायालय जो उद्घोषणा को अभिखण्डित करता है, इस आकस्मिकता के लिए उपबंध नहीं करेगा। यह कहना न्यायालय की शक्ति के भीतर होगा कि यह कृत्य और आदेश सुरक्षित हैं। वस्तुतः, न्यायालय को सामान्य जनता के हित में और सभी प्रकार की जटिलताओं का परिवर्जन करने के लिए, संबंधित सरकार और राज्य के विधान मण्डल को उनका परिशोधन करने, उपांतरण करने या निरसन, यदि वे ऐसा करना चुनते हैं, करने को छोड़ते हुए, ऐसा अभिनिर्धारित करना चाहिए (कहना चाहिए)। उक्त कालावधि के दौरान राष्ट्रपति द्वारा या उसकी प्राधिकारिता के अधीन किए गए कृत्यों, आदेशों और बातों को बचाने के लिए, "कार्य सम्पन्न होने पर वैध माना जाता है" का सिद्धांत भी उपलब्ध (सहायक) हो सकता है।

305. श्री राम जेठमलानी द्वारा यह सुझाव दिया गया था कि "राष्ट्रपति सरकार को बर्खास्त किए बिना राज्य सरकार के सभी या किन्हीं कृत्यों को हाथ में ले सकता है।" उप-खण्ड (1) में "सभी या किन्हीं" शब्दों पर जोर दिया गया है। विशेष रूप से उन्होंने यह निवेदन किया कि, जहां राज्य सरकार एक या कुछ कृत्यों को करने में असावधान

(व्यतिक्रमी) पायी जाती है, वहां राज्य सरकार का वह या वे कृत्य, स्थिति को ठीक करने की दृष्टि से राष्ट्रपति द्वारा हाथ में लिए जा सकते हैं। विद्वान काउंसेल ने निवेदन किया कि स्थिति का परिशोधन (ठीक करने)करने के पश्चात् राष्ट्रपति के वे कृत्य राज्य सरकार को वापस दे देंगे और ऐसी स्थिति में राज्य सरकार को बर्खास्त करने के लिए कोई अवसर या आवश्यकता नहीं होगी। विद्वान काउंसेल ने एक मोटर कार का उदाहरण दिया—यदि कार का एक या कुछ पुर्जे गलत कार्य करते हैं या कृत्य करना बंद कर देते हैं तो, व्यक्ति को कार को फेंकने की आवश्यकता नहीं हैं। वह पुर्जा या वे विशेष पुर्जे बदले जा सकते हैं या सुधारे जा सकते हैं और कार पुनः सामान्य रूप से कार्य करेगी। उक्त निर्वचन से सहमत होना कठिन है। अनुच्छेद 356 (1) के अधीन शक्ति केवल तभी प्रयोग की जा सकती है जहां राष्ट्रपति का समाधान हो जाता है कि, "राज्य का शासन, संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।" अनुच्छेद का "राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल होने" का शीर्षक भी इसके द्वारा अनुध्यात की गई स्थिति की प्रकृति पर प्रकाश डालता है। इससे एक ऐसी स्थिति अभिप्रेत है, जहां राज्य का शासन—न कि सरकार का एक या कुछ कृत्य संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। पूर्वोक्त असमर्थता या अनुपयुक्तता, सरकार के एक या अधिक कृत्यों के अपालन या कुपालन के कारण या सरकार की किन्हीं शक्तियों, कर्तव्यों, और बाध्यताओं के दुरुपयोग या गलत उपयोग के कारण उत्पन्न हो सकती है। अनुच्छेद 356 (1) के अधीन उद्घोषणा आवश्यक रूप से राज्य की सरकार के हटाए जाने (बर्खास्त किए जाने) को अनुध्यात करती है चूंकि यह राज्य के शासन को संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाने में असमर्थ या अनुपयुक्त पायी जाती है। हमारे सुविचारित मत के अनुसार, श्री राम जेठमलानी की दलील को स्वीकार करना सम्भव नहीं है। ऐसी दलील का स्वीकार किया जाना एक ही क्षेत्र में दो सरकारों की संकल्पना को प्रविष्ट करना होगा—राज्य सरकार की एक या कुछ शक्तियों का प्रयोग कर रही केन्द्रीय सरकार और शेष शक्तियों का प्रयोग कर रही राज्य सरकार। हमारे विचार में, ऐसी स्थिति, अपनी विलक्षणता के अलावा अनुच्छेद 356 में अंतर्निहित उद्देश्य की अभिवृद्धि नहीं करती है और न ही यह व्यवहार्य है।

306. श्री राम जेठमलानी ने अपनी पूर्वोक्त दलील के समर्थन में ब्रिटिश संयुक्त संसदीय रिपोर्ट (ब्रिटिश जोइन्ट पार्लियामेंटरी रिपोर्ट) पैरा 109 को हमारे ध्यान में लाया। हम अनुच्छेद 356(1) के निर्वचन में उक्त पैरा की कोई संगतता नहीं पाते हैं। भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन, गवर्नर-जनरल और गवर्नर (राज्यपाल) राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष नहीं थे, जैसे कि संविधान के अधीन हैं। वे अपनी वास्तविक शक्ति का साधिकार प्रयोग करते। केवल कुछ शक्तियां निर्वाचित सरकारों को सौंपी गई थीं और वे भी (केन्द्र में गवर्नर-जनरल और प्रांतों में गवर्नरों (राज्यपालों) द्वारा हाथ में ली जा सकती थीं, जब उनका इस संबंध में समाधान हो जाता था कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें केन्द्र का शासन या प्रांत का शासन, उक्त अधिनियम के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। अनुच्छेद 356 के अधीन, स्थिति पूर्णतया भिन्न है। शक्ति केवल राज्यों के विरुद्ध प्रयोग की जा सकती है और वह भी राष्ट्रपति द्वारा और न कि राज्यपाल द्वारा। सम्पूर्ण सांविधानिक दर्शन भिन्न है। इसलिए, केवल इस कारण से कि भारत शासन अधिनियम की धारा 93 और 95 में "सभी या कोई" समान शब्द अनुच्छेद 356 (1) में भी आते हैं,

उनको, सभी अन्य पहलुओं को अनदेखा करते हुए यंत्रवत रीति में वही अर्थ, यह उपधारणा करते हुए नहीं दिया जा सकता कि, धारा 93 और 45 में उक्त शब्दों का वही अर्थ है, जो श्री राम जेठमलानी कहते हैं।

307. अनुच्छेद 356, व्यवहार (प्रभाव) में :

संविधान के आरंभ होने के समय से, राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356 का कुल मिलाकर नब्बे या अधिक अवसरों पर अवलम्ब लिया है। एक ऐसे उपबंध का पालन जो "एक अप्रचलित नियम (अपालित नियम)" के रूप में कल्पित किया गया था। एक "अप्रचलित नियम" बने रहने के बजाए, यह अनेक राज्य सरकारों और विधान सभाओं का "मरण नियम" साबित हुआ हैं। सरकारिया आयोग जो केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर विचार करने और रिपोर्ट करने को नियुक्त किया गया था, ने अन्य बातों के साथ उस रीति पर भी विचार किया, जिसमें यह शक्ति वर्षों से प्रयोग की जाती रही है और इसके दुरुपयोग को रोकने के लिए कतिपय सिफारिशों को किया था। चूंकि आयोग, इस न्यायालय के एक विद्वान न्यायाधीश द्वारा अध्यक्षता किया गया था और यह भी कि क्योंकि इसने सभी सुसंगत पहलुओं का विस्तार से और गहन अध्ययन करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट दी थी, इसके मत निश्चित रूप से अधिक महत्त्व दिए जाने को दावी हैं, इस तथ्य के होते हुए भी कि रिपोर्ट अभी तक भारत सरकार द्वारा स्वीकार नहीं की गई है।

308. आयोग ने पैरा 6.3.23 में यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि शब्द "राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता" का व्यापक आयाम है, सांविधानिक उपबंध का प्रत्येक भंग और उल्लंघन (व्यतिक्रम) इसके महत्त्व, विस्तार और प्रभाव का विचार किए बिना, सांविधानिक तंत्र की विफलता को गठित करने के रूप में व्यवहार नहीं किया जा सकता। आयोग के अनुसार अनुच्छेद 356, ऐसी स्थिति के लिए उपचार का उपबंध करता है जहां राज्य का सांविधानिक तंत्र वास्तविक रूप से ठप्प हुआ है। आयोग के अनुसार इस प्रबल शक्ति का कोई दुरुपयोग या गलत प्रयोग, संविधान के ताने-बाने को नुकसान पहुंचाता है। इसके मतानुसार, अनुच्छेद 356 (1) का अक्षरशः अर्थान्वयन का परिवर्जन किया जाना चाहिए।

309. आयोग ने पैरा 6. 4. 01 में, यह टिप्पण किया कि सांविधानिक तंत्र की विफलता अनेक मामलों में हो सकती है। आयोग ने विफलता को परिणाम करने वाले कुछ उदाहरणों का वर्णन किया, यथा, (क)राजनीतिक संकट; (ख)आंतरिक स्थिति का ध्वंस होना (ग) वित्तीय स्थिति का ठप्प होना; और (घ) संघ कार्यपालिका के सांविधानिक निदेशों का अनुपालन। तथापि आयोग ने यह जोड़ने में जल्दी की कि इसके द्वारा वर्णन किए गए उदाहरण, व्यापक या सम्पूर्ण होने का दावा नहीं किए गए हैं।

इसके पश्चात् इसने उक्त चार शीर्षों में से प्रत्येक की पृथक रूप से परीक्षा की।

310. आयोग ने पैरा 6.5.01 में दृष्टांत वर्णन किए हैं, जिनमें अनुच्छेद 356 का अवलम्ब लेना अनुचित होगा। उक्त पैरा में दृष्टांत (iii) निम्न प्रकार है :

(iii) जहां सम्यक् रूप से गठित किए गए मंत्रिमण्डल, जो सदन के पटल पर हराया नहीं गया है, की सलाह के बावजूद, राज्यपाल विधान सभा का विघटन करने का विनिश्चय करता है और मंत्रिमण्डल को सदन के पटल परीक्षण (फ्लोर टैस्ट) के माध्यम से अपना बहुमत प्रदर्शित करने का अवसर दिए बिना, इसके अधिक्रमण और, राष्ट्रपति शासन को लागू करने की सिफारिश मात्र इस आत्मपरक निर्धारण (मूल्यांकन) के आधार पर करता है कि मंत्रिमण्डल को अब और अधिक विधान सभा का विश्वास प्राप्त नहीं है।"

311. आयोग ने पैरा 6.6.01 में, अनुच्छेद 356 के बार-बार अवलम्ब लेने के विरुद्ध की गई आलोचना की अवेक्षा की और इसकी विधिमान्यता की परीक्षा करने को अग्रसर हुआ। इसके मत में, मार्च 1977 में, लोकसभा के सामान्य निर्वाचन के अनुसरण में नौ विधान सभाओं की बर्खास्तगी और 1980 में लोक सभा के सामान्य निर्वाचन के अनुसरण में इसी प्रकार की बर्खास्तगी, अनुच्छेद 356 से असंबंधित विशुद्ध रूप से राजनीतिक प्रयोजनों के लिए अनुच्छेद 356 का अवलम्ब लेने के स्पष्ट उदाहरण थे। "राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ वाले मामले में तथ्यों और इस न्यायालय के विनिश्चय के सिद्धांत की परीक्षा करने के पश्चात् और अनेक दलों, व्यक्तियों और संगठनों द्वारा इसके समक्ष प्रस्तुत की गई विभिन्न सिफारिशों पर विचार करने के पश्चात्, आयोग ने पैरा 6.8 में निम्न सिफारिशों को किया, जो हमारे द्वारा स्वीकार किए जाने के लिए याचियों के विद्वान काउंसेल द्वारा प्रबलता से सिफारिश किए गए हैं। वे निम्न प्रकार हैं :

सिफारिशें

6.8.01. अनुच्छेद 356 को अत्यंत कम, केवल घोर मामलों में, अंतिम उपाय के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए, जब सभी उपलब्ध विकल्प राज्य में सांविधानिक तंत्र के ठप्प होने का निवारण करने या परिशोधन करने में असफल रहते हैं। अनुच्छेद 356 के उपबंधों का अवलम्ब लेने से पूर्व संकट को राज्य स्तर पर सुलझाने के लिए सभी प्रयास किए जाने चाहिए। इन विकल्पों की उपलब्धता और चुना जाना, सांविधानिक संकट की प्रकृति, इसके कारणों और स्थिति की अत्यावश्यकताओं पर आधारित होगा। यह विकल्प केवल अत्यधिक आत्ययिकता के मामलों में अभिमुक्त किए जाएंगे, जहां अनुच्छेद 356 के अधीन तुरन्त कार्रवाई करने में संघ की ओर से विफलता भीषण परिणामों को करेगी। (पैरा 6.7.04)

6.8.02. त्रुटि करने वाले राज्य को विनिर्दिष्ट निबंधनों में एक चेतावनी जारी की जानी चाहिए कि यह संविधान के उपबंधों के अनुसार राज्य का शासन नहीं चला रहा है। अनुच्छेद 356 के अधीन कार्रवाई करने से पूर्व राज्य की ओर से प्राप्त किए गए किसी भी स्पष्टीकरण को विचार में लिया जाना चाहिए। तथापि, यह ऐसी स्थिति में संभव नहीं हो सकता, जब तुरन्त कार्रवाई न करना भीषण परिणामों को करे। (पैरा 6.7.08)

6.8.03. जब "बाह्य आक्रमण" या "आंतरिक अशांति" राज्य के सांविधानिक तंत्र के संभावित रूप से ठप्प होने की स्थिति को उत्पन्न करते हुए राज्य प्रशासन

को पंगु बनाते हैं, तो संघ को अनुच्छेद 355 के अधीन अपने प्रमुख दायित्व का निर्वहन करने के लिए उपलब्ध सभी विकल्पों का स्थिति को रोकने के लिए निःशेष करना चाहिए। (पैरा 6.3.17)

6.8.04. (क) राजनीतिक तंत्र की विफलता की स्थिति में, राज्यपाल को विधान सभा में बहुमत का समर्थन रखने वाली सरकार के अधिष्ठापन की सभी सम्भाव्यताओं का पता लगाना चाहिए। यदि ऐसी सरकार के लिए अधिष्ठापित होना सम्भव नहीं है और यदि नए निर्वाचन बिना किसी परिहार्य विलम्ब के आयोजित किए जा सकते हैं तो, उसे निर्गामी मंत्रिमण्डल, यदि कोई है, से प्रभारी (काम चलाऊ) सरकार के रूप में सतत् रहने को कहना चाहिए, परन्तु यह तब जबकि मंत्रिमण्डल, गलत प्रशासन या भ्रष्टाचार के किन्हीं अभिकथनों से असम्बन्धित, केवल किसी प्रमुखनीति के विषय (विवाद्यक) पर पराजित हुआ हो और प्रभावी सरकार के रूप में सतत् रहने को सहमत है। तब, राज्यपाल को विधान सभा का विघटन, सांविधानिक संकट को निर्वाचकों को सुलझाने के लिए छोड़ते हुए, करना चाहिए। अंतरिम काल के दौरान, कामचलाऊ सरकार को कृत्य करने को मंजूर किया जाना चाहिए। परम्परा के रूप में, कामचलाऊ सरकार को केवल दिन-प्रतिदिन के आधार पर सरकार को चलाना चाहिए और किसी प्रमुख नीति विनिश्चय को करने से अलग रहना चाहिए। (पैरा 6.4.08)

(ख) यदि ऊपर वर्णन किए गए महत्वपूर्ण घटक अनुपस्थित हैं तो, राज्यपाल के लिए विधान सभा का विघटन करना और कामचलाऊ सरकार अधिष्ठापित करना उचित नहीं होगा। राज्यपाल को विधान सभा का विघटन किए बिना राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की सिफ़ारिश करनी चाहिए। (पैरा 6.4.09)

6.8.05. प्रत्येक उद्घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष किसी भी दशा में अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) में अनुध्यात की गई दो मास की अवधि के समाप्त होने के पूर्व शीघ्रातिशीघ्र रखी जानी चाहिए। (पैरा 6.7.13)

6.8.06. राज्यपाल या राष्ट्रपति में से किसी के द्वारा राज्य विधान सभा, अनुच्छेद 356(1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा के संसद के समक्ष रखे जाने और इसको इस पर विचार करने का अवसर होने (दिए जाने) के पूर्व विघटित नहीं की जानी चाहिए। इसको सुनिश्चित करने के लिए अनुच्छेद 356 को अनुकूल रूप से संशोधित किया जाना चाहिए। (पैरा 6.6.20)

6.8.07. अनुच्छेद 352 के खण्ड (7) और (8) के तत्सम्बन्धी रक्षोपाय, सिद्धांत स्वरूप अनुच्छेद 356 में सम्मिलित किए जाने चाहिए, जिससे कि संसद उद्घोषणा के प्रवर्तन में बने रहने का पुनर्विलोकन करने में समर्थ हो सके। (पैरा 6.6.23)

6.8.08. असद्भाव के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन के उपचार को थोड़ा अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए, संविधान के अनुच्छेद 74 के खण्ड (2) में

किसी बात के होते हुए भी, एक समुचित संशोधन द्वारा यह उपबंध किया जाना चाहिए कि तात्विक तथ्य और आधार जिन पर अनुच्छेद 356 (1) का अवलम्ब लिया गया है, उक्त अनुच्छेद के अधीन जारी की गई उद्घोषणा के अभिन्न अंग बनाए जाने चाहिए। यह संघ कार्यपालिका द्वारा इस शक्ति के प्रयोग के ऊपर संसद के नियंत्रण को अधिक प्रभावी भी बनाएगा। (पैरा 6.6.25)

6.8.09. सामान्यतया, राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर अनुच्छेद 356 के अधीन कार्रवाई करने को अग्रसर होता है। राज्यपाल की रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखी जाती है। ऐसी रिपोर्ट, सभी तात्विक तथ्यों और आधारों, जिनके आधार पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 में अनुध्यात की गई स्थिति के अस्तित्व में होने या अन्यथा होने के संबंध में अपना समाधान करता है, के यथार्थ (सही) और स्पष्ट कथन को अंतर्विष्ट करने वाला एक "स्पष्ट दस्तावेज" होना चाहिए। (पैरा 6.6.26)

6.8.10. राज्यपाल की रिपोर्ट, जिसके आधार पर अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी की जाती है, को सभी संचार माध्यमों में और पूरी तरह व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। (पैरा 6.6.28)

6.8.11. सामान्यतया, किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन, अनुच्छेद 356(1) के अधीन राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर उद्घोषित किया जाना चाहिए। (पैरा 6.6.29)

6.8.12. अनुच्छेद 356 के खण्ड (5) में, उप-खण्ड (क) और (ख) के मध्य आने वाले शब्द "और" को "या" से प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए।" (पैरा 6.7.11)

312. पूर्वोक्त सिफारिशें स्पष्ट रूप से आयोग द्वारा गठित किए गए मत का निष्कर्ष हैं कि प्रायः, अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का अनुचित रूप से अवलम्ब लिया गया है। यह हमारे लिए नहीं है कि इस बाबत यह अभिव्यक्त करें कि क्या आयोग का यह मत न्यायानुमत है या नहीं। हमारे लिए सभी नब्बे मामलों का पुनर्विलोकन करना सम्भव नहीं है। जिनमें उक्त शक्ति का अवलम्ब लिया गया है और यह बताएं कि किन मामलों में यह उचित रूप से अवलम्ब ली गई थी और किन मामलों में यह उचित रूप से अवलम्ब नहीं ली गई थी। इसी समय, हमारे संविधान के अधीन प्राप्त की जाने वाली सांविधानिक स्कीम को देखते हुए, हम यह कहने को आनत हैं कि सिफारिशें गंभीरता से विचार किए जाने योग्य हैं।

313. श्री पी० वी० राजमन्नार, भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, मद्रास उच्च न्यायालय (जो तमिलनाडु सरकार द्वारा केन्द्र—राज्य संबंधों पर रिपोर्ट देने के लिए जांच समिति के रूप में नियुक्त किए गए थे) ने संभवतया इस कारण से क्योंकि उनका यह मत था कि इस शक्ति का अवलम्ब लेने की बहुत से मामलों में आवश्यकता नहीं थी यह सिफारिश की कि अनुच्छेद 356 और 357 का बिल्कुल निरसन कर दिया जाना चाहिए। (देखिए, उनके

द्वारा 1971 में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के अध्याय IX, "आपात उपबंध", में पैरा (8)) 1 इसके विकल्प में उन्होंने सिफारिश की कि केन्द्र में प्रबल बहुमत रखने वाले दल की मनमानी और एकपक्षीय कार्रवाई के विरुद्ध राज्यों के हित की सुरक्षा के लिए रक्षोपायों का उपबंध किया जाना चाहिए। अन्य पहलुओं पर श्री राजमन्नार के मत सरकारिया आयोग द्वारा अभिव्यक्त किए गए मतों के विस्तृत रूप से अनुरूप (अनुसार) हैं और इसलिए, विस्तार से वर्णन किए जाने की आवश्यकता नहीं है।

314. भारत का संविधान और धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना :

अनुच्छेद 356(1) ऐसी स्थिति के विषय में कहता है जहां किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। इसमें यहां इसके पूर्व हमने यह कहा है कि शब्द "इस संविधान के उपबंधों" संविधान की उद्देशिका को सम्मिलित करते हुए सभी उपबंधों को अंतर्विष्ट करते हैं। संविधान की उद्देशिका, धर्मनिरपेक्ष भारत गणराज्य का कथन करती है। जबकि प्रत्यर्थियों के विद्वान काउंसेल ने दलील दी कि धर्मनिरपेक्षता के संविधान की आधारभूत विशेषता होने के कारण, कोई राज्य सरकार बर्खास्त की जा सकती है यदि यह अधर्म निरपेक्षकारी कृत्यों की दोषी है, याचियों के विद्वान काउंसेल श्री राम जेठमलानी ने इस विचार का प्रबलता से खण्डन किया। श्री राम जेठमलानी के अनुसार "धर्मनिरपेक्षता" एक अस्पष्ट संकल्पना है, जो संविधान में परिभाषित नहीं की गई है और इसलिए, अनुच्छेद 356 के अधीन कार्रवाई करने के लिए आधार प्रस्तुत नहीं कर सकती। उक्त दलील के विवरणों में जाए बिना, हम पहले यह परीक्षा करेंगे कि यह संकल्पना हमारी संविधान में कहां तक सन्निहित है और किस भाव में।

315. संविधान को विरचित करने की प्रक्रिया को पूरा करने के पश्चात्, संविधान सभा इसकी उद्देशिका को अंतिम रूप देने को अग्रसर हुई थी। भारत की जनता की ओर से और उनके नाम पर बोलते हुए, उसने कहा कि, उनका उद्देश्य भारत को "प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य" गठित करने और इसके सभी नागरिकों को सामाजिक न्याय, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराना है। उन्होंने कहा कि भारत के सभी लोगों के बीच "व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने.....का भी" उद्देश्य था। संविधान के 42वें संशोधन द्वारा, शब्द "समाजवादी, धर्म निरपेक्ष" शब्द "प्रभुत्वसम्पन्न" के पश्चात् और शब्द "लोकतांत्रिक" के पूर्व जोड़े गए थे। संविधान का कोई अन्य उपबंध इन संकल्पनाओं को प्रतिबिम्बित (परिलक्षित) करने के लिए संशोधन नहीं किया गया था।

316. दोनों अभिव्यक्तियां—"समाजवादी" और "धर्मनिरपेक्ष"—स्वयं में सही परिभाषा दिए जाने योग्य नहीं हैं। तथापि हम, उनके सामान्य अर्थ या अन्तर्वस्तु से संबंधित नहीं हैं। हमारा उद्देश्य, अभिव्यक्ति "धर्मनिरपेक्ष का हमारे संविधान के संदर्भ में अर्थ अभिनिश्चित करने का है। जैसा कि इसके पश्चात् की चर्चा दर्शित करेगी, 42वें संशोधन ने केवल उसे अभिव्यक्त (स्पष्ट) किया है जो इसमें विवक्षित था। उद्देशिका में, "सामाजिक न्याय," "विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" और "प्रतिष्ठा और अवसर की समता" के विषय में कहा गया है। अनुच्छेद 14 ("समता के अधिकार" उप-शीर्षक के अधीन) राज्य

को, भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता या विधि के समान संरक्षण देने से इनकार न करने का व्यादेश देता है। अनुच्छेद 15 और 16 समता के इस सिद्धांत का विशदीकरण करते हैं। उनके अनुसार, राज्य इसके अधीन नियोजन के मामले में या अन्यथा मामले में केवल धर्म, मूलवंश या जाति के आधार पर किसी नागरिक से विभेद नहीं करेगा।

अनुच्छेद 25 द्वारा "सभी व्यक्तियों" को निस्संदेह लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए, अन्तःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा। अनुच्छेद 26, 27 और 28, अनुच्छेद 25 द्वारा गारंटी की गई स्वतंत्रता का विशदीकरण करते हैं। अनुच्छेद 27 यह घोषित करता है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे करों का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक संप्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किए जाते हैं। अनुच्छेद 28(1) यह आज्ञप्त करता है कि पूर्णतः राज्य-निधि से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी, जबकि अनुच्छेद 28(3) के अनुसार, राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए या ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जाएगा जब तक कि उस व्यक्ति ने, या यदि वह अवयस्क है तो उसके संरक्षक ने, इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है। इसी भांति अनुच्छेद 30 का खण्ड (2) राज्य को यह व्यादेश देता है कि शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। अनुच्छेद 51-क का खण्ड (3) (बयालीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा प्रविष्ट किया गया) के अनुसार "भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह—भारत के सभी लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का निर्णय करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो।" उद्देशिका के साथ पठन किए जाने पर यह अनुच्छेद क्या सूचित करते हैं? जबकि संविधान का अनुच्छेद 25, इस के सभी लोगों को धर्म की स्वतंत्रता गारंटी करता है, अनुच्छेद 14, 15 और 16 राज्य को, इसके सभी लोगों से उनके धर्म, जाति, आस्था या विश्वास पर ध्यान दिए बिना समान रूप से व्यवहार करने का व्यादेश देते हैं। जबकि इस देश के नागरिकों को ऐसे धर्म, आस्था या विश्वास जैसा कि वे चुनें को मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतंत्रता है, जहां तक राज्य का संबंध है, अर्थात् राज्य की दृष्टि से किसी व्यक्ति का धर्म, आस्था या विश्वास अतात्विक हैं। इसके लिए, सभी समान हैं और समान रूप से व्यवहार किए जाने को हायी हैं। यह समान व्यवहार किस प्रकार संभव है, यदि राज्य को किसी विशिष्ट धर्म, मूलवंश या जाति को अधिमान या अभिवृद्धि करनी है, जिससे आवश्यकतः सभी अन्य धर्मों मूलवंशों और जातियों के प्रति कम अनुकूल व्यवहार अभिप्रेत है। सामाजिक न्याय, विश्वास, धर्म या उपासना की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा और अवसर की समता के सांविधानिक वचनों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है जब तक कि राज्य किसी व्यक्ति से, उसके अधिकारों, उसके कर्तव्यों और उसके हकों से व्यवहार करते समय, अपने विचार की परिधि से उस व्यक्ति के धर्म, आस्था या

विश्वास से दूर (परहेज) नहीं रहता ? इस प्रकार धर्म निरपेक्षता, धार्मिक सहिष्णुता के नकारात्मक दृष्टिकोण से कहीं अधिक है । यह सभी धर्मों से समान व्यवहार की सकारात्मक संकल्पना है । कुछ, के द्वारा यह दृष्टिकोण धर्म की ओर तटस्थता के रूप में या तटस्थता के रूप में वर्णन किया गया है । यह पश्चिमी उदार विचार धारा द्वारा तैयार की गई संकल्पना हो सकती है या जैसा कि कुछ लोग कहते हैं यह भारतीय लोगों का सभी समयों पर एक दृढ़ विश्वास हो सकता है । यह तात्विक नहीं है । जो कुछ तात्विक है यह है कि यह एक सांविधानिक उद्देश्य और संविधान की एक आधारभूत विशिष्टता है, जैसी कि केशवानन्द भारती वाले मामले में और इंदिरा एन० गांधी बनाम राजनारायण[1] वाले मामले में पुष्टि की गई थी । इस सांविधानिक स्कीम से असंगत कोई कदम सदा शब्दों में असांविधानिक है । इससे यह अर्थ नहीं है कि राज्य का धर्म के मामलों में कोई दखल (अधिकार) जो कोई भी हो, नहीं है । मंदिरों, मस्जिदों और उपासना के अन्य स्थानों और मठों के धर्मनिरपेक्ष क्रिया-कलापों को विनियमित करने के लिए कानून बनाए जा सकते हैं (देखिए, **एस० पी० मित्तल बनाम भारत संघ**[2]) । स्वीय विधियों का सुधार और सुव्यवस्थीकरण करने की संसद् की शक्ति निर्विवाद है । अनुच्छेद 44 का आदेश अभी पूरा किया जाना है । सही परिप्रेक्ष्य श्री के० के० मुंशी द्वारा संविधान सभा डिबेटों के दौरान रखा गया प्रतीत होता है । उनके अनुसार :

> "धर्म को उन क्षेत्रों तक निर्बंधित (सीमित) किया जाना चाहिए जो विधि-मान्य रूप से धर्म से संबंधित हैं, और जीवन के शेष क्षेत्रों को ऐसी रीति में विनियमित, एकीकृत और उपांतरित किया जाना चाहिए, जिससे कि हम जितना शीघ्र संभव हो, एक मजबूत (सशक्त) और समेकित राष्ट्र का निर्माण कर सकें । हमारी पहली समस्या और सब से महत्वपूर्ण समस्या, इस देश में राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न करना है । हम सोचते हैं कि हमने राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर ली है । किंतु अनेक पहलू—और महत्वपूर्ण पहलू हैं—जो अभी भी हमारे राष्ट्रीय समेकन को गंभीर खतरे प्रस्तुत करते हैं, और यह अतिआवश्यक है कि हमारा संपूर्ण जीवन, जहां तक यह धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों तक सीमित है, ऐसी रीति में एकीकृत किया जाना चाहिए, कि जितना शीघ्र संभव हो सके, हम यह कह सकें कि,
>
> "हम केवल इसलिए राष्ट्र नहीं हैं, क्योंकि हम ऐसा करते हैं, बल्कि हम वस्तुतः उस पद्धति द्वारा, जिसके द्वारा हम जीवन-यापन करते हैं, और स्वीय विधि द्वारा सशक्त और समेकित राष्ट्र हैं ।"

317. श्री एम० सी० शीतलवाड ने धर्म निरपेक्षता (पटेल मेमोरियल लैक्चर्स-1965) पर अपने भाषण में यह उल्लिखित किया कि कांग्रेस दल ने अपने कराची सत्र (सेशन) (1931) में धार्मिक स्वतंत्रता और अल्पसंख्यकों को पर्याप्त संरक्षण देने के विचारों की पुष्टि करने के पश्चात्, सुस्पष्ट रूप से यह प्राख्यान किया कि, "राज्य सभी धर्मों के संबंध में तटस्थता का पालन करेगा ।" उन्होंने कहा कि यह संकल्प एक प्रकार से उनके द्वारा अंगीकृत

[1] (1975) 2 एस० सी० सी० 159.
[2] (1983) 1 एस० सी० आर० 729.

किए गए दृष्टिकोण को समझने की कुंजी है, जिन्होंने लगभग बीस वर्षों पश्चात् भारतीय संविधान की इसमें धार्मिक तटस्थता की गारंटी को अंतर्निहित करते हुए विरचना की थी। उन्होंने यह भी उल्लिखित किया कि "संविधान सभा की डिबेटें इस संबंध में कम संदेह छोड़ती हैं कि संविधान द्वारा जो आशयित किया गया था, राज्य की धर्म से पूर्णतया वियोजन (विच्छेदित) के अर्थ में धर्म निरपेक्षता नहीं थी, अपितु सभी धर्मों और धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति समान व्यवहार के साथ, धार्मिक तटस्थता का दृष्टिकोण था।" यही विचार विद्वान न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर द्वारा ("धर्मनिरपेक्षता; भारत में विधि और जीवन के लिए इसकी विवक्षाएं पर संगोष्ठी में अपने उद्घाटन-भाषण में व्यक्त किया गया विचार) निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

> "यह सत्य है कि भारतीय संविधान अपने उपबंधों में से किसी में शब्द "धर्म निरपेक्षता" का प्रयोग नहीं करता है किन्तु इसके तात्विक उपबंध धर्म निरपेक्षता की संकल्पना द्वारा प्रेरित किए गए हैं। जब इसने भारत के सभी नागरिकों को वचन दिया कि संविधान का उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक न्याय को स्थापित करना है, तो इसने संपूर्ण देश के समक्ष कल्याणकारी राज्य का आदर्श (अभीष्ट) रखा और कल्याणकारी राज्य की संकल्पना विशुद्ध रूप से धर्मनिरपेक्ष है और धर्म की किन्हीं विचारणाओं पर आधारित नहीं है। भारतीय संविधान का प्रमुख (आवश्यक) आधार यह है कि सभी नागरिक समान हैं, और यह आधारभूत समता (अनुच्छेद 14 द्वारा गारंटी की गई) स्पष्ट रूप से यह उद्घोषणा करती है कि किसी नागरिक या धर्म उसके मूलभूत अधिकारों के मामले में पूर्णतया असंगत है। राज्य इस प्रकार किसी विशेष धर्म के प्रति निष्ठा रखने को ऋणी नहीं है, यह अधार्मिक या धर्म-विरुद्ध नहीं है, यह सभी धर्मों को समान स्वतंत्रता देता है और यह धारित करता है कि नागरिक के धर्म को, सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के मामले में कोई लेना-देना नहीं होता। यह धर्म-निरपेक्षता की प्रमुख (आवश्यक) विशेषता है जो भारतीय संविधान के सभी उपबन्धों में स्पष्ट है।"

318. प्रो० उपेंद्र बक्शी के अनुसार भारतीय संविधान में "धर्म-निरपेक्षता" से निम्न अभिप्रेत (अर्थ-निकलता) होता है :

> "(i) राज्य स्वयं किसी धर्म को नहीं अपनाएगा या स्थापित या आचरण करेगा,
>
> (ii) लोक राजस्व, किसी धर्म की अभिवृद्धि के लिए प्रयुक्त नही किया जाएगा,
>
> (iii) राज्य को धार्मिक आचरण से संबद्ध "किसी आर्थिक, वित्तीय या अन्य धर्मनिरपेक्ष क्रियाकलाप" को विनियमित करने की शक्ति होगी [संविधान का अनुच्छेद 25 (2) (क)] :
>
> (iv) राज्य को "सामाजिक कल्याण और सुधार करने या हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए

खोलने" [संविधान का अनुच्छेद-25 (2) (ख)], के लिए उपबंध करने की विधि के अधीन शक्ति होगी,

(v) अस्पृश्यता का आचरण (यहां तक कि यह हिंदू धर्म द्वारा न्यायानुमत हो सकता है) अनुच्छेद 17 द्वारा सांविधानिक रूप से गैर-कानूनी किया गया है ;

(vi) इस अनुक्रम में प्रत्येक व्यक्ति को अंतःकरण और धर्म की स्वतन्त्रता का समान अधिकार होगा;

(vii) तथापि, यह अधिकार राज्य की "लोक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य" के आधार पर विधि के अधीन निर्बन्धनों को आरोपित करने की शक्ति के अध्यधीन है;

(viii) यह अधिकार इसके अतिरिक्त भाग III में अन्य मूलभूत अधिकारों के अध्यधीन हैं।"

(दि स्ट्रगल फार दि रि-डेफिनेशन आफ सेक्यूलरिज्म इन इंडिया—सोशल एक्शन जिल्द 44—जनवरी, मार्च, 1994 में संप्रकाशित)।

319. संक्षेप में, राज्य के कार्यकलापों (इसके व्यापक अर्थ में) में धर्म असंगत हैं, यह सर्वथा एक वैयक्तिक मामला है। इस अर्थ में और इस निमित्त हमारा संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से व्यापक रूप में सहमत है, जिसका पहला संशोधन यह घोषणा करता है कि "कांग्रेस, धर्म के स्थापन के संबंध में या इसके स्वतंत्र प्रयोग को निषिद्ध करने के संबंध में कोई कानून नहीं बनाएगी·····" (सामान्य रूप से "स्थापन खंड' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है)। कदाचित, यह चर्च और राज्य के पृथक्करण के सिद्धांत का अनुवाद (प्रतिध्वनि) हैं, यह आधुनिक राजनीतिक विचारधारा हो सकती है जो राज्य को धर्म से पृथक करने की वांछा करती हो—इस बात का कोई महत्व नहीं है।

320. मामले को इस दृष्टि से देखते हुए, यह कहना आत्यंतिक रूप से त्रुटिपूर्ण (गलत) है कि धर्म निरपेक्षता, एक "निर्भाव शब्द" है या एक "छायाभास (मृग-मरीचिका) संकल्पना" हैं।

321. कदाचित यह उल्लिखित करना सुसंगत है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने इस संकल्पना का हमारे संविधान में इसलिए पठन नहीं किया था कि ऐसा करना फैशन बन गया था, बल्कि इसलिए कि यह भारतीय संदर्भ में आवश्यक था। यह सत्य है कि जैसा कि श्री रामजेठमलानी द्वारा इस पर बल दिया गया था, कि भारत धर्म के आधार पर विभाजित किया गया था और यह कि मुस्लिम बाहुल्य जनसंख्या रखने वाले क्षेत्रों का, एक नए अस्तित्व (सत्ता)—पाकिस्तान के नाम से गठन किया गया था—जिसने तुरन्त ही अपने को इस्लामिक-गणतंत्र के रूप में उद्घोषित कर दिया था, किन्तु समान रूप से यह भी एक तथ्य है कि विभाजन के पश्चात् भी, भारत में अल्पसंख्यकों की पर्याप्त जनसंख्या अंतर्विष्ट थी। वे जनसंख्या के कम से कम 10 से 12 प्रतिशत को समाविष्ट करते थे। सहिष्णुता और बंधुता (भाईचारा) की भारतीय परम्परा से प्रेरित होकर, जिनके लिए आधुनिक भारत के महान सपूत

महात्मा गांधी ने अपने जीवन को समर्पित कर दिया और कांग्रेस दल द्वारा किए गए धार्मिक तटस्थता के वचन के मोचन की वांछा करते हुए हमारे संविधान निर्माता एक ऐसे राज्य को सृजित करने के लिए अग्रसर हुए थे। जो देखने में धर्मनिरपेक्ष और कार्रवाई में समतावादी हो। वे अल्पसंख्यकों के साथ द्वितीय-श्रेणी नागरिकों के रूप में व्यवहार करने के विचार का समर्थन (अनुमोदन) नहीं कर सकते थे। इसके प्रतिकूल, प्रमुख चिंतन यह प्रतीत होता है कि बहुसंख्यक हिन्दू, समाज, धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए और तद्द्वारा अल्पसंख्यकों को धर्म निरपेक्ष होने में सहायता करनी चाहिए। क्योंकि यह अकेले बहुसंख्यक समाज ही है जो अन्यों को सुरक्षा की भावना पहुंचा सकता है। 42वें संशोधन अधिनियम की महत्ता इस तथ्य में निहित है-कि इसने पूर्व-विद्यमान स्थिति को निश्चित (औपचारिक) रूप दिया था। इसने मामले को, किसी विवाद के लिए कोई स्थान न छोड़ते हुए, किसी संदेह के परे किया था। ऐसी स्थिति में, यह डिबेट कि क्या संविधान की उद्देशिका "इस संविधान के उपबन्धों" के भीतर अंतर्विष्ट है, वस्तुतः अनावश्यक है। यदि हम श्री राम जेठमलानी के विचार को स्वीकार करते हैं, उद्देशिका, संविधान के सुसंगत उपबंधों को समझने के लिए एक कुंजी है। 42वें संशोधन अधिनियम ने कुंजी को सुस्पष्ट निबंधनों में व्यक्त किया है।

322. ऊपर दी गई स्थिति को देखते हुए, यह स्पष्ट है कि यदि कोई दल या संगठन ऐसे घोषणा-पत्र के आधार पर निर्वाचनों का मुकाबला करना चाहता है, जो संविधान के धर्म निरपेक्ष दर्शन का क्षरण करने का सीधा प्रभाव रखता है, तो वह निश्चित रूप से (दल या संगठन) असांविधानिक प्रक्रिया का अनुसरण (अपनाने) करने का दोषी होगा। राजनीतिक दल राज्य शक्ति को हासिल करने या उसमें हिस्सा लेने के लिए गठित किए जाते हैं और विद्यमान रहते हैं। यही उनका उद्देश्य है। वे व्यक्तियों के संयोजन (सभा) हो सकते हैं किंतु कोई भी उनकी कार्यात्मक संगति (औचित्य) को अनदेखा नहीं कर सकता। व्यक्तियों का कोई संयोजन (सभा), धर्म के प्रचार के प्रति समर्पित हो सकता है, यह एक धार्मिक निकाय होगा। कोई अन्य संयोजन, संस्कृति की अभिवृद्धि के प्रति समर्पित हो सकता है; तब यह एक सांस्कृतिक संगठन होगा। उनका उद्देश्य राज्य की शक्ति को प्राप्त करना नहीं है, जबकि राजनीतिक दल का ऐसा उद्देश्य होता है। यह इसके मुख्य उद्देश्यों में से एक है। हमारे द्वारा "कार्यात्मक संगति" कहने से यही अभिप्रेत है। कोई भी व्यक्ति राजनीतिक दलों के बिना लोकतांत्रिक स्वरूप की सरकार की कल्पना नहीं कर सकता। वे राजनीतिक-प्रणाली और सांविधानिक स्कीम के भाग हैं। वे लोकतांत्रिक समाज के शासन का अभिन्न भाग हैं। यदि संविधान, राज्य से चिन्तन (विचारधारा) और कार्रवाई में धर्मनिरपेक्ष होने की अपेक्षा करता है, तो यही अपेक्षा इसी भांति राजनीतिक दलों से भी संलग्न होती है। संविधान, धर्म और राज्य शक्ति को मिश्रित करने को मान्यता नहीं देता है, और इसके लिए अनुज्ञा भी नहीं देता। दोनों को अलग रखा जाना चाहिए। यह सांविधानिक व्यादेश है। कोई भी इससे अन्यथा नहीं कह सकता, जब तक यह संविधान इस देश में लागू है। राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करना, किसी अननुज्ञेय वस्तु को राजनीतिक तंत्र में प्रविष्ट करना और हमारी सांविधानिक प्रणाली में असंतुलन करना है। यदि किसी विशेष धर्म का समर्थन करने वाला कोई राजनीतिक दल, शासन में आता है तो उक्त धर्म पद्धति (व्यवहार में)

शासकीय कार्य करने को प्रवृत्त होगा। सभी अन्य धर्म हर हाल में—एक कम अनुकूल स्थिति अर्थात् दूसरा स्थान प्राप्त करेंगे। यह स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 14 से 16, 25 और इसमें यहां इसके ऊपर प्रस्तुत की गई सम्पूर्ण सांविधानिक स्कीम के प्रतिकूल होगा। हमारे संविधान के अधीन, कोई भी दल या संगठन समसामयिक रूप से राजनैतिक और धार्मिक दल नहीं हो सकता। इसको इन दोनों में से कोई एक होना है। यदि कोई दल या संगठन मुख के शब्द द्वारा, मुद्रण द्वारा या किसी अन्य रीति में उसी परिणाम को लाने के लिए कार्य करता है और/या व्यवहार करता है, तब भी यही स्थिति होगी और यह असांविधानिकता के कृत्य के लिए उसी प्रकार दोषी होगा। इसे राजनीतिक दल के रूप में कृत्य करने का कोई अधिकार नहीं होगा। यह तथ्य कि दल, संविधान के महत्वपूर्ण (सशक्त) संशोधन या एक अन्य संविधान द्वारा इसके प्रतिस्थापन के लिए जनादेश की वांछा करते हुए जनता के पास जाने को दायी हो सकता है, इस संदर्भ में पूर्णतया असंगत है। हम नहीं जानते कि संविधान के आधारभूत स्वरूप से धर्म निरपेक्षता को हटाने के लिए संविधान का किस प्रकार संशोधन किया जा सकता है।[1] न ही हम यह जानते हैं कि वर्तमान संविधान को एक अन्य संविधान द्वारा किस प्रकार प्रतिस्थापित किया जा सकता है; हमारे लिए यह जानना पर्याप्त है कि संविधान ऐसे अनुक्रम के लिए उपबंध नहीं करता है—और कि यह अपने स्वयं के समापन (हस्तांतरण) के लिए उपबन्ध नहीं करता है।

323. सांविधानिक दर्शन से संगत होते हुए, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 की उपधारा (3), निर्वाचकों से धर्म, मूलवंश, जाति या अभ्यर्थी के समुदाय या धार्मिक चिह्नों के प्रयोग के आधार पर मत देने की अपील को भ्रष्ट आचरण मानती (व्यवहार) है। ऐसी प्रकृति (इस प्रकार) का एक उदाहरण भी अभ्यर्थी के निर्वाचन को दूषित करने को पर्याप्त है। इसी भांति, धारा 123 की उपधारा (3-क) यह उपबंध करती है कि "किसी अभ्यर्थी या उसके अभिकर्ता इत्यादि द्वारा उस अभ्यर्थी के निर्वाचन की संभाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए भारत के नागरिकों के विभिन्न वर्गों के बीच धर्म, मूलवंश, जाति, समुदाय या भाषा के आधार पर शत्रुता या घृणा की भावनाओं का संप्रवर्तन या संप्रवर्तन का प्रयास करना भी समान रूप से एक भ्रष्ट आचरण है। धारा 29-क, संगमों और निकायों का राजनीतिक दलों के रूप में निर्वाचन आयोग में रजिस्ट्रीकरण होने के लिए उपबंध करता है। निर्वाचकों को लड़ने वाले और इसके सभी अभ्यर्थियों के लिए एक से चिह्न की ईप्सा करने वाले प्रत्येक दल को रजिस्ट्रीकरण के लिए आवेदन करना होता है। ऐसे आवेदन को को करते समय, संगम और निकाय को अन्यों के साथ "समाजवाद, धर्म निरपेक्षता, और लोकतंत्र के सिद्धान्तों के प्रति अपने विश्वास और निष्ठा की पुष्टि करनी होती है। चूंकि यह प्रतीत होता है कि बहस (दलीलों) के समाप्त होने के पश्चात् निर्वाचन आयोग ने इस निमित्त कुछ अन्य आदेशों को किया है और क्योंकि वे आदेश हमारे समक्ष नहीं रखे गए हैं या चर्चा नहीं किए गए हैं, हम इस विषय पर कुछ और अधिक कहना नहीं चाहते।

324. **अनुच्छेद 74(2)—इसका अर्थ और विस्तार** : भारत के संविधान ने इस देश में संसदीय लोकतंत्र को पुरःस्थापित किया है। संसदीय लोकतंत्र से, शासन की वास्तविक

[1] केशवानंद भारती [(1973) सप्ली० (1) एस० सी० आर० 166 और 280] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के अनुसार, धर्मनिरपेक्षता, संविधान के आधारभूत स्वरूप में से एक है।

शक्ति का प्रधानमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद में निहित होना अभिप्रेत है जो प्रायः संसद में बहुमत वाले दल से लिए जाते हैं। कुछ विधिवेत्ता इसे उपहासपूर्ण रूप में प्रधानमंत्रीय स्वरूप की सरकार के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। ऐसे लोकतंत्र में, राज्य का अध्यक्ष, चाहे वह सम्राट हो या राष्ट्रपति, राज्य का सांविधानिक अध्यक्ष बना रहता है। राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री के नेतृत्व वाली मन्त्रिपरिषद द्वारा उसे दी गई सहायता और सलाह के अनुसार कार्य करता है। 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधित किए जाने के पूर्व अनुच्छेद 74 के खण्ड (1) द्वारा यही उपबंध किया गया था। "**रामजवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य**"[1] और शमशेर सिंह वाले मामले में इसको इसी प्रकार समझा और निर्वचन किया गया था। 42वें संशोधन ने केवल उसको स्पष्ट किया जो खण्ड (1) में पहले से ही विवक्षित था। 44वें संशोधन ने खंड (1) में एक परन्तुक को प्रविष्ट किया, जो एक विद्यमान वास्तविकता की मान्यता में था। यह, राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद द्वारा उसे दी गई सलाह पर, उससे (मन्त्रिपरिषद) पुनर्विचार करने की अपेक्षा करने को सशक्त करता है। ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह, राष्ट्रपति पर बाध्यकारी है! चूंकि अनुच्छेद 74 के खण्ड (2) को इसके संदर्भ को देखते हुए पठन और समझा जाना चाहिए, यह समुचित होगा कि 74 के दोनों खण्डों का पठन किया जाए, जैसे कि वे इस समय हैं :

> "74. राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए मन्त्रिपरिषद :
>
> (1) राष्ट्रपति को उसके कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा :
>
> परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गई सलाह के अनुसार कार्य करेगा।
>
> (2) इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी।"
>
> (रेखांकित शब्दों पर बल दिया गया है)

325. संविधान के अनुच्छेद 53 (1) के अनुसार, "संघ की कार्यपालिक शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।" तथापि खण्ड (2), यह घोषणा करता है कि खण्ड (1) की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित होगा और उसका प्रयोग विधि द्वारा विनियमित होगा।

326. अनुच्छेद 77 का खण्ड (1) यह उपबंध करता है कि, "भारत सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जाएगी।" इसके पश्चात् खण्ड (2) यह कहता है कि, राष्ट्रपति के नाम से किए गए और निष्पादित आदेशों और

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 549.

अन्य लिखतों को ऐसी रीति से अधिप्रमाणित किया जाएगा जो राष्ट्रपति द्वारा बनाए जाने वाले नियमों में विनिर्दिष्ट की जाए। इसके अतिरिक्त यह उपबंध करता है कि, इस प्रकार अधिप्रमाणित आदेश या लिखत की विधिमान्यता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि वह राष्ट्रपति द्वारा किया गया या निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है। जैसा कि इस खण्ड द्वारा अनुध्यात किया गया है, राष्ट्रपति द्वारा नियम बनाए गए हैं, जो तारीख 11 नवम्बर, 1958 (जैसी कि समय-समय पर संशोधित की गई है) की अधिसूचना कानूनी आदेश संख्या (एस० ओ०) 2297 में अंतर्विष्ट हैं। सरकार के अनेक अधिकारियों को राष्ट्रपति के नाम में किए जाने वाले और निष्पादित आदेशों और अन्य लिखतों को अधिप्रमाणित करने को सशक्त किया गया है। खण्ड (3), राष्ट्रपति से अपेक्षा करता है कि, वह, भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए और मंत्रियों में, उक्त कार्य के आबंटन के लिए नियम बनाएगा। दूसरे शब्दों में, खण्ड (2) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा दो प्रयोजनों के लिए नियम बनाए जाने चाहिए, अर्थात् (क) भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए, (ख) मंत्रियों में उक्त कार्य के आबंटन के लिए। जैसी कि इस खण्ड द्वारा अवेक्षा की गई है, कारबार नियम वस्तुतः बनाए गए हैं और भारत सरकार के कार्य अनेक मंत्रियों को आबंटित किए गए हैं।

327. एक अन्य अनुच्छेद जिसकी इस संबंध में अवेक्षा की जानी है, अनुच्छेद 361 है जो यह घोषित करता है कि "राष्ट्रपति अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्त्तव्यों के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग और कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपने द्वारा किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं होगा।" राष्ट्रपति के विरुद्ध उसकी पदावधि के दौरान किसी न्यायालय में किसी भी प्रकार की दाण्डिक कार्यवाही संस्थित नहीं की जाएगी या चालू नहीं रखी जाएगी, और न ही उसकी गिरफ्तारी या कारावास के लिए किसी न्यायालय से कोई आदेशिका जारी की जाएगी।

328. अनुच्छेद 78, राष्ट्रपति को जानकारी देने और, कतिपय अन्य मामलों के संबंध में प्रधानमंत्री के कर्त्तव्यों का विशेष रूप से उल्लेख करता है। खंड (क) के अधीन प्रधानमंत्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह संघ के कार्यों के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी मंत्रि-परिषद के सभी विनिश्चय राष्ट्रपति को संसूचित करे। खंड (ख) के अनुसार प्रधान मंत्री खंड (क) के अधीन संसूचित किए गए मामलों के संबंध में राष्ट्रपति को वह जानकारी देगा जो राष्ट्रपति मांगे। खंड (ग) के अधीन प्रधानमंत्री का यह कर्त्तव्य होगा कि किसी विषय को जिस पर मंत्रिपरिषद ने विचार नहीं किया है, राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा किए जाने पर मंत्रिपरिषद के समक्ष पुनर्विचार के लिए रखे।

329. राष्ट्रपति को संविधान के अधीन अनेक शक्तियां और कृत्य प्रदान किए गए हैं। उनका यह कहने के लिए, विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है कि अनुच्छेद 356 उनमें से एक है। जब अनुच्छेद 74 (1) राष्ट्रपति द्वारा "अपने कृत्यों के प्रयोग में" कार्य करने की कहता है, तो यह उन शक्तियों और कृत्यों को निर्दिष्ट करता है। संविधान के अलावा, अनेक अन्य अधिनियमितियां भी राष्ट्रपति को कतिपय शक्तियां और कृत्य प्रदान करती हैं और इसमें इसके पश्चात् भी प्रदान कर सकती हैं। वे भी अनुच्छेद 74 (1) के

अंतर्गत आएंगी। अर्थात्, राष्ट्रपति उन शक्तियों का प्रयोग और कृत्यों का निर्वहन केवल प्रधान मंत्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह के आधार पर करेगा।

330. अनुच्छेद 361 आंग्ल-विधि (इंगलिश ला) में अभिभावी सिद्धांत की अभिव्यक्ति है कि "सम्राट कोई त्रुटि नहीं कर सकता" और, इस कारण से न्यायालय की आदेशिका से परे है। राष्ट्रपति द्वारा की गई कोई और प्रत्येक कार्यवाही, वस्तुतः उसके मंत्रियों और अधीनस्थों की कार्यवाही है। यह वे हैं जो, राष्ट्रपति के नाम में उनके द्वारा की गई प्रत्येक कार्यवाही के लिए उत्तर देने, प्रतिरक्षा करने और उचित ठहराने के लिए दायी हैं यदि उक्त कार्यवाही किसी न्यायालय में आक्षेप की जाती है। राष्ट्रपति की कार्यवाही के संबंध में उत्तर देने या उसे उचित ठहराने के लिए नहीं कहा जा सकता है। यह मंत्रिपरिषद के लिए है कि ऐसा करे। जो ऐसा करने को आगे आते हैं, यह उनके द्वारा विचार किए जाने वाला और न्यायालय के लिए इसकी बाबत संतुष्ट होने वाला मामला है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि, मंत्रिमंडल का मंत्री या अन्य अधिकारी या प्राधिकारी, जिसे सरकार का सुसंगत कार्य सौंपा गया है, उसे यह करना है।

331. अनुच्छेद 53 (1), जहां यह कहता है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति, जो राष्ट्रपति में निहित होगी उसके द्वारा इस संविधान के अनुसार स्वयं या उसके अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा प्रयोग की जा सकती है, इस विचार की पुष्टि करता है (बल देता है)। जहां राष्ट्रपति स्वयं कार्य करता है, वहां उसे मंत्रि-परिषद या संबंधित मन्त्री जैसा कि मामला हो, की सहायता और सलाह पर कार्य करना होता है। (किसी मन्त्री द्वारा दी गई सलाह, केबिनेट/मंत्रिपरिषद के संयुक्त दायित्व के सिद्धांत को देखते हुए मंत्रि-परिषद द्वारा दी गई सलाह समझी जाएगी)। यदि उक्त कार्य न्यायालय में प्रश्न किया जाता है तो यह उस मन्त्रि-परिषद के संबंधित मन्त्री (कारबार नियमों के अनुसार) या अधिकारी के लिए है कि कार्यवाही की प्रतिरक्षा करे। जहां राष्ट्रपति अपने अधीनस्थों के द्वारा कार्य करता है, वहां यह उक्त अधीनस्थ के लिए है कि कार्यवाही की प्रतिरक्षा करे।

332. अनुच्छेद 74 और 77 एक अर्थ में एक दूसरे के पूरक हैं, यद्यपि वे भिन्न क्षेत्रों में प्रवर्तित (लागू) होते हैं।

अनुच्छेद 74 (1), राष्ट्रपति के "अपने कृत्यों के प्रयोग में" किए गए कृत्यों के संबंध में है जबकि अनुच्छेद 77, भारत सरकार की कार्यपालिका कार्यवाही के विषय में कथन करता है जो भारत के राष्ट्रपति के नाम में की गई है। जहां तक भारत सरकार की कार्यपालिका कार्यवाही का संबंध है, यह उस मन्त्री/अधिकारी द्वारा की जाती है, जिसे भारत सरकार के कार्य को अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए उक्त कार्य अनुच्छेद 77 के खंड (3) के अधीन बनाए गए कारबार नियमों द्वारा आबंटित किए गए हैं। भारत सरकार की कार्यपालिक कार्यवाही से संबंधित जारी किए गए सभी आदेश और निष्पादित लिखतों को इस निमित्त सशक्त अधिकारी द्वारा विनिर्दिष्ट रीति में अधिप्रमाणित किया जाएगा। जहां तक अनुच्छेद 77 का संबंध है, निस्संदेह राष्ट्रपति कहीं पर भी पटल पर नहीं आता। भारत सरकार का संपूर्ण कार्य राष्ट्रपति के नाम में, वस्तुतः इस निमित्त सशक्त किए गए मंत्रियों या अन्य अधिकारियों द्वारा किया जाता है। विभिन्न मंत्रियों और अधिकारियों द्वारा

आदेश जारी किए जाते हैं, लिखत निष्पादित किए किए जाते हैं, और अन्य कृत्य किए जाते हैं, जिनमें से कोई भी राष्ट्रपति तक नहीं पहुंच सकता या उसके द्वारा विचार किए जाने के लिए उसके समक्ष नहीं रखे जा सकते। ऐसे मामलों में मंत्रिपरिषद द्वारा राष्ट्रपति को कोई सहायता और सलाह दिए जाने के लिए कोई अवसर नहीं है। यद्यपि वे राष्ट्रपति के नाम में किए जाते हैं, तथा वे भारत सरकार के कार्य हैं। वे अनुच्छेद 74 द्वारा अनुध्यात किए गए राष्ट्रपति के "अपने कृत्यों के प्रयोग में" किए गए कार्यों से भिन्न हैं। निस्संदेह, अपने कृत्यों के प्रयोग में कार्य करते समय, राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री के नेतृत्व वाली मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सहायता और सलाह के अनुसार कार्य करना होता है। इस प्रकार वह एक सांविधानिक या नाममात्र का अध्यक्ष बना दिया गया है। [खंड (1) का परंतुक निस्संदेह राष्ट्रपति को सामान्य रूप से या किसी विशेष मामले में मंत्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा करने को सशक्त करता, किंतु जब मन्त्रि-परिषद ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् सलाह देता है तो, राष्ट्रपति उक्त सलाह से आबद्ध होता है]। इसके पश्चात् अनुच्छेद 74 का खंड (2)आता है, जिसके अनुसार "इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जांच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी।" खंड (2) के पीछे विचार यह है कि : न्यायालय को जांच नहीं करनी है, यह इससे कोई संबंध नहीं रखता कि क्या किसी मन्त्री या मन्त्रि-परिषद द्वारा राष्ट्रपति को कोई सलाह दी गई थी और यदि दी गई थी तो क्या सलाह दी गई थी। यह मामला राष्ट्रपति और उसकी मन्त्रि-परिषद के बीच का है। क्या सलाह दी गई थी, यदि कोई हो क्या इस पर पुनर्विचार करना अपेक्षित था, पुनर्विचार के पश्चात् क्या सलाह दी गई थी, राष्ट्रपति की क्या राय थी, क्या आगे की चर्चा (अतिरिक्त चर्चा) के अनुसरण में यदि कोई हो, सलाह में परिवर्तन किया गया था, और किस प्रकार अंतिम विनिश्चय किया गया था, यह सभी मामले राष्ट्रपति और उसकी मंत्रि-परिषद के बीच के हैं। वे न्यायालय की परिधि से परे हैं। न्यायालय को इस पर विचार नहीं करना है। यह पर्याप्त है कि राष्ट्रपति का आदेश/कृत्य समुचित प्ररूप में है। यह, इसे राष्ट्रपति के आदेश/कृत्य के रूप में समझेगा (लेगा)। यह केवल राष्ट्रपति द्वारा अपने कृत्यों के प्रयोग में किए गए आदेश की विधिमान्यता और की गई कार्यवाही या कार्रवाई की वैधता से संबंधित है और न कि इससे कि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रियों की आंतरिक बैठकों (परिषदों) में क्या हुआ। कोई भी ऐसे विनिश्चय या कार्रवाई को इस आधार पर आक्षेप नहीं कर सकता कि यह मन्त्रियों द्वारा दी गई सलाह के अनुसार नहीं है या यह किसी सलाह पर आधारित नहीं है। यदि किसी विशिष्ट मामले में, राष्ट्रपति उसे दी गई सलाह के बिना या उसके प्रतिकूल कृत्य करता है तो यह उसके विरुद्ध महाभियोग लाने की आवश्यकता करने वाला मामला हो सकता है, किंतु जहां तक न्यायालय का संबंध है यह राष्ट्रपति का कृत्य है। (हम इस संबंध में कोई मत अभिव्यक्त करना नहीं चाहते कि तब क्या स्थिति होगी यदि किसी असंभावनीय दशा में स्वयं मन्त्रि-परिषद राष्ट्रपति की कार्रवाई को उनकी सलाह के बिना होने या प्रतिकूल होने के रूप में आक्षेप करती है)।

333. इस प्रकार अनुच्छेद 74 का खण्ड (2) इसके उचित परिप्रेक्ष्य में समझे जाने पर एक परिसीमित पहलू तक सीमित है। यह राष्ट्रपति और उसकी मंत्रिपरिषद के मध्य बातचीत की गोपनीयता का संरक्षण और परिरक्षण करता है। तथ्यतः, खण्ड (2) भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 10 की उपधारा (4) का पुनः प्रस्तुतीकरण है। [भारत

शासन अधिनियम, अनुच्छेद 74(1), जैसा कि यह पूर्वोक्त वर्णन किए गए संशोधनों के पूर्व या पश्चात् समझा गया था, के समरूप किसी उपबंध को अंतर्विष्ट नहीं करता था]।

खण्ड (2) का विस्तार इसके विधिसम्मत क्षेत्र से परे बढ़ाया नहीं जाना चाहिए। किसी भी दशा में, इसे मंत्रिपरिषद् या संबंधित मंत्री/मंत्रालय को राष्ट्रपति के अपने कृत्यों के प्रयोग में किए गए आदेशों और कार्यों को स्पष्ट करने प्रतिरक्षा करने और उचित ठहराने से उन्मुक्ति प्रदान करने के रूप में पठन या समझा नहीं जा सकता है। **अनुच्छेद 74(2) में अंतर्विष्ट सीमित उपबंध न्यायिक पुनर्विलोकन से संबंधित संविधान में मूल उपबंधों पर अध्यारोही प्रभाव नहीं रख सकते (अभिभावी नहीं हो सकते)। जब कभी राष्ट्रपति द्वारा अपने कृत्यों के प्रयोग में की गई कोई कार्यवाही न्यायालय में आक्षेप की जाती है, तो यह मंत्रिपरिषद् का दायित्व है कि उन्हें न्यायोचित ठहराए चूंकि राष्ट्रपति की कार्यवाही या आदेश, अनुच्छेद 74(2) के अनुसार किया गया समझा जाता है। कौन सा मंत्री या किस मंत्रालय का कौन सा अधिकारी, आदेश/कार्यवाही की प्रतिरक्षा करने को आगे आता है, इसका विनिश्चय उनके द्वारा किया जाना है और न्यायालय को इसकी बाबत संतुष्ट होना है। निस्संदेह जहां, आक्षेप किया गया कार्य/आदेश भारत सरकार की कार्यपालिका शक्ति से संबद्ध है, वहां स्थिति अधिक सुगम है। वह राष्ट्रपति द्वारा अपने कृत्यों के प्रयोग में किए गए/लिए गए, कार्य/आदेश को रूपित नहीं करता है, और इसलिए मंत्रियों द्वारा उसे कोई सहायता या सलाह देने के लिए कोई अवसर नहीं है। यह भारत सरकार का कार्य/आदेश है, जो यद्यपि राष्ट्रपति के नाम में किया गया (अभिव्यक्त किया गया) है। यह संबंधित मंत्री या मंत्रालय के लिए है, जिसे उक्त कृत्य कारबार नियमों के अधीन आबंटित किए गए हैं, कि उक्त कार्यवाही/आदेश की प्रतिरक्षा करे और न्यायोचित ठहराए।

334. हमारे मत में, साक्ष्य अधिनियम की धारा 123, अनुच्छेद 74(2) के अर्थ और विस्तार को अभिनिश्चित करने के लिए, किसी प्रकार सुसंगत नहीं है। इसका क्षेत्र और उद्देश्य पूर्णतः भिन्न और अलग है। धारा 123 निम्न प्रकार है :—

> "123. राज्य के कार्यकलापों के बारे में साक्ष्य : कोई भी व्यक्ति राज्य के किसी भी कार्यकलापों से संबंधित अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न कोई साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञात न किया जाएगा, सिवाए संपृक्त विभाग के प्रमुख आफिसर की अनुज्ञा के, जो ऐसी अनुज्ञा देगा या उसे विधारित करेगा, जैसा करना वह ठीक समझे।"

335. साक्ष्य अधिनियम संविधान पूर्व की अधिनियमिति है। धारा 123 आंग्ल-

** भारत के राष्ट्रपति द्वारा अपने कृत्यों के प्रयोग में किए गए और लिए गए आदेशों और कृत्यों को, सामान्यतया भारत के राष्ट्रपति द्वारा आदेश किए गए या लिए गए के रूप में किए गए अभिव्यक्त किया गया है जब कि भारत सरकार की कार्यपालिका कार्यवाही को भारत सरकार द्वारा भारत के राष्ट्रपति के नाम में आदेश किए गए या लिए गए के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इस प्रकार स्वरूप में यह भिन्नता, केवल संकेतात्मक है—न कि बाध्यकारी या आज्ञापक।

कामन-ला का एक ऐसा नियम अधिनियमित करती है कि किसी भी व्यक्ति को राज्य के किन्हीं भी कार्यकलापों से संबंधित अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न कोई भी साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा, सिवाए संपृक्त विभाग के प्रमुख आफिसर की अनुज्ञा के। यह विभाग के प्रमुख को अनुज्ञा देने से या विभाग के प्रमुख को उक्त आधार पर स्वयं साक्ष्य देने से नहीं रोकता। इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों में धारा 123 से संबंधित विधि विस्तृत रूप से चर्चा की गई है और यहां इसमें विवाद्यक में नहीं है। हमारा एकमात्र उद्देश्य इस पर बल देता है कि अनुच्छेद 74(2) और धारा 123 भिन्न और अलग क्षेत्र समाविष्ट (अंतर्विष्ट) करते हैं। यह हो सकता है कि न्यायालय में सरकार की कार्यवाही को न्यायोचित ठहराते समय, संबंधित मंत्री या अधिकारी धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार का दावा कर सकते हैं। यदि और जब ऐसे विशेषाधिकार का दावा किया जाता है, उसका उक्त धारा के उपबंधों के अनुसार इसके स्वयं के गुणागुणों के आधार पर विनिश्चय किया जाएगा। किन्तु अनुच्छेद 74(2) का यह अर्थ नहीं है और यह अर्थ नहीं हो सकता कि भारत सरकार को, राष्ट्रपति द्वारा अपने कृत्यों के प्रयोग में की गई कार्यवाही को तद्धीन अंतर्विष्ट उपबंध के कारण न्यायोचित ठहराने की आवश्यकता नहीं है। खण्ड द्वारा ऐसी कोई उन्मुक्ति आशयित नहीं की गई थी—या उपबंध नहीं की गई है। यदि राष्ट्रपति का कृत्य या आदेश किसी न्यायालय में प्रश्न किया जाता है तो, यह मंत्रिपरिषद के लिए है कि इसे उस सामग्री, जिसने कृत्य/आदेश के आधार को गठित किया था, को प्रकट करने के द्वारा न्यायोचित ठहराए। न्यायालय यह नहीं पूछेगा कि क्या ऐसी सामग्री राष्ट्रपति को दी गई सलाह का भाग गठित करती थी, या क्या उक्त सामग्री राष्ट्रपति के समक्ष रखी गई थी। न्यायालय इस संबंध में भी नहीं पूछेगा कि राष्ट्रपति को क्या सलाह दी गई थी, राष्ट्रपति और उसके मंत्रियों के मध्य क्या बातचीत या विचार-विमर्श (चर्चा) हुआ था और अंतिम विनिश्चय किस प्रकार किया गया था। न्यायालय केवल यह देखेगा कि वह क्या सामग्री थी जिसके आधार पर अपेक्षित समाधान गठित किया गया है क्या यह अनुच्छेद 356(1) के अधीन कार्यवाही के लिए सुसंगत है। न्यायालय, सामग्री की शुद्धता या इसकी पर्याप्तता पर विचार नहीं करेगा। यदि न्यायालय को उक्त सामग्री के आधार पर एक भिन्न निष्कर्ष करना है तो, यह हस्तक्षेप नहीं करेगा चूंकि अनुच्छेद राष्ट्रपति का समाधान होने की कहता है न कि न्यायालय के।

336. हमारे मत में, ऊपर वर्णन की गई बाध्यता से अनुच्छेद 74(2) के अधीन शरण लेने की ईप्सा करते हुए बचा नहीं जा सकता। यह दलील कि राष्ट्रपति को दी गई सलाह इसी प्रकार सामग्री को भी अंतर्विष्ट (सम्मिलित) करती है और इसलिए, भारत संघ से सामग्री को प्रकट करने को कहना, सलाह के प्रकटन को बाध्य करना होगा और (यदि ससम्मान हमें ऐसा कहने की इजाजत दी जाए), यह कुतर्क करना होगा। राष्ट्रपति के समक्ष, मंत्री, मंत्रिपरिषद् द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री, तद्द्वारा सलाह का भाग नहीं हो जाती। सलाह वह है, जो उक्त सामग्री पर आधारित होती है। सामग्री सलाह नहीं है। सामग्री को राष्ट्रपति के समक्ष उसे जानकारी देने के लिए और यदि आवश्यकता हुई तो उसका यह समाधान करने के लिए कि उसे दी गई सलाह उचित है, उसे रखा जा सकता है। किन्तु इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि उक्त सामग्री राष्ट्रपति के समक्ष सलाह के समर्थन में रखे जाने के कारण, स्वयं सलाह बन जाती है। यह बात समझी जा सकती है कि यदि सलाह लिखित में दी जाती है तो ऐसे मामले में उक्त लिखित सलाह और अनुच्छेद 74(2) द्वारा उपबंध

किए गए संरक्षण के अंतर्गत आती है। किंतु इसको मानना (ग्रहण करना) कठिन है कि यह समर्थनकारी सामग्री किस प्रकार सलाह का भाग बन जाती है। प्रत्यर्थी यह नहीं कह सकते कि राष्ट्रपति जो कुछ देखता है, या राष्ट्रपति के समक्ष जो कुछ रखा जाता है, निषिद्ध सामग्री हो जाता है और न्यायालय द्वारा देखा या मंगाया नहीं जा सकता। अनुच्छेद 74(2) का संपूर्ण सांविधानिक स्कीम के संदर्भ में निर्वचन किया जाना चाहिए और समझा जाना चाहिए। इसके प्रावल पर असम्यक् बल देना और विस्तार करना, मूल्यवान सांविधानिक गारंटियों को निगल लेगा। इन कारणों से, हम इस पहलू पर राजस्थान राज्य वाले मामले में दी गई तर्कणा से सहमत होने में कठिनाई पाते हैं, जहां तक यह हमारे मत के प्रतिकूल है।

337. **अनुच्छेद 356 और न्यायिक पुनर्विलोकन :—**

प्रशासनिक और कानूनी कार्यवाही का न्यायिक पुनर्विलोकन, कदाचित इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोक विधि के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण परिवृद्धि है। भारत में, इस अधिकारिता को विनियमित करने वाले सिद्धांत अनन्य रूप से न्यायाधीश निर्मित हैं। न्यायिक पुनर्विलोकन के लागू होने, विस्तार (परिधि) और पहुंच के मुकाबले संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा के संबंध में हमारे समक्ष एक अच्छी डिबेट हुई थी। हमारे समक्ष निर्णय विधि और विधिक साहित्य की काफी (बृहत्तर) सामग्री रखी गई है। यद्यपि उक्त समस्त सामग्री को निदिष्ट करना संभव नहीं होगा, हम उनमें से सुसंगत को समुचित स्थान पर निदिष्ट करेंगे।

338. भारत संघ द्वारा 1993 की रिट याचिका संख्या 237 (उद्घोषणा को आक्षेप करते हुए श्री सुंदर लाल पटवा और अन्यों द्वारा मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में फाइल की गई) में और अन्य रिट याचिकाओं में की गई दलीलों में से एक दलील यह है कि क्योंकि अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही राष्ट्रपति का व्यक्तिपरक समाधान होने पर की जाती है और इसके आगे क्योंकि राष्ट्रपति के विरुद्ध अनुच्छेद 361 के कारण न्यायालय में वाद नहीं लाया जा सकता इसलिए आक्षेपित उद्घोषणा न्याय्य (न्यायालय के विचार योग्य) नहीं है। तथापि यह दलील, हमारे समक्ष नहीं की गई है। यह भी प्रकथन किया गया है कि चूंकि संसद् ने उक्त उद्घोषणा का अनुमोदन किया है, इसलिए न्यायालय को रिट याचिका को ग्रहण नहीं करना चाहिए और/या राष्ट्रपतीय उद्घोषणा की शुद्धता या अन्यथा होने की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। (इस दलील को हमारे समक्ष और विस्तार से और प्रबलता से प्रस्तुत किया गया है, जैसा कि हम इसमें यहां इसके पश्चात् वर्णन करेंगे।) अनुच्छेद 74(2) पर यह निवेदन करने के लिए अवलंब लिया गया है कि सामग्री जिस पर राष्ट्रपति ने अपेक्षित समाधान आधारित किया था, न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए जाने को मजबूर नहीं की जा सकती। (इस दलील पर हमारे द्वारा पहले ही चर्चा की जा-चुकी है) यह भी निवेदन किया गया है कि राज्यपाल की रिपोर्ट जो अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही के आधार को गठित करती है और सामग्री जिस पर यह आधारित है, को अनुच्छेद 361 के कारण प्रश्नगत नहीं किया जा सकता—(उपांतरित रूप में तर्क किया गया है)।

339. भारत संघ की ओर से हाजिर होते हुए विद्वान् काउंसेल श्री के० पाराशरन् ने स्वीकार किया कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की कार्यवाही न्यायिक पुनर्विलोकन

और न्यायिक-संवीक्षा के परे नहीं कही जा सकती। तथापि, उन्होंने निवेदन किया कि कृत्य, प्राधिकारी, जिसमें शक्ति निहित की गई है की उच्च सांविधानिक प्रास्थिति और वे अत्यावश्यकताएं जिनमें कार्यवाही की गई है, की प्रकृति को देखते हुए, न्यायालय को कार्यवाही की उपयुक्तता या सामग्री जिस पर यह आधारित है की पर्याप्तता पर विचार नहीं करना चाहिए। काउंसेल ने निवेदन किया कि राष्ट्रपतीय कार्यवाही की राजनीतिक प्रकृति और न्यायिक रूप से नियंत्रणीय किन्हीं मानकों के अभाव में न्यायिक पुनर्विलोकन के सामान्य नियमों के अधीन नहीं है। स्थिति में अनेक अतिसूक्ष्म बातें हो सकती हैं जिनका महत्व न्यायालय समझ नहीं सकता।

अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की कार्यवाही, किसी शासकीय अधिकारी की प्रशासनिक कार्यवाही से बराबरी नहीं की जा सकती। यह राष्ट्र के उच्चतम प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति, भारत के राष्ट्रपति द्वारा, सांविधानिक कृत्य का प्रयोग है।

विद्वान् काउंसेल ने निवेदन किया कि, मेघालय वाले मामले (1992 का अंतरित मामला संख्या 5 और 7) जैसे किसी मामले में न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है जहां कार्यवाही की अविधिमान्यता इस न्यायालय के आदेशों के संदर्भ में दर्शित होती है, अर्थात्, जहां अविधिमान्यता इसके स्वरूप से स्पष्ट होती है। किंतु, सामान्य रूप से कहने पर, न्यायालय उस सामग्री की जांच करने को, जिस पर कि कार्यवाही आधारित है और यह अवधारण करने को कि क्या उक्त सामग्री की गई कार्यवाही की आवश्यकता महसूस (अपेक्षित) करती थी, अनुपयुक्त है। न्यायालय, राष्ट्रपति के पूर्वानुमानों (इस निमित्त, मंत्रिपरिषद् के) पर निर्णय करने को नहीं बैठ सकता कि किसी विशिष्ट राज्य में स्थिति ऐसी थी जिसमें राज्य शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। विद्वान काउंसेल ने इसके आगे कहा कि, यह एक उदाहरण है, जहां संविधान ने एक विशेष शक्ति राष्ट्रपति को कतिपय विनिर्दिष्ट स्थितियों में अपने विवेकाधिकार के प्रयोग किए जाने के लिए प्रदान की है—ऐसी शक्ति जो यह सुनिश्चित करने के लिए भारत संघ पर अनुच्छेद 355 द्वारा अधिरोपित की (सौंपी) गई बाध्यता से उत्पन्न होती है कि "प्रत्येक राज्य की सरकार इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाता है।" राष्ट्रपति संविधान की संरक्षा और परिरक्षण करने के लिए शपथ-आबद्ध है। उनके पद को और उस सामग्री को देखते हुए, जो कि केवल उन्हें उपलब्ध है और यह भी कि अकेले वह उनके समक्ष प्रस्तुत की गई सामग्री के आधार पर यह अवधारण करने को सबसे अधिक उपयुक्त हैं कि क्या अनुच्छेद 356(1) द्वारा अनुध्यात की गई स्थिति उत्पन्न हो गई है—मामले को उसके निर्णय और विवेक पर छोड़ देना चाहिए। केवल उन्हें, उक्त शक्ति के उचित और ठीक प्रयोग के लिए आवश्यक चतुर राजनीतिक एवं प्रशासनिक विशेषज्ञता धारण (रखने वाला) करने वाले के रूप में समझा (उपधारणा) गया है। न्यायिक दृष्टिकोण जिनको अंगीकृत करने को न्यायालयों को प्रशिक्षित किया गया है, अनुच्छेद 356 के अधीन कृत्य के अनुरूप नहीं है। न्यायालयों को यह उचित सलाह दी जाएगी कि कृत्य को उनके लिए छोड़ दें। जिन्हें यह संविधान द्वारा (प्रदान) किया गया है। भारत के राष्ट्रपति पर विश्वास किया जाना चाहिए। निस्संदेह, अनुच्छेद 356(1) में राष्ट्रपति से, अनुच्छेद 74(1) के कारण संघीय मंत्रि-परिषद अभिप्रेत है, किंतु इससे सिद्धांत में कोई फर्क नहीं पड़ता। यह सरकार की वह प्रणाली है जो हमने अंगीकृत की है।

यह विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं है कि भारत के राष्ट्रपति के जैसे सर्वोच्च प्राधिकारी अर्थात्—संघीय मंत्रिपरिषद्—ऋजुता और ईमानदारी से कृत्य नहीं करेगी या यह कि वे संविधान की भावना और स्कीम के अनुसार कृत्य नहीं करेगी। श्री पाराशरन ने इसके अतिरिक्त निवेदन किया कि जहां किसी विशेष उद्घोषणा को आक्षेप किया जाता है, वहां इसकी अविधिमान्यता को स्थापित करने का भार याची पर होता है। यह उसके लिए है कि अपनी दलीलों के समर्थन में सामग्री को प्रस्तुत करे। अनुच्छेद 74(2) के कारण, न्यायालय, आक्षेपित-उद्घोषणा के जारी होने को परिणाम करने वाली राष्ट्रपति को मंत्रियों द्वारा दी गई सलाह की जांच नहीं करेगा। सलाह, कतिपय सामग्री और सूचना को समाविष्ट करती है और उस पर आधारित होती है। सलाह और सामग्री को पृथक नहीं किया जा सकता। यदि न्यायालय सलाह की जांच नहीं कर सकता, तो यह भारत संघ से उक्त सामग्री को प्रकट करने के लिए भी नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त विद्वान काउंसेल ने निवेदन किया कि प्रशासनिक-कार्यवाही के न्यायिक पुनर्विलोकन और सांविधानिक कार्यवाही के न्यायिक पुनर्विलोकन के मध्य भेद (भिन्नता) है। इस न्यायालय के प्रशासनिक या कानूनी-कार्यवाही और विवेकाधिकार के न्यायिक पुनर्विलोकन से संबंधित विनिश्चयों को सांविधानिक कार्यवाही के न्यायिक पुनर्विलोकन पर लागू नहीं किया जा सकता। सही-सही कहें तो ऐसी कार्यवाही के विरुद्ध अपील, सदैव, अंतिम राजनीतिक सम्प्रभुता—लोगों के समक्ष होनी चाहिए और की जानी चाहिए।

340. मध्य प्रदेश राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री पी० पी० राव ने, श्री के० पाराशरन् की दलीलों को स्वीकार करते हुए मुख्य रूप से हमारे संविधान की धर्मनिरपेक्ष प्रकृति पर इस परिणाम के साथ ध्यान केन्द्रित किया कि राजनीतिक दलों की गैर-धर्मनिरपेक्ष नीतियां, कार्यक्रम और कृत्य ऐसे दलों को सांविधानिकतावाद की परिधि के परे करते हैं। उन्होंने निवेदन किया कि ऐसी नीतियों और कार्यक्रमों को अंगीकृत करने के द्वारा और गैर-धर्मनिरपेक्ष स्वरूप की कार्यवाही में लिप्त होने के द्वारा, ऐसे दलों द्वारा चलाई जाने वाली सरकारें स्वयं को अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही के प्रति उत्तरदायी बनाती हैं। विद्वान काउंसेल के अनुसार, भारतीय जनता पार्टी के चुनाव घोषणा पत्रों के साथ-साथ उनके नेताओं और काडरों के भाषण और कृत्य, इसे गैर-धर्मनिरपेक्ष दल बनाते हैं और इसलिए मध्य प्रदेश में उनकी सरकार की बर्खास्तगी पूर्ण रूप से न्यायानुमत है। महाराष्ट्र राज्य के विद्वान महाधिवक्ता श्री अंधयारुजीना ने निवेनन किया कि राजनीतिक प्रश्न का सिद्धांत बेकर बनाम कार[1] वाले मामले में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बिल्कुल ही (पूर्ण रूप से) नहीं छोड़ दिया गया है। विनिश्चय ने जो कुछ किया है वह यह है कि उक्त सिद्धांत के प्रवर्तन के क्षेत्र को सीमित कर दिया है। किसी राज्य सरकार की बर्खास्तगी या राज्य विधान सभा का विघटन, आवश्यकतः एक राजनीतिक प्रश्न है, जिसकी विधिमान्यता और शुद्धता (सत्यता) किन्हीं ज्ञात न्यायिक मापदंडों और/या आदेश के संदर्भ में न्यायनिर्णीत नहीं की जा सकती है। सबसे अच्छा यह होगा कि उक्त मामले राष्ट्रपति और अंततः लोगों के विवेक (प्रज्ञा) पर छोड़ दिए जाएं। यह निर्णय करना लोगों का कार्य है कि क्या कोई विशिष्ट बर्खास्तगी या विघटन उचित था या नहीं।

1. (1962) II एल० संस्करण 633.

341. दूसरी ओर, याचियों की ओर से विद्वान काउंसेल श्री सोली सोराबजी, राम जेठमलानी और शांतीभूषण ने निवेदन किया कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति को कार्यवाही न्यायिक संवीक्षा के परे नहीं है। संविधान ऐसी किसी उन्मुक्ति को उत्पन्न नहीं करता है और तर्कणा की प्रक्रिया द्वारा या आत्मसंयम के मामले के रूप में ऐसी किसी उन्मुक्ति का निष्कर्ष करना इस न्यायालय द्वारा वांछनीय नहीं होगा। शक्ति का, अनुच्छेद 356 द्वारा अनुध्यात किए गए प्रयोजनों से भिन्न प्रयोजनों के लिए प्रायः ही प्रयोग किया गया है। उपबंध का, राज्य सरकारों और राज्य विधान मंडलों को मात्र नगरपालिकाओं की प्रास्थिति (स्तर) पर कम करते हुए वर्षों से बार-बार दुरुपयोग किया गया है। यदि न्यायालय ऐसी उद्घोषणाओं की विधिमान्यता की जांच करने से इंकार करता तो, सांविधानिक स्कीम में एक गंभीर असंतुलन हो जाएगा। यह न्यायालय संविधान की मर्यादा को बनाए रखने, संरक्षा करने और परिरक्षण करने को उतना ही आबद्ध है जितने कि भारत के राष्ट्रपति। संविधान-निर्माताओं ने कहीं पर यह नहीं कहा या इंगित किया था कि राष्ट्रपति उक्त शक्ति का अपने आत्यंतिक विवेकाधिकार/निर्णय पर प्रयोग करेगा। इसके विपरीत, कार्यवाही को अभिव्यक्त रूप से संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन किए जाने के अध्यधीन किया गया है। अनुच्छेद 32 और अनुच्छेद 226 द्वारा गारंटी किया गया न्यायिक पुनर्विलोकन का उपचार इस कार्यवाही को उतना ही विस्तारित और लागू होता है जितना कि संविधान के अधीन राष्ट्रपति की किसी अन्य कार्यवाही को। जहां संसद् न्यायिक पुनर्विलोकन का वर्जन करने की इच्छा रखती है, वहां इसने अभिव्यक्त रूप से ऐसा किया है अर्थात् अनुच्छेद 31-ख और 31-ग में। प्रशासनिक/कानूनी कार्यवाही के न्यायिक पुनर्विलोकन के मध्य कोई भेद (भिन्नता) नहीं है। परीक्षण समान हैं। कोई अन्य परीक्षण संभव रूप से नहीं सुझाए जा सकते हैं। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति, निस्संदेह, राष्ट्रपति जिससे मंत्रिपरिषद अभिप्रेत है, के व्यक्तिपरक समाधान पर प्रयोग की जाने वाली शक्ति है। पश्चात्वर्ती, निस्संदेह एक राजनीतिक निकाय है और अनुभव यह दर्शित करता है कि जब किसी राज्य में एक भिन्न दल शासन में है तो केंद्रीय सरकार उक्त दल को अस्थिर करने के लिए और अपने स्वयं के दल की संभाव्यताओं को अग्रसर करने के लिए अनुच्छेद 356 का सहारा (प्रयोग) लेती रही है। वह परिस्थितियां जिनमें और वह आधार जिन पर व्यक्तिपरक समाधान पर आधारित कार्यवाही में हस्तक्षेप किया जा सकता है, इस न्यायालय द्वारा, 1966 में बेरियम कैमिकल्स वाले मामले में, जो विनिश्चय इस न्यायालय द्वारा गत तीन दशकों से एक रूप से अनुसरण किया गया है, सुविस्तृत रूप से कथन की गई है। उक्त विनिश्चय में परिकल्पित किए गए परीक्षण, अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही के मामले में भी सुसंगत हैं। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति एक सशर्त शक्ति है, यह केवल तभी प्रयोग की जा सकती है जब राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। अनुच्छेद 72 (क्षमा इत्यादि को प्रदान करने की शक्ति) जैसे, किसी असीमित और सशर्त शक्ति के मामले में भी, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि राष्ट्रपति की कार्यवाही न्यायिक पुनर्विलोकन को उत्तरदायी है (देखिए, केहर सिंह बनाम भारत संघ वाला मामला[1]) समाधान विद्यमान सामग्री पर आधारित होना चाहिए और ऐसा

[1] (1988) सप्ली० 3 एस० सी० आर० 1102.

होना चाहिए, जो किसी युक्तियुक्त व्यक्ति का यह समाधान करे कि किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। यदि कार्यवाही सर्वोत्तम आशय से भी की जाती है तो भी, यह दूषित होगी यदि कार्यवाही अनुच्छेद 356 की परिधि के परे है। यदि आधार सुसंगत नहीं हैं, या यदि अपेक्षित समाधान की आवश्यकता महसूस करने वाले कोई आधार नहीं हैं तो कार्यवाही दूषित होगी। अनुच्छेद 74(2) इस निमित्त कोई संगतता नहीं रखता है। यह प्रत्यर्थियों के विद्वान काउंसेल द्वारा विवाद्यक को उलझाने के लिए सही रास्ते से परे (के विपरीत) निकाला गया भुलावा है। याची, इस बाबत जानने को इच्छुक या उत्सुक नहीं है कि क्या सलाह, मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दी गई थी, यदि कोई है, जिसके फलस्वरूप आक्षेपित उद्घोषणा जारी गई थी। वे उक्त पहलू में इच्छुक नहीं हैं। उनकी चुनौती, उद्घोषणा की विधिमान्यता के प्रति है और चूंकि यह व्यक्तिपरक समाधान पर आधारित कार्यवाही है, और इस कारण से भी कि उद्घोषणा, उन आधारों का वर्णन नहीं करती जिनके आधार पर यह जारी की गई है, यह भारत संघ के लिए है कि इस न्यायालय के समक्ष उनकी कार्यवाही को न्यायोचित ठहराए। विद्वान काउंसेल के अनुसार यह व्यक्तिपरक समाधान के मामलों पर लागू होने वाला सामान्य सिद्धांत है और अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा इस नियम का कोई अपवाद नहीं है।

342. क्योंकि भारत संघ और अन्य प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा इस पर विवाद नहीं किया गया है कि अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन को उत्तरदायी है, हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि उस पहलू पर विचार करें। अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति सशर्त शक्ति है। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग में, न्यायालय यह परीक्षा करने को हकदार है कि क्या शर्त का समाधान किया गया है या नहीं। न्यायालय किन परिस्थितियों में हस्तक्षेप करेगा, यह भिन्न विषय है, किंतु न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रति कार्यवाही की जवाबदेही, विवाद से परे है।

राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ[1] वाले मामले के एक अंश को उत्कथित करना पर्याप्त होगा :—

> "·····यदि यह प्रश्न उद्भूत होता है कि क्या संविधान के अधीन किसी प्राधिकारी ने अपनी शक्ति की सीमाओं के भीतर रह कर कार्य किया है या उनका अतिक्रमण किया है तो न्यायालय द्वारा निश्चय ही इसका विनिश्चय किया जा सकता है। वास्तव में ऐसा करना उसका सांविधानिक दायित्व होगा। ·····यह न्यायालय संविधान का अंतिम निर्वाचनकर्ता है और यह अवधारित करने का नाजुक कार्य इसे सौंपा गया है कि सरकार की प्रत्येक शाखा को प्रदान की गई शक्ति क्या है, क्या यह सीमित है और यदि ऐसा है तो क्या सीमाएं हैं और क्या उस शाखा की किसी कार्यवाही से ऐसी सीमाओं का अतिक्रमण हुआ है। ·····सांविधानिक मूल्यों को बनाए रखना और सांविधानिक सीमाओं को प्रवृत्त करना इस न्यायालय का कार्य है। विधि शासन का यही सार है·····।"

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 1107=[1978] 1 एस० सी० आर० 1.

343. वस्तुतः विवाद, न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि, सीमा और विस्तार से संबद्ध है।

344. न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और सीमा के संबंध में आरंभ में ही यह कहा जाना चाहिए कि सभी मामलों पर लागू होने वाला कोई एक रूपात्मक नियम नहीं है और न ही हो सकता है। इसमें विषय-वस्तु, अधिकार की प्रकृति और विभिन्न अन्य पहलुओं के आधार पर बदल (परिवर्तित हो) सकती है।

345. **इन्दिरा साहनी बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा इस पहलू पर निम्न शब्दों में जोर दिया गया है :—

> "न्यायिक संवीक्षा की सीमा और विस्तार, विषय वस्तु की प्रकृति और उससे प्रभावित अधिकार की प्रकृति, उनको लागू होने वाले विधिक और सांविधानिक उपबंधों की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। अनुच्छेद 16(4) के अधीन राज्य की कार्रवाईयों और आदेशों को किसी विशेष प्रकार की उन्मुक्ति नहीं मिली हुई है। फिर भी हम कहेंगे कि न्यायालय सामान्यतया कार्यपालिका के निर्णय और विवेकाधिकार के प्रति सम्यक् आदर रखेंगे—वह इन बातों के संबंध में सम-समान खंड है। राजनीतिक कार्यपालिका, जिसमें जनता के सदस्य होते हैं और जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है और जो बहुमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, के बारे में तो यह माना जाएगा कि वह जनता की दशा और उनकी आवश्यकताओं को भलीभांति जानती है तथा इसलिए उनके निर्णय और विवेकाधिकार के अंतर्गत आने वाले मामलों में उसका निर्णय सम्यक् महत्व प्राप्त करने का हकदार होगा।"

346. प्रो० डी० जी० टी० विलियम्स के "जस्टीशिएबिलिटी एण्ड दि कंट्रोल आफ डिस्क्रिशनरी पावर" (वैवेकिक शक्ति की न्याय्यता और नियंत्रण), नामक लेख का एक अंश हमारे विचार को सही रूप से दुहराता है। प्रोफैसर के अनुसार "निस्संदेह, व्यवहार्यता प्रशासनिक कार्यवाही के न्यायिक पुनर्विलोकन की विशेषता है·····किसी आंग्ल न्यायाधीश ने यह टिप्पणी की है कि ('सक्रिय विकास की स्थिति में' प्रशासनिक विधि के साथ), न्यायाधीश 'विधि सम्मत शासन की संरक्षा करने के लिए····नियमों को अंगीकृत करेंगे' और एक आस्ट्रेलियन न्यायाधीश ने यह अवेक्षा की है कि "ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है जो प्रत्येक मामले में समान उत्तर दिए जाने की अपेक्षा करता हो।" अभिव्यक्त प्रक्रियात्मक अध्यपेक्षाओं के मामले में, समान भाव अभिव्यक्त किए गए हैं जहां न्यायालय को आज्ञापक और निदेशात्मक अध्यपेक्षाओं के मध्य विभेद से संघर्ष करना होता है, जहां विधि को "असंबद्ध सिरों के जटिल पाश के रूप में" वर्णन किया गया है और जहां रूपभेद—'सारभूत अनुपालन' के विचारों सहित या इस बात के संबंध में कि किसी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है—ऐसे हैं कि एक ही कानूनी उपबंध का किसी मामले की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न रूप से निर्वचन किया जा सकता है·····अभिव्यक्त प्रक्रियात्मक अध्यपेक्षाओं पर नियमों की प्रवाहिकता को लार्ड हेलशाम द्वारा अर्थपूर्णरूप से (पर्याप्त रूप से) मान्यता दी गई है—जिन्होंने प्रशासनिक विधि के तीव्र गति से विकसित हो रहे विधि शास्त्र की पृष्ठभूमि में "संभावनाओं

[1] [1993] 1 उम० नि० प० 1=1992 (6) जे० टी० 655.

के दृश्यपटल" के विषय में कहा, जब उन्होंने इस पर बल दिया कि न्यायालय "किसी विशिष्ट मामले के तथ्यों और घटनाओं की विकासशील शृंखला को अनुभव विधिक प्रवर्गों में लागू करने या उन्हें सुविधाजनक व्याख्या (विवृति) के प्रयोजनों के लिए वकीलों द्वारा बिछाई गई प्रोक्रेस्टेस की शैय्या पर फैलाने या कसने के लिए अनिवार्यतः आबद्ध नहीं है·····।"

347. ऐसा कहने के पश्चात् अब हम ऐसे कुछ विनिश्चयों की परीक्षा करने को अग्रसर हो सकते हैं जहां आपात् उद्घोषणाएं यह अवेक्षा करने को प्रश्न (आक्षेप) की गई थीं कि चुनौती से किस प्रकार निपटा गया था (क्या व्यवहार किया गया था)। हम पहले **भगत सिंह बनाम सम्राट्**[1] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल के विनिश्चय की अवेक्षा कर सकते हैं। भारत शासन अधिनियम, 1919 की धारा 72 गवर्नर जनरल को आपात् मामले (की स्थिति) में आंग्ल भारत (ब्रिटिश इंडिया) में शांति और अच्छी (सुचारु) सरकार के लिए अध्यादेश बनाने और उसे प्रख्यापित करने को सशक्त करती थी। तथापि, इस प्रकार बनाया गया अध्यादेश अपने प्रख्यापन की तारीख से छह माह की अवधि के लिए प्रवर्तित और भारत के विधान मंडल (संसद्) द्वारा बनाई गई अधिनियमिति के रूप में प्रभावी (लागू) होता और इसको भारत के विधान मंडल द्वारा बनाई गई अधिनियमिति को लागू होने वाले समान निर्बंधनों के अध्यधीन होना था। धारा निम्न प्रकार है :—

> *"72. गवर्नर जनरल आपात् मामलों में आंग्ल-भारत (ब्रिटिश इंडिया) या उसके किसी भाग की शांति और अच्छी सरकार के लिए अध्यादेशों को बना सकता है और प्रख्यापित कर सकता है, और इस प्रकार बनाए गए किसी अध्यादेश को अपने प्रख्यापन की तारीख से छह माह से अधिक की अवधि के लिए, भारत के विधान मंडल द्वारा पारित किए गए अधिनियम के रूप में विधि का बल प्राप्त होगा, किंतु इस धारा के अधीन अध्यादेश बनाने की शक्ति वैसी ही निर्बन्धनों के अध्यधीन है जैसे कि भारत के विधान मंडल की कानून बनाने की शक्ति है, और इस धारा के अधीन बनाया गया कोई अध्यादेश वैसी ही नामंजूरी के अध्यधीन है जैसे कि भारत के विधानमंडल द्वारा पारित किया गया अधिनियम और यह ऐसे किसी अधिनियम द्वारा नियंत्रित या अधिक्रांत किया जा सकता है।"

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "72. The Governor General may in cases of emergency make and promulgate ordinances for the peace and good government of British India or any part thereof, and any ordinance so made shall for the space of not more than six months from its promulgation, have the like force of law as an Act passed by the Indian Legislature; but the power of making ordinance under this Section is subject to the like restrictions, as the power of the Indian Legislature to make laws; and any ordinance made under this section is subject to the like disallowance as an Act passed by the Indian Legislature and may be controlled or superseded by any such Act".

[1] ए० आई० आर० 1931 प्रिवी कौंसिल 111.

348. उक्त शक्ति का प्रयोग करते हुए गवर्नर जनरल ने एक अध्यादेश जारी किया था, जिसके अधीन अपीलार्थी को दोषसिद्ध किया गया था। बोर्ड के समक्ष अपील में अपीलार्थी ने यह दलील दी कि, तथ्य स्वरूप, वहां कोई आपात् दशा नहीं थी और यह कि गवर्नर जनरल ने उसके विद्यमान होने की उद्घोषणा करने में और उक्त आधार पर अध्यादेश जारी करने में अविधिमान्य रूप से कृत्य किया था।

यह दलील बोर्ड द्वारा निम्नलिखित शब्दों में नामंजूर की गई थी :—

"यह सीधे तौर से यह प्रश्न उठाता है कि इसका विनिश्चय करने के लिए कौन सशक्त होना चाहिए कि क्या आपात्स्थिति विद्यमान थी। आपात् की स्थिति ऐसी स्थिति है जो किसी निश्चित परिभाषा के लिए अनुज्ञा नहीं देती; यह कठोर कार्यवाही की अपेक्षा (आवश्यकता) करने वाले मामलों की दशा की ओर संकेत करती है जिसे किसी व्यक्ति द्वारा उस रूप में आंका जाना है। यह सुस्पष्ट है कि उक्त कोई व्यक्ति गवर्नर जनरल होना चाहिए और अकेला वही यह कर सकता है। कोई अन्य मत सम्पूर्ण उपबंध को सर्वथा असंगत कर देगा। आपात् स्थिति तुरन्त कार्यवाही की अपेक्षा करती है और उक्त कार्यवाही का गवर्नर जनरल द्वारा किया जाना विहित किया गया है। अकेला वही है जो अध्यादेश को प्रख्यापित कर सकता है।

तब भी, यदि याचियों द्वारा तर्क किया गया मत सही है, तो गवर्नर जनरल का निर्णय, (क) इस बोर्ड के यह घोषित करने के द्वारा कि कार्यवाहियों में बंदी प्रत्यक्षीकरण के द्वारा अध्यादेश को एक बार आक्षेप किए जाने पर सम्राट को न्यायालय के समक्ष सकारात्मक रूप से यह साबित करना होगा कि आपात् की स्थिति विद्यमान थी, या (ख) इस बोर्ड के विवादास्पद और दीर्घ कालिक जांच के पश्चात् निष्कर्ष द्वारा कि आपात की कोई स्थिति विद्यमान नहीं थी, और यह कि अध्यादेश जो जारी किया गया था अवैध था, विपर्यस्त किया जा सकता है।

वस्तुतः उक्त दलील सकृत दर्शन पूर्णतः इतनी निराधार है कि उसके बारे में तर्क करने को मंजूरी देना उचित नहीं होगा।

इसके आगे यह कहा गया था कि अध्यादेश आंग्ल भारत की शांति और अच्छी सरकार के लिए सहायक नहीं था। यही टिप्पणियां लागू होती है। गवर्नर जनरल उनका भी निर्णायक होता है। धारा 72 द्वारा दी गई शक्ति बिना कोई विहित की गई सीमाओं के एक आत्यंतिक शक्ति है, सिवाए इसके कि यह वह कार्य नहीं कर सकता जिसे करने में भारतीय विधानमंडल असमर्थ होगा, यद्यपि यह स्पष्ट किया गया है कि इसका केवल अत्यंत ही आवश्यकता वाले मामलों में प्रयोग किया जाना चाहिए, जहां भारत का अच्छा शासन इसकी अपेक्षा करता है।"

349. इस प्रकार, बोर्ड का दृष्टिकोण "अलग रहने" का था। गवर्नर जनरल को इस प्रश्न का अंतिम निर्णायक अभिनिर्धारित किया गया था कि क्या आपात् स्थिति विद्यमान है। धारा 72 द्वारा प्रदत्त की गई शक्ति को विहित की गई कोई सीमाओं, सिवाए उसके जो भारतीय संसद द्वारा बनायी गई अधिनियमिति को लागू होती है, के बिना एक आत्यंतिक

शक्ति के रूप में वर्णन किया गया था। यह भी मत व्यक्त किया गया था कि विषय-वस्तु, न्यायालय द्वारा जांच किए जाने के लिए उपयुक्त (ठीक) नहीं है।

350. हम यह अतिशय उल्लिखित कर सकते हैं कि यह स्थिति भारत संघ की ओर से हाजिर हुए विद्वान काउन्सेल श्री पाराशरन द्वारा स्वीकार नहीं की गई है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि संविधान के अधीन न्यायिक पुनर्विलोकन, अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा के मामले में अपवर्जित नहीं किया गया है, यद्यपि उनका निवेदन यह था कि यह एक अत्यंत ही सीमित और छोटे क्षेत्र (स्थिति) में उपलब्ध होना चाहिए, चूंकि यह ऐसी शक्ति है जो संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से राष्ट्रपति को प्रदान (सुपुर्द) की गई है और इस कारण से भी कि विवाद्यक, न्यायिक रूप से नियंत्रणीय ज्ञात मानकों को लागू करने के द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन नहीं है। **"पाकिस्तान परिसंघ बनाम मोहम्मद सैफुल्लाह खान[1]"** वाले मामले में पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय ने भगत सिंह वाले मामले में अंगीकृत किए गए दृष्टिकोण का निम्नलिखित शब्दों में (न्यायमूर्ति कार्नेलियस को उत्कथित करते हुए) वर्णन किया :—

> "विदेशी शासन की अवधि के दौरान ऐसी दलील, यथा कि प्राधिकार का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का मत आत्यंतिक है, किन्हीं समयों पर अभिभावी हो सकता है, किन्तु स्वायत शासन के अधीन जहां वे व्यक्ति, जो राज्य में शक्ति का प्रयोग करते हैं स्वयं ही उस राज्य के नागरिक हैं, वहां इसे कठिनता से सहन किया जा सकता है।"

351. जैसा कि ऊपर की गई चर्चा से प्रकट होता है हमें उक्त दृष्टिकोण को हमारे संविधान के सिद्धांतों से पूर्णतया असंगत होने के रूप में नामंजूर करने में कोई हिचक नहीं है।

352 "भगत सिंह" वाले मामले में व्यक्त किया गया मत प्रिवी कौंसिल द्वारा 1944 में **"सम्राट बनाम बनवारी लाल शर्मा और अन्य[2]"** वाले मामले में पुष्टि किया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अध्यादेश के बनाए जाने के समय और प्रख्यापित किए जाने के समय क्या आपात स्थिति विद्यमान थी, ऐसा विषय था जिसका गवर्नर जनरल अकेला ही निर्णायक था। यह मत व्यक्त किया गया था कि यदि ऐसा नहीं होता तो गवर्नर जनरल उत्पन्न हो रही खतरनाक (गंभीर) स्थिति से निबटने के लिए, स्थिति के अपने मूल्यांकन के अनुसार आवश्यक कार्यवाही करने में, निःशक्त होगा। यह कहना पर्याप्त है कि यह मामला पुनः उसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है जिसे कि हम अतिवादी दृष्टिकोण कहते हैं। यह अनुच्छेद 356 के संदर्भ में अनुपयुक्त है।

353. अगला विनिश्चय **"स्टीफन कैलोंग निगंकान बनाम मलयेशिया सरकार"[3]** वाले मामले में प्रिवी कौंसिल का विनिश्चय है। अपीलार्थी मलयेशिया परिसंघ में एक एस्टेट,

---

[1] पी० एल० डी० 1989 एस० सी० 166.

[2] (1944) 72 आई० ए० 57 (प्रिवी कौंसिल).

[3] 1970 ए० सी० 379.

सारावाक का मुख्य मन्त्री था। तारीख 16 जून, 1966 को सारावाक के गवर्नर ने उनसे इस आधार पर त्यागपत्र देने की प्रार्थना की थी कि उन्हें अब नेगरी परिषद (कौंसिल) का विश्वास मत प्राप्त नहीं है। अपीलार्थी ने ऐसा करने से इनकार किया जिस पर गवर्नर ने तारीख 17 जून, 1966 को उन्हें सूचित किया कि वह पद धारण करने से प्रविरत किए जाते हैं। अपीलार्थी, गवर्नर की सूचना के विरुद्ध कुचिंग के उच्च न्यायालय में गया। तारीख 7 सितम्बर, 1966 को उच्च न्यायालय ने उसके अभिवाक् को स्वीकार किया और यह निर्णय दिया कि गवर्नर को उसे हटाने की कोई शक्ति नहीं थी। तारीख 14 सितम्बर, 1966 को हिज मेजेस्टी यंग डी-पेरुआन अगोंग [मलयेशिया राज्य के प्रमुख (राष्ट्रपति)] ने सारावाक राज्य के राज्यक्षेत्रों में सर्वत्र आपात स्थिति घोषित कर दी। उद्घोषणा, मलयेशिया के परिसंघीय संविधान के अनुच्छेद 150 के अधीन की गई थी, जो निम्न प्रकार है :—

> *"अनुच्छेद 150(1)—यदि यंग डी-पेरुआन अगोंग का समाधान हो जाता है कि घोर आपात स्थिति विद्यमान है, जिसके द्वारा परिसंघ या उसके किसी भाग की सुरक्षा या आर्थिक जीवन को खतरा है तो वह उद्घोषणा या आपात को जारी कर सकेगा।"

354. अनुच्छेद, ऐसी उद्घोषणा के संसद् के दोनों सदनों के समक्ष अनुमोदन के लिए रखे जाने को उपबंध करता है, जिसे उसका अननुमोदन करने की शक्ति है। अनुच्छेद 150 का खण्ड (5) परिसंघीय संसद को, आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन की कालावधि के दौरान, किसी भी मामले के सम्बन्ध में विधि (कानून) बनाने को सशक्त करता है, जो इसे आपात (स्थिति) के कारण अपेक्षित प्रतीत हो। यह उपबंध किया गया था कि ऐसी विधि, परिसंघ के संविधान या सारावाक राज्य के संविधान में से किसी में किसी अन्य बात के अंतर्विष्ट होते हुए भी प्रवर्तित होगी, और संविधान के संशोधन के रूप में व्यवहार नहीं की जाएगी। तथापि, ऐसी कोई विधि केवल आपात की कालावधि के दौरान प्रवृत्त रहनी थी। अनुच्छेद 150 के खंड (5) द्वारा प्रदान की गई शक्तियों के प्रयोग में, परिसंघ संसद् ने आपात (परिसंघ संविधान और सारावाक् संविधान) अधिनियम, 1966 पारित किया था। अधिनियम की धारा 5 गवर्नर को विनिर्दिष्ट रूप से अपने आत्यंतिक विवेकाधिकार में मुख्यमंत्री को बर्खास्त करने को सशक्त करती है, यदि किसी समय कौंसिल नेगरी बहुमत के द्वारा सरकार में अविश्वास होने का संकल्प पारित करती है, और तब भी मुख्य मंत्री त्यागपत्र नहीं देता। तारीख 23 सितम्बर, 1966 को, कौंसिल नेगरी की बैठक हुई थी और मुख्य मन्त्री (अपीलार्थी) में अविश्वास होने का संकल्प पारित किया गया था। अगले दिन गवर्नर ने नए अधिनियम के अधीन अपीलार्थी को बर्खास्त कर दिया था। उन्होंने मलयेशिया के परिसंघ न्यायालय के समक्ष कार्यवाही को चुनौती दी थी, जिसमें उन्होंने एक घोषणा की ईप्सा की थी कि 1966 का पूर्वोक्त परिसंघीय संसद के अधिकारातीत था। उन्होंने निवेदन किया कि

---

*अंग्रेजी में वह इस प्रकार है—

> "Article 150(1): If the Yang di-Petruan Agong is satisfied that a grave emergency exists whereby the security or the economic life of the Federation or of any part thereof is threatened, he may issue a proclamation or emergency."

पूर्वोक्त अधिनियम समान रूप से शून्य और अप्रभावकारी था, क्योंकि वह आपात की उद्घोषणा पर आधारित था। उन्होंने दलील दी कि साक्ष्य यह दर्शित करता है कि उद्घोषणा के समय पर या उससे पूर्व सारवाक में "घोर आपात" के कोई सामान्य चिह्न और लक्षण विद्यमान नहीं थे; यह कि कोई उपद्रव दंगे या हड़तालें घटित नहीं हुए थे; कोई अतिरिक्त सेना या पुलिस तैनात नहीं की गई थी; कर्फ्यू या आने-जाने पर कोई अन्य निर्बन्धन लगाने आवश्यक नहीं पाए गए थे और यह कि इंडोनेशिया से "झगड़ा" (टकराव) पहले ही समाप्त हो गया था। मलयेशिया परिसंघ ने उक्त सभी दलीलों का खण्डन किया था। इसने यह निवेदन किया कि आपात की उद्घोषणा निश्चायक थी और न्यायालय के समक्ष अभ्याक्रमणीय नहीं थी।

355. प्रिवी कौंसिल (लार्ड मेकड रमोट ने बोर्ड की ओर से बोलते हुए) ने प्रथमतया यह मत व्यक्त किया कि यह "अस्थापित और चर्चा योग्य" था कि क्या मलयेशिया के परिसंघ के सर्वोच्च प्रमुख द्वारा कानूनी शक्ति के अधीन की गई उद्घोषणा को किसी या अन्य आधारों पर चुनौती दी जा सकती है, किन्तु इसके पश्चात् इस उपधारणा पर अग्रसर हुआ कि मामला न्याय्य है। उक्त उपधारणा पर, बोर्ड अपीलार्थी की अतिरिक्त दलीलों की परीक्षा करने को अग्रसर हुआ था। इसने पाया कि आपात की उद्घोषणा और आक्षेपित अधिनियम वस्तुतः सांविधानिक गतिरोध का सामना करने को बनाए गए थे जो, राज्यपाल को मुख्यमंत्री को बर्खास्त करने को सशक्त करने वाले उपबंध के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ था, जहां मुख्यमंत्री कौंसिल नेगरी का विश्वास खो देते हैं। इसने यह मत व्यक्त किया कि :—

> "माननीय न्यायाधीशों के लिए यह उपयुक्त नहीं है कि मलयेशिया के गवर्नर द्वारा, सारावाक में घटित हुई सांविधानिक स्थिति से निबटने के लिए उठाए गए कदमों के प्रज्ञान या समीचीनता की आलोचना या उस पर टिप्पणी करें या इस बाबत जांच करें कि क्या उक्त स्थिति का एक भिन्न दृष्टिकोण द्वारा परिवर्जन किया जा सकता था।" प्रिवी कौंसिल ने इसके अतिरिक्त मत व्यक्त किया कि "वे प्रस्तुत की गई सामग्री, से यह धारित करने के लिए कोई आधार नहीं पाते हैं कि प्रत्यर्थी सरकार त्रुटिपूर्ण कार्य कर रही थी या यह मत व्यक्त करने में किसी प्रकार असद्भावग्रस्त थी कि सारावाक में सांविधानिक संकट था, और यह राज्य सरकार के विफल होने को अंतर्वलित करता था या उससे इसका खतरा था और तुरंत कार्यवाही अपेक्षित करते हुए आपात को गठित करते थे। और न ही विद्वान् न्यायाधीश यह मत व्यक्त करने के लिए कोई कारण पाते हैं कि इस प्रकार विचार की गई आपात की विद्यमानता घोर नहीं थी और सारावाक की सुरक्षा को खतरा नहीं पहुंचाती थी। यह वे आवश्यक बातें थीं जो प्रत्यर्थी-मंत्रियों द्वारा अपने ज्ञान और अनुभव की दृष्टि में निर्णय के अनुसार अवधारित किए जाने थे.....और यह कि वह (अपीलार्थी) बोर्ड को इस बाबत संतुष्ट करने में असफल रहा था कि सरकार द्वारा, उद्घोषणा और आक्षेपित अधिनियम को सम्मिलित करते हुए उठाए गए कदम सुसंगत विधान द्वारा अन्यथा रूप से अप्राधिकृत थे।" अपील को तदनुसार खारिज किया गया था।

356. उक्त विनिश्चय में तीन तर्काधार दर्शित होते हैं। प्रथमतया, प्रिवी कौंसिल ने यह उपधारणा की कि विवाद्यक न्याय्य था। उक्त आधार पर, इसने मामले के तथ्यों की परीक्षा की और पाया कि स्थिति, आपात् को गठित नहीं करती थी। दूसरे, और अधिक महत्वपूर्ण रूप से, इसने परीक्षा की और पाया कि यह कहने के लिए कोई कारण नहीं था कि इस प्रकार विचार की गई आपात की विद्यमानता घोर नहीं थी और सारावाक की सुरक्षा को खतरा नहीं पहुंचाती थी, यद्यपि इसके साथ ही, इसने अभिनिर्धारित किया कि आपात की विद्यमानता मंत्रिपरिषद् द्वारा अपनी जानकारी और अनुभव की दृष्टि में अवधारित किए जाने वाला मामला है और तीसरे, यह कि अपीलार्थी यह स्थापित करने में असफल रहा था कि आपात की उद्घोषणा संविधान के साथ कपट था।

357. अब हम अनुच्छेद 356 पर चर्चा करने वाले इस न्यायालय के एकमात्र विनिश्चय अर्थात "राजस्थान राज्य" वाले मामले की अवेक्षा कर सकते हैं। विनिश्चय की परीक्षा करते समय दो परिस्थितियां ध्यान में रखी जानी चाहिए, यथा, (i) विभिन्न राज्यों द्वारा फाइल की गई रिट याचिकाएं (और वाद), आपात की उद्घोषणा (उद्घोषणाओं) के विरुद्ध निदिष्ट नहीं की गई थीं, चूंकि ऐसी कोई उद्घोषणाएं, उन वादों और रिट याचिकाओं के फाइल किए जाने के पूर्व जारी नहीं की गई थीं, और (ii) उस समय, 38वें संशोधन-अधिनियम द्वारा प्रविष्ट किया गया खण्ड (5) प्रवृत्त था। खण्ड (5) निम्न प्रकार है :—

> "इस संविधान में किसी अन्य बात के होते हुए भी, खण्ड (1) में वर्णन किया गया राष्ट्रपति का समाधान, अंतिम और निश्चायक होगा और किसी न्यायालय में किसी भी आधार पर प्रश्न नहीं किया जाएगा।"

358. (यह खण्ड 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा एक बिल्कुल ही भिन्न खण्ड द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया था)।

359. इस मामले में वादों (अनुच्छेद 131 के अधीन) और रिट याचिकाओं (अनुच्छेद 32 के अधीन) में आक्षेप की गई विषय वस्तु, उस समय के गृह मंत्री द्वारा कतिपय राज्यों के मुख्य मंत्रियों को उन्हें अपनी, क्रमिक विधान सभाओं के विघटन की ईप्सा करने और लोगों से नए जनादेश प्राप्त करने की ईप्सा करने की सलाह देते हुए लिखा गया एक पत्र था। पत्र में यह कहा गया था कि मार्च 1977 में लोक सभा के लिए हुए निर्वाचन यह इंगित करते हैं कि उन राज्यों में कांग्रेस दल के शासन ने पूर्ण रूप से जनता का आदेश (विश्वास) (समर्थन) खो दिया है और लोगों से उदासीन (विलग) हो गया है। पत्र के साथ, तत्समय के केन्द्रीय विधिमंत्री द्वारा किए गए कथन को, उन राज्य सरकारों को बर्खास्त करने की धमकी के रूप में समझा गया था। ऐसी धमकी से अपना बचाव करने के लिए, वे वाद और रिट-याचिकाओं के द्वारा उच्चतम न्यायालय के समक्ष गए थे। उनकी शीघ्रता से सुनवाई की गई थी और तारीख 29 अप्रैल, 1977 को खारिज कर दी गई थी। तर्कपूर्ण मत, बाद में दिए गए थे, जिस तारीख तक अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणाएं वास्तव में जारी की जा चुकी थीं। प्रश्नों में से एक प्रश्न, वादों की पोषणीयता से संबंधित था जिस प्रश्न से निस्संदेह हम संबंधित नहीं हैं।

360. सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा छह मत दिए गए थे। यद्यपि सभी इस पर सहमत थे कि रिट याचिकाएं और वाद खारिज किए जाने चाहिए, किंतु उनकी तर्कणा

एक रूपात्मक नहीं है। इसलिए, यह समुचित होगा कि प्रत्येक मत में अंतर्निहित सार की अवेक्षा की जाए, जहां तक यह हमारे प्रयोजनों के लिए सुसंगत है।

मुख्य न्यायमूर्ति बेग :

मुख्य न्यायमूर्ति बेग का मत विविध विचारों को अंतर्विष्ट करता है। उन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार वर्णन किया जा सकता है :—

(i) 1950 से अनुच्छेद 356 की भाषा और पद्धति यह दर्शित करती है कि केन्द्रीय सरकार इस प्रश्न के संबंध में राज्य सरकारों पर अपनी इच्छा लागू कर सकती है कि राज्य सरकारों को किस प्रकार कार्य करना चाहिए और किसके पास शक्ति की बागडोर होनी चाहिए।

(ii) अनुच्छेद 365(5) और अनुच्छेद 74(2) के कारण न्यायालय को राष्ट्रपति के समाधान को प्रश्न करना असंभव है। इसे मामले का केवल उन्हीं तथ्यों के आधार पर विनिश्चय करना है जो राष्ट्रपति द्वारा स्वीकार किए जाएं या राष्ट्रपति द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए जाएं।

(iii) अनुच्छेद 356(1) की भाषा अत्यंत विस्तृत (व्यापक) है। यह वांछनीय है कि इस शक्ति के प्रयोग को समुचित दिशा देते हुए परम्पराओं का विकास किया जाए। न्यायालय केवल तभी हस्तक्षेप कर सकता है जब शक्ति का घोर अनुचित और अयुक्तियुक्त रीति से प्रयोग किया जाता है जिससे उपबंधों का प्रकट दुरूपयोग या शक्ति का दुरूपयोग गठित होता हो। यही विचार एक अन्य स्थान पर यह कहते हुए अभिव्यक्त किया गया है कि "उद्घोषणा द्वारा, सांविधानिक रूप से या विधिक रूप से निषिद्ध या बाह्य या सांपार्श्विक प्रयोजन प्राप्त (हासिल) करने की वांछा किए जाने पर" यह अभिखण्डित किए जाने को दायी है। यह प्रश्न कि क्या किसी राज्य की विधान सभा में बहुमंत वाला दल, निर्वाचकों से बिल्कुल उदासीन हो गया है, न्यायालय द्वारा विचारण किए जाने वाला मामला नहीं है।

(iv) केन्द्रीय सरकार का निर्धारण कि कतिपय राज्यों में निर्वाचकों को एक नया अवसर (मौका) दिया जाना चाहिए और इसी भांति प्रश्न कि विधान सभाओं को कब विघटित किया जाए, अनुच्छेद 356 से असंबद्ध विषय नहीं हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि केन्द्रीय सरकार द्वारा, अपने द्वारा उठाए गए कदमों के लिए दिए गए कारण, अनुच्छेद 356 में अंतर्निहित प्रयोजनों के लिए सुसंगत नहीं हैं।

361. हम तुरंत ही यह कह सकते हैं कि हम प्रतिपादनाओं (i), (ii) और (iv) को पूरा सम्मान देते हुए उनसे असहमत हैं। जहां तक प्रतिपादना (iii) का संबंध है, यह बात अतात्विक नहीं है और सारतः हमारे मत के अनुसार है, जैसा कि हम अभी दर्शित करेंगे।

न्यायमूर्ति वाई० पी० चंद्रचूड़ :

विद्वान् न्यायाधीश ने न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि के संबंध में यह अभिनिर्धारित किया कि जहां भारत संघ द्वारा प्रकट किए गए कारण पूर्णरूप से बाह्य हैं, वहां न्याया-

लय, असद्भाव के आधार पर हस्तक्षेप कर सकता है। विद्वान न्यायाधीश के अनुसार न्यायिक संवीक्षा, "केवल यह देखने के प्रयोजन तक सीमित है कि क्या कारणों का प्रस्तावित कार्यवाही के साथ कोई युक्तिसंगत संबंध है।" विद्वान न्यायाधीश के मतानुसार न्यायालय, यह अवधारणा करने के लिए राष्ट्रपति के समाधान पर विचारण नहीं कर सकता कि क्या स्थिति में कोई अन्य मत युक्तियुक्त रूप से असंभव है। अपने समक्ष मामले के तथ्यों पर आते हुए विद्वान न्यायाधीश ने मत व्यक्त किया कि, केन्द्रीय सरकार द्वारा अपने प्रति शपथ-पत्र में दिए गए आधार, अनुच्छेद 356 से असंगत नहीं कहे जा सकते हैं। न्यायालय मामले में गहराई तक नहीं जा सकता है और न ही न्यायालय यह जांच कर सकता है कि क्या प्रति-शपथपत्र में प्रकट किए गए कारणों के अलावा वहां कोई अन्य कारण थे।

विद्वान् न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती और एस० सी० गुप्त :

विद्वान् न्यायाधीशों ने अपने मत में निम्नलिखित प्रतिपादनाओं को प्रतिपादित किया :

अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही, राष्ट्रपति के व्यक्तिपरक समाधान पर की जानी चाहिए। समाधान वस्तुपरक नहीं है। ऐसे कोई न्यायिक रूप से प्रकट होने वाले और प्रबंधनीय मानक नहीं है जिनके द्वारा न्यायालय राष्ट्रपति के समाधान के सही होने (शुद्धता) की परीक्षा कर सके। किए जाने वाला समाधान मुख्य रूप से प्रकृति में राजनीतिक है, जो अनेक अतिसूक्ष्म और तेजी से बदलती हुई स्थितियों के अलावा अनेक और भिन्न तथ्यों और कारकों के निर्धारण पर आधारित होता है। न्यायालय, उक्त समाधान या निर्धारण, जैसा कि यह कहा जा सकता है, की शुद्धता (के सही होने) की जांच करने या उसका अवधारण करने के लिए उपयुक्त निकाय नहीं है। तथापि, यदि शक्ति असद्भाव से प्रयोग की जाती है या पूर्णतया बाह्य या असंगत आधारों पर आधारित है, तो न्यायालय को इसकी परीक्षा करने की अधिकारिता होगी। यहां तक कि खण्ड(5)का प्रयोग भी वर्जन नहीं है जब दलील यह है कि वहां पूर्णतया कोई समाधान था ही नहीं।

362. विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 356 के अधीन न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि—"अत्यंत ही छोटे क्षेत्र तक सीमित है : अधिकतर मामलों में यह हो सकता है कि पूर्वोक्त सीमित आधार पर अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति के प्रयोग को चुनौती देना यदि असंभव न हुआ तो कठिन तो होगा ही, क्योंकि वह तथ्य और परिस्थितियां जिन पर समाधान आधारित है, ज्ञात नहीं होंगे। तथापि, जहां यह संभव है, वहां समाधान की विद्यमानता सदैव इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि यह असद्-भावी है या पूर्णतया बाह्य और असंगत आधारों पर आधारित है।"

363. हम ससम्मान यह कह सकते हैं कि हमने पूर्वोक्त नियमनों (सूत्रों) से अपने को पूरी तरह सहमत होना कठिन पाया है। हम केवल, न्यायालय को हस्तक्षेप करने के लिए उपलब्ध अनुज्ञेय आधारों के संबंध में कथनों और खण्ड (5) के प्रभाव, जो यह तत्समय था से सहमत हैं। हम पहली प्रतिपादना से भी विस्तृत रूप से सहमत हैं यद्यपि उसमें इंगित किए गए आत्यंतिक निबंधनों से नहीं।

विद्वान् न्यायमूर्ति गोस्वामी और ऊंटवालिया :

विद्वान् न्यायमूर्ति गोस्वामी और ऊंटवालिया के पृथक् मत एक तथ्य पर महत्त्व देते हैं यथा, कि चूंकि गृह मंत्री द्वारा फाइल किए गए प्रति-शपथपत्र में कथन किए गए तथ्य "असद्भावी, बाह्य या असंगत" नहीं कहे जा सकते, इसलिए आक्षेपित कार्यवाही को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है।

विद्वान् न्यायमूर्ति फजल अली—विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया :—

(i) अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही, न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त है जब तक कि कार्यवाही "बाह्य विचारणाओं" या "व्यक्तिगत विचारणाओं" द्वारा मार्गदर्शन न की गई हों।

(ii) 1977 के लोकसभा के लिए निर्वाचनों के अनुसरण में केन्द्रीय सरकार द्वारा निकाला गया निष्कर्ष अयुक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि निकाले गए निष्कर्ष का अनुच्छद 356 से कोई संबंध नहीं था।

364. इस प्रकार यह दृष्टव्य है कि सात न्यायाधीशों में से पांच न्यायाधीशों के मध्य व्यापक सहमति है कि न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है यदि इसका यह समाधान हो जाता है कि शक्ति का असद्भावी या पूर्ण रूप से बाह्य या असंगत आधारों पर प्रयोग किया गया है। कुछ विद्वान् न्यायाधीशों ने नियम का संक्षिप्त (सीमित) निबंधनों में कथन किया है और कुछ अन्यों ने संक्षिप्त निबंधनों से थोड़े कम में कथन किया है किंतु एक भी विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित नहीं किया कि उद्घोषणा न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त है। यह स्मरण किया जाना चाहिए कि उस समय, उद्घोषणा के न्यायिक पुनर्विलोकन की वर्जना करने वाला खण्ड (5) प्रभावी था और तब भी उन्होंने यह कहा कि न्यायालय, असद्भाव के आधार पर या जहां यह पूर्ण रूप से, बाह्य या असंगत आधारों पर आधारित है, हस्तक्षेप कर सकता है। निश्चित रूप से खण्ड(5) के हटा दिए जाने ने न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि को निर्बन्धित (सीमित) नहीं किया है। वस्तुतः, बादलों को हटाया है। न्यायालय को, यदि कुछ करना चाहिए, तो वह यह है कि उपरोक्त खण्ड (5) के हटाए जाने के पश्चात् उद्घोषणा की सांविधानिकता की परीक्षा करने को अधिक आनत हो।

365. इस प्रक्रम पर पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय के कुछ विनिश्चयों की परीक्षा करना समुचित होगा, चूंकि पाकिस्तान का संविधान, 1973, अनुच्छेद 356 से कुछ समरूप उपबंध को अंतर्विष्ट करता है।

366. पाकिस्तान के संविधान 1973, का अनुच्छेद 58 राष्ट्रीय विधान सभा के विघटन के लिए उपबंध करता है। खण्ड(1) के अनुसार, राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री द्वारा सलाह दिए जाने पर राष्ट्रीय विधान सभा का विघटन कर सकेगा। यह इसके अतिरिक्त उपबंध करता है कि प्रधान मंत्री द्वारा विघटन की सलाह दिए जाने के पश्चात् अड़तालीस घंटों के समाप्त होने की किसी दशा में, राष्ट्रीय विधान सभा विघटित हो जाएगी। खण्ड(2) हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत है। वह निम्न प्रकार है :—

*"(2) अनुच्छेद 48 के खण्ड (2) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति अपने विवेकाधिकार में राष्ट्रीय विधान सभा का विघटन भी कर सकता है, जहां उनके मत में—

(क) प्रधानमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास मत पारित होने पर राष्ट्रीय विधान सभा के किसी अन्य सदस्य को संविधान के उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रीय विधान सभा के सदस्यों के बहुमत का विश्वास प्राप्त होना संभाव्य नहीं है, जैसा कि तत्प्रयोजनार्थ बुलाए गए राष्ट्रीय विधान सभा के सत्र में अभिनिश्चित किया जाए; या

(ख) ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें परिसंघ की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलायी जा सकती और निर्वाचकों से एक अपील आवश्यक है।"

367. खण्ड (2) का उपखण्ड (ख), हमारे संविधान के अनुच्छेद 356 के खण्ड(1) के लगभग समान हैं। इस खण्ड के अधीन, राष्ट्रपति अपने विवेकाधिकार में, संसद (राष्ट्रीय विधान सभा) का विघटन कर सकता है, जहां उसके मत में, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें परिसंघ की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलायी जा सकती और निर्वाचकों से एक अपील आवश्यक है। पहला विनिश्चय, **पाकिस्तान परिसंघ बनाम मोहम्मद सैफुल्ला खां**[1] वाले मामले में पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय के बारह न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा दिया गया विनिश्चय है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 58(2)(ख) के अधीन कृत्य करते हुए तारीख 29 मई, 1988 की अधिसूचना द्वारा तुरन्त प्रभाव से राष्ट्रीय विधानसभा का विघटन किया था और परिसंघीय मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त किया था। राष्ट्रपति द्वारा किए गए आदेश में यह कहा गया कि राष्ट्रीय विधान सभा को जिन उद्देश्यों और प्रयोजनों के लिए निर्वाचित किया गया था वह पूरे नहीं किए गए हैं; यह कि देश में विधि और व्यवस्था खतरनाक सीमा तक बिखर (टूट) गई है जिसके परिणामस्वरूप अनेक बेशकीमती

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"(2) Not withstanding anything contained in clause (2) of Article 48, the President may also dissolve the National Assembly in his discretion where, in his opinion—

(a) a Vote of no confidence having been passed against the Prime Minister, no other member of the National Assembly is likely to command the confidence of majority of the members of the National Assembly in accordance with the provisions or the constitution as ascertained in a session of the National Assembly summoned for the purpose ; or

(b) a situation has arisen in which the Government of the Federation cannot be carried on in accordance with the provisions of the constitution and an appeal to the electrorate is necessary."

1 पी० एल० डी० 1989 एस० सी० 166 में संप्रकाशित.

जीवनों और इसी भांति संपत्ति की घोर क्षति हुई है; यह कि पाकिस्तान की अखण्डता और विचारधारा, को गंभीर संकट पैदा हो गया है। उक्त आदेश की विधिमान्यता राष्ट्रीय विधान सभा के एक सदस्य द्वारा लाहौर उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याचिका फाइल करने के द्वारा चुनौती दी गई थी, जिसने इसे मंजूर किया था किन्तु याची द्वारा ईप्सा किए गए अतिरिक्त अनुतोष यथा राष्ट्रीय विधान सभा को बहाल करने, को प्रदान करने से इनकार कर दिया था, [पंजाब की प्रांतीय विधान-सभा भी, पंजाब के राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 112 (2) (ख) के अधीन किए गए समान आदेश द्वारा विघटित कर दी गई थी, जो उच्च न्यायालय में आक्षेप की गई थी और उसका भी यही परिणाम हुआ]। उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील में, यह दलील दी गई थी कि राष्ट्रपति की कार्यवाही, न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त थी चूंकि यह उनकी वैवेकिक शक्ति के प्रयोग का एक उदाहरण था। उच्चतम न्यायालय द्वारा दलील निम्न शब्दों में नामंजूर कर दी गई थी।

368. प्रथम विनिश्चय **फेडरेशन आफ पाकिस्तान बनाम मोहम्मद सैफुल्ला खां**[1] वाले मामले में किया गया है, जो पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय के बारह-न्यायाधीशों के न्याय-पीठ का विनिश्चय है। अनुच्छेद 58 (2) (ख) के अधीन कार्य करते हुए, पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने तारीख 29 मई, 1988 की अधिसूचना द्वारा तुरन्त प्रभावी रूप से राष्ट्रीय सभा का विघटन कर दिया और परिसंघीय मंत्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया। राष्ट्रपति द्वारा किए गए आदेश में यह कहा गया था—उन उद्देश्यों और प्रयोजनों को, जिनके लिए राष्ट्रीय सभा का निर्वाचन किया गया था, पूरा नहीं किया गया है; देश में विधि और व्यवस्था की स्थिति खतरनाक सीमा तक बिगड़ चुकी है, जिसके परिणामस्वरूप असंख्य मूल्यवान् जीवनों और सम्पति की दुःखद हानि हुई है, पाकिस्तान के नागरिकों का जीवन, सम्पत्ति, सम्मान और सुरक्षा पूर्णतया आरक्षित हैं और पाकिस्तान की अखण्डता और विचारधारा गम्भीर रूप से संकट में पड़ गई है। राष्ट्रीय सभा के एक सदस्य ने उक्त आदेश की विधिमान्यता को लाहौर उच्च न्यायालय में रिट याचिका द्वारा चुनौती दी है, जिसने रिट याचिका मंजूर की किन्तु याची द्वारा ईप्सित और (आगे) अनुतोष, अर्थात् राष्ट्रीय सभा की बहाली, मंजूर करने से इनकार कर दिया [अनुच्छेद 112(2)(ख) के अधीन पंजाब के राज्यपाल ने ऐसे ही आदेश द्वारा पंजाब की प्रान्तीय सभा का भी विघटन कर दिया था, और उसे भी उच्च न्यायालय में प्रश्नगत किया गया और उसका भी वही परिणाम हुआ]। उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील में यह दलील दी गई कि उच्चतम न्यायालय की कार्यवाही न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त थी, क्योंकि वह उनकी वैवेकिक शक्ति के प्रयोग का उदाहरण थी। उच्चतम न्यायालय ने उक्त दलील निम्नलिखित शब्दों में अस्वीकार कर दी —

> "अतः, अनुच्छेद 58(2) (ख) द्वारा प्रदत्त विवेकाधिकार आत्यंतिक (पूर्ण) नहीं माना जा सकता है; बल्कि उसे इस अर्थ में सीमित विशेषाधिकार (के रूप में) माना जाना है कि उसे विधि के उद्देश्य द्वारा, जिसके द्वारा वह (विवेकाधिकार) प्रदत्त किया गया है, सीमित किया गया है।"

यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि अनुच्छेद 48(2) और 58 (2) के उपबन्धों के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि प्रथमतः राष्ट्रपति को वस्तुपरक रूप से अपनी

---

[1] पी० एल० डी० 1989 एस० सी० 166.

राय बनानी होती है और उसके पश्चात् उन्हें इस या उस रूप में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करने, अर्थात् सभा को विघटित करने या विघटित करने से इनकार करने का अधिकार प्राप्त है। यदि अनुच्छेद 58 (2) के अधीन कार्यवाही के लिए, अनुच्छेद 48(2) द्वारा परिकल्पित कोई उन्मुक्ति उपलब्ध है भी, तब भी वह संभवतः उनकी "राय" के संबंध में ही हो सकती है। पूर्वोक्त सांविधानिक उपबंध द्वारा राष्ट्रपति पर यह बाध्यता अधिरोपित की गई है कि अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करने से पूर्व, अनुच्छेद 58 (2)(ख) में परिकल्पित प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण राष्ट्रीय सभा को विघटित करने का भारी कदम उठाना आवश्यक हो गया है। **अबुल अला मौदूदी बनाम पश्चिमी पाकिस्तान सरकार**[1] वाले मामले में मु० न्या० कार्नेलियस ने, दण्ड विधि संशोधन अधिनियम (क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट ऐक्ट), 1908 के कतिपय उपबंधों का निर्वचन करते समय, "राय" शब्द का इस प्रकार अर्थान्वयन किया—

> "..... सभी सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखना प्रान्तीय सरकार का कर्तव्य है। इससे उन दशाओं के होने के सम्बन्ध में, केवल जिनमें ईमानदारीपूर्वक यह राय बनाई जानी चाहिए कि निर्बन्धन आवश्यक है, ईमानदारीपूर्ण निर्णय का प्रयोग (प्रक्रिया) ध्वनित होता है। इस प्रक्रिया में, वह एकमात्र तत्व, जिसके बारे में यहं पाता हूं कि उसमें वस्तुपरक अवधारणा के विरुद्ध (विपरीत)आत्मपरक गुणवत्ता है, इस राय का अंतिम रूप से बनाया जाना है कि प्रस्थापित (प्रस्तावित) कार्यवाही आवश्यक है। यह भी, अधिकांशतः, निष्कर्ष को अपरिहार्य बनाने वाली परिस्थितियों के अस्तित्व द्वारा अवधारित किया जाता है। वैयक्तिक विवेकाधिकार के प्रयोग की परिधि अत्यन्त सीमित है। ..... जैसा कि मैं पहले ही संकेत दे चुका हूं, यदि उक्त धारा का समावेशकारी रीति में अर्थान्वयन किया जाता है, तो कतिपय मामलों के, जो (मामले) पूर्णतः सरकारी अभिकरण की पकड़ और समझ के अंतर्गत हैं, अभिनिश्चयन पर आधारित ईमानदारीपूर्ण राय की अध्यपेक्षा, स्पष्टतः, शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्वापेक्षा है। विदेशी शासन के दौरान, यह तर्क कि प्राधिकार का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की राय आत्यन्तिक है, अनेक बार प्रभावी रहा होगा, किन्तु स्वायत्त शासन के अधीन, जहां वे लोग, जो राज्य की शक्ति का प्रयोग करते हैं, स्वयं उन्हीं राज्यों के नागरिक हैं, इस खोज को सहन नहीं किया जा सकता है।"

369. यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि "यद्यपि राष्ट्रपति, की जाने वाली कार्यवाही के सम्बन्ध में स्थिति का स्वयं अपना निर्धारण कर सकते हैं, तथापि उनकी राय किसी सामग्री पर आधारित होनी चाहिए।"

370. विद्वान् न्यायाधीशों में से एक न्या० सेफुर रहमान ने अनुच्छेद 58(2)(ख) में वर्णित "नहीं चलाया जा सकता" शब्दों के अर्थ और महत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला—

> "'नहीं चलाया जा सकता' पद, जो "परिसंघीय सरकार" और "संविधान के उपबन्धों के अनुसार" पदों के बीच में अंतर्विष्ट है, बहुत ही सक्षम, बहुत ही निश्चया-

[1] पी० एल० डी० 1964 एस० सी० 673.

त्मक और बहुत ही ठोस अंतर्वस्तु अर्जित (प्राप्त) कर लेता है। कोई भी चीज अनुमान, पसन्द या नापसन्द, राय या मत (व्यक्त किए जाने) के लिए नहीं छोड़ी गई है। उसका प्रगति की गति, गुणवत्ता के शेड (पुट) या निष्पादन की मात्रा या उपलब्धि के परिमाण से कोई सरोकार (सम्बन्ध) नहीं है। उसका, संविधान के उपबंधों के पालन को सुनिश्चित करते हुए सांविधानिक तन्त्र के भंग, गतिरोध से सरोकार है।"

371. पाकिस्तान उच्चतम न्यायालय का अगला विनिश्चय, जो हमारी जानकारी में लाया गया, **ख्वाजा अहमद तारिक रहीम बनाम दि फैडरेशन आफ पाकिस्तान**[1] वाले मामले में किया गया विनिश्चय है। तारीख 6 अगस्त, 1990 को, पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने, पाकिस्तान के संविधान के अनुच्छेद 58 (2) (ख) के अधीन किए गए आदेश द्वारा, अपने विवेकाधिकार के प्रयोग में, राष्ट्रीय सभा को विघटित कर दिया। प्ररूपिक आदेश में इस बात के प्रति निर्देश किया गया था कि (चूंकि) राष्ट्रीय सभा, आन्तरिक मतभेदों और विरोधों, राजनीतिक लाभों के लिए लगातार और कलंकात्मक "खरीद-फरोख्त" तथा वैयक्तिक हित को अग्रसर करने, भ्रष्ट आचरण और संविधान और विधि के उल्लंघन में उत्प्रेरण और वित्त विधेयक के अंगीकरण से भिन्न अधिष्ठायी विधायी स्रोतों का निर्वहन करने में असफलता से ग्रस्त थी, जिन सबके कारण राष्ट्रपति को यह विश्वास हो गया कि राष्ट्रीय सभा लोगों का विश्वास खो चुकी है। एक पूर्ववर्ती परिसंघीय मंत्री ने लाहौर उच्च न्यायालय में उक्त आदेश की विधिमान्यता को चुनौती दी। उच्च न्यायालय ने राष्ट्रपतीय आदेश (की विधिमान्यता) की पुष्टि की, जिस पर मामला उच्चतम न्यायालय में ले जाया गया। दोनों पक्षकार इस बात पर सहमत हो गए कि ऊपर निर्दिष्ट फैडररेशन आफ पाकिस्तान बनाम मोहम्मद सैफुल्लाह खां वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत इस संविवाद को लागू होते हैं।

372. तथ्यों के आधार पर, उच्चतम न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि (यद्यपि) प्रदत्त सामग्री में से कुछ सामग्री संगत नहीं भी हो सकती है, तथापि अन्य सुसंगत सामग्री मौजूद है, जो एक साथ पढ़े जाने पर, "की गई कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने के लिए पर्याप्त है।"

373. अगला विनिश्चय, जिसका श्री सोराबजी ने अवलंब लिया है, **मिर्जा मौहम्मद नवाज शरीफ बनाम दि प्रेसीडेन्ट आफ पाकिस्तान**[2] वाले मामले में किया गया विनिश्चय है। उक्त विनिश्चय पाकिस्तान के राष्ट्रपति द्वारा, तारीख 18 अप्रैल, 1993 के अपने आदेश द्वारा परिसंघीय सरकार की अभी हाल ही में बर्खास्तगी और राष्ट्रीय सभा के विघटन के सम्बन्ध में है।

374. इस विनिश्चय में न्यायालय द्वारा अनेक प्रतिपादनाएं प्रतिपादित की गई हैं। सर्वप्रथम इस बात पर पुनः बल दिया गया है कि "यदि यह दर्शित कर दिया जाता है

[1] पी० एल० डी० 1992 एस० सी० 646.
[2] पी० एल० डी० 1993 एस० सी० 473.

कि ऐसे कोई आधार (अस्तित्वशील) थे, जिनके आधार पर यह ईमानदारीपूर्ण राय बनाई जा सकती थी कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें परिसंघ का शासन (सरकार) संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता और निर्वाचकगण से अनुरोध (अपील) आवश्यक है; शक्ति का प्रयोग असंवैधानिक होगा और उसे न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा शुद्ध किया जा सकता है।" उसके पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया गया है कि संविधान के "अनुच्छेद 58(2) (ख)" द्वारा कार्यपालिका के प्रमुख को विधानमण्डल को नष्ट करने और निर्वाचित प्रतिनिधियों को हटाने के लिए सशक्त किया गया है। यह, आपवादिक स्थिति के लिए उपबन्धित आपवादिक शक्ति है और उसका संकीर्णतम (सीमिततम) निर्वचन किया जाना चाहिए, जैसा कि **फैडरेशन आफ पाकिस्तान बनाम हाजी मोहम्मद सैफुल्लाह खां और अन्य**[1] वाले मामले में उसका निर्वचन किया गया है। यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि इस बारे में कोई सन्देह है कि क्या प्रधान मंत्री राष्ट्रीय सभा का विश्वास खो चुका है, तो इस मामले में अपना समाधान करने हेतु राष्ट्रपति के लिए सांविधानिक रूप से शेष एकमात्र उपाय राष्ट्रीय सभा आहूत करना और प्रधानमन्त्री से राष्ट्रीय सभा में विश्वास का मत प्राप्त करने की अपेक्षा करना है। निस्संदेह, यह मताभिव्यक्ति अनुच्छेद 91 (5) के सन्दर्भ में कही गई थी, जिसमें यह कहा गया है—

> *"(5). प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के समाधान-पर्यन्त पद धारण करेगा, किंतु राष्ट्रपति इस खण्ड के अधीन (तब तक) अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करेगा, जब तक उसका यह समाधान नहीं हो जाता है कि प्रधानमन्त्री को राष्ट्रीय सभा के सदस्यों का बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं है, जिस दशा में वह राष्ट्रीय सभा को आहूत करेगा और प्रधानमन्त्री से, (राष्ट्रीय) सभा से विश्वास का मत प्राप्त करने की अपेक्षा करेगा।"

375. तत्पश्चात् न्यायालय ने राष्ट्रपतीय आदेश पर विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त आदेश में किसी भी आधार का पारित आदेश से कोई सम्बन्ध नहीं था और वर्णित आधार बाह्य और असंगत थे और सांविधानिक उपबंधों के स्पष्ट विचलन में थे। तदनुसार, यह अभिनिर्धारित किया गया कि राष्ट्रपतीय घोषणा असंवैधानिक थी और स्वाभाविक और तार्किक परिणति के रूप में, मन्त्रिमण्डल को, जिसे विघटित राष्ट्रीय सभा के साथ बर्खास्त किया गया था, बहाल और पुनरुज्जीवित किया जाना चाहिए।

376. इससे पूर्व कि हम इन विनिश्चयों के सिद्धांत के प्रति निर्देश करें, पाकिस्तान के संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति के स्वरूप को ध्यान में रखना आवश्यक है। अनुच्छेद 58(2)

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> (5). The Prime Minister shall hold office during the pleasure of the President, but the President shall not exercise his powers under this clause unless he is satisfied that the Prime Minister does not command the confidence of the majority of the members of the National Assembly, in which case he shall summon the National Assembly and require the Prime Minister to obtain a vote of confidence from the Assembly."

[1] पी० एल० डी० 1989 एस० सी० 166.

(ख) के अधीन, राष्ट्रपति जो एकल (रूप में) और वैयक्तिक रूप में कार्य करता है, न केवल परिसंघीय सरकार को बर्खास्त करने बल्कि राष्ट्रीय सभा का विघटन करने के लिए भी सशक्त है, यदि उसकी राय में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें परिसंघ का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है और निर्वाचकगण से अनुरोध (अपील) आवश्यक है। निस्संदेह, हमारे संविधान के अधीन, ऐसी स्थिति नहीं है। हमारे संविधान के अधीन, राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाले (में) मन्त्रिमण्डल द्वारा दी गई सहायता और सलाह के अनुसार कार्य करना होता है और वह इस प्रकार ही कार्य करता है। राष्ट्रपति के लिए अपनी वैयक्तिक हैसियत में या मन्त्रिपरिषद के प्रति निर्देश के बिना कार्य करने की कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरी विशेष बात यह है कि पाकिस्तान के संविधान के अधीन राष्ट्रपति को परिसंघीय सरकार को बर्खास्त करने के लिए सशक्त किया गया है, जिस प्रकार किसी प्रान्त के राज्यपाल को प्रांतीय सरकार को बर्खास्त करने के लिए सशक्त किया गया है, जबकि हमारे संविधान के अधीन राष्ट्रपति द्वारा संघ सरकार को बर्खास्त किए जाने का कोई प्रश्न नहीं है; वस्तुतः यह ऐसा मामला है, जिसमें संघ सरकार राज्य सरकार को बर्खास्त कर देती है, यदि अनुच्छेद 356 (1) द्वारा अनुध्यात स्थिति उत्पन्न होती है। निस्संदेह, पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय द्वारा की गई सशक्त टिप्पणियों को अनुच्छेद 58 (2) (ख) के पूर्वोक्त स्वरूप के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। तथापि, पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण महत्वहीन नहीं है।

377. इस प्रक्रम पर हम केहर सिंह और अन्य बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में इस न्यायालय के संविधान पीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उचित समझते हैं। संविधान के अनुच्छेद 72 द्वारा राष्ट्रपति को, किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराए गए किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, उसका प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने की अथवा दण्डादेश के निलम्बन, परिहार या लघूकरण करने के लिए सशक्त किया गया है। इस शक्ति का विस्तार उन सभी मामलों तक है, जिनमें दण्डादेश मृत्यु का दण्डादेश है। उक्त अनुच्छेद में इस संबंध में कोई मार्गदर्शन नहीं किया गया है कि किन मामलों में राष्ट्रपति को किन शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए और किन मामलों में शक्तियों का प्रयोग करने से इनकार कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह शक्ति प्रत्यक्षतः आत्यंतिक प्रतीत होती है। केहर सिंह को भारत की तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के संबंध में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध ठहराया गया था और मृत्यु के लिए दण्डादिष्ट किया गया था। अपील किए जाने पर इस न्यायालय द्वारा उक्त दंडादेश की पुष्टि की गई। उसके द्वारा फाइल की गई पश्चात्वर्ती रिट याचिका और पुनर्विलोकन असफल रहे। तत्पश्चात् केहर सिंह के पुत्र ने अनुच्छेद 72 के अधीन क्षमादान के लिए भारत के राष्ट्रपति को एक याचिका प्रस्तुत की। उसने वैयक्तिक सुनवाई के लिए प्रार्थना की। वैयक्तिक सुनवाई का अनुरोध अस्वीकार कर दिया गया और केहर सिंह के काउंसेल के नाम पत्र में, राष्ट्रपति के सचिव ने राष्ट्रपति की यह राय व्यक्त की कि राष्ट्रपति देश के उच्चतम न्यायालय द्वारा अन्तिम रूप से विनिश्चित मामले के गुणागुण पर विचार नहीं कर सकते। तदनुसार याचिका खारिज कर दी गई। याचिका की खारिजी को इस न्यायालय में रिट याचिका द्वारा प्रश्नगत

[1] 1988 सप्ली० (3) एस० सी० आर० 1102.

किया गया। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 72 के अधीन, राष्ट्रपति को दाण्डिक मामले के अभिलेख में के साक्ष्य की संवीक्षा करने और दोषिता तथा दण्डादेश दोनों पर न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्ष से भिन्न निष्कर्ष निकालने का अधिकार प्राप्त है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह शक्ति न्यायिक शक्ति के विरोध या अधिक्रमण में नहीं है। यह एक बिल्कुल ही भिन्न शक्ति है, एक ऐसी कार्यपालिक शक्ति, जिसका प्रयोग मंत्रियों की सहायता और सलाह से किया जाता है। यह भी कहा गया है कि राष्ट्रपति के विनिश्चय (की प्रक्रिया) में अनेक विचारणाएं आ सकती हैं और उक्त शक्ति के प्रयोग को शासित करने वाले कोई मार्गदर्शक सिद्धांत अधिकथित करना संभव नहीं है। हमारे प्रयोजन के लिए जो बात सुसंगत है, वह उक्त अनुच्छेद के अधीन शक्ति के प्रयोग के न्यायिक पुनर्विलोकन की सीमा से संबंधित अभिनिर्धारण है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 72 के अधीन शक्ति का प्रयोग सीधे न्यायिक परिधि के अन्तर्गत आता है और उस पर न्यायिक पुनर्विलोकन के रूप में न्यायालय द्वारा विचार किया जा सकता है। न्यायालय (उसके) गुणागुण पर विचार नहीं कर सकता है, और ऐसे पुनर्विलोकन की परिसीमाएं **मारू राम बनाम भारत संघ**[1] वाले मामले में प्रतिपादित की गई हैं। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया—"यह अवधारित करने का कृत्य कि क्या सांविधानिक या कानूनी कृत्यकारी का कार्य, शक्ति के सांविधानिक या विधायी प्रदान के अंतर्गत आता है या वह शक्ति की पूर्ण परिधि के गलत विवेचन पर आत्म-वंचन द्वारा दूषित है, न्यायालय द्वारा (अवधारित) किया जाने वाला कृत्य है। राष्ट्रपति को अनुच्छेद 72 द्वारा प्रदत्त शक्ति की प्रकट आत्यन्तिक प्रकृति के बावजूद, ऐसा अभिनिर्धारित किया गया। तदनुसार भारत के विद्वान् महा न्यायवादी का यह तर्क कि अनुच्छेद 72 के अधीन शक्ति का प्रयोग न्याय्य नहीं था, अस्वीकार कर दिया गया।

378. दोनों पक्षों की ओर से हाजिर होने वाले काउंसेलों ने सी० सी० एस०यू० बनाम मिनिस्टर फार दि सिविल सर्विस वाले मामले में हाउस आफ लार्ड्स के विनिश्चय का इस रूप में सशक्त अवलंब लिया कि उसमें प्रशासनिक कार्यवाही के न्यायिक पुनर्विलोकन के मामले में अपनाए जाने वाले सिद्धांत सही रूप से अधिकथित किए गए हैं, भले ही वह कानून द्वारा शासित हो या "सामान्य विधि" (कामन ला) द्वारा। याचियों का यह कहना है कि अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही जैसी सांविधानिक कार्यवाही में भी यही दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। प्रत्यर्थियों ने इस पर आपत्ति की है। अतः इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उक्त विनिश्चय में ठीक-ठीक क्या बात अधिकथित की गई है।

379. शासकीय (सरकारी) संचार मुख्यालय, विदेशी और राष्ट्रकुल कार्यालय के अधीन लोक सेवा की एक शाखा है। उसके मुख्य कृत्य युनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड) की सेना और शासकीय संचार की सुरक्षा को सुनिश्चित करना और सरकार के लिए सिगनल (संकेत) आसूचना प्रदान करना है। 1947 से, अर्थात् उसकी स्थापना के समय से, उसमें नियोजित कर्मचारिवृन्द (स्टाफ) को राष्ट्रीय व्यवसाय संघ (ट्रेड यूनियन) से सम्बद्ध होने के लिए अनुज्ञात किया गया और उनमें से अधिकांश ने ऐसा किया। अनेक वर्षों से स्टाफ और सरकार

[1] [1981] 1 एस० सी० आर० 1196, पृ० 1249.

के बीच अनेक विवाद थे, जिन सबका संघों के साथ बातचीत करके निपटारा कर दिया गया। तथापि, तारीख 25 जनवरी, 1984 को विदेशी और राष्ट्रकुल कार्यों के लिए राज्य सचिव ने अचानक यह घोषित किया कि शासकीय संचार मुख्यालय के स्टाफ को राष्ट्रीय व्यवसाय संघों से सम्बद्ध होने के लिए अब बिल्कुल भी अनुज्ञात नहीं किया जाएगा और उन्हें निदेशक द्वारा अनुमोदित विभागीय स्टाफ एसोसिएशन से ही सम्बद्ध होने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा। उक्त विनिश्चय को तारीख 22 दिसम्बर, 1993 को जारी किए गए कतिपय आदेशों द्वारा प्रभावी बनाया गया। व्यवसाय संघों (ट्रेड यूनियनों) ने उक्त अनुदेशों की विधिमान्यता को चुनौती दी।

380. शासकीय संचार मुख्यालय में कार्यरत कर्मचारिवृन्द (स्टाफ) की सेवा की शर्तें सिविल सेवा मंत्री द्वारा विनियमित की जानी थीं, क्योंकि उन्हें 1982 के सपरिषद् आदेश (आर्डर-इन-काउंसिल) के अनुच्छेद 4 द्वारा सशक्त किया गया था। उक्त सपरिषद् आदेश संसद् के किसी अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों के अधीन जारी नहीं किया गया था। वह सम्राज्ञी (संप्रभु) द्वारा अपने परमाधिकार के आधार पर जारी किया गया था। डाइसी द्वारा "इण्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ दि ला आफ दि कान्स्टीट्यूशन" (संविधान-विधि के अध्ययन के परिचय) में दी गई परिभाषा के अनुसार, जिसे इंगलैण्ड में सभी समयों पर स्वीकार किया गया और अपनाया गया है, "प्रेरोगेटिव" (परमाधिकार) क्राउन के मूल प्राधिकार के शेष भाग का नाम है और इसलिए वह, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, क्राउन के हाथ में किसी भी क्षण (समय) शेष वैवेकिक शक्ति के अवशिष्ट भाग का नाम है, चाहे ऐसी शक्ति का वस्तुतः स्वयं सम्राट् द्वारा प्रयोग किया जाता है या उनके मंत्रियों द्वारा। लार्ड डिप्लाक ने इसी विचार को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

> "न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन आने हेतु, किसी विनिश्चय के लिए, विनिश्चयकर्ता को लोक विधि द्वारा (न कि केवल, जैसा कि माध्यस्थम् में होता है, प्राइवेट पक्षकारों के बीच करार द्वारा) विनिश्चय करने के लिए सशक्त किया जाना चाहिए, जिसके परिणामस्वरूप, यदि वह विधिमान्य रूप से किया जाता है, ऐसे प्राधिकारी द्वारा, जिसे विधि द्वारा कार्यपालिक शक्तियां सौंपी गई हैं, प्रशासनिक कार्यवाही या कार्यबाही से विरति सामने आएगी, जिनके पूर्वगामी पैरा में वर्णित एक न एक परिणाम होते हैं। विनिश्चय करने की शक्ति का अंतिम स्रोत आजकल, प्रायः सदैव कोई कानून या कानून के अधीन बनाया गया अधीनस्थ विधान होता है; किंतु विनिश्चय की विषय-वस्तु को विनियमित करने वाले किसी कानून के अभाव में, विनिश्चय करने की शक्ति का स्रोत फिर भी स्वयं सामान्य विधि (कामन ला), अर्थात् सामान्य विधि का वह भाग हो सकता है, जिसे वकीलों द्वारा परमाधिकार का नाम दिया गया है।"

381. मंत्री की ओर से यह दलील दी गई कि परमाधिकार शक्ति के प्रयोग में उसके द्वारा की गई कार्यवाही न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन नहीं है। उक्त दलील अस्वीकार कर दी गई। जहां तक गुणागुण का संबंध है, संघों (यूनियनों) द्वारा दी गई एकमात्र दलील उस रीति के संबंध में थी, जिसमें वह विनिश्चय किया गया था, जिसके परिणामस्वरूप ये अनुदेश दिए गए, अर्थात् अपीलार्थी या वस्तुतः अन्य व्यक्तियों के साथ किसी प्रकार के

पूर्व परामर्श के बिना। पूर्व परामर्श का अधिकार विधिसम्मत प्रत्याशा के सिद्धांत पर आधारित था। सभी माननीय न्यायाधीश (ला लार्ड्स) इस बात पर सहमत थे कि उक्त स्थापन की स्थापना के समय से ही प्रचलित पद्धति को ध्यान में रखते हुए, संघ (यूनियन), उनकी सेवा की शर्तों में कोई परिवर्तन किए जाने से पूर्व, परामर्श किए जाने की विधिसम्मत प्रत्याशा का दावा कर सकते थे। किन्तु उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त विधिसम्मत प्रत्याशा राष्ट्रीय सुरक्षा की विचारणा पर अभिभावी नहीं हो सकती है, जिसने मंत्री को आक्षेपित अनुदेश जारी करने के लिए प्रेरित किया। केवल इस आधार पर ही हाउस आफ् लार्ड्स ने संघों द्वारा फाइल की गई अपील खारिज कर दी।

382. जहां तक भारत का संबंध है, परमाधिकार जैसी कोई चीज नहीं है। यहां भारत सरकार की कार्यपालिक शक्ति है और राष्ट्रपति के सांविधानिक कृत्य हैं। प्रत्यर्थियों के काउंसेल द्वारा यह सुझाव नहीं दिया गया है कि राष्ट्रपति या भारत सरकार द्वारा पारित सभी आदेश और की गई प्रत्येक कार्यवाही न्यायिक पुनर्विलोकन के परे है। केवल यही सुझाव दिया गया है कि राष्ट्रपति और भारत सरकार की कुछ शक्तियों को उन्मुक्ति प्राप्त है। श्री पराशरन नेब्लार्ड रासकिल की राय का अवलंब लिया है, जिसमें कतिपय परमाधिकार शक्तियां न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए उपयुक्त विषय-वस्तु के रूप में नहीं मानी गई हैं। वे शक्तियां विदेशी शक्ति के साथ संधि करने, राज्य (क्षेत्र) की रक्षा, क्षमा/दया दान, सम्मान प्रदान, संसद् के विघटन और मंत्रियों की नियुक्ति से संबंधित हैं। हम इस बात पर सहमत हैं कि मोटे रूप से, उपर्युक्त मामले, स्वप्रकत्या, न्यायालयों की परिधि से परे हैं और न्यायालय, सामान्यतया, उपर्युक्त विषयों से संबंधित मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रपति के सभी कार्यों को उन्मुक्ति प्राप्त है। वस्तुतः, इस विनिश्चय में जो बात मुख्य रूप से अभिनिर्धारित की गई है, वह यह है कि परमाधिकार शक्ति के प्रयोग में की गई कार्यवाही न्यायिक पुनर्विलोकन के आधारों की स्पष्ट प्रतिपादना के अतिरिक्त (से अलग), न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्त नहीं है। निस्संदेह, यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि सरकारी नीति को अंतर्वलित करने वाले मामलों में अयुक्तिसंगतता का आधार समुचित आधार नहीं भी हो सकता है।

383. अब हम **बेरियम केमिकल्स**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों पर विचार करना उचित समझते हैं, जो आत्मपरक समाधान के विषय पर इस न्यायालय का निदर्शक निर्णय (विनिश्चय) है। उसमें ऐसे मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन के प्राचलों को निःशेष रूप से अधिकथित किया गया है। बेरियम केमिकल्स (कम्पनी) कंपनी अधिनियम 1956 की धारा 237-ख के अधीन कंपनी विधि बोर्ड द्वारा अपीलार्थी-कंपनी के कार्यों के संबंध में आदेशित जांच से सम्बद्ध थी। धारा 237 इस प्रकार है—

> 237. धारा 235 के अधीन अपनी शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, केन्द्रीय सरकार—
>
> (क) कंपनी के कार्यकलाप का निरीक्षण करने के लिए एक या अधिक सक्षम व्यक्तियों को ऐसी रीति से, जैसी केन्द्रीय सरकार निदिष्ट करे, उस दशा में नियुक्त करेगी जिसमें कि—

[1] 1966 (सप्ली०) एस० सी० आर० 311,

(i) कम्पनी ने विशेष संकल्प द्वारा, अथवा

(ii) न्यायालय ने आदेश द्वारा, यह घोषित किया है कि कम्पनी के कार्यकलाप का अन्वेषण केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त निरीक्षक द्वारा किया जाना चाहिए; तथा

(ख) उस दशा में ऐसा कर सकेगी जिसमें कि केन्द्रीय सरकार की यह राय है कि ऐसी परिस्थितियां हैं जिनसे यह ध्वनित होता है—

(i) कि कम्पनी का कारबार उसके लेनदारों, सदस्यों या किन्हीं अन्य व्यक्तियों को कपटवंचित करने के आशय से अथवा अन्यथा कपटपूर्ण या अविधिपूर्ण प्रयोजन से अथवा किसी ऐसी रीति से, जिस से किन्हीं सदस्यों के प्रति अत्याचार हो जाता है, चलाया जा रहा है अथवा वह कंपनी किसी कपटपूर्ण या अविधिपूर्ण प्रयोजन के लिए बनाई गई थी,

(ii) कंपनी के बनाए जाने या उसके कार्यकलाप के प्रबंध करने से सम्पृक्त व्यक्ति उसके सम्बन्ध में कंपनी के प्रति अथवा उसके सदस्यों में से किन्हीं के प्रति कपट, दुष्करण या अन्य अवचार के दोषी रहे हैं, अथवा

(iii) उस कंपनी के प्रबंध या अन्य निदेशक को, प्रबंध अभिकर्ता को, सचिवों तथा कोषपालों को या प्रबन्धक को देय कमीशन की संगणना करने संबंधी जानकारी सहित, कंपनी के कार्यकलाप के विषय में वह सब जानकारी नहीं दी गई है जिसे वे युक्तियुक्त रूप से अपेक्षित कर सकते हैं।

384. खण्ड (ख) द्वारा केन्द्रीय सरकार को कंपनी के कार्यों का अन्वेषण करने और उस स्थिति में उस पर रिपोर्ट देने के लिए निरीक्षक के रूप में एक या अधिक व्यक्तियों को नियुक्त करने के लिए सशक्त किया गया, यदि उसकी राय में उपखण्ड (i), (ii) और (iii) में वर्णित एक न एक परिस्थिति का 'संकेत देने वाली परिस्थितियां' हैं। मुख्य राय न्या० शैलट द्वारा दी गई। इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं था कि धारा 237(ख) के अधीन अनुध्यात कार्यवाही केन्द्रीय सरकार के आत्मपरक समाधान पर की जा सकती थी। तथापि, विवाद अगले पहलू पर केन्द्रित था। अपीलार्थी के अनुसार, यद्यपि राय आत्मपरक थी, तथापि खण्ड (ख) में उपवर्णित परिस्थितियों का अस्तित्व ऐसी राय बनाए जाने के लिए पुरोभाव्य शर्त (के रूप में) था और इसलिए यदि आक्षेपित आदेश में उक्त परिस्थितियों के अस्तित्व का उल्लेख अंतर्विष्ट था भी, तब भी न्यायालय उस विवरण की तह में जा सकता है और यह अवधारित कर सकता है कि क्या वास्तव में वे परिस्थितियां मौजूद थीं। दूसरी ओर कम्पनी विधि बोर्ड की ओर से यह दलील दी गई कि खण्ड (ख) का ऐसा द्विभाजन नहीं किया जा सकता था और न केवल यह कि राय आत्मपरक थी, बल्कि सम्पूर्ण खण्ड ऐसी राय पर निर्भर भी बनाया गया। यह दलील दी गई कि "राय" और "संकेत देने वाली" पद इस बात का स्पष्ट संकेत देते थे कि सम्पूर्ण कृत्य आत्मपरक था, यह कि वह राय, जो प्राधिकारी को बनानी होती है, यह है कि उपखण्ड (i) और (ii) में उपवर्णित बातों का संकेत देने वाली परिस्थितियां अस्तित्व में है और इसलिए उन परिस्थितियों का अस्तित्व स्वतः आत्मपरक राय का विषय है। यह तर्क दिया गया कि (चूंकि) विधानमण्डल ने वह

कृत्य प्राधिकारी को सौंप दिया था । अतः न्यायालय उसकी राय की तह में नहीं जा सकता और इसलिए अभिनिश्चित नहीं कर सकता कि सुसंगत परिस्थितियां मौजूद हैं या नहीं ।

385. अनेक विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् न्या० शैलट ने यह अभिनिर्धारित किया—

> "·····'विश्वास करने का कारण' या 'की राय में' शब्दों का सदा यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता है कि 'विश्वास करने का कारण' या 'राय' को विचारार्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया पूर्णतः आत्मपरक प्रक्रिया है, जिसकी न्यायालय द्वारा यह सीमित संवीक्षा भी नहीं की जा सकती कि 'विश्वास करने का कारण' या 'राय' सुसंगत तथ्यों के आधार पर या, जैसा कि लार्ड रैडक्लिफ और लार्ड रीड ने कहा है, नैसर्गिक न्याय के नियमों के आनुकल्पिक रक्षोपाय के रूप में कानून के अवरोध (निर्बन्धन) की सीमाओं के अंतर्गत नहीं बनाई गई थी, जहां कृत्य प्रशासनिक है ।"

386. उसके पश्चात् विद्वान न्यायाधीश ने धारा 237 में अंतर्निहित उद्देश्य पर विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया—

> इस बात के बारे में कोई संदेह नहीं है कि सरकार द्वारा राय का बनाया जाना पूर्णतः आत्मपरक प्रक्रिया है । इस बात के बारे में भी कोई संदेह नहीं हो सकता है कि (चूंकि) विधानमण्डल ने सरकार की राय का, न कि न्यायालय की राय का, उपबंध किया है, अतः ऐसी राय को औचित्य, युक्तियुक्तता या पर्याप्तता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती । किंतु प्राधिकारी से उपखंड (i), (ii), या (iii) में उपवर्णित चीज़ों का संकेत देने वाली परिस्थितियों से ऐसी राय बनाने की अपेक्षा की जाती है । यदि ये परिस्थितियां अस्तित्व में न हों, तो क्या सरकार फिर भी यह कह सकती है कि उसकी राय में वे परिस्थितियां अस्तित्व में हैं या क्या सरकार वहां भी यही बात कह सकती है, जहां उक्त खण्ड से संगत परिस्थितियां विद्यमान नहीं हैं । निस्संदेह, विधानमण्डल ने 'संकेत देने वाली परिस्थितियां' पद का प्रयोग किया है । किंतु उक्त पद से यह अभिप्रेत है कि यह आवश्यक नहीं है कि परिस्थितियां ऐसी हो, जो कपट करने के आशय या कपटपूर्ण या अवैध प्रयोजन को निश्चायक रूप से सिद्ध करें । ऐसे आशय या प्रयोजन का सबूत अन्वेषण द्वारा प्राप्त किया जाना है । किंतु "संकेत देने वाली परिस्थितियां" पद इस अर्थान्वयन का समर्थन नहीं कर सकता है कि परिस्थितियों का अस्तित्व भी आत्मपरक राय का विषय है । उक्त पद से इस बात का संकेत मिलता है कि ऐसी परिस्थितियां अवश्य ही अस्तित्व में होनी चाहिएं, जिनसे प्राधिकारी यह राय बना सकता है कि वे उक्त तीनों उपखण्डों में उपवर्णित निर्णायक मामलों का संकेत देती हैं । यह अनुध्यात करना कठिन है कि विधानमण्डल राय बनाने और उन परिस्थितियों के अस्तित्व, दोनों ही, को आत्मपरक प्रक्रिया के लिए छोड़ सकता था, जिन पर उसे आधारित किया जाना है । यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि उक्त खण्ड द्वारा प्राधिकारी को यह कहने के लिए अनुज्ञात किया गया कि उसने ऐसी परिस्थितियों पर राय

बनाई है, जो उसकी राय में मौजूद हैं और जो उसकी राय में, कपट करने के आशय या कपटपूर्ण या विधिविरुद्ध प्रयोजन का संकेत देती हैं। यह सोचना भी अयुक्ति-संगत है कि विधानमण्डल ऐसी राय को विद्यमान परिस्थितियों पर आधारित करने की अध्यपेक्षा के छोटे से रक्षोपाय को भी छोड़ सकता था, जो उन चीजों का संकेत देती हैं, जिन के लिए अन्वेषण का आदेश दिया जा सकता है और ऐसी राय तथा उन परिस्थितियों का अस्तित्व छोड़ सकती हैं, जिनसे उसे आत्मपरक प्रक्रिया के अनुसार बनाया जाना है.....अतः ऐसी परिस्थितियां अवश्य ही अस्तित्व में होनी चाहिएं, जो प्राधिकारी की राय में उपखण्ड (i), (ii) और (iii) में उपवर्णित चीजों का संकेत देती हैं। यदि यह दर्शित कर दिया जाता है कि परिस्थितियां अस्तित्व में नहीं हैं या वे ऐसी हैं कि किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसी राय बनाना असम्भव है, जो उपर्युक्त चीजों का संकेत देती हैं, तो ऐसी राय को गम्भीर रूप से विचार न करने के आधार पर या अनिश्चितता के आधार पर या इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह राय सार्म्पश्विक आधारों पर बनाई गई थी और कानूनी की परिधि से परे थी।"

387. न्या० हिदायतुल्लाह ने अपनी पृथक् राय में यह मत व्यक्त किया—

"चूंकि 'परिस्थितियों' का अस्तित्व राय बनाए जाने के लिए आधारभूत शर्त है, अतः परिस्थितियों के अस्तित्व को, यदि उसे प्रश्नगत किया जाता है, कम-से-कम प्रथमदृष्ट्या साबित किया जाना (होता) है। यह प्राख्यान करना पर्याप्त नहीं है कि परिस्थितियां अस्तित्व में हैं और उनसे इस बारे में कोई संकेत नहीं मिलता है कि वे किस प्रकार की हैं, क्योंकि परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिएं, जिनसे विशेष निश्चितता के निष्कर्ष निकाले जा सके। निष्कर्ष, कपट करने के आशय, कपटपूर्ण या विधिविरुद्ध प्रयोजन, कपट या अवचार या विशेष प्रकार की जानकारी के विधारण के संबंध में होने चाहिए।"

388. विद्वान् न्यायाधीश ने इस संबंध में यह भी कहा—

"हमें यह देखना है कि क्या अध्यक्ष ने अपने शपथपत्र में ऐसी परिस्थितियों का अस्तित्व दर्शित किया है, जो ऐसे अस्थायी निष्कर्ष को अनिवार्य बनाती हैं। यदि उसने यह दर्शित किया है, जो उसकी कार्यवाही को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है, क्योंकि निष्कर्ष आत्मपरक रूप से निकाला जाना है और यदि इस न्यायालय ने भी ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाला होता, तब भी वह तथ्य असंगत होता। किंतु यदि उपदर्शित परिस्थितियां ऐसी हैं कि धारा 237 (ख) में वर्णित प्रकार का निष्कर्ष बिल्कुल भी नहीं निकाला जा सकता है तो कार्यवाही अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्ति से बाह्य और शून्य होगी।"

389. इस मामले में प्रतिपादित सिद्धांत न केवल स्वतः स्पष्ट हैं बल्कि उनका उसके पश्चात् एक समान ढंग से अनुसरण किया गया है। हम इन सिद्धांतों का पुनःउल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते, क्योंकि वे भलीभांति ज्ञात हैं।

390. विद्वान् काउंसेल **क्वीन** बनाम **टूही-एक्सपार्टी नार्दर्न लैण्ड काउंसिल**[1] वाले मामले में आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय का विनिश्चय हमारी जानकारी में लाए। एबोरीजिनल लैण्ड राइट्स (नार्दर्न टैरिटरी) ऐक्ट [आदिवासी भूमि अधिकार (उत्तरी राज्य क्षेत्र) अधिनियम], 1976 के अधीन, आदिवासियों के लिए, उनके द्वारा पारम्परिक रूप से अधिभोग में ली गई भूमि की वापसी (लौटाने) का दावा करने के लिए उपबंध किया गया था। अधिनियम के अधीन आवेदन आयुक्त को किया जाना था। न्या० तूही आयुक्त के रूप में कार्य कर रहे थे। आवेदन अभियोजक, उत्तरी भूमि परिषद् (नार्दर्न लैण्ड काउंसिल) द्वारा किया गया। भूमि अधिकार अधिनियम (लैण्ड राइट्स ऐक्ट) के अनुसार, ऐसा कोई भी दावा नहीं किया जा सकता था, यदि दावाकृत भूमि नगर में समाविष्ट थी। "नगर" पद को इस प्रकार परिभाषित किया गया कि उसका वही अर्थ था, जो नगर योजना और विकास से संबंधित विधि में दिया गया था। वर्ष 1979 में, एक पूर्वतर अधिनियम को अधिक्रांत करते हुए, योजना अधिनियम (प्लानिंग ऐक्ट) अधिनियमित किया गया। योजना अधिनियम की धारा 4(1) में "टाउन" (नगर) से, अन्यों के साथ-साथ, "विनियमों द्वारा ऐसे क्षेत्र के रूप में होने के लिए विनिर्दिष्ट भूमि अभिप्रेत थी, जिसे नगर के रूप में माना जाना है।" योजना अधिनियम के अधीन योजना विनियम उत्तरी राज्य क्षेत्र के प्रशासक द्वारा बनाए गए, जिनमें अन्य बातों के साथ-साथ, कोक्स पेनिन्सुला (दौड़ नाव का कर्णधार प्रायद्वीप) को "डार्विन टाउन" के रूप में विनिर्दिष्ट किया गया। कोक्स पेनिन्सुला को समुद्र की पट्टी द्वारा डार्विन टाउन खास से पृथक् किया गया। डार्विन टाउन खास से प्रायद्वीप पहुंचने के लिए भूमि-मार्ग कठिन और लम्बा था। उत्तरी भूमि परिषद् के अभियोजक ने इस आधार पर योजना विनियम की विधिमान्यता को चुनौती दी कि डार्विन टाउन में कोक्स पेनिन्सुला का समावेश, वस्तुतः योजना अधिनियम और तद्धीन बनाए गए विनियमों से संगत प्रयोजनों के लिए नहीं है, बल्कि एक बिल्कुल ही बाह्य प्रयोजन के लिए है। प्रश्न यह था कि क्या न्यायालयों द्वारा ऐसे अभिवाक् का अन्वेषण किया जा सकता है। दूसरे पक्ष की यह दलील थी कि प्रशासक राज्य क्षेत्र में क्राउन का प्रतिनिधि था और इसलिए उसके द्वारा प्रयुक्त शक्ति न्यायालयों द्वारा परीक्षा से उन्मुक्त थी। उत्तरी भूमि परिषद् के अभियोजक ने इस तर्क का यह कह कर कि प्रशासक क्राउन का सेवक मात्र है, न कि उसका प्रतिनिधि और इसलिए उसे कोई उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है, तथा इस आधार पर भी, खण्डन किया कि यदि वह क्राउन का प्रतिनिधि है भी, तब भी ऐसी कोई उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। अधिसंख्य न्यायाधीशों ने (न्या० मर्फी ने विसम्मति व्यक्त की) यह अभिनिर्धारित किया कि विनियमों का न्यायिक पुनर्विलोकन वर्जित नहीं था। उक्त निष्कर्ष का न्या० स्टीफन के शब्दों में उपवर्णित किया जाना बेहतर होगा—

परीक्षणीयता पर निष्कर्ष

"ब्रिटिश और राष्ट्रकुल (कामन वैल्थ) न्यायालयों में विनिश्चयों की प्रवृत्ति ने मुझे यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया है कि आस्ट्रेलियाई प्राधिकार (प्रामाणिकता) की अस्थिर स्थिति को देखते हुए, विनियम 5 की विधिमान्यता को परिषद् (काउंसेल) द्वारा प्रयतित रीति में चुनौती दी जा सकती थी। मुझे ऐसा मत उक्त सिद्धांत के अनुरूप प्रतीत

[1] 151 कामन वैल्थ ला रिपोर्ट्स 170.

होता है। उसमें विधायिका या कार्यपालिका के क्षेत्र में न्यायालयों द्वारा अतिक्रमण अंतर्वलित नहीं है। उसमें यह सुनिश्चित किया गया है कि जिस प्रकार सांविधानिक रूप से सीमित सक्षमता के विधान मण्डलों (विधायिकाओं) को शक्ति की अपनी सीमाओं के अंतर्गत रहना चाहिए, उसी प्रकार कार्यपालिका को भी अपनी शक्ति के अंतर्गत रहना चाहिए, क्योंकि विधान-मण्डल द्वारा उसे अनुदत्त शक्ति का उसके द्वारा प्रयोग उन प्रयोजनों तक सीमित रहता है, जिनके लिए वह शक्ति अनुदत्त की गई थी। उसके द्वारा क्राउन (सम्राट्/सम्राज्ञी) के प्रतिनिधि के कार्यों और क्राउन के मंत्रियों के कार्यों के बीच सिद्धांत का कोई अंतर नहीं रखा गया। उसके द्वारा उस तथ्य को मान्यता प्रदान की गई है कि कानूनी शक्तियों के प्रयोग में पूर्ववर्ती पश्चात् कथित की सलाह पर कार्य करता है; जैसा कि मु० न्या० लेथम ने आस्ट्रेलियाई साम्यवादी दल वाले मामले में कहा है, "सम्राज्ञी के प्रतिनिधि की राय वस्तुतः उस समय की सरकार की राय है।" यह बात कि उत्तरी राज्य क्षेत्र में ऐसी ही स्थिति है, नार्दर्न टैरिटरी (सेल्फ गवर्नमेंट) ऐक्ट [उत्तरी राज्य क्षेत्र (स्वशासन) अधिनियम], 1978 की धारा 33 से प्रकट हो जाती है।

मैं समुचित शब्दों द्वारा विधान मण्डल के यहां प्रश्नगत प्रकृति के न्यायिक पुनर्विलोकन को अपवर्जित करने की संभावना के प्रति पहले ही निर्देश कर चुका हूं। धारा 165(1) द्वारा प्रदत्त शक्ति की वर्तमान मंजूरी के निबंधनों में ऐसे अपवर्जन का कोई सुझाव नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि यह दर्शित कर दिया जाता है कि उक्त शक्ति के अधीन बनाया गया विनियम ऐसे प्रयोजन के लिए बनाया गया था, जो योजना अधिनियम से सर्वथा असम्बद्ध था, तो वह प्रदत्त शक्ति से बाह्य होगा और न्यायालय द्वारा ऐसा माना जाएगा।

391. इस मामले से यह सिद्ध हो जाता है कि किसी कार्यवाही की विधिमान्यता, चाहे वह कार्यवाही मंत्री द्वारा की गई हो या क्राउन के प्रतिनिधि द्वारा, न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है, भले ही वह कानून के अधीन की गई हो। यहां यह बात ध्यान में रखे जाने योग्य है कि इस मामले में प्रश्नगत विनियम, निस्संदेह, कानून के अधीन प्रशासक द्वारा बनाए गए थे, जिसके बारे में यह माना जाता था कि वह राज्य-क्षेत्र में क्राउन का प्रतिनिधि है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह तथ्य न्यायालय को प्रशासक द्वारा बनाए गए विनियमों की विधिमान्यता का पुनर्विलोकन करने से प्रवारित नहीं करती थी।

392. उन विभिन्न विनिश्चयों की अवेक्षा करने के पश्चात् जिनमें विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत (व्यक्त) किए गए हैं, अब हम इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अग्रसर होते हैं कि (उस समय) न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि और पहुंच क्या होनी चाहिए, जब अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा को चुनौती दी जाती है। इस प्रश्न का उत्तर देते समय, हमें इस तथ्य के प्रति सजग रहना चाहिए और हम इस तथ्य के प्रति सजग हैं भी कि अनुच्छेद 356(1) द्वारा राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति आपवादिक स्वरूप की शक्ति है, जो यह सुनिश्चित करने के लिए आशयित है कि राज्यों का शासन संविधान के अनुसार चलाया जाता है। हम इस तथ्य से भी अवगत हैं इस शक्ति का दुरुपयोग या कुप्रयोग हमारे सांविधानिक तंत्र पर कहर ढा देगा। सरकार के उस रूप को ध्यान में रखते हुए, जो हमने अंगीकृत किया है, वस्तुतः शक्ति प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली मंत्रीपरिषद् की है। एक

अर्थ में, वह वस्तुतः शक्ति नहीं है, बल्कि वह राज्यों में सांविधानिक शासन के परिरक्षण के हित में राष्ट्रपति पर अधिरोपित बाध्यता है। वह तत्समय केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के हितों को परिरक्षित रखने या उनका संवर्धन करने के लिए परिकल्पित शक्ति नहीं है और न उसके बारे में यह माना जाता है कि वह ऐसा शस्त्र है, जिससे आप अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी प्रहार कर सकते हैं। स्वयं इस शक्ति की भीषणता—सम्यक् रूप से गठित सरकार को बर्खास्त करके और सम्यक् रूप से निर्वाचित विधानसभा को विघटित करके, राज्य के लोगों की इच्छा को अकृत करना—यथा-स्थिति, उसके बार-बार प्रयोग या दुरुपयोग के विरुद्ध चेतावनी के रूप में होनी चाहिए। इस शक्ति के हर दुरुपयोग में ऐसे परिणाम अंतर्वलित होते हैं, जो तुरन्त स्पष्ट न हों, किंतु वे कुछ वर्षों के पश्चात् दूषित रूप में सामने आते हैं। आप जैसा बीज बोएंगे, वैसा ही फल पाएंगे। बुद्धिमत्ता संयम बरतने में है न कि 'अति' करने में।

393. जब कभी अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा को चुनौती दी जाती है, (तब) न्यायालय, निस्संदेह, यह उपधारणा लेकर चलेगा कि वह विधिमान्य रूप से जारी की गई थी। किंतु वह उस स्थिति में हस्तक्षेप करने से नहीं हिचकिचाएगा और उसे हिचकिचाना भी नहीं चाहिए, यदि उद्घोषणा की अविधिमान्यता या असंवैधानिकता स्पष्ट रूप से साबित कर दी जाती है। ऐसे मामले में हस्तक्षेप करने से इनकार करना संविधान द्वारा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों पर अधिरोपित कर्तव्य के त्यजन की कोटि में आएगा। अब, वे आधार कौन-से हैं, जिन पर न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है और उद्घोषणा को विखंडित कर सकता है। इसमें इससे पूर्व विनिश्चयों पर विचार करते समय, हम **भगत सिंह बनाम सम्राट्**[1] और **सम्राट् बनाम बनवारी लाल शर्मा**[2] वाले मामलों में प्रिवी कौंसिल द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण की अस्वीकार्यता उपदर्शित कर चुके हैं। यह बात, न्यायिक पुनर्विलोकन की संकल्पना के वर्तमान प्रभावकारिता अर्जित करने से काफी पहले, वर्ष 1931 और 1944 की थी। जैसा कि पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय द्वारा कहा गया है, उक्त मत जनतांत्रिक राज्यतंत्र के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त है। प्रिवी कौंसिल ने भी उस मत पर जोर नहीं दिया है, जैसा कि **मलाया स्टीफन केलोंग निंगकन बनाम मलेशिया सरकार**[3] वाले मामले में उसके विनिश्चय से स्पष्ट हो जाता है। इस मामले में प्रिवी कौंसिल ने इस धारणा के आधार पर कार्यवाही की कि ऐसी उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है। इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर, उसने कार्यवाही को न्यायोचित पाया। अब पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण पर आने पर, यह अवश्य ही कहा जाना चाहिए—जैसा कि इसमें इससे पूर्व उपदर्शित किया जा चुका है—कि वह पाकिस्तान के संविधान की धारा 58(2)(ख) द्वारा राष्ट्रपति को प्रदत्त शक्ति के स्वरूप द्वारा अति रंजित है। परिसंघीय सरकार और राष्ट्रीय सभा को बर्खास्त करने की शक्ति राष्ट्रपति और केवल राष्ट्रपति में ही निहित है। उसे अपने वैयक्तिक विवेक और निर्णय के अनुसार उस शक्ति का प्रयोग करना होता है। कहा जा सकता है कि वहां संपूर्ण पद्धति (तन्त्र) के विरुद्ध एक

[1] ए० आई०आर० 1931 प्रिवी कौंसिल 111.
[2] (1944) 72 आई० ए० 57 (प्रिवी कौंसिल)
[3] (1970) ए० सी० 379.

व्यक्ति (राष्ट्रपति) है—यद्यपि वह व्यक्ति भी लोगों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित किया जाता है। यह बात हमारे संविधान के बारे में सच नहीं है।—यहां राष्ट्रपति संघ मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से काम करता है, न कि अपनी वैयक्तिक हैसियत में। इसके अतिरिक्त, संसद् द्वारा अनुमोदन का नियंत्रण है, जिसमें (संसद् में) उस राज्य से भी सदस्य होते हैं (जिस राज्य की सरकार/विधानसभा के विरुद्ध कार्यवाही की जाती है)। जहां तक ऊपर निर्दिष्ट बेरियम केमिकल्स वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण का संबंध है, वह कानून द्वारा सर्जित प्राधिकारी के आत्मपरक समाधान के संबंध में विनिश्चय है। अतः, उसमें प्रतिपादित सिद्धांत, स्वतः, अनुच्छेद 356 के अधीन सांविधानिक शक्ति के प्रयोग तक विस्तारित नहीं किए जा सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि यह राष्ट्र के उच्चतम सांविधानिक कृत्यकारी द्वारा प्रयुक्त सांविधानिक शक्ति है, कानूनी या प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा की गई कार्यवाही के मामले में लागू कसौटियों को अपनाना उचित नहीं होगा, किसी भी दशा में, संपूर्णता में तो बिल्कुल भी नहीं। बल्कि हम राजस्थान राज्य वाले उपर्युक्त मामले में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित प्रतिपादना को अंगीकृत करेंगे, जिसके बारे में हम अभी विस्तार से चर्चा करेंगे। हम इस तथ्य को भी मान्यता प्रदान करते हैं, जैसा कि सी०सी०एम०यू० बनाम मिनिस्टर फार दि सिविल सर्विस वाले मामले में हाउस आफ लार्ड्स् ने किया है, कि उसमें विशद रूप से वर्णित क्षेत्रों सहित, ऐसे कतिपय क्षेत्र हैं, जिनमें न्यायालय मामले को प्रायः पूर्णतः राष्ट्रपति/संघ सरकार के लिए छोड़ देगा। न्यायालय उन क्षेत्रों में प्रवेश करने से बचते हैं, क्योंकि उन कृत्यों की प्रकृति ही इस प्रकार की होती है। वे ऐसे मामले नहीं हैं, जिन पर विचार करने के लिए न्यायालय सक्षम है। न्यायालय ने उन मामलों में कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया है, क्योंकि वे, स्वप्रकृत्या न्यायिक पुनर्विलोकन को स्वीकार नहीं करते। विदेशी नीति से संबंधित विषय, अन्य देशों के साथ संबंध, रक्षा नीति, विदेशी शक्तियों के साथ संधि करने की शक्ति, युद्ध और शान्ति से संबंधित मुद्दे ऐसे कुछ विषय हैं, जिनमें न्यायालय न्यायिक पुनर्विलोकन की याचिका विचारार्थ ग्रहण करने से इनकार कर देगा। किंतु अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। यह दूसरी बात है कि किसी विशेष मामले में न्यायालय हस्तक्षेप न करे। यहां इस बात की अभिपुष्टि आवश्यक है कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्मुक्त नहीं है, यद्यपि उसके प्राचल (परिमापी) आत्मपरक समाधान के सामान्य मामले से भिन्न हो सकते हैं।

394. निःशेषकारी होने का प्रयास किए बिना, यह कहा जा सकता है कि यदि कोई उद्घोषणा विद्वेषपूर्ण पाई जाती है या पूर्णतः बाह्य और/या असंगत आधारों पर आधारित पाई जाती है, तो वह विखण्डित की जा सकती है, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में विद्वान् न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा उपदर्शित किया गया है। इस अभिनिर्धारण को अनुच्छेद 74(2) के अर्थ और परिधि पर हमारी राय और इस अतिरिक्त परिस्थिति के प्रकाश में पढ़ा जाना चाहिए कि खण्ड (5) का जिसके द्वारा उद्घोषणा की विधिमान्यता की परीक्षा करने के लिए न्यायालयों की अधिकारिता अभिव्यक्त रूप से वर्जित कर दी गई थी, संविधान के चवालीसवें संशोधन द्वारा लोप कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में, सामग्री की सत्यता या शुद्धता को न्यायालय द्वारा प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है और न वह (न्यायालय) सामग्री की पर्याप्तता पर ही विचार करेगा। वह राष्ट्रपति की राय के स्थान पर अपनी राय

भी प्रतिस्थापित नहीं करेगा । यदि ऐसी कोई सामग्री, जिसके आधार पर कार्यवाही की जाती है, असंगत पाई भी जाती है, तब भी न्यायालय तब तक हस्तक्षेप नहीं करेगा, जब तक कार्यवाही को उचित ठहराने वाली कोई सुसंगत सामग्री है । विद्वेष के आधार में, अन्य चीज़ों के साथ-साथ, ऐसी स्थितियां भी सम्मिलित हैं, जिनमें उद्घोषणा शक्ति के दुरुपयोग के स्पष्ट मामले के रूप में पाई जाती है, या जिसे कभी-कभी शक्ति के साथ कपट के रूप में वर्णित किया जाता है—ऐसे मामले के रूप में, जिसमें इस शक्ति का कुटिल साध्य की पूर्ति के लिए अवलंब लिया जाता है । वास्तव में, यह उक्त आधार का विशदीकरण मात्र है । मेघालय वाले मामले से, जिस पर इसमें इसके पश्चात् चर्चा की गई है, यह दर्शित होता है कि हस्तक्षेप की अपेक्षा करने वाले मामलों के प्रकार समाप्त या निःशेषकारी रूप से विनिर्दिष्ट नहीं किए जा सकते हैं । यह ऐसा मामला है, जैसा कि अभी कुछ बाद में विस्तृत रूप से वर्णित किया जाएगा, जिसमें राज्यपाल ने इस न्यायालय के आदेशों की स्पष्ट अवहेलना करते हुए, सरकार की बर्खास्तगी और सभा के विघटन की सिफारिश की । इस न्यायालय के आदेशों को कार्यान्वित करने के बजाय, जैसा कि उसे करना चाहिए था, उसने इस आधार पर सरकार की बर्खास्तगी की सिफारिश की कि वह बहुमत का समर्थन खो चुकी है, जब वस्तुतः उसे इस न्यायालय के आदेशों का अनुसरण करते हुए, यह अभिनिर्धारित करना चाहिए था कि उसने बहुमत का समर्थन नहीं खोया है । उसकी कार्यवाही को विद्वेष के स्पष्ट मामले के रूप में भी वर्णित किया जा सकता है । यह बात कि ऐसी रिपोर्ट के आधार पर कार्यवाही करते हुए उद्घोषणा जारी की गई, कम आपत्तिजनक (बात) नहीं है ।

395. यहां इस तथ्य पर पुनः बल देना आवश्यक है कि उद्घोषणा की विधिमान्यता की परीक्षा करते समय न्यायालय को इस तथ्य से अवगत रहना चाहिए कि यह (शक्ति) राष्ट्र के उच्चतम सांविधानिक कृत्यकारी में निहित शक्ति है । न्यायालय दुरुपयोग या कुप्रयोग की आसानी से उपधारणा नहीं करेगा । न्यायालय को, इस तथ्य को मान्यता (महत्त्व) देते हुए, अत्यंत सावधानी से (धीमे-धीमे) चलना है, जैसा कि उसे करना ही चाहिए, कि राष्ट्रपति और संघ मंत्रिपरिषद् स्थिति के सर्वोत्तम निर्णायक है; यह कि केवल उनके पास ही सुसंगत जानकारी और सामग्री होती है, जो कभी-कभी प्रकृति में संवेदनशील होती है; और यह कि संविधान ने उस विषय में उनके निर्णय में विश्वास निहित किया है । किन्तु इस सबका यह अर्थ नहीं है कि राष्ट्रपति और संघ मंत्रिपरिषद् मामले में अंतिम मध्यस्थ हैं या कि उनकी राय निर्णायक (विनिश्चायक) है । स्वतः यह तथ्य कि संविधान-निर्माताओं ने संसद् द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदन का उपबंध करना उचित समझा है, इस तथ्य का सबूत है कि राष्ट्रपति (जिसका सदा अर्थ है प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में संघ मन्त्रिपरिषद्) की राय या समाधान अंतिम या विनिश्चायक नहीं है । यह बात सुविदित है कि सरकार के संसदीय रूप में, जिसमें प्रायः सत्तारूढ़ दल को संसद् में बहुमत प्राप्त होता है, प्रायः सादा बहुमत द्वारा संसद् का अनुमोदन अभिप्राप्त करना कठिन नहीं होता है । कदाचित् इसी कारण अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) द्वारा सृजित नियंत्रण व्यवहार में उतना प्रभावी नहीं रहा है, जितना कि उसे होना चाहिए था । इसी तथ्य से कि मेघालय और कर्नाटक वाले मामलों जैसे मामलों में भी संसद् के दोनों सदनों ने उद्घोषणा का अनुमोदन कर दिया, इस नियंत्रण की कमजोरी दर्शित होती है । इस मामले में राष्ट्रपति के विनिश्चय की अन्तिमता के समर्थकों को भी यह स्वीकार करना होगा कि उक्त नियंत्रण प्रभावी नियंत्रण साबित नहीं हुआ है । और न वे

दृढ़ता से यह सकते हैं कि इस संबंध में न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित किया गया है। यदि अनुच्छेद 72 के अधीन क्षमा और दंडादेश के परिहार के मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित नहीं किया गया है—जो प्रकटतः एक आत्यंतिक और असीमित शक्ति है—तो यह समझना कठिन है कि किस सिद्धांत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति जैसी सशर्त शक्ति के मामले में उसे अपर्जित किया गया है।

396. हम यह मानते हैं कि न्यायिक प्रक्रिया की कुछ अंतर्निहित परिसीमाएं होती हैं। यह प्रक्रिया, देश का प्रशासन करने की तुलना में, विवादों के न्याय निर्णयन के लिए अधिक उपयुक्त है। शासन करने का कार्य कार्यपालिका का (कार्य) है। कार्यपालिका से यह जानने की आशा की जाती है कि देश का शासन किस प्रकार चलाया जाए, जबकि न्याय-पालिका का कृत्य यह सुनिश्चित करने तक सीमित है कि शासन संविधान और विधि के अनुसार चलाया जाता है। न्यायपालिका ऐसे मामलों में कार्यपालिका की राय को सम्यक् महत्व देती है, जैसा कि उसे देना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कार्यपालिका की हर राय को मान लेगी। जो बातें अन्ततः न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि को अवधारित करती हैं, वे हैं किसी विशेष मामले के तथ्य और परिस्थितियां। मेघालय और कर्नाटक मामलों जैसा कोई मामला स्पष्ट मामला हो सकता है, जहां न्यायालय बिना किसी हिचकिचाहट के यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि उद्घोषणा अविधिमान्य है। मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश से संबंधित मामलों जैसे मामले भी हो सकते हैं, जिनमें स्थिति इतनी जटिल, अकल्पनीय बातों से युक्त और शीघ्र परिवर्तनशील होती है कि न्यायालय उसे ऐसे मामलों के रूप में नहीं पाता है, जिसमें न्यायिक अनुमान का कोई महत्व हो; यह कि वह ऐसा मामला है, जो कार्यपालिका के निर्णय के लिए और उसके द्वारा ही उसका निपटारा किए जाने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए, और हो सकता है कि अंतिम विश्लेषण में स्वयं लोगों द्वारा निर्णय के लिए ही छोड़ दिया जाना चाहिए। हमने जो कुछ कहा है उसे प्रदर्शित करने की सर्वोत्तम रीति हमारे समक्ष वाले ठोस मामलों पर विचार करना है।

397. भारत संघ के विद्वान् काउंसेल श्री पाराशरन् ने यह दलील दी कि (चूंकि) खण्ड (1) के अधीन उद्घोषणा का संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन कर दिया गया है जैसा कि खण्ड (3) द्वारा अनुध्यात किया गया है, अतः उद्घोषणा विधान का स्वरूप धारण, कर लेती है और उसे केवल ऐसे आधारों पर ही विखंडित किया जा सकता है, जिन पर किसी विधान को विखण्डित किया जा सकता है। हम इससे सहमत नहीं हो सकते हैं। संसद् का प्रत्येक कार्य विधान की कोटि में नहीं आता है और उसका परिणाम विधान नहीं होता है, यद्यपि विधायन उसका मुख्य कृत्य है। संसद् अनेक अन्य कृत्यों का भी निर्वहन करती है जैसे कि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन, मन्त्रिमण्डल में विश्वास का मत/अविश्वास, राष्ट्रपति द्वारा अभिभाषण के पश्चात् राष्ट्रपति को धन्यवाद प्रस्ताव, आदि। इन कृत्यों में से एक कृत्य खण्ड (3) के अधीन उद्घोषणा का अनुमोदन है। ऐसा अनुमोदन कल्पना की किसी भी उड़ान द्वारा 'विधान' नहीं कहा जा सकता है। उसे विधेयक के रूप में प्रक्रियागत और पारित नहीं किया जाता है और न वह राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उनके समक्ष प्रस्तुत ही किया जाता है। उसका विधिक स्वरूप पूर्णतः भिन्न है। वह यह सांविधानिक कृत्य है—खण्ड (1) के अधीन शक्ति के प्रयोग पर एक नियंत्रण। वह खण्ड (1) के अधीन शक्ति के समुचित प्रयोग

को सुनिश्चित करने के हित में परिकल्पित रक्षोपाय है। यह भिन्न बात है कि व्यवहार में यह नियंत्रण प्रभावी साबित नहीं हुआ है। किंतु ऐसा भविष्य में या आने वाले सभी समयों में नहीं भी हो सकता है। बहरहाल, वह निश्चय ही विधान या स्वरूप में विधायी नहीं है।

398. याचियों के विद्वान् काउंसेल श्री शान्ति भूषण ने यह दलील दी कि चवालीसवें संशोधन द्वारा खण्ड(5) के विलोप में, जो खण्ड 38वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया, अनिवार्यतः यह विवक्षित है कि खण्ड (1) के अधीन शक्ति का प्रयोग कहीं अधिक विस्तृत रीति में न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है। खण्ड (5), जैसा कि वह अड़तीसवें संशोधन द्वारा जोड़ा गया था, इस प्रकार था—

> "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, खण्ड (1) में वर्णित राष्ट्रपति का समाधान अन्तिम और निर्णायक होगा और उसे किसी आधार पर किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं जाएगा।"

399. इस खण्ड के प्रभाव पर इस न्यायालय ने ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य वाले मामले में विचार किया। यह अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त खण्ड न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करने से प्रवारित नहीं करता है कि क्या शक्ति का प्रयोग विद्वेषपूर्ण है या वह बाह्य आधारों पर आधारित है या किसी समाधान पर आधारित ही नहीं है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त खण्ड द्वारा न्यायालय को पूर्वोक्त आधारों पर उद्घोषणा पर विचार करने से निवारित नहीं किया गया है। तथापि, हम इस बात से सहमत हैं कि इस खंड का विलोप, निश्चय ही, इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि न्यायिक पुनर्विलोकन के मार्ग में सर्जित अभिव्यक्त वर्जन, संसद् की संघटक शक्ति के प्रयोग में अब जानबूझकर और विमर्शित रूप में हटा लिया गया है। (देखें ऊपर निर्दिष्ट ए० के० राय बनाम भारत संघ वाला मामला)। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति पर इस खण्ड द्वारा अधिरोपित आवरण उठा लिया गया है।

400. भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री पाराशरन् ने यह दलील दी कि जहां कोई व्यक्ति अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती देता है, वहां उसकी चुनौती की विधिमान्यता को सिद्ध करने का भार उस पर अधिरोपित रहता है। और उसके पक्षकथन को सिद्ध करने में याची को सहायता देना भारत संघ का काम नहीं है। इस संबंध में ऊपर निर्दिष्ट स्टीफन केलोंग निनकोंग वाले मामले में की गई कुछ मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया गया है। उन्होंने यह निवेदन किया कि न्यायालय के लिए यह सही परिपाटी (प्रथा) नहीं होगी कि वह केवल इस कारण उद्घोषणा की विधिमान्यता को न्यायोचित ठहराने और उसे सिद्ध करने के लिए भारत संघ से कहे कि कोई व्यक्ति उसे प्रश्नगत करना चाहता है। हम नहीं समझते कि इस आधार पर किसी प्रकार के भ्रम की कोई गुंजाइश है और न ऊपर निर्दिष्ट बेरियम केमिकल्स वाले मामले में न्या० हिदायतुल्लाह की मताभिव्यक्तियों को, जिन्हें अन्यत्र उद्धृत किया गया है, इस प्रकार समझा जा सकता है कि उनमें ऐसा कहा गया है। हम इस बात पर सहमत हैं कि केवल इस कारण कि कोई व्यक्ति उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती देता है, न्यायालय सामान्य अनुक्रम में भारत संघ से उस सामग्री/जानकारी को प्रस्तुत करने के लिए नहीं कहेगा, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपेक्षित समाधान किया था। न्यायालय का प्रथमदृष्ट्या याची द्वारा किए गए प्रकथनों और उसके द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर, यदि कोई हो, यह समा-

धान होना चाहिए कि यह ऐसा मामला है, जिसमें भारत संघ से ऐसी सामग्री/जानकारी प्रस्तुत करने के लिए कहा जाना चाहिए, जिसके आधार राष्ट्रपति ने अपेक्षित समाधान किया था। उसके पश्चात् ही भारत संघ उसे प्रकट करने का कर्तव्य अधिरोपित (होता) है, चूंकि वह सामग्री/जानकारी, जिसके आधार पर समाधान किया गया था, केवल भारत संघ को उपलब्ध और ज्ञात है, अतः न्यायालय को यह बताना उसका कार्य है कि सामग्री/जानकारी क्या थी। यह भारत संघ की विशेष जानकारी के अंतर्गत आने वाले विषय हैं। ऐसे मामले में केवल भारत संघ को ही न्यायालय का यह समाधान करने के लिए कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति के समक्ष सुसंगत सामग्री/जानकारी थी, जिसके आधार पर उसने कार्य किया था। ऐसा हो सकता है कि किसी विशेष मामले में सामग्री/जानकारी ऐसी हो कि भारत संघ भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 द्वारा उपबंधित विशेषाधिकार का दावा करना आवश्यक समझे। यह स्पष्ट है कि जैसे और जब ऐसे दावा किया जाता है, उस पर विधि के अनुसार कार्यवाही की जाएगी।

401. इस प्रश्न के संबंध में हम यह उल्लेख करना उचित समझते हैं यदि किसी विशेष मामले में उद्घोषणा में पर्याप्त विनिर्दिष्टता सहित, कारण दिए जाते हैं, जिनके लिए उद्घोषणा जारी की गई थी, तो न्यायालय को भारत संघ से सामग्री/जानकारी प्रस्तुत करने के लिए कहने से पूर्व यह समाधान करना होगा कि उद्घोषणा में दिए गए कारण प्रथम-दृष्टया, उपेक्षित समाधान करने के लिए असंगत थे और/या यह ऐसा मामला है, जिसमें भारत संघ से, फिर भी, उस सामग्री/जानकारी को प्रस्तुत करने के लिए कहा जाना चाहिए, जिसके आधार पर उसने समाधान किया था। कदाचित् भारत संघ के लिए उन कारणों और आधारों को वर्णित करने की पद्धति का अनुसरण करना उचित होगा, जिन पर अपेक्षित समाधान किया गया।

अनुच्छेद 356—क्या वह केवल ऐसे मामले तक ही सीमित है जिनमें राज्य सरकार, केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी किए गए निदेशों का पालन करने में असफल रहती है या पालन करने से इनकार करती है।

402. कुछ याचियों के विद्वान काउंसेल श्री जेठमलानी ने यह निवेदन किया कि संविधान के अनुच्छेद 365 को देखते हुए, वह एकमात्र स्थिति, जिसमें अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा शक्ति का अवलंब लिया जा सकता है, राज्य सरकार की संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ की कार्यपालिक शक्ति के प्रयोग में दिए गए निदेशों का अनुपालन करने या उन्हें प्रभावी बनाने में असफलता है, किसी अन्य मामले में नहीं। इस संबंध में अनुच्छेद 256 और 257 के प्रति निर्देश किया गया है। इस प्रक्रम पर उक्त तीनों अनुच्छेदों का परिशीलन उचित होगा—

> 256. राज्यों की और संघ की बाध्यता—प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा जिससे संसद द्वारा बनाई गई विधियों को और ऐसी विद्यमान विधियों का जो उस राज्य में लागू हैं, अनुपालन सुनिश्चित रहे और संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक होगा जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हों।

257. कुछ दशाओं में राज्यों पर संघ का नियंत्रण—

(1) प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा जिससे संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन या उस पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े और संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक होगा जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हो।

(2) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को ऐसे संचार साधनों के निर्माण और बनाए रखने के बारे में निदेश देने तक भी होगा जिनका राष्ट्रीय या सैनिक महत्व का होना उस निदेश में घोषित किया गया है :

परंतु इस खंड की कोई बात किसी राज्यमार्ग या जल मार्ग राष्ट्रीय राजमार्ग या राष्ट्रीय जलमार्ग घोषित करने की संसद की शक्ति अथवा इस प्रकार घोषित राजमार्ग या जलमार्ग के बारे में संघ की शक्ति को अथवा सेना, नौसेना और वायुसेना संकर्म विषयक अपने कृत्यों का भाग मानकर संचार साधनों के निर्माण और बनाए रखने की संघ की शक्ति को निर्बन्धित करने वाली नहीं मानी जाएगी।

(3) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य में रेलों के संरक्षण के लिए किए जाने वाले उपायों के बारे में उस राज्य को निदेश देने तक भी होगा।

(4) जहां खण्ड (2) के अधीन संचार साधनों के निर्माण या बनाए रखने के बारे में अथवा खण्ड (3) के अधीन किसी रेल के संरक्षण के लिए किए जाने वाले उपायों के बारे में किसी राज्य को दिए गए किसी निदेश के पालन में उस खर्च से अधिक खर्च होता है जो, यदि ऐसा निदेश नहीं दिया गया होता तो, राज्य के प्रसामान्य कर्तव्यों के निर्वहन में खर्च होता वहां उस राज्य द्वारा इस प्रकार किए गए अतिरिक्त खर्चों के संबंध में भारत सरकार द्वारा उस राज्य को ऐसी राशि का जो करार पाई जाए या करार के अभाव में ऐसी राशि का जिसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा नियुक्त मध्यस्थ अवधारित करे, संदाय किया जाएगा।

365. संघ द्वारा दिए गए निदेशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में असफलता का प्रभाव—जहां इस संविधान के किसी उपबंध के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए किन्हीं निदेशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल रहता है, वहां राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।

403. हमारी राय में, जो दलील दी गई है वह स्वीकार्य नहीं है। अनुच्छेद 256 में केवल यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा जिससे संसद द्वारा बनाई गई विधियों का, चाहे वे विद्यमान हों या भविष्य में बनाई जाएं, अनुपालन सुनिश्चित रहे। उसमें यह कहा गया है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा, जो भारत सरकार को इस

प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हों। यह अनुच्छेद संसदीय अधिनियमितियों के समुचित और सम्यक् कार्यान्वयन और उक्त प्रयोजन के लिए निदेश देने की शक्ति तक सीमित है। अनुच्छेद 257 में यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा जिससे संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन न आए या उस पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े, और उसे सुनिश्चित करने के लिए संघ सरकार को, समुचित निदेश देने के लिए, सशक्त किया गया है। खण्ड (2), (3) और (4) में, अनुच्छेद 365 (1) के खण्ड (1) में अंतर्विष्ट शक्ति के दृष्टान्त (उदाहरण) और व्याख्या दी गई है, जो प्रसंगवश, भाग 18 में नहीं है; किन्तु भाग 19 (प्रकीर्ण) में केवल यह कहा गया है कि जहां कोई राज्य संविधान के किसी उपबंध के अधीन अपनी कार्यकालिका शक्ति के प्रयोग में भारत संघ द्वारा दिए गए किसी निदेश का अनुपालन करने या उसे प्रभावी बनाने में असफल रहा हो, वहां राष्ट्रपति के लिए यह अभिनर्धारित करना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें संविधान के उपबंधों के अनुसार राज्य का शासन नहीं चलाया जा सकता है। उक्त अनुच्छेद में केवल ऐसा एक उदाहरण उपवर्णित किया गया है, जिसमें राष्ट्रपति यह अभिनिर्धारित कर सकते हैं कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। उसे उस स्थिति के निःशेषकारी उपबंध के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता है, जिसमें राष्ट्रपति उक्त समाधान कर सकते हैं। यह कहना पर्याप्त है कि दिए गए निदेश विधिपूर्ण होने चाहिए और उनकी अवज्ञा से अनुच्छेद 356(1) द्वारा अनुध्यात स्थिति उत्पन्न होनी चाहिए। अनुच्छेद 365 में मात्र यह कहा गया है कि दिए गए निदेशों का अनुपालन करने में असफलता की दशा में, राष्ट्रपति के लिए यह मानना "विधिपूर्ण होगा" कि अपेक्षित प्रकार की स्थिति (अनुच्छेद 356 (1) द्वारा अनुध्यात) ऐसी स्थिति, जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है उत्पन्न हो गई है। ऐसा नहीं है कि स्वतः हर प्रकार की असफलता अपेक्षित स्थिति को जन्म दे। राष्ट्रपति को प्रत्येक मामले में यह निर्णय करना होता है कि क्या ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है। अनुच्छेद 365 में यह कहा गया है कि उनके लिए ऐसे मामले में ऐसा कहना अनुज्ञेय है। उन्हें विवेकाधिकार उपलब्ध है और उसका ऋजुतापूर्वक प्रयोग किया जाना होता है।

अलग-अलग मामलों के तथ्य और गुणागुण

कर्नाटक

404. तारीख 21 अप्रैल, 1989 की उद्घोषणा द्वारा, राष्ट्रपति ने कर्नाटक सरकार बर्खास्त कर दी, विधान सभा विघटित कर दी, सरकार और राज्यपाल की शक्तियां अपने हाथ में ले लीं राज्य विधान मण्डल की शक्तियां संसद में निहित कर दीं और उक्त राज्य की बाबत संविधान के अनेक उपबंधों को निलम्बित करते हुए, अन्य आनुषंगिक और सहायक उपबंध किए। उद्घोषणा में कोई कारण अंतर्विष्ट नहीं हैं, सिवाय राष्ट्रपति के समाधान के वर्णन के। उक्त समाधान अभिकथित रूप से राज्यपाल की रिपोर्ट और उनके द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी पर विचार करने के पश्चात् किया गया है। उस समय श्री एस० आर० बोम्मई मुख्यमंत्री थे।

405. मार्च, 1985 में विधानसभा के लिए कराए गए निर्वाचनों के पश्चात् जनता विधान मण्डल (विधायी) दल राज्य विधान मण्डल में बहुमत वाले दल के रूप में सामने आया। श्री रामकृष्ण हेगड़े को जनता विधान मण्डल दल के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया और उन्हें मार्च, 1985 में मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलायी गई। अगस्त, 1988 में श्री हेगड़े ने त्यागपत्र दे दिया और श्री बोम्मई को नेता निर्वाचित किया गया और उन्हें तारीख 30 अगस्त, 1988 को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई। सितम्बर, 1988 में जनता पार्टी और लोक दल (ब) का विलय हो गया, जिसके परिणामस्वरूप जनता दल का निर्माण हुआ। कर्नाटक विधानमण्डल में जनता पार्टी का जनता दल के रूप में पुनः नामकरण हुआ। तारीख 15 अप्रैल, 1989 को श्री बोम्मई ने मंत्रिमंडल का विस्तार किया, जिसमें 13 और सदस्य सम्मिलित किए गए। तारीख 17 अप्रैल, 1989 को एक विधायक श्री कल्याण राव मोलाकेरी ने दल-बदल किया और उन्होंने जनता दल सरकार को अपना समर्थन वापस लेते हुए, राज्यपाल को एक पत्र प्रस्तुत किया। अगले दिन वह राज्यपाल से मिले और उन्होंने राज्यपाल के समक्ष 19 पत्र प्रस्तुत किए, जो तात्पर्यतः 17 जनता दल विधायकों, एक सह-युक्त निर्दलीय विधायक और एक भारतीय जनता पार्टी विधायक द्वारा हस्ताक्षरित किए गए थे और जिनमें सरकार को (दिया गया) उनका समर्थन वापस ले लिया गया था। राज्यपाल ने अभिकथित रूप से विधायी विभाग के सचिव को बुलाया और पत्रों पर किए गए हस्ताक्षरों की प्रामाणिकता को सत्यापित कराया। निस्संदेह, उन्होंने इस घटनाओं के बारे में श्री बोम्बई को सूचित नहीं किया। तारीख 19 अप्रैल, 1989 को राज्यपाल ने राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी, जिसमें यह कहा गया (था) कि जनता पार्टी में मतभेद हैं, जिनके कारण पहले श्री हेगड़े को त्यागपत्र देना पड़ा और अब जनता दल के निर्माण के पश्चात् भी मतभेद बने हुए हैं और दल-बदल हुआ है। उन्होंने दल-बदल करने वाले सदस्यों से उनके द्वारा प्राप्त पत्रों के प्रति निर्देश किया और यह राय व्यक्त की कि उस कारण शासक दल विधानसभा में अल्पसंख्यक हो गया (अल्पमत में आ गया) है। उन्होंने यह कहा कि श्री बोम्मई के नेतृत्व वाले मंत्रिपरिषद् को सदन में बहुमत प्राप्त नहीं है, और इसलिए संविधान के अधीन राज्य का ऐसी कार्यपालिका द्वारा प्रशासन कराना उचित नहीं होगा, जिसमें ऐसी मंत्रिपरिषद् है, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त नहीं है। उन्होंने यह राय व्यक्त की कि कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है इसलिए उन्होंने अनुच्छेद 356(1) के अधीन कार्यवाही किए जाने की सिफारिश की।

406. तारीख 20 अप्रैल, 1989 को उन विधायकों में से, जिन्होंने अभिकथित रूप से राज्यपाल को पत्र प्रस्तुत किए थे, 7 (सात) विधायकों ने राज्यपाल को पत्र प्रस्तुत किए, जिनमें यह शिकायत की गई थी कि उन पत्रों पर उनके हस्ताक्षर दुर्व्यपदेशन द्वारा और उनको गुमराह करके अभिप्राप्त किए गए थे। उन्होंने बोम्मई मंत्रिमण्डल को अपने समर्थन की पुनः पुष्टि की। उसी दिन, राज्य मंत्रिमण्डल की बैठक हुई और उसने तारीख 27 अप्रैल, 1989 को विधानसभा का सत्र संयोजित करने का विनिश्चय किया। उसी दिन मुख्यमंत्री और विधि मंत्री राज्यपाल से मिले और उन्हें विधानसभा सत्र आहूत करने के बारे में सूचित किया। वे सरकारिया आयोग की इस सिफारिश को भी राज्यपाल की जानकारी में लाए कि मुख्यमंत्री के समर्थन और शक्ति का सदन के पटल पर परीक्षण किया जाना चाहिए। श्री बोम्बई ने सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने की पेशकश की। उन्होंने विधान-

सभा सत्र निश्चित तारीख से पूर्व भी आहूत करने की अपनी तत्परता (तैयारी) भी व्यक्त की, यदि राज्यपाल ऐसा चाहें। उन्होंने भारत के राष्ट्रपति को इस आशय का एक टैलैक्स संदेश भी भेजा। इस सब के बावजूद, राज्यपाल ने तारीख 20 अप्रैल, 1989 को भारत के राष्ट्रपति को एक अन्य रिपोर्ट भेजी, जिसमें 7 सदस्यों के उस पत्र के प्रति निर्देश किया गया, जिसके द्वारा उन्होंने अपने पूर्वतर पत्र वापस ले लिए थे और यह राय व्यक्त की थी कि श्री बोम्मई द्वारा उक्त पत्र स्पष्टतः उन विधानसभा सदस्यों पर दबाव डालकर अभिप्राप्त किए गए थे। उन्होंने यह रिपोर्ट दी कि "खरीद-फरोख्त चल रही है और वातावरण दूषित हो रहा है।" उन्होंने अपनी इस राय पर पुनः जोर दिया कि श्री बोम्मई राज्य विधानसभा में बहुमत का विश्वास खो चुके हैं और उन्होंने अपने पूर्वतन पत्र पर कार्यवाही किए जाने का अनुरोध किया। उसी दिन राष्ट्रपति ने उद्घोषणा जारी की। उसमें यह कहा गया है कि उक्त कार्यवाही कर्नाटक राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट और प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर की गई थी।

407. संसद् के दोनों सदनों का सम्यक् रूप से अधिवेशन (बैठक) हुआ और उसमें उक्त उद्घोषणा का अनुमोदन कर दिया गया, जैसा कि अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) द्वारा अनुध्यात किया गया है।

408. श्री बोम्मई और मंत्रिपरिषद् के कुछ अन्य सदस्यों ने कर्नाटक उच्च न्यायालय में रिट याचिका (1989 की रिट याचिका सं० 7899) द्वारा उक्त उद्घोषणा की विधिमान्यता को चुनौती दी। भारत संघ (रिट याचिका में प्रथम प्रत्यर्थी) ने यह निवेदन किया कि भारत के राष्ट्रपति का विनिश्चय, जो राज्यपाल की रिपोर्ट और उनकी जानकारी में लाई गई अन्य सूचना पर आधारित था, न्याय्य नहीं है और उसे रिट याचिका में चुनौती नहीं दी जा सकती है। यह निवेदन किया गया कि रिपोर्ट देते समय, राज्यपाल अपनी मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह पर कार्य नहीं करता है, बल्कि अपनी वैयक्तिक हैसियत में कार्य करता है। संविधान के अनुच्छेद 361 को देखते हुए, राज्यपाल की रिपोर्ट को चुनौती नहीं दी जा सकती है और न उसे या राष्ट्रपति को उस जानकारी या सामग्री को प्रकट करने के लिए बाध्य ही किया जा सकता है, जिसके आधार पर उन्होंने कार्यवाही की थी। यह कहा गया कि अनुच्छेद 74(2), न्यायालय द्वारा उक्त जानकारी, सामग्री और सूचना के बारे में जांच किए जाने के लिए वर्जन है। यह निवेदन भी किया गया कि अब अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) के अधीन संसद् के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन भी कर दिया गया है। कर्नाटक राज्य ने यह निवेदन किया कि राज्यपाल ने, अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय, सभी तथ्यों और राज्य की सभी परिस्थितियों पर विचार किया था और उस आधार पर जारी की गई उद्घोषणा अनाक्षेपणीय है।

409. उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीश वाले एक विशेष न्यायपीठ ने रिट याचिका की सुनवाई की और निम्नलिखित कारणों से उसे खारिज कर दिया :—

(1). अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त नहीं है। न्यायालय इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि क्या समाधान पूर्णतः बाह्य सामग्री पर किया गया था या क्या सामग्री और समाधान के बीच कोई युक्तिसंगत संबंध है।

(2). अनुच्छेद 356 में, 'राष्ट्रपति' से संघ मंत्रिपरिषद् अभिप्रेत है। उसमें निर्दिष्ट समाधान आत्मपरक समाधान है। निस्संदेह, यह समाधान सभी तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार किए जाने के पश्चात् किया जाना होता है।

(3). राज्यपाल की दोनों रिपोर्टों में राष्ट्रपति को आवश्यक और सुसंगत तथ्य संसूचित किए गए थे, जो अनुच्छेद 356 के प्रयोजन के लिए संगत थे। राज्यपाल की रिपोर्ट में वर्णित तथ्य असंगत नहीं कहे जा सकते हैं। वे पूर्णतः संगत हैं।

(4). जहां राज्यपाल की वैयक्तिक सद्भाविकता को प्रश्नगत नहीं किया जाता है, वहां उनके इस समाधान को कि कोई अन्य दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है, सही समाधान के रूप में स्वीकार किया जाना है और वह समाधान सभी सुसंगत तथ्यों के युक्तिसंगत निर्धारण पर आधारित होता है।

(5). सदन के पटल पर परीक्षण का अवलंब न तो अनिवार्य था और न बाध्यकर। वह अनुच्छेद 356(1) के अधीन कार्यवाही की सिफारिश करते हुए, रिपोर्ट भेजने की पूर्वापेक्षा नहीं था।

(6). संविधान में 10वीं अनुसूची के जोड़े जाने से अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति की अन्तर्वस्तु किसी भी रीति में प्रभावित नहीं हुई है।

(7). चूंकि उद्घोषणा संघ मंत्रिपरिषद् के समाधान पर जारी की जानी होती है, अतः राज्यपाल की रिपोर्ट को विधिक विद्वेष के आधार पर दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता।

(8). ऊपर निर्दिष्ट राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ वाले मामले में उपदर्शित कसौटी को लागू करते हुए, न्यायालय को प्रकटीकृत सामग्री के आधार पर यह अभिनिर्धारित करना ही चाहिए कि राष्ट्रपति द्वारा किया गया आत्मपरक समाधान निर्णायक है और उसे दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता है। अतः उद्घोषणा अनापेक्षणीय है।

410. हम उच्च न्यायालय से सहमति व्यक्त करने में असमर्थ हैं, सिवाय मुद्दा सं० 1 और 2 पर। आरम्भ में ही हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि राज्यपाल की 'वैयक्तिक सद्भाविकता' का प्रश्न वास्तव में असंगत है।

411. हम यह बताना भी आवश्यक समझते हैं कि मुद्दा सं० 7 के अधीन की गई मताभिव्यक्ति भी उसी प्रकार मिथ्या धारणा पर आधारित है। यह सच है कि अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही संघ मंत्रिपरिषद् के समाधान के आधार पर की जाती है किंतु उस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि राज्यपाल का "विधिक विद्वेष" असंगत है। जब उक्त अनुच्छेद में राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर समाधान किए जाने का उल्लेख किया गया है, तब राज्यपाल का विधिक विद्वेष यदि कोई हो, असंगत नहीं कहा जा सकता। राज्यपाल की रिपोर्ट निर्णायक नहीं भी हो सकती है किंतु उसकी संगतता (संगति) से इनकार नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही केवल और अनन्यतः ऐसी रिपोर्ट

पर ही आधारित की जा सकती है। राज्यपाल अति उच्च सांविधानिक कृत्यकारी है। उससे, अपनी शपथ के अनुरूप, ऋजुतापूर्वक और ईमानदारी पूर्वक कार्य करने की आशा की जाती है। वह वस्तुतः स्वयं अपनी ही सरकार के विरुद्ध रिपोर्ट दे रहा है। इसी कारण अनुच्छेद 356 में, उसकी रिपोर्ट में ऐसा विवक्षित विश्वास निहित किया गया है। तथापि, किसी विशेष मामले में उसकी रिपोर्ट विधिक विद्वेष द्वारा (से) दूषित है, तो उससे राष्ट्रपति की कार्यवाही भी दूषित हो जाएगी। उच्च न्यायालय के निर्णय में निर्दिष्ट अन्य मुद्दों के संबंध में, हमें यह निष्कर्ष निकालना ही चाहिए कि उच्च न्यायालय ने राज्यपाल की रिपोर्ट और अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की कार्यवाही का अनुमोदन और पुष्टि करके विधि की दृष्टि में गलती की। राज्यपाल की रिपोर्ट एकाधिक धारणाओं द्वारा (से) दूषित है, जिन्हें विधितः बिल्कुल भी कायम नहीं रखा जा सकता है। संविधान द्वारा ऐसी कोई बाध्यता सृजित नहीं की गई है कि मंत्रिमण्डल बनाने वाले राजनीतिक दल का अनिवार्यतः विधान-मण्डल में बहुमत होना ही चाहिए। अल्पसंख्यक (अल्पमत) सरकारें अज्ञात नहीं हैं। जो बात आवश्यक है, वह यह है कि सरकार को सदन का विश्वास प्राप्त होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल ने मामले के इस पहलू पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया है। दूसरे, और यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यह प्रश्न कि क्या मंत्रिपरिषद् सदन का विश्वास खो चुका है, ऐसा विषय नहीं है, जिसका अवधारण राज्यपाल द्वारा किया जाएगा या तत्प्रयोजनार्थ सदन के पटल के सिवाय कहीं और किया जाएगा। हमारे संविधान में निहित जनतंत्र के सिद्धांत से अनिवार्यतः यह अभिप्रेत है कि ऐसे किसी प्रश्न का सदन के पटल पर ही विनिश्चय किया जाना चाहिए। सदन ही ऐसा स्थान है, जहां जनतंत्र क्रियाशील (सक्रिय) होता है। यह काम राज्यपाल का नहीं है कि वह स्वयं (अपने विवेकानुसार), या स्वयं अपने सत्यापन के आधार पर उक्त प्रश्न का अवधारण करे। यह उसके आत्मपरक समाधान का विषय नहीं है। वह ऐसा वस्तुपरक विषय है, जिससे सदन के पटल पर ही सिद्ध किया जा सकता है। यह बात संतोषजनक है कि भारत के पूर्व राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटारामन ने अपने राजाजी स्मारक व्याख्यान में इस मत की पुष्टि की है (हिन्दुस्तान टाइम्स, दिनांक 24 फरवरी, 1994)।

412. ऐसी आपवादिक और विरल स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, जिनमें हिंसा के व्यापक वातावरण के कारण या अन्य असाधारण कारणों से विधानसभा के सदस्यों के लिए स्वतंत्र रूप से अपनी राय व्यक्त करना सम्भव नहीं हो। किंतु यहां ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। किसी ने भी यह संकेत नहीं किया कि सुसंगत समय पर ऐसा कोई हिंसापूर्ण वातावरण था।

413. इस संबंध में राज्यपालों की समिति की सर्वसम्मत रिपोर्ट की अवेक्षा करना उचित होगा, जिसमें यह सिफारिश की गई थी कि मंत्रिमण्डल में विश्वास का परीक्षण सामान्यतः विधानसभा में मतदान के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए.....। जहां राज्यपाल का किसी भी प्रक्रिया या साधन द्वारा यह समाधान हो जाता है कि अब मंत्रिमण्डल को बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है, वहां उसे मुख्य मंत्री से विधान सभा का सामना करने और अल्पतम सम्भव समय में अपना बहुमत साबित करने के लिए कहना चाहिए। यदि मुख्यमंत्री इस प्राथमिक उत्तरदायित्व से बचता है और राज्यपाल के निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है, तो राज्यपाल आनुकल्पिक (वैकल्पिक) मन्त्रिमण्डल बनाने हेतु कार्यवाही

(आरम्भ) करने के लिए कर्तव्यबद्ध होगा। मुख्यमंत्री की विधानसभा के पटल पर शक्ति परीक्षण करने से इनकारी का, विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त न करने के प्रथम दृष्ट्या सबूत के रूप में भली भांति, निर्वचन किया जा सकता है। यदि तब कोई वैकल्पिक मंत्रिमण्डल नहीं बनाया जा सकता है, जो राज्यपाल की राय में विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने में समर्थ है, तो उसे सत्तारूढ़ मंत्रिमण्डल को बर्खास्त कर देना चाहिए और वैकल्पिक मंत्रिमण्डल को सत्तासीन बनाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि ऐसा कोई मंत्रिमण्डल सम्भव नहीं है, तो राज्यपाल के पास अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजने के सिवाय दूसरा विकल्प प्राप्त नहीं होगा.....। साधारण प्रतिपादना के रूप में यह कहा जा सकता है कि जहां तक सम्भव हो, मुख्यमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद द्वारा दावाकृत बहुमत के समर्थन के संबंध में अधिमत विधानमण्डल के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए और केवल उस स्थिति में ही राज्यपाल को संविधान के अनुच्छेद 356 का अवलंब लेना चाहिए, यदि सही सांविधानिक पद्धति के प्रति अन्याय किए बिना उत्तरदायी सरकार नहीं बनाई जा सकती''। इस संबंध में यह बात ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि अनुच्छेद 356 का अवलंब राज्यपाल के लिए अंतिम अवलंब होना चाहिए''', और जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, मार्गदर्शक सिद्धांत यह होना चाहिए कि, जहां तक सम्भव हो, राज्य में सांविधानिक तंत्र बनाए रखा जाना चाहिए। (श्री राजीव धवन द्वारा संपादित और भारतीय विधि संस्थान, नई दिल्ली के तत्वाधान में प्रकाशित, राज्यों में राष्ट्रपति शासन" (नामक) पुस्तक से उद्धृत)। यह खेद की बात है कि कर्नाटक के राज्यपाल ने, अपनी रिपोर्ट देते समय, उपर्युक्त उपयोगी दिशा-निर्देशों और सिद्धांतों को ध्यान में नहीं रखा।

414. लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष डा० जी० एस० ढिल्लों ने भी [भारत में विधायी निकायों के पीठासीन अधिकारियों के सम्मेलन में अपने अभिभाषण (सम्बोधन) में] स्पष्ट शब्दों में इस बात की अभिपुष्टि की कि इस संबंध में कि मंत्रिमण्डल को विधानमण्डल में बहुमत का समर्थन बना हुआ है या नहीं, सन्देह का समाधान यथासम्भव, सदन के पटल पर ही किए जाने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए और राज्यपाल को स्वयं विधानमण्डल के बाहर इस प्रश्न का विनिश्चय करने का अवांछनीय काम अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए।"

415. हमारी राय में उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके गलती की कि सदन के पटल पर परीक्षण वांछनीय नहीं है। यदि संविधान में निहित जनतांत्रिक सिद्धांत और इस तथ्य को ध्यान में रखा जाता है कि विधानसभा ही लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, न कि राज्यपाल, तो स्थिति संदेह से परे स्पष्ट हो जाएगी। इस मामले में यह याद रखना उचित होगा कि मंत्रिपरिषद् ने न केवल तारीख 20 अप्रैल, 1989 को यह विनिश्चय किया कि उस मास की 27 तारीख को अर्थात् 7 दिन के अन्दर विधानसभा संयोजित की जाए, बल्कि विधानसभा को निर्धारित तारीख से पहले भी संयोजित करने की पेशकश भी की, यदि राज्यपाल ऐसा चाहें। हमें यह बताते हुए खेद होता है कि राज्यपाल ने उक्त पेशकश (प्रस्थापना) के आधार पर कार्यवाही करना उचित नहीं समझा। वस्तुतः यह उनका कर्तव्य था कि वह विधानसभा आहूत करते और यह सिद्ध करने के लिए मुख्य-मंत्री से कहते कि उन्हें सदन में विश्वास प्राप्त था। न केवल यह कि उन्होंने ऐसा नहीं किया बल्कि जब मंत्रिपरिषद् ने ऐसा करने की पेशकश की, तब उन्होंने उसे टाल दिया और

उसके बजाय राष्ट्रपति को रिपोर्ट प्रस्तुत करना उचित समझा। इन परिस्थितियों में, यह नहीं कहा जा सकता है कि राज्यपाल की रिपोर्ट में सुसंगत सामग्री अंतर्विष्ट थी या वह सुसंगत सामग्री पर आधारित थी। राज्यपाल द्वारा स्वयं अपनी ओर से निर्धारण किए जाने का कोई प्रश्न नहीं था सदन के विश्वास की हानि एक वस्तुपरक तथ्य था, जिसे सदन के पटल पर ही इस या उस रूप में प्रदर्शित किया जा सकता था। हमारी राय में, जब कभी इस संबंध में संदेह उत्पन्न होता है कि मंत्रिपरिषद् ने सदन का विश्वास खो दिया है, तो उसका परीक्षण करने का एकमात्र उपाय सदन के पटल पर परीक्षण करना है, सिवाय आपवादिक स्थिति में, जिसमें व्यापक हिंसा के कारण राज्यपाल यह निष्कर्ष निकालता है और उसे अपनी रिपोर्ट में अभिलिखित करता है कि उसके द्वारा वर्णित कारणों से, सदन में स्वतंत्र मतदान संभव नहीं है।

416 हम यहां यह बात स्पष्ट कर दे रहे हैं कि हमने जो कुछ ऊपर कहा है, वह ऐसी स्थिति तक सीमित है, जिसमें पदधारी मुख्यमंत्री के बारे में यह कहा जाता है कि उसने बहुमत का समर्थन या सदन का विश्वास खो दिया है। वह साधारण निर्वाचन के पश्चात् उत्पन्न होने वाली स्थिति के लिए संगत नहीं है, जिसमें राज्यपाल को सदन में बहुमत रखने वाले या सबसे बड़े दल समूह के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। हम ऐसी स्थिति के संबंध में कोई राय व्यक्त नहीं करना चाहते हैं।

417. हमारी यह भी राय है कि उच्च न्यायालय का यह अभिनिर्धारित करना गलत था कि संविधान की दसवीं अनुसूची के अधिनियमन/जोड़े जाने से स्थिति में कोई अंतर नहीं आया है। दसवीं अनुसूची का उद्देश्य ही दलबदल को रोकना है, जिसने एक समय काफी खतरनाक आयाम धारण कर लिया था। किसी विधायक की व्यक्तिगत इच्छा कुछ भी क्यों न हो, जब वह किसी दल के टिकट पर निर्वाचित हो जाता है, तब वह सदन में मत-विभाजन या विश्वास के मतदान की स्थिति में उक्त दल का समर्थन करने के लिए आबद्ध है, जब तक कि वह सदन की अपनी सदस्यता छोड़ने के लिए तैयार न हो। दसवीं अनुसूची 'खरीद-फरोख्त' को रोकने के लिए ही परिकल्पित की गई थी। सिवाय विभाजन के मामले में, विधायक को चाहे-अनचाहे अपने दल का समर्थन करना होता है। दसवीं अनुसूची से पूर्व और उसके पश्चात् की स्थितियों के बीच यही अंतर है। उक्त संशोधनों से पूर्व, कोई विधायक, सदन की अपनी सदस्यता को खतरे में डाले बिना कितनी ही बार एक दल से दूसरे दल के लिए अपनी निष्ठा बदल सकता था, मानो पद उसकी संपत्ति हो।

418. यद्यपि उक्त उद्घोषणा में यह कहा गया है कि राष्ट्रपति का समाधान 'प्राप्त अन्य जानकारी' पर भी आधारित था, तथापि भारत संघ के प्रति शपथपत्र से यह उपदर्शित नहीं होता है या उसमें यह वर्णित नहीं है, कि राज्यपाल की रिपोर्ट से भिन्न कोई अन्य सामग्री/जानकारी राष्ट्रपति या संघ मंत्रिपरिषद को उपलब्ध थी(उसे प्रकट करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं)। इन परिस्थितियों से, हमें यह अभिनिर्धारित करना ही चाहिए कि राष्ट्रपति के समक्ष राज्यपाल की रिपोर्ट के सिवाय कोई अन्य जानकारी नहीं थी और "और मेरे द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी" शब्द उद्घोषणा में मंत्रवत् रख दिए गए। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल की रिपोर्ट और उसमें वर्णित तथ्य ही अनुच्छेद 356(1) के अधीन सरकार को बर्खास्त करने और विधानसभा को विघटित करने का एकमात्र आधार थे। अतः

उक्त उद्घोषणा के बारे में यह माना ही जाना चाहिए कि वह अनुच्छेद 356 द्वारा अपेक्षित उद्घोषणा नहीं थी। यह उसकी परिधि के बाहर है। इन परिस्थितियों में यह नहीं कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति (या संघ मंत्रिपरिषद) का यह समाधान हो गया था कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। कार्यवाही विद्वेषपूर्ण और असंवैधानिक थी। तदनुसार उद्घोषणा विखण्डित किए जाने-योग्य है और हम उसे यहीं और अभी विखण्डित कर देते, यदि यह तथ्य न होता कि उसके पश्चात् राज्य की विधानसभा के लिए निर्वाचन कराए जा चुके हैं और एक नया सदन अस्तित्व में आ चुका है। इस प्रक्रम पर रिट जारी किया जाना निरर्थक होगा। यदि उक्त तथ्य न होता, तो हम निश्चित रूप से बर्खास्त सरकार को बहाल करने और विघटित विधान सभा को पुनः सक्रिय करने के प्रश्न पर विचार करते। किसी भी दशा में, कर्नाटक उच्च न्यायालय का निर्णय अपास्त किया जाता है।

मेघालय (1992 के अंतरित मामला सं० 5 और 7)

419. मार्च, 1990 में हिल पीपुल्स यूनियन, जिससे याची गोनाल्ड स्टोर मासर संबंध रखता था, और अनेक अन्य राज्यस्तरीय राजनीतिक दलों तथा एक निर्दलीय विधायक ने मेघालय यूनाइटेड पार्लियामेण्टरी पार्टी (एम०यू०पी०पी०) के रूप में ज्ञात एक 'मोर्चा' बनाया। इस मोर्चे को विधान सभा में बहुमत प्राप्त था और उसने श्री बी०बी० लिंगदोह की अध्यक्षता में सरकार बनाई। तारीख 25 जुलाई, 1991 को सदन के तत्कालीन अध्यक्ष श्री पी०आर० किंडिया आर्थी को यूनाइटेड मेघालय पार्लियामेण्टरी फोरम (यू०एम०पी० एफ०) के रूप में ज्ञात, विरोधी समूह के नेता के रूप में निर्वाचित किया गया, जिसका नेतृत्व कांग्रेस द्वारा किया जिससे श्री किंडिया सम्बद्ध थे। उन्होंने सदन में सदस्यों के बहुमत के समर्थन का दावा किया और राज्यपाल से सरकार बनाने हेतु उन्हें आमंत्रित करने का अनुरोध किया। तदुपरि राज्यपाल ने श्री लिंगदोह से सदन के पटल पर अपना बहुमत साबित करने का अनुरोध किया। तारीख 7 अगस्त, 1991 को विधानसभा का विशेष सत्र मंत्रिमण्डल में विश्वास पारित करने के लिए संयोजित किया गया। प्रस्ताव रखे जाने पर 30 सदस्यों ने उसका समर्थन किया और 27 ने उसके विरोध में मतदान किया। तथापि, परिणाम घोषित करने से पूर्व, अध्यक्ष ने यह घोषित किया कि उन्हें सत्तारूढ़ गठबंधन में पांच निर्दलीय सदस्यों के विरुद्ध शिकायत प्राप्त हुई थी, जिसमें दलबदल निरोध विधि के अधीन निरर्हता का अभिकथन किया गया था, और वह मतदान करने का उनका अधिकार तुरन्त निलम्बित कर रहे थे। इसके परिणामस्वरूप विधानसभा में भारी शोर-शराबा हुआ। सत्र स्थगित किया जाना पड़ा। तारीख 11 अगस्त, 1991 को, अध्यक्ष ने श्री एच०एस० शैला नामक व्यक्ति द्वारा फाइल की गई शिकायत के आधार पर उक्त पांचों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों को एक जैसी 'कारण बताओ' सूचनाएं भेजीं। तारीख 16 अगस्त को पांचों विधानसभा सदस्यों ने इस बात का प्रत्याख्यान करते हुए अपने उत्तर भेजे कि वे किसी दल में सम्मिलित हो गए हैं, जैसा कि अभिकथन किया गया है। उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि वे निर्दलीय बने हुए हैं। तारीख 17 अगस्त, 1991 को, अध्यक्ष ने इस आधार पर पांचों विधानसभा सदस्यों को निरर्हित करते हुए, आदेश पारित किया कि उनमें से चार लिंगदोह मंत्रिमण्डल में मंत्री थे और उनमें से एक (श्री चेम्बरलैन मारक) उप-सरकारी

मुख्य सचेतक था। यहां यह बात ध्यान में रखे जाने योग्य है कि निरर्हता, 'कारण बताओ' सूचना में अभिकथित आधार पर नहीं थी।

420. इसी बीच, राज्यपाल की सलाह पर मुख्यमन्त्री ने विश्वास का मत पारित करने के लिए तारीख 9 सितंबर, 1991 को विधानसभा का सत्र आहूत किया। अध्यक्ष ने, उनके द्वारा निरर्हित उक्त पांचों विधानसभा सदस्यों को सत्र की सूचनाएं भेजने से इनकार कर दिया। उन्होंने यह सुनिश्चित करने के लिए भी व्यवस्था की कि उक्त पांचों सदस्यों को विधानसभा में प्रवेश करने के लिए अनुज्ञा न दी जाए। तारीख 6 सितंबर, 1991 को उक्त पांच विधानसभा सदस्यों में से चार ने इस न्यायालय में समावेदन किया और अध्यक्ष के तारीख 7 अगस्त, 1991 और 17 अगस्त, 1991 के आदेशों के प्रवर्तन पर रोक लगाते हुए, अंतरिम आदेश प्राप्त कर लिया (एक सदस्य श्री चेम्बरमारक ने ऐसा कोई आदेश अभिप्राप्त नहीं किया)। इस न्यायालय के आदेश की जानकारी होने पर, अध्यक्ष ने यह कहते हुए एक प्रेस वक्तव्य जारी किया कि वह, उनके तारीख 7 अगस्त, 1991 के आदेश में, जिसके द्वारा पांचों सदस्यों को निरर्हित किया गया था, किसी न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। उन्होंने सुरक्षा गार्डों को कठोर अनुदेश जारी किए कि वे उक्त पांचों सदस्यों को विधानसभा परिसर में प्रवेश न करने दें। इस विस्फोटक स्थिति में राज्यपाल ने तारीख 8 सितंबर, 1991 के आदेश द्वारा विधानसभा अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दी। संक्षिप्त अंतराल के पश्चात् और राज्यपाल की सलाह पर विधानसभा, 8 अक्तूबर, 1991 को अधिवेशन के लिए, पुनः आहूत की गई। इसी बीच उक्त चारों विधानसभा सदस्यों ने अध्यक्ष के विरुद्ध इस न्यायालय में एक अवमान याचिका फाइल की। उन्होंने यह शिकायत की कि विधानसभा परिसर में प्रवेश करने और विधानसभा के सदस्यों के रूप में कार्य करने से उन्हें निवारित करने की अध्यक्ष की कार्यवाही इस न्यायालय के तारीख 6 सितंबर, 1991 के आदेशों के उल्लंघन में की गई थी। तारीख 3 अक्तूबर, 1991 को इस न्यायालय ने इस बात की पुष्टि करते हुए, एक अन्य आदेश पारित किया कि राज्यपाल सहित, राज्य के सभी प्राधिकारियों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इस न्यायालय के तारीख 6 सितंबर, 1991 के आदेशों को कार्यान्वित किया जाता है। तदनुसार उक्त चारों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों को तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को सत्र में उपस्थित होने (भाग लेने) के लिए आमंत्रण पत्र भेजे गए। सदन के कारबार से संबंधित कार्यसूची में उस दिन विचारार्थ दो मदें दर्शित की गई थीं---

(1) सरकार में विश्वास का प्रस्ताव; और

(2) अध्यक्ष में अविश्वास का प्रस्ताव

421. तारीख 8 अक्तूबर, 1991 को अध्यक्ष के अतिरिक्त 56 विधानसभा सदस्यों ने सत्र में भाग लिया (उपस्थित हुए)। उन चारों विधानसभा सदस्यों ने भी, जिन्हें अध्यक्ष द्वारा निरर्हित कर दिया गया था किंतु जिन्होंने इस न्यायालय से आदेश अभिप्राप्त कर लिए थे, सत्र में भाग लिया। श्री चेम्बरलेन मारक ने सत्र में भाग नहीं लिया, जिन्होंने किसी न्यायालय से कोई आदेश अभिप्राप्त नहीं किए थे। सरकार में विश्वास का प्रस्ताव मतदान के लिए रखे जाने के पश्चात्, अध्यक्ष ने यह घोषित किया कि 26 सदस्यों ने प्रस्ताव

के पक्ष में और 26 ने प्रस्ताव के विरोध में मतदान किया। प्रस्ताव के पक्ष में डाले गए मतों की गणना करते समय, उन्होंने उक्त चारों निर्दलीय विधानसभा सदस्यों के मतों को पुनः अपवर्जित कर दिया। यह अभिनिर्धारित करते हुए कि दोनों पक्षों को बराबर-बराबर मत मिले थे, उन्होंने अपना मत प्रस्ताव के विरोध में डाला और प्रस्ताव को पराजित (असफल) घोषित किया। उसके पश्चात् उन्होंने सदन को, अपने विरुद्ध प्रस्ताव पारित किए जाने को रोकने के उद्देश्य से, अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया। तथापि, 30 विधानसभा सदस्य (उक्त चारों निर्दलीय सदस्यों सहित) सदन में बने रहे। उन्होंने अपने बीच से अध्यक्ष का निर्वाचन किया और विधानसभा कारबार जारी रखा। नए अध्यक्ष ने विश्वास के प्रस्ताव पर मतदान से संबंधित अभिलेख की संवीक्षा पर यह पाया कि वास्तव में 30 सदस्यों ने प्रस्ताव के पक्ष में हस्ताक्षर किए हैं और 26 सदस्यों ने उसके विरोध में। तदनुसार, उन्होंने यह घोषित किया कि सरकार में विश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया था। उन्होंने अध्यक्ष, श्री किंडिया में अविश्वास का प्रस्ताव भी पारित किया। 26 सदस्य, जिन्होंने प्रस्ताव के विरोध में मतदान किया था, उस समय तक सदन को छोड़कर चले गए थे। तत्पश्चात् सभी 30 विधानसभा सदस्यों ने इस बात की पुष्टि करते हुए राज्यपाल को एक पत्र भेजा कि उन्होंने सरकार के पक्ष में और अध्यक्ष में अविश्वास के प्रस्ताव के पक्ष में भी मतदान किया था। इस सबके बावजूद, मुख्यमंत्री को राज्यपाल की ओर से तारीख 9 अक्तूबर, 1991 का पत्र मिला, जिसमें उन्हें विधानसभा की तारीख 8 अक्तूबर, 1991 की कार्यवाहियों को देखते हुए, त्यागपत्र देने की सलाह दी गई थी। राज्यपाल ने अपने पत्र में यह मत व्यक्त किया कि अध्यक्ष द्वारा उच्चतम न्यायालय के आदेशों का संज्ञान न किए जाने के बारे में विवाद अध्यक्ष और उच्चतम न्यायालय के बीच था और मामले को उस दृष्टि से देखते हुए, मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र दे देना चाहिए। उसके पश्चात तुरन्त ही मुख्यमन्त्री ने अपने उच्चतम न्यायालय में अपने अधिवक्ता को राज्यपाल के उक्त पत्र से अवगत कराया। काउंसेल मामले को इस न्यायालय की जानकारी में लाया और उसी दिन (9 अक्तूबर, 1991 को) अपराह्न के चार बजे इस न्यायालय ने निम्नलिखित आदेश पारित किया—

"चूंकि मामला अत्यधिक आत्ययिक (अत्यावश्यक) है, अतः हम राज्यपाल से, इस प्रश्न पर विनिश्चय करते समय कि क्या सरकार विश्वास का प्रस्ताव हार चुकी है और क्या वह सदन में अपना बहुमत खो चुकी है, इस न्यायालय के तारीख 6 सितंबर, 1991 और 3 अक्तूबर, 1991 के दोनों पूर्वतर आदेशों को ध्यान में लेने और इस बात को भी ध्यान में लेने के लिए कहते हुए कि पूर्वोक्त चारों अपीलार्थियों ने अपने मत किस प्रकार डाले थे, यह अतिरिक्त आदेश पारित करना उचित समझते हैं।" इस आदेश पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और तारीख 11 अक्तूबर, 1991 को भारत के राष्ट्रपति ने यह घोषित करते हुए, संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी की कि मेघालय के राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर और उनके द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर उनका यह समाधान हो गया था कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। तदनुसार उन्होंने सरकार बर्खास्त कर दी और विधानसभा को विघटित कर दिया। आगे बढ़ने से पूर्व, यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि तारीख 12 अक्तूबर, 1991 के आदेश द्वारा इस न्यायालय के संविधान पीठ ने अध्यक्ष के तारीख 17 अगस्त, 1989 के आदेश को अपास्त कर दिया।

422. संसद् के दोनों सदनों का सम्यक् रूप से अधिवेशन (बैठक) हुआ और उसमें उद्घोषणा का अनुमोदन कर दिया गया।

423. यह बड़े खेद की बात है कि मेघालय के राज्यपाल ने, उस आशय के विनिर्दिष्ट निदेश के पश्चात् भी, इस न्यायालय के आदेशों को प्रभावी बनाना अपना संवैधानिक कर्तव्य नहीं समझा। वह अनुच्छेद 144 द्वारा सृजित बाध्यता, अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उसके आदेशों की सहायता स्वरूप भारत राज्यक्षेत्र में सभी, सिविल और न्यायिक, प्राधिकारियों के कर्तव्य, से अनवगत नहीं हो सकते थे। तारीख 9 अक्तूबर, 1991 के आदेश द्वारा उनसे, इस प्रश्न का विचार करते समय, इस न्यायालय के आदेशों पर ध्यान देने का विनिर्दिष्ट रूप से अनुरोध किया गया था कि क्या सरकार सदन का विश्वास खो चुकी है, और फिर भी उन्होंने उसकी उपेक्षा की और राष्ट्रपति को यह रिपोर्ट भेजी कि मंत्रिमण्डल सदन का विश्वास खो चुका है। हम राज्यपाल के इस विचित्र तर्क से आश्चर्यचकित रह गए हैं कि विधानसभा के सदस्यों की निरर्हता से संबंधित इस न्यायालय के आदेशों का पालन अध्यक्ष और उच्चतम न्यायालय के बीच का मामला है। स्पष्टतः उन्होंने, उन्हें यह कहने हेतु समर्थ बनाने के लिए इस विचित्र तर्क का आश्रय लिया यथास्थिति, जैसा कि वह कहना चाहते थे या जैसा कि उनसे कहने के लिए कहा गया—कि अध्यक्ष का यह विनिश्चय कि मंत्रिमण्डल सदन का विश्वास खो चुका है, विधिमान्य और प्रभावी है—किसी भी दशा में, जहां तक उनका संबंध है। राज्यपाल को इस बात का ध्यान रखना चाहिए था कि इस न्यायालय ने चार निर्दलीय सदस्यों को निरर्हित करने वाले अध्यक्ष के आदेशों के प्रवर्तन पर रोक लगा दी थी, जिसका अर्थ यह हुआ कि उक्त चारों विधानसभा सदस्य विधानसभा की कार्यवाही में भाग लेने और मतदान करने के लिए हकदार थे। उन्होंने सरकार में विश्वास व्यक्त करते हुए, प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया। तथापि, अध्यक्ष उचित या अनुचित साधनों से सरकार को गिराने के लिए तुले हुए थे और उस उद्देश्य से वह इस न्यायालय के आदेशों का खुले रूप में उल्लंघन कर रहे थे। उन्होंने यह घोषित किया कि सरकार सदन का विश्वास खो चुकी है और ऐसा करने के लिए उन्होंने इस न्यायालय के आदेशों का स्पष्ट उल्लंघन करते हुए, उक्त चारों सदस्यों के मतों को अपवर्जित कर दिया। यह बात बड़ी आश्चर्यजनक है कि राज्यपाल ने अध्यक्ष के गलत कार्य की अनदेखी करना उचित समझा और उनके द्वारा निर्वाचित एक अन्य सदस्य की अध्यक्षता में सदस्यों के बहुमत द्वारा की गई कार्यवाही की अवेक्षा करने से इनकार करना भी उचित समझा। यह बात भी बड़ी आश्चर्यजनक है कि राज्यपाल ने यह रिपोर्ट भेजना उचित समझा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। संविधान के उपबंधों का उल्लंघन श्री किंडिया द्वारा किया गया था, न कि सत्तारूढ़ मंत्रिमण्डल द्वारा, और फिर भी राष्ट्रपति द्वारा ऐसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार को बर्खास्त करने के लिए अनुच्छेद 356 का अवलंब लिया गया। इस बात से कि ऐसी प्रत्यक्ष रूप से असांविधानिक उद्घोषणा का संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन किया गया, खण्ड (3) में परिकल्पित रक्षोपाय की अपर्याप्तता दर्शित होती है, जिस उपबंध द्वारा भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले काउंसेल और आक्षेपित उद्घोषणाओं का समर्थन करने वाले व्यक्तियों द्वारा अत्यधिक बल दिया गया था।

424. इस मामले में भी, उद्घोषणा में यह कहा गया है कि अपेक्षित समाधान राज्यपाल की रिपोर्ट और राष्ट्रपति द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर किया गया था किंतु ऐसी कोई जानकारी या सामग्री हमारी जानकारी में नहीं लाई गई है। अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना ही चाहिए कि ऐसी कोई जानकारी या सामग्री नहीं थी और उस आशय का वर्णन मात्र यंत्रवत् है।

425. भारत संघ की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री पाराशरन् के प्रति निष्पक्षता दर्शित करते हुए, हमें यह कहना ही चाहिए कि उन्होंने इस मामले में उद्घोषणा का समर्थन करने का प्रयास नहीं किया।

426. तदनुसार, हम उद्घोषणा को असंवैधानिक मानते हैं। यदि यह तथ्य न होता कि उद्घोषणा की तारीख के पश्चात्, विधानसभा के लिए नए सिरे से निर्वाचन कराये जा चुके हैं और एक नया सदन अस्तित्व में आ चुका है; हम निश्चित रूप से रिट जारी करते और लिंगदोह मंत्रिमण्डल की बहाली का निदेश करते तथा विधानसभा को भी बहाल कर देते।

नागालैंड :

427. नागालैंड विधानसभा के लिए निर्वाचन नवंबर, 1987 में कराए गए। विधानसभा की सदस्य संख्या 60 थी। निर्वाचन के पश्चात् दलीय स्थिति इस प्रकार थी—कांग्रेस (इ)—35; नागालैंड नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी—13 और निर्दलीय—7। कांग्रेस (इ) ने सरकार बनाई और श्री होकिशे सेमा मुख्यमंत्री बने। अगस्त, 1988 में सत्तारूढ़ दल में विभाजन हुआ, जिसकी उस समय सदस्य-संख्या 34 थी, क्योंकि एक सदस्य की मृत्यु हो गई थी। दल में विभाजन की विशिष्टियां इस प्रकार हैं—तारीख 28 जुलाई, 1988 को, 34 विधानसभा सदस्यों में से 13 विधानसभा सदस्यों ने विधानसभा के अध्यक्ष को यह सूचित किया कि "उन्होंने सत्तारूढ़ दल से स्वयं को अलग कर लिया है और "कांग्रेस रूलिंग पार्टी" नामक एक पृथक् दल बना लिया है। उन्होंने अध्यक्ष से विधानसभा में उन्हें पृथक् स्थान आरक्षित किए जाने के लिए अनुरोध किया, जिसका सत्र तारीख 28 अगस्त, 1988 को आरम्भ होना था। तारीख 30 जुलाई, 1988 को अध्यक्ष ने यह अभिनिर्धारित किया कि सत्तारूढ़ दल में संविधान की दसवीं अनुसूची के अंतर्गत विभाजन हो गया था। श्री वामुजो उक्त तेरह विधानसभा सदस्यों में से एक थे। उन्होंने तारीख 31 जुलाई, 1988 को राज्यपाल को यह सूचित किया कि उन्होंने विधानसभा के 59 सदस्यों में से 35 सदस्यों का समर्थन प्राप्त कर लिया है और वह राज्य में मंत्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थे। इस प्रक्रम पर, नागालैंड सरकार के मुख्य सचिव ने तारीख 30 अगस्त, 1988 को श्री वामुजो को इस आशय का पत्र लिखा कि उनके द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार, पूर्वोक्त 13 विधानसभा सदस्यों के समूह को उनके द्वारा दोषपूर्वक परिरुद्ध किया गया था। श्री वामुजो ने उसका प्रत्याख्यान किया और मुख्य सचिव को वहां आने तथा स्वयं उक्त सदस्यों से उक्त अभिकथन की सत्यता (सच्चाई) को सत्यापित करने के लिए आमंत्रित किया। सदस्यों ने मुख्य सचिव के समक्ष यह कहा कि वे स्वतंत्र (अभिकर्ता) थे और किसी भी व्यक्ति द्वारा परिरुद्ध नहीं किए गए थे। तारीख 6 अगस्त, 1988 को नागालैंड के राज्यपाल ने कांग्रेस रूलिंग पार्टी बनाए

जाने के बारे में भारत के राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी। उन्होंने यह रिपोर्ट दी कि गत 25 वर्षों में 11 सरकारें बनाई गई हैं और 13 विधानसभा सदस्यों को, जिन्होंने स्वयं को कांग्रेस (इ) दल से अलग कर लिया था, धन का प्रलोभन दिया गया था। उन्होंने 13 सदस्यों के अलग होने के कार्य को राजनीतिक नैतिकता के अविश्वसनीय अभाव और अलग होने वाले कांग्रेस जनों द्वारा निर्वाचकगण की इच्छा की पूर्ण उपेक्षा के रूप में वर्णित किया। उन्होंने यह भी कहा कि उक्त 13 व्यक्तियों को श्री वामुजो और एक अन्य व्यक्ति द्वारा बलपूर्वक परिरोध में रखा गया और दल में विभाजन की बात सही नहीं है। उन्होंने अध्यक्ष द्वारा 13 सदस्यों के उक्त समूह को दी गई मान्यता को जल्दबाजी में किया गया कार्य बताया। उन्होंने 'खरीद-फरोख्त' और 'जोड़-तोड़' की राजनीति का भी उल्लेख किया। उन्होंने नागालैंड में विद्रोह के प्रति निर्देश किया और यह भी कहा कि वास्तव में विधानसभा के कुछ सदस्यों का विद्रोही-समूहों से संपर्क था। उन्होंने यह रिपोर्ट दी कि उक्त घटना के कारण राज्य की स्थिरता प्रभावित हो सकती है और यह भी कि यदि वर्तमान स्थिति को बना रहने दिया जाता है, तो उसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं।

428. मुख्यमंत्री श्री होकिशे सेमा ने कदाचित् यह समझते हुए कि वह सदन में बहुमत का समर्थन खो चुके हैं, राज्यपाल को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया और राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किए जाने की सिफारिश की। तारीख 7 अगस्त, 1988 को राष्ट्रपति ने नागालैंड राज्य की सरकार के कृत्यों को धारित करते (स्वयं संभालते) हुए, अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी की। सरकार बर्खास्त कर दी गई और विधानसभा विघटित कर दी गई। श्री वामुजो ने गुवाहाटी उच्च न्यायालय में रिट याचिका (1988 का सी० आर० सं० 1414) द्वारा उक्त कार्यवाही को चुनौती दी। रिट याचिका की एक खण्ड न्यायपीठ द्वारा सुनवाई की गई, जिसमें मुख्य न्यायमूर्ति और न्या० हंसारिया थे। दोनों ही विद्वान् न्यायाधीशों ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि उद्घोषणा की विधिमान्यता पर न्यायालय द्वारा विचार किया सकता है और अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा न्यायिक संवीक्षा से उन्मुक्त नहीं है। किंतु अनुच्छेद 74(2) के प्रभाव और प्रवर्तन के प्रश्न पर उनमें मतभेद था। विद्वान् मुख्य न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया—"संघ को नागालैंड विधानसभा के विघटन से संगत संविधान के अनुच्छेद 74 के अंतर्गत आने वाली कोई जानकारी इस न्यायालय को प्रदत्त करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। मेरा यह भी मत है कि भारत संघ नागालैंड विधान सभा के विघटन से संबंधित सभी दस्तावेजों का, साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार प्राप्त दस्तावेजों और "वर्ग" दस्तावेजों के रूप में वैध रूप से दावा कर सकता है। अतः इस आक्षेप को कि संविधान के अनुच्छेद 74(2) को देखते हुए, न्यायालयों को भारत के राष्ट्रपति से जानकारी मंगाने की शक्ति प्राप्त नहीं है, स्वीकार किया जाता है। चूंकि संसद् के दोनों सदनों द्वारा नागालैंड विधानसभा का विघटन कर दिया गया है, अतः इस मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, कोई अनुतोष नहीं दिया जा सकता है।" तदनुसार उन्होंने रिट याचिका खारिज करने की प्रस्थापना की। किंतु न्या० हंसारिया ने विपरीत मत व्यक्त किया। विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह सामग्री, जो 'अन्य जानकारी का भाग' थी किंतु न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं की गई है, मंत्रिपरिषद् द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह का-भाग नहीं है। अतः न्यायालय उक्त सामग्री को देखने के लिए हकदार है और उस प्रयोजन के

लिए भारत सरकार को उसे प्रस्तुत करने के लिए दस दिन का समय दिया जाना चाहिए। तथापि यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो, न्यायालय को मौजूद सामग्री के आधार पर कार्यवाही करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं होगा और भारत संघ को ऐसी कार्यवाही के परिणाम भुगतने होंगे। विद्वान् न्यायाधीश ने रिट याचिका का निपटारा करने की प्रस्थापना नहीं की बल्कि दस दिन तक प्रतीक्षा करने और उसके पश्चात् अंतिम आदेश करने की प्रस्थापना की। उक्त मतभेद को देखते हुए, मामला तृतीय न्यायाधीश को निर्देशित किया गया, किंतु तृतीय न्यायाधीश द्वारा मामले की सुनवाई किए जाने से पूर्व ही भारत संघ ने विशेष अनुमति दिए जाने के लिए इस न्यायालय में समावेदन किया। विशेष अनुमति दी गई और उच्च न्यायालय में कार्यवाहियों पर रोक लगा दी गई।

429. हमने अन्यत्र अनुच्छेद 74(2) के प्रभाव और परिधि पर अन्यत्र चर्चा की है। उसे देखते हुए, न्या० हंसारिया (जैसे कि वह उस समय थे) द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण सही माना जाना चाहिए, न कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण। तदनुसार इस विशेष अनुमति याचिका का, उपर्युक्त निदेश सहित, निपटारा किया जाता है। चूंकि अब नए सिरे से निर्वाचन कराए जा चुके हैं, अतः उच्च न्यायालय समय के इस बिन्दु (प्रथम) पर मामले में आगे कार्यवाही करने के औचित्य पर विचार कर सकता है।

मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश

430. फरवरी, 1990 में आयोजित (कराए गए) निर्वाचनों में, भारतीय जनता पार्टी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में विधानसभा में बहुसंख्यक दल के रूप में सामने आई और उसने उन राज्यों में सरकार बनाई।

431. तारीख 6 दिसंबर, 1992 को रामजन्म भूमि—बाबरी मस्जिद ढांचा (विवादित ढांचा) कारसेवकों द्वारा गिरा दिया गया, जो भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल, शिव सेना और कुछ अन्य संगठनों की अपील के उत्तर में वहां एकत्र हुए थे।

432. तारीख 6 दिसंबर, 1992 को अयोध्या में ढांचा ध्वस्त किए जाने के पश्चात् उत्तर प्रदेश सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। राष्ट्रपति द्वारा उसे बर्खास्त कर दिया गया और उसी दिन अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा द्वारा विधानसभा का विघटन कर दिया गया। उद्घोषणा में न तो राज्यपाल की रिपोर्ट के प्रति निर्देश किया गया है और न उसमें यह कहा गया है कि राष्ट्रपति को अन्यथा कोई जानकारी प्राप्त हुई थी। जो भी हो, चूंकि हमारे समक्ष उक्त उद्घोषणा की विधिमान्यता विवाद का विषय नहीं है, अतः हमें इस संबंध में अपनी कोई राय व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है।

433. विवादित ढांचा (मस्जिद) के गिराए जाने के संपूर्ण देश में और कुछ पड़ोसी देशों में गंभीर परिणाम हुए। अनेक मंदिर अभिकथित रूप से गिरा दिए गए। देश के विभिन्न भागों में विधि और व्यवस्था के लिए गंभीर अशान्ति पैदा हुई जिसके परिणामस्वरूप जनजीवन और सम्पत्ति की काफी हानि हुई। विधि विरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 (1967 का अधिनियम सं० 37) की धारा 3(1) के अधीन तारीख 10 दिसंबर,

1992 को जारी किए गए आदेश द्वारा, भारत सरकार ने अनेक अभिकथित रूप से साम्प्रदायिक संगठनों पर, जिनमें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल सम्मिलित थे, प्रतिबंध लगा दिया गया।

मध्य प्रदेश :

434. तारीख 8 दिसंबर, 1992 को, मध्य प्रदेश के राज्यपाल ने राष्ट्रपति को एक रिपोर्ट भेजी, जिसमें हिंसा, आगजनी और लूट-पाट के व्यापक कार्यों के परिणामस्वरूप राज्य में विधि और व्यवस्था की तेजी से गिरती हुई स्थिति उपवर्णित की गई थी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह बताया कि राजनीतिक नेतृत्व के सहयुक्त सांप्रदायिक संगठनों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन के कारण, स्थिति को शान्त करने में राज्य सरकार की समर्थता (सामर्थ्य) में विश्वास का अभाव यह उपदर्शित करता प्रतीत होता है कि राज्य में प्रशासनिक तंत्र विफल हो गया है। उसके पश्चात् उन्होंने तारीख 10 दिसंबर, 1992 को एक और रिपोर्ट भेजी, जिसमें उन्होंने अब तक शान्त क्षेत्रों में हिंसा फैलने का उल्लेख किया। तारीख 13 दिसंबर, 1992 को उन्होंने अपनी तीसरी रिपोर्ट भेजी, जिसके साथ उन्होंने भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड (बी० एच० ई० एल०—भेल) भोपाल के निदेशक के तारीख 11 दिसंबर, 1992 के पत्र की फोटो प्रति संलग्न की। राज्यपाल ने यह बताया कि उक्त पत्र से भेल कारखाने और उसके आसपास के क्षेत्र में जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करने के लिए विधि और व्यवस्था के तंत्र की स्पष्ट असफलता उपदर्शित होती थी। उक्त पत्र में भेल (बी० एच० ई० एल०) क्षेत्र में तथाकथित कार सेवकों को जगह देने के लिए प्रशासन पर डाले गए दबाव का भी उल्लेख था। राज्यपाल ने इन घटनाओं को अत्यधिक गंभीर घटनाओं के रूप में वर्णित किया, जो उच्च स्तरीय जांच की अपेक्षा करती हैं। तृतीय रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि मुख्यमंत्री श्री सुन्दर लाल पटवा के इस अभिकथित वक्तव्य से कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और विश्व हिन्दू परिषद् को प्रतिबंधित करने का विनिश्चय दुर्भाग्यपूर्ण था, राज्य सरकार की मामले में केन्द्र के निदेश को ईमानदारीपूर्वक क्रियान्वित करने की विश्वसनीयता सन्दिग्ध है····· ; यह प्रश्न चिह्न लगा हुआ है कि श्री पटवा जैसे भारतीय जनता पार्टी के नेता, जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के मूल्यों और परम्पराओं में निष्ठा रखते हैं, प्रतिबंध को अक्षरशः और आशयशः किस प्रकार लागू करेंगे। विश्व हिन्दू परिषद् का, ऊपर वर्णित प्रतिबंध के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिए संपूर्ण देश से 13 दिसंबर, को काले दिवस के रूप में मनाने का, विनिश्चय और तारीख 14 दिसंबर से 20 दिसंबर तक इन घृणित विधियों के विरुद्ध, विरोध सप्ताह मनाने का विनिश्चय, विशेष रूप से वर्तमान संदर्भ में, खतरे से भरा हुआ है। राज्यपाल ने यह सिफारिश की कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि की पृष्ठभूमि में देखे जाने पर और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि वे भविष्य में नए सिरे से अपनी रणनीति परिकल्पित कर रहे हैं, तथा प्रतिबंधित संगठनों के नेताओं के, प्रशासन की उदार प्रतिक्रिया का फायदा उठाते हुए, भूमिगत होने की सम्भावना को देखते हुए, यह समाधान करने के पर्याप्त कारण हैं कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने में और विलंब नहीं होना चाहिए।

हिमाचल प्रदेश :

435. हिमाचल प्रदेश राज्य के राज्यपाल ने तारीख 15 दिसंबर, 1992 को एक

रिपोर्ट भेजी, जिसमें उन्होंने, अन्य बातों के साथ-साथ, यह कहा—"इस मुद्दे पर कोई विवाद नहीं है कि मुख्य मंत्री और उनके मंत्रिमण्डल ने हिमाचल प्रदेश के कार सेवकों को तारीख 6 दिसंबर, 1992 को कार सेवा में भाग लेने के लिए उकसाया था। कुछ मंत्रियों ने तो खुले रूप में अपनी इच्छा व्यक्त की थी, बशर्ते कि दल की उच्च सत्ता उन्हें ऐसा करने के लिए अनुज्ञा देती है। परिणामतः, भारतीय जनता पार्टी के कुछ विधानसभा सदस्यों सहित, बड़ी संख्या में कार सेवकों ने कार सेवा में भाग लिया। विधानसभा के एक सदस्य ने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया कि उसने बाबरी मस्जिद के ध्वंस में भाग लिया था (इण्डियन एक्सप्रेस, तारीख 15 दिसंबर, 1992, चंडीगढ़ संस्करण)। यद्यपि श्री शान्ता कुमार तारीख 13 दिसंबर, 1992 को मुझसे मिले थे और उन्होंने मुझे यह सूचित किया था कि वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद् और तीन अन्य संगठनों पर भारत सरकार द्वारा अधिरोपित प्रतिबंध के आदेशों को क्रियान्वित करना चाहते थे और वह इस संबंध में पहले ही निदेश जारी कर चुके हैं किंतु चूंकि मुख्यमंत्री स्वयं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य है, अतः वह इन निदेशों को ईमानदारीपूर्वक और प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने की स्थिति में नहीं हैं। राज्य के अधिकांश लोग ऐसा ही महसूस करते हैं·····। वस्तुतः, जब स्वयं मुख्यमंत्री और उनके कुछ साथी प्रतिबंधित राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य हैं, तब प्रशासनिक तंत्र के लिए प्रतिबंध को ईमानदारीपूर्वक लागू करना संभव नहीं है, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जब कुछ मंत्री इन साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबंध की खुले रूप से आलोचना कर रहे हैं।" अतः उन्होंने राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किए जाने की सिफारिश की।

राजस्थान :

436. राजस्थान के राज्यपाल की रिपोर्ट में, जिसमें राष्ट्रपति शासन अधिरोपित किए जाने की सिफारिश की गई थी, निम्नलिखित तथ्य वर्णित किए गए थे—"राजस्थान सरकार ने अयोध्या की घटना में स्पष्ट भूमिका निभाई है। भारतीय जनता पार्टी का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल पर नियंत्रण है, जो अब केन्द्र द्वारा प्रतिबंधित कर दिए गए हैं। उक्त प्रतिबंध को बिल्कुल भी लागू नहीं किया जा रहा है। वस्तुतः, एक मंत्री ने त्यागपत्र दे दिया था और उसने 22 विधानसभा सदस्यों तथा भारतीय जनता पार्टी के 15500 कार्यकर्ताओं सहित तारीख 12 दिसंबर, 1992 को अयोध्या में कारसेवा में भाग लिया था। उन्हें शानदार विदाई दी गई थी और जब वे वापस लौटे, तब भी उनका सरकार चलाने वाले राजनीतिक तंत्र में प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा शानदार स्वागत किया गया। एक सप्ताह से अधिक समय से विधि और व्यवस्था की स्थिति बहुत बिगड़ चुकी है, जिनकी मुख्य विशेषता अल्पसंख्यक-विरोध है, जिन पर अधिकांश अत्याचार किए गए हैं। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में प्रशासन प्रभावी रूप से नहीं चलाया जा सकता था। उन्होंने यह आशंका व्यक्त की कि प्रशासन से वस्तुपरक रूप से, प्रभावी रूप से और विधि के नियम के अनुसार कृत्य करने की आशा करना अत्यधिक कठिन होगा और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है।

437. तारीख 15 दिसंबर, 1992 को राष्ट्रपति ने मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में तीनों सरकारों को बर्खास्त करते हुए और उनकी विधानसभाएं विघटित करते हुए, तीन उद्घोषणाएं जारी कीं। यह कार्यवाही तात्पर्यतः संबंधित राज्यपालों की रिपोर्टों के आधार पर और प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर की गई थी। उक्त उद्घोषणाओं की विधिमान्यता को समुचित उच्च न्यायालयों में रिट याचिका फाइल करके तुरंत चुनौती दी गई। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने रिट याचिका मंजूर की, जिसे भारत संघ द्वारा 1993 की सिविल अपील सं० 1692, 1692ए से 1692सी में चुनौती दी गई है। राजस्थान और हिमाचल प्रदेश से संबंधित रिट याचिकाएं इस न्यायालय के लिए वापस ले ली गईं और उन्हें क्रमशः 1993 के अंतरित मामला सं० 9 और 1993 के अंतरित मामला सं० 8 के रूप में संख्यांकित किया गया है।

438. याचियों ने उक्त उद्घोषणा को विद्वेषपूर्ण, बाह्य विचारणाओं द्वारा दूषित और राजनीतिक बदले के उदाहरण के रूप में चुनौती दी। यह निवेदन किया गया है कि विधि और व्यवस्था के लिए अशान्ति पैदा करने वाली घटनाओं की बाबत अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही नहीं की जा सकती है। किसी भी दशा में हिमाचल प्रदेश में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं था। तीनों सरकारें केन्द्र और राज्य विधियों को निष्ठापूर्वक लागू कर रही थीं। यह निवेदन किया गया है कि आक्षेपित उद्घोषणाएं कांग्रेस दल के नेताओं में आंतरिक मतभेदों का परिणाम थीं और विधि में उनका समर्थन नहीं किया जा सकता है।

439. याचियों के विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश राज्यों में राष्ट्रपति शासन का अधिरोपण विद्वेषपूर्ण था, वह किसी समाधान पर आधारित नहीं था और पूर्णतः एक राजनीतिक कार्य था। मात्र यह तथ्य कि साम्प्रदायिक अशान्ति और/या आगजनी और लूटपाट की घटनाएं हुई थीं, राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करने के लिए कोई आधार नहीं है। वस्तुतः, ऐसी घटनाएं और भी बड़े पैमाने पर, कांग्रेस (ई) शासित अनेक राज्यों में भी हुई, विशेष रूप से महाराष्ट्र राज्य में। फिर भी उन सरकारों को विस्थापित करने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की गई, जब कि कार्यवाही केवल भारतीय जनता पार्टी की सरकारों के विरुद्ध की गई। यह उपदर्शित किया गया है कि जहां तक हिमाचल प्रदेश का संबंध है, (वहां) कोई भी साम्प्रदायिक उपद्रव (अशान्ति) नहीं हुआ। वहां विधि और व्यवस्था की नाम मात्र की भी समस्या नहीं थी। राज्यपाल की रिपोर्ट में भी ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं था। यह तर्क दिया गया है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की सरकारों को अयोध्या में 6 दिसम्बर, 1992 की घटना के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। उस घटना के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने, उसके लिए अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए, त्यागपत्र दे दिया था और उसे बर्खास्त कर दिया गया था। उस तथ्य को चुनौती नहीं दी गई है। किंतु इन तीन राज्यों की सरकारें उक्त घटना से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं थी और उन्हें उक्त घटना के कारण बर्खास्त नहीं किया जा सकता था। यह भी उपदर्शित किया गया है कि हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट के अनुसार, मुख्यमंत्री उनसे मिले थे और उन्होंने उन्हें स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया था कि वह प्रतिबंध को लागू करने के इच्छुक थे और उसे लागू कर भी रहे थे और यह कि इस संबंध में कुछ गिरफ्तारियां भी की गई थीं। ऐसी स्थिति में राज्यपाल के लिए यह विश्वास करने या यह रिपोर्ट देने का कोई कारण नहीं था कि मुख्यमंत्री उक्त संगठनों

पर प्रतिबंध लागू करने के लिए ईमानदारी से कार्य नहीं कर रहे थे। वस्तुतः, विधिविरुद्ध कार्यकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 के अधीन अधिकरण ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर प्रतिबंध को अवैध घोषित कर दिया है और तदनुसार प्रतिबंध प्रतिसंहृत कर लिया गया है। अवैध प्रतिबंध का अ-कार्यान्वयन अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही का आधार नहीं बनाया जा सकता। यह मान लेने पर भी कि ऐसी निष्क्रियता या इनकारी हुई थी, उसे राज्य सरकार को बर्खास्त करने और विधानसभा को विघटित करने का आधार नहीं बनाया जा सकता है। संघ सरकार ने यह भी प्रकट नहीं किया है कि उसे ऐसी कौन-सी अन्य सामग्री/जानकारी प्राप्त हुई थी, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने कार्य किया था, यद्यपि उद्घोषणाओं में उस आशय का वर्णन किया गया है। राष्ट्रपति द्वारा की गई कार्यवाही को बाद में एकत्र की गई सामग्री प्रस्तुत करके न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्यर्थियों को वह जानकारी अवश्य ही प्रकट करनी चाहिए, जो राष्ट्रपति के समक्ष थी, जब उन्होंने आक्षेपित उद्घोषणाएं जारी कीं। अब न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत श्वेत पत्र तारीख 15 दिसम्बर, 1992 को अस्तित्व में नहीं था। भारतीय जनता पार्टी द्वारा समय-समय पर जारी किए गए घोषणा पत्र उद्घोषणाओं में निर्दिष्ट जानकारी गठित नहीं कर सकते हैं, किसी भी दशा में, वैध रूप से संगत जानकारी तो बिल्कुल भी नहीं। **सुन्दर लाल पटवा और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में भारत संघ द्वारा फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में राष्ट्रपति द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी के प्रति न तो निर्देश किया गया है और न उसे प्रकट ही किया गया है। हिमाचल प्रदेश और राजस्थान से संबंधित उद्घोषणाओं को प्रश्नगत करने वाली रिट याचिकाओं में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्रों में भी ऐसी कोई सामग्री प्रकट नहीं की गई है। संघ सरकार का यह कर्तव्य था कि वह न्यायालय के समक्ष उस सामग्री/जानकारी को प्रकट करती, जिसके आधार पर अपेक्षित समाधान किया गया था, इसलिए और भी कि स्वयं उद्घोषणाओं में ऐसी किसी सामग्री के प्रति निर्देश नहीं किया गया है। चूंकि वह ऐसा करने में असफल रही है, अतः उसके विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए। यह तर्क दिया गया है कि अनुच्छेद 74(2) भारत संघ को इस बाध्यता से मुक्त नहीं करता है और कर भी नहीं सकता है। यह तर्क दिया गया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति और उपचार अनुच्छेद 74(2) के प्रति निर्देश से निष्प्रभाव नहीं किया जा सकता।

440. मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में फाइल की गई रिट याचिका में, जिसमें उक्त राज्य की बाबत उद्घोषणा को प्रश्नगत किया गया था, भारत संघ द्वारा प्रतिशपथ पत्र फाइल किया गया। विधिक दलीलों के अतिरिक्त, उसमें निम्नलिखित तथ्य वर्णित किए गए हैं :—

> "राज्यपाल की रिपोर्टों से यह प्रकट होता था कि राज्य सरकार आन्तरिक उपद्रव (अशान्ति) के विरुद्ध राज्य के नागरिकों और सम्पत्ति को संरक्षण प्रदान करने में बुरी तरह असफल रही थी। उक्त रिपोर्टों के आधार पर राष्ट्रपति ने अपेक्षित समाधान किया।"

441. मध्य प्रदेश राज्य की परिस्थितियां अनेक अन्य राज्यों की परिस्थितियों से भिन्न थीं, जहां भी विधि और व्यवस्था के लिए गंभीर उपद्रव हुए थे (अशान्ति की घटनाएं

[1] एम० पी० सं० 237/93 (मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय).

घटित हुई थीं)। दोनों स्थितियों के बीच कोई समानता नहीं है। "भोपाल के अतिरिक्त, मध्य प्रदेश में कुल मिलाकर स्थिति ऐसी थी कि यह समाधान करने के पर्याप्त और स्पष्ट कारण थे कि राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था। इस बात का प्रत्याख्यान किया गया है कि राज्य में विधि और व्यवस्था की समस्या को पैदा करने वाली स्थिति नहीं थी।" राज्यपाल की रिपोर्टें सुसंगत सामग्री पर आधारित हैं और वे सद्भाविक रूप से तथा सम्यक् सत्यापन के पश्चात् की गई हैं।

442. मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह के विरुद्ध किए गए अभिकथन निराधार हैं। विनिश्चय-मन्त्रिपरिषद् का सामूहिक विनिश्चय था। मध्य प्रदेश राज्य की वस्तुस्थिति की अन्य राज्यों की वस्तुस्थिति से तुलना नहीं की जा सकती है। चूंकि मध्य प्रदेश के राज्यपाल ने यह रिपोर्ट दी थी कि राज्य में सांविधानिक तंत्र भंग हो गया था, अतः राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा न्यायोचित और संवैधानिक है।

443. हिमाचल प्रदेश से संबंधित रिट याचिका (1993 का अंतरित मामला सं० 8) में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में, उन्हीं आक्षेपों पर जोर दिया गया है, जो मध्य प्रदेश वाले मामले में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में प्रस्तुत किए गए हैं। पैरा-वार उत्तरों में यह कहा गया है कि तारीख 6 दिसम्बर, 1992 की घटनाएं केवल कुछ व्यक्तियों का काम नहीं थीं, बल्कि भारतीय जनता पार्टी सहित, विभिन्न समूहों और राजनीतिक दलों के कथनों और सार्वजनिक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप प्रश्नगत ढांचा नष्ट किया गया और उसने देश का धर्मनिरपेक्ष ताना-बाना बुरी तरह क्षतिग्रस्त कर दिया तथा हिमाचल प्रदेश सहित, संपूर्ण देश में साम्प्रदायिक वैमनस्य और असामंजस्य पैदा कर दिया। यह कहा गया है कि उक्त घटना के परिणामों को विभिन्न राज्यों में मारे गए व्यक्तियों की संख्या की तुलना करके नहीं देखा जा सकता है। यह प्राख्यान किया गया है कि वर्तमान मामले में मंत्रिपरिषद् और राष्ट्रपति के पास उपलब्ध प्रचुर सामग्री थी, जो अनुच्छेद 356 के अधीन किए जाने वाले समाधान के लिए सुसंगत है। वे साम्प्रदायिक सौहार्द और सामंजस्य को हुई गम्भीर क्षति से भी अवगत थे, जो अन्य राज्यों के साथ-साथ, मध्य प्रदेश राज्य में हुई है। वे उन परिणामों के बारे में अत्यधिक चिन्तित थे, जो अयोध्या की घटनाओं के कारण हो सकते थे तथा वे न केवल विधि और व्यवस्था के क्षेत्र में बल्कि साम्प्रदायिक सौहार्द और सामंजस्य के क्षेत्र में भी सामान्य स्थिति लाने के लिए उपायों और साधनों के प्रति चिन्तित थे, जो (सामान्य स्थिति) अन्य संघठनों सहित, राज्य में सत्तारूढ़ दल के कार्यकलापों और दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गई थी। यह कहा गया है कि भारत संघ को उपलब्ध निश्चित जानकारी के अनुसार राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य न केवल अयोध्या में घटना-स्थल पर उपस्थित थे, बल्कि उन्होंने मस्जिद के ध्वंस में वास्तविक रूप से भाग लिया था और वे साम्प्रदायिक असामंजस्य को बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी थे। इसी कारण उस पर प्रतिबंध लगाया गया। यह प्राख्यान किया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा कार्यवाही न केवल राज्यपाल की रिपोर्ट पर बल्कि उनके द्वारा प्राप्त अन्य जानकारी के आधार पर भी, की गई थी।

444. राजस्थान से संबंधित रिट याचिका (1993 का अंतरित मामला सं० 9) में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में यह कहा गया है कि तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को ध्वंस

के पश्चात् देश के विभिन्न भागों में हिंसा आरम्भ हो गई, जिसके परिणामस्वरूप जन-जीवन और सम्पत्ति की भारी हानि हुई। यह प्राख्यान किया गया है कि केवल हताहतों के आंकड़ों के आधार पर ही विभिन्न राज्यों में विधि और व्यवस्था की स्थिति का निर्धारण सम्भव नहीं है। प्रत्येक राज्य की स्थिति का निर्धारण अलग-अलग ढंग से किया जाना होता है। याची के इस प्रकथन का प्रत्याख्यान किया गया है कि राज्य सरकार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर लगाए गए प्रतिबंध को समुचित रूप से लागू किया। ऐसी कोई अध्यपेक्षा नहीं है कि राज्यपाल की रिपोर्ट राष्ट्रपति को सम्बोधित होनी चाहिए। वह प्रधानमंत्री को भी सम्बोधित की जा सकती है। राज्यपाल की रिपोर्ट के अतिरिक्त अन्य जानकारी भी उपलब्ध थी, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपना समाधान किया था। राज्यपाल की रिपोर्ट में अंतर्विष्ट सामग्री की शुद्धता, पर्याप्तता या औचित्य न्याय्य नहीं है और न्यायालय उस पर विचार नहीं कर सकता है। विद्वेषपूर्ण, मनमाने और सनकपूर्ण शक्ति-प्रयोग के अभिकथनों का प्रत्याख्यान किया गया है। राष्ट्रपति ने किसी असंगत सामग्री को ध्यान में नहीं लिया और इसलिए यह प्रकथन किया गया है कि राष्ट्रपति का समाधान न्यायिक रूप से पुनर्विलोकनीय नहीं है।

445. भारत संघ के विद्वान् काउंसेल और आक्षेपित उद्घोषणाओं का समर्थन करने वाले अन्य काउंसेलों ने अपना पक्षकथन इस प्रकार प्रस्तुत किया :—भारतीय जनता पार्टी का मुख्य आधार और प्राथमिक कार्यक्रम उसी स्थल पर राम मंदिर का निर्माण था, जिस पर बाबरी मस्जिद स्थित थी। भारतीय जनता पार्टी ने खुले रूप में यह घोषित किया था कि वह बाबरी मस्जिद के ढांचे को हटा देगी और उसे "पुनर्स्थापित" करेगी (जैसा कि उसने उसे नाम दिया था), क्योंकि उसके अनुसार बाबरी मस्जिद सम्राट् बाबर द्वारा विद्यमान राम मंदिर पर अध्यारोपित की गई थी। यह दल उक्त आधार पर ही चारों राज्यों में सत्ता में आया और तब से वह उक्त लक्ष्य की दिशा में कार्य कर रहा था। भारतीय जनता पार्टी के सभी नेताओं, उनके मंत्रियों, विधायकों और सभी संवर्गों का एक मात्र यही लक्ष्य रहा है। इस प्रयोजन के लिए वे समय-समय पर अयोध्या में सभी ओर से कार-सेवकों को बार-बार एकत्र कर रहे थे। तारीख 6 दिसंबर, 1992 से ठीक पूर्व के दिनों में उनके नेता अपने अनुयायियों को बाबरी मस्जिद ध्वस्त करने और वहां मंदिर बनाने के लिए उकसा रहे थे और उत्साहित कर रहे थे। मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान के मन्त्रियों ने कार-सेवकों को संगठित करने और उन्हें अयोध्या भेजने के लिए सक्रिय भाग लिया था। जब कार-सेवक मस्जिद को ध्वस्त करने के पश्चात् अयोध्या से वापस लौटे, तब इन्हीं व्यक्तियों द्वारा उनका नायकों के रूप में स्वागत किया गया। अनेक मंत्री और मुख्यमन्त्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य थे और वे उस पर लगाए गए प्रतिबंध के विरुद्ध अभ्यापत्ति कर रहे थे। अतः प्रतिबंध को लागू करने के लिए उनका विश्वास नहीं किया जा सकता था, यद्यपि उनमें से कुछ द्वारा इसके विपरीत कथन किए जा रहे थे।

446. मई/जून, 1991 के मध्यावधि चुनाव के अवसर पर भारतीय जनता पार्टी द्वारा जारी किए गए चुनाव घोषणा-पत्र में यह कहा गया है कि भारतीय जनता पार्टी का लक्ष्य, इतिहास में की गई गलतियों के प्रतीकात्मक सुधार के रूप में केवल अयोध्या में राम जन्मभूमि मन्दिर की बहाली है, जिससे कि परस्पर द्वेष का पुराना अप्रिय अध्याय समाप्त हो सके और शानदार राष्ट्रीय सामंजस्य स्थापित किया जा सके। एक अन्य स्थान पर, 'जन्म-

स्थान पर श्री राम मन्दिर" शीर्ष के अधीन, निम्नलिखित कथन किया गया है: "भारतीय जनता पार्टी का यह दृढ़ विश्वास है कि जन्म स्थान पर श्री राम मन्दिर का निर्माण हमारी सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय आत्मसम्मान का प्रतीक है। भारतीय जनता पार्टी के लिए यह पूर्णतः राष्ट्रीय मुद्दा (विवाद्यक) है और वह निहित स्वार्थों को उसे संकुचित और साम्प्रदायिक रंग देने की इजाजत नहीं देगी। अतः भारतीय जनता पार्टी जन्म स्थान पर श्री राम मन्दिर का निर्माण करने के लिए वचनबद्ध है और ससम्मान बाबरी ढांचे को अन्यत्र पुनर्स्थापित करेगी। यह सच है कि स्वतः, उपर्युक्त कथनों से यह अभिप्रेत नहीं भी हो सकता है कि उक्त कार्यक्रम में विवादग्रस्त ढांचे का विधि विरुद्ध या बलात् गिराया जाना परिकल्पित था। उक्त कथनों को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि उनसे यह अभिप्रेत है कि भारतीय जनता पार्टी सांविधानिक साधनों द्वारा अपना यह आधार (दृष्टिकोण) दर्शित करना चाहती थी कि विवादग्रस्त ढांचा वस्तुतः राम जन्म स्थान था, जो सम्राट् बाबर द्वारा बलपूर्वक मस्जिद के रूप में संपरिवर्तित कर दिया गया था और उसके पश्चात् ही वे उक्त ढांचे को पुनर्स्थापित करेंगे और उस स्थल पर श्री राम मंदिर का निर्माण करेंगे। किन्तु विद्वान् काउंसेल का यह कहना है कि उक्त कथनों से, जब उन्हें भारतीय जनता पार्टी के नेताओं के भाषणों और कार्यों के प्रकाश में पढ़ा और समझा जाता है, जिनके प्रति भारत सरकार द्वारा जारी किए 'अयोध्या में श्वेत पत्र' में निदेश किया गया है, तो ऐसे लाभप्रद निर्वचन की गुंजाइश नहीं रह जाती है। भारत सरकार द्वारा फरवरी, 1993 में जारी किए गए "अयोध्या पर श्वेत पत्र" से विवादित ढांचे के ध्वंस और उसके बाद के कार्यों में स्वयं भारतीय जनता पार्टी की सहपराधिता सिद्ध हो जाती है।

447. काउंसेल ने यह उपदर्शित किया कि संघ गृह मंत्री द्वारा तारीख 21 दिसंबर, 1992 को राज्य सभा में किए गए कथन के अनुसार, इन सभी कार-सेवकों का, जब वे वापस लौटे, मुख्य मन्त्रियों और मन्त्रियों द्वारा स्वागत किया गया।

448. प्रत्यर्थियों के काउंसेल ने यह तर्क दिया कि तारीख 6 दिसंबर, 1991 को जो कुछ घटित हुआ, वह एक दिन की घटना मात्र नहीं था। वह पिछले कुछ वर्षों से भारतीय जनता पार्टी और अन्य सहबद्ध संगठनों द्वारा चलाए जा रहे सतत अभियान की चरम परिणति था। वे विवादित स्थल पर राम मन्दिर के निर्माण के लिए सक्रिय रूप से अभियान चला रहे थे। वे विवादित ढांचे को अन्यत्र पुनर्स्थापित करने की बात कर रहे थे; जिसका केवल यही अर्थ हुआ कि वे विवादित ढांचे को हटाना चाहते थे और राम मन्दिर का उसी स्थान पर निर्माण करना चाहते थे। श्वेत पत्र में निर्दिष्ट, भारतीय जनता पार्टी और अन्य सहबद्ध दलों के नेताओं के अनेक भाषणों से उक्त तथ्य स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है। वास्तव में, 1993 के साधारण निर्वाचनों के सम्बन्ध में भारतीय जनता पार्टी द्वारा जारी किए गए चुनाव घोषणा पत्र में, तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को जो कुछ घटित हुआ उसके बारे में खेद का एक शब्द भी नहीं कहा गया है। इसके विपरीत, "अयोध्या" शीर्षक के अधीन उसमें निम्नलिखित कथन मौजूद हैं—

"अयोध्या"

अपने कार्यों और कथनों में छद्म-धर्म निरपेक्षता की शक्तियां सभी हिन्दू-बातों/चीजों के लिए घोर विरोध की असंदिग्ध धारणा (भावना) व्यक्त करती हैं। वस्तुतः,

उनके मन में "हिन्दू" "साम्प्रदायिक" से जुड़ गया है। अयोध्या में राम जन्म भूमि मंदिर पर विवाद इस लक्षण का सशक्त (प्रबल) उदाहरण है। उनके लिए "सहमत" (संस्था) धर्म निरपेक्ष है और "केसरिया" साम्प्रदायिक है। यद्यपि विवाद के तथ्य सुविदित हैं, तथापि कुछ बातों की पुनरावृत्ति आवश्यक है। प्रथमतः, यह सदा स्पष्ट था हिन्दुओं का विराट् बहुमत उस स्थल पर, जहां 1948 से निर्बाध (अविरत) रूप से पूजा चल रही है और जहां 1936 से (कोई) नमाज नहीं पढ़ी गई है, भगवान् राम के भव्य मन्दिर के निर्माण के लिए पूर्णतः प्रतिबद्ध है। मुगल सम्राट् द्वारा बनाया गया ढांचा हिन्दुओं द्वारा राष्ट्रीय अपमान के रूप में देखा जाता था।

दूसरे, उत्तर प्रदेश में 1991 का निर्वाचन अयोध्या विवाद पर केन्द्रित था। वस्तुतः वह राम जन्म भूमि पर जनमत संग्रह था। भारतीय जनता पार्टी ने राम (जन्म भूमि) मन्दिर के निर्माण को सुकर बनाने का वचन देते हुए, निर्वाचन में विजय प्राप्त की। तथापि, यह जनादेश कांग्रेस और अन्य छद्म धर्म निरपेक्ष दलों को उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा की गई कार्यवाही में जानबूझकर बाधा डालने से नहीं रोक पाया। मन्दिर के विरोधियों ने भारतीय जनता पार्टी की सरकार को निर्वाचकगण को दिए गए अपने वचन को पूरा करने से रोकने के लिए प्रशासनिक टाल-मटोल से लेकर न्यायिक विलंब तक, हर चीज का प्रयोग किया।

तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को देश भर से आए कार-सेवक गर्भ-गृह के निकट स्थल पर राम मन्दिर का पुनर्निर्माण आरम्भ करने के लिए अयोध्या में एकत्र हुए। मामले ने उस समय अप्रत्याशित मोड़ ले लिया, जब नरसिंह राव सरकार की बाधा डालने वाली चालों, असामान्य न्यायिक विलंबों और छद्म निरपेक्षतावादियों के कटाक्षों से क्रुद्ध (होकर) कार-सेवकों ने मामला अपने हाथ में ले लिया, विवादग्रस्त ढांचा गिरा दिया और गर्भ-गृह पर भगवान राम के अस्थायी मन्दिर का निर्माण कर दिया।

ढांचे के ध्वंस (गिराए जाने के कार्य) को रोकने में अपनी असमर्थता हेतु अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए, श्री कल्याण सिंह की अध्यक्षता (नेतृत्व) में भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने त्याग-पत्र दे दिया। दिशा-विमुख केन्द्रीय सरकार उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन अधिरोपित करके ही संतुष्ट नहीं रही। लोकतांत्रिक नियमों का उल्लंघन करते हुए, केन्द्र ने राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की सरकारों को बर्खास्त कर दिया। उसके अतिरिक्त, उसने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद् और बजरंग दल पर प्रतिबंध लगा, दिया।

सरकार ने सबसे बुरी यह बात की कि उसने, अन्य आधारहीन शक्तियों के साथ दुरभिसंधि करते हुए, कुत्सित प्रचार-प्रहार आरम्भ कर दिया, जिसका लक्ष्य हिन्दुओं को अपमानित करना था। कार-सेवकों की, उन्हें फासीवादी, असभ्य और बर्बर कह कर, निन्दा की गई और 6 दिसम्बर को "राष्ट्रीय शर्म का दिवस" कहा गया। अभी हाल ही में केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (केन्द्रीय खुफिया ब्यूरो) ने भारतीय

जनता पार्टी और विश्व हिन्दू परिषद् के नेताओं के विरुद्ध, उन्हें अपराधियों के रूप में दर्शित करने के प्रयोजन से, आरोप-पत्र फाइल किए हैं।

भारत के लोगों के विरुद्ध छद्म धर्मनिरपेक्षतावादियों के इस अथक प्रहार के बहुत गंभीर परिणाम सामने आए। उसने शासकों और लोगों के बीच गहरी भावनात्मक खाई पैदा कर दी। अयोध्या की घटना दोहरे मानकों की नकली राजनीति का लोक-अभियोग पत्र थी। उसे इस रूप में मानना तो दूर, कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी-विरोधी अन्य दलों ने उसका, सिद्धांतहीन अल्पसंख्यकवाद को बढ़ावा देने के निमित्त के रूप में, उपयोग किया।

यही अल्पसंख्यकवाद कांग्रेस, जनता दल, समाजवादी पार्टी और साम्यवादी दलों को अयोध्या पर अपने आशय की स्पष्ट घोषणा के साथ सामने आने से रोकता है। इस प्रकार भारतीय जनता पार्टी एकमात्र ऐसा दल है, जो पूर्व बाबरी-ढांचे के स्थल पर राम मन्दिर के निर्माण को सुकर बनाने के अपने आश्वासन में पूर्णतः स्पष्ट है। देश के लोग यही चाहते हैं।

449. विद्वान् काउंसेल ने तारीख 6 दिसंबर, 1992 को अयोध्या में विवादित ढांचे के निकट उपस्थित भारतीय जनता पार्टी के शीर्ष नेताओं की ओर से पूर्ण निष्क्रियता के महत्त्व को भी उपदर्शित किया। उन्होंने ढांचे के ध्वंस को रोकने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की। कार-सेवक उनकी प्रेरणा पर ही वहां एकत्र हुए थे। उन्होंने कार-सेवकों से देश के सभी भागों से वहां एकत्र होने का अनुरोध किया था। कुछ नेता उसी स्थल पर राम मंदिर के निर्माण को सुकर बनाने के लिए विवादित ढांचे को गिराने की बात कह रहे थे। यदि यह मान भी लिया जाता है कि विवादित ढांचे पर हमला कुछ कार-सेवकों की ओर से अचानक की गई कार्यवाही था, तब भी ऐसा नहीं है कि मस्जिद के ध्वंस का कार्य कुछ मिनटों में ही हो गया। उसमें निश्चित रूप से कुछ घण्टे अवश्य लगे होंगे। यदि वहां उपस्थित भारतीय जनता पार्टी नेता वास्तव में उसे रोकना चाहते थे, तो उन्हें लोगों से अनुरोध करना चाहिए था और कार-सेवकों को ढांचा ध्वस्त करने से रोकने के लिए अन्य प्रभावी कदम उठाने चाहिए थे। रिट याचिका में कहीं भी इस आशय का अभिकथन नहीं है या न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत इस आशय की कोई अन्य सामग्री नहीं है कि उन्होंने कभी भी ऐसा कुछ किया। यदि उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में 1991 और 1993 के चुनाव घोषणापत्रों में किए गए पूर्वोक्त कथनों को पढ़ा और समझा जाता है, तो, विद्वान् काउंसेलों के अनुसार, यह स्पष्ट हो जाएगा कि विवादित ढांचे का ध्वंस भारतीय जनता पार्टी के नेताओं द्वारा आरंभ की गई रथ-यात्राओं सहित, उनके भाषणों, कार्यक्रमों और अनेक अभियानों का परिणाम था। मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की सरकारों को उनके दल के कार्यों से अलग करना न तो सम्भव है और न यथार्थपरक ही। यह एक कार्यक्रम वाला दल है। इन तीनों राज्यों के (भारतीय जनता पार्टी से संबंधित) मंत्रियों और विधायकों द्वारा कार-सेवकों को अयोध्या भेजा गया और वापसी पर उनका स्वागत भी किया गया। तद्द्वारा उन्होंने कार-सेवकों द्वारा किए गए कार्य का अनुमोदन व्यक्त और दर्शित कर दिया। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि स्वयं मुख्यमंत्री भारतीय जनता पार्टी (आर० एस० एस०) के सदस्य थे। मध्यप्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट में भी यह कहा गया है

कि मुख्यमन्त्री और अन्य मन्त्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के मूल्यों और परम्पराओं में विश्वास रखते थे। उक्त रिपोर्टों से यह भी दर्शित होता है कि इन सरकारों ने कार-सेवकों के अयोध्या प्रस्थान के लिए उन्हें संगठित करने और भेजने के कार्य में सक्रियता से भाग लिया था और कार्य पूरा करने के पश्चात् जब वे वापस आए, तब उनका स्वागत और प्रशंसा भी की थी। इस प्रकार चारों भाजपा सरकारों के बीच एक सामान्य सूत्र मौजूद है, जो उन्हें परस्पर आबद्ध करता है विद्वान काउंसेल का ऐसा कहना है। इन चारों सरकारों ने भारतीय जनता पार्टी के शीर्ष नेताओं से परामर्श करके कार्यक्रम आरंभ किया था, जिसके परिणामस्वरूप मस्जिद का ध्वंस हुआ। उनके कार्य संविधान के उपबंधों के विपरीत थे। दल के चुनाव घोषणापत्र, जिनके आधार पर यह सरकारें सत्ता में आईं, नेताओं के भाषण और कार्य, स्पष्टतः, दल और इन चारों सरकारों के बीच एक अवियोज्य कार्य—एकता और समानता दर्शित करते हैं। दल के चुनाव घोषणापत्र और उनके कार्यक्रम ऐसे थे, जिनसे मुस्लिम सम्प्रदाय की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचती। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष संकल्पना को अस्वीकार कर दिया, जो हमारे संविधान का आधारभूत लक्षण है। विवादित ढांचे का ध्वंस कोई सामान्य कार्य नहीं था। विवादित ढांचा दो धार्मिक समुदायों के बीच केन्द्र बिन्दु—झगड़े का कारण बन गया था। उस प्रक्रिया से, जिसके परिणामस्वरूप ढांचे का ध्वंस हुआ, और उस रीति से, जिस रीति में वह किया गया, देश में साम्प्रदायिक सौहार्द और शांति पर गम्भीर प्रहार हुआ। उसके प्रतिकूल अंतरराष्ट्रीय परिणाम भी हुए। अयोध्या में मस्जिद ध्वंस के प्रतिक्रियास्वरूप पाकिस्तान और बंगलादेश में अनेक हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किए गए। ऐसी स्थिति में चारों राज्यों में अल्पसंख्यकों से इन चारों सरकारों की तटस्थता में (निष्पक्षता) में विश्वास रखने के लिए कहना कठिन था। विद्वान काउंसेल का यह कहना है कि मुसलमानों के बीच सुरक्षा की भावना को पुनः पैदा करना अत्यंत आवश्यक था। उन्हें, उनके जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के बारे में आश्वस्त किया जाना आवश्यक था। भारतीय जनता पार्टी की सरकारों के रहते ऐसा सम्भव नहीं था। अतः उन्हें जाना पड़ा।

450. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन भी किया कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर तारीख 10 दिसंबर, 1992 को प्रतिबंध लगाया गया। हिमाचल प्रदेश और मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य बताए गए, जो उसके सिद्धांतों का अनुकरण कर रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में, संबंधित राज्यपालों की यह राय थी कि उक्त मुख्यमन्त्रियों से प्रतिबंध को ईमानदारीपूर्वक लागू करने की आशा नहीं की जा सकती थी और न विश्वास ही किया जा सकता था। इस राय को अयुक्तियुक्त या निराधार राय नहीं कहा जा सकता था। सामान्यतया सभी लोगों में और विशेष रूप से अल्पसंख्यकों में विश्वास का यह भाव पैदा करना भी आवश्यक था कि साम्प्रदायिक घटनाओं को रोकने के लिए सरकारें शीघ्रतापूर्वक और कठोरतापूर्वक कार्य करेंगी। 6 दिसंबर की घटना के पश्चात् पड़ौसी देशों में अनेक मन्दिरों के नष्ट किए जाने की रिपोर्टें सामने आईं। यह आशंका व्यक्त की गई कि यह रिपोर्टें आग में घी का काम करेंगी। स्थिति तेजी से गिर रही थी। दिसंबर '6 को जो कुछ हुआ वह कोई सामान्य घटना नहीं थी। उसने अल्पसंख्यक समुदाय के मानस का मर्मस्पर्श कर लिया (को छू लिया) था। सम्पूर्ण राष्ट्र में विक्षोभ और अशांति थी। ऐसे दल को, जो जानबूझकर और सक्रिय रूप से ऐसी स्थिति लाया था, इन तीनों राज्यों में सत्ता में बने रहने देने से, केन्द्रीय सरकार के समानता, शान्ति और लोक व्यवस्था

के सांविधानिक मूल्यों का पालन और क्रियान्वयन करने के संकल्प में सामान्यतः सभी लोगों का, और विशेष रूप से अल्पसंख्यकों का, विश्वास बनाए रखने में सहायता नहीं मिलती। यह कहना कोई उत्तर नहीं है कि कांग्रेस (इ) शासित राज्यों में (विशेष रूप में महाराष्ट्र में) उससे भी बड़े पैमाने पर उपद्रव (अशान्ति की घटनाएं) हुए और उन सरकारों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। ऐसे सरलीकृत शब्दों में प्रतिपादना प्रतिपादित करना न तो स्वीकार्य है और न यथार्थपरक ही। विद्वान काउंसेलों का यह कहना है कि स्थिति को उसकी समग्रता में देखा जाना चाहिए, न कि अलग-अलग घटनाओं को, जो मस्जिद के ध्वंस से पूर्व या उसके पश्चात् घटित हुईं। यह, तारीख 6 दिसंबर, 1992 को अयोध्या में जो कुछ घटित हुआ उसके लिए सरकारों को दण्डित करने का भी प्रश्न नहीं है।

वास्तविक प्रश्न यह था कि राष्ट्र के जीवन में यह अशांति किसने पैदा की। और राष्ट्र की आत्मा को किसने उत्पीड़ित किया (कष्ट दिया)। प्रशासन की निष्पक्षता और राष्ट्र की धर्म निरपेक्ष विश्वसनीयता में लोगों के विश्वास को बहाल करना और न केवल यह सुनिश्चित करना समय की आवश्यकता थी कि अभिकथित साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबंध को प्रभावी रूप से लागू किया जाता है बल्कि यह सुनिश्चित करना भी समय की आवश्यकता थी कि प्रशासन, विधि और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शीघ्रतापूर्वक और निष्पक्षतापूर्वक कार्य करता है। भारत संघ और अन्य प्रत्यर्थियों के विद्वान काउंसेलों ने यह निवेदन किया कि केन्द्रीय सरकार ने इसी दृष्टिकोण से कार्य किया और यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त कार्यवाही अनुच्छेद 356 की परिधि से बाह्य थी या वह द्वेषपूर्ण थी या ऐसी कोई सामग्री नहीं थी, जिसके आधार पर राष्ट्रपति युक्तियुक्त रूप से अपना यह समाधान कर सकते थे कि इन राज्यों की बर्खास्तगी वास्तव में आवश्यक थी।

451. अपने इस निवेदन को पुष्ट करने के उद्देश्य से कि अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही की अपेक्षा करने वाली विभिन्न स्थितियों का मूल्यांकन करने के लिए न्यायिक दृष्टिकोण और न्यायिक प्रक्रिया समुचित नहीं है, श्री पाराशरन् ने निम्नलिखित परिदृश्य प्रस्तुत किया (वस्तु स्थिति वर्णित की) : संघ मन्त्रिपरिषद् को विवादित ढांचे की सुरक्षा के बारे में आशंका थी, जब एक बार भारतीय जनता पार्टी उत्तर प्रदेश में सत्ता में आ गई। वह इस संबंध में राज्य सरकार को बार-बार याद दिला रही थी। राज्य सरकार और उसके मुख्यमन्त्री भारत संघ, राष्ट्रीय एकता परिषद् और उच्चतम न्यायालय को भी अपने कथनों, शपथपत्रों और व्यपदेशनों द्वारा बार-बार यह आश्वासन दे रहे थे कि राज्य सरकार विवादित ढांचे की सुरक्षा के प्रति वचनबद्ध है और वह यह सुनिश्चित करेगी कि उसे कोई क्षति नहीं होती है। केन्द्रीय सरकार को उन आश्वासनों के बारे में संदेह था। किन्तु मान लीजिए कि उसने अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही की होती, इस आधार पर तारीख 6 दिसम्बर, 1992 से पूर्व किसी समय उत्तर प्रदेश सरकार को बर्खास्त कर दिया होता कि उसका उन आश्वासनों में कोई विश्वास नहीं था, तो न्यायालय उक्त कार्यवाही को भलीभांति दोषपूर्ण मान सकता था। उस स्थिति में न्यायालय यह कहता कि इस आशंका के लिए कोई आधार नहीं था, जब स्वयं राज्य सरकार, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्यमन्त्री और अन्य पदधारी कर रहे थे, उच्चतम न्यायालय सहित, हर किसी को बार-बार यह आश्वासन दे रहे थे कि वे ढांचे को संरक्षण प्रदान करेंगे। उन पर विश्वास न करने का कोई कारण नहीं था और इसलिए अनुच्छेद 356

के अधीन कार्यवाही, मात्र संदेह पर आधारित होने के कारण, अन्यायोचित होती। किन्तु अंततः केन्द्रीय सरकार ने कार्यवाही नहीं की और विवादित ढांचा ध्वस्त कर दिया गया, जिसके बड़े गम्भीर परिणाम हुए। श्री पाराशरन् का कहना है कि इससे केवल यही दर्शित होता है कि इन मामलों को सोने की तुला में नहीं तोला जा सकता है और ऐसी स्थितियों के लिए न्यायिक दृष्टिकोण और धारणाएं उपयुक्त नहीं हैं।

452. मामले पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि वह स्थिति, जो विवादित ढांचे को गिराए जाने के परिणामस्वरूप इन तीन राज्यों में उत्पन्न हुई, ऐसी स्थिति है, जिसका न्यायालय द्वारा समुचित रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता है। श्री पाराशरन् का यह निवेदन सही है कि जो कुछ तारीख 6 दिसम्बर, 1992 को हुआ, वह कोई सामान्य घटना नहीं थी और वह सम्पूर्ण देश में अनेक वर्षों से चलाए जा रहे अभियान का परिणाम था और वह भारतीय जनता पार्टी तथा अन्य संगठनों के अनेक नेताओं के भाषणों और कार्यों का परिणाम था। उक्त घटना के न केवल देश के अन्दर बल्कि उसके बाहर भी गंभीर परिणाम हुए। उससे इस राष्ट्र और उसकी सरकार की धर्म निरपेक्ष विश्वसनीयता ही संदेहग्रस्त हो गई। उस विश्वसनीयता को बहाल किया जाना था। इस स्थिति ने अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और अंतरराष्ट्रीय आयाम धारण किए। किसी राष्ट्र के जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। स्थिति असाधारण थी। उस समय इसके परिणामों के बारे में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता था। कोई भी व्यक्ति निश्चितता के साथ यह नहीं कह सकता था कि अब क्या होगा और कहां होगा। स्थिति न केवल अकथनीय थी, बल्कि वह शीघ्रता से बदल भी रही थी। साम्प्रदायिक स्थिति बहुत गम्भीर थी। किसी भी समय उसमें विस्फोट हो सकता था। राज्यपालों की रिपोर्टों सहित, हमारे समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि राष्ट्रपति के समक्ष सुसंगत सामग्री नहीं थी, जिसके आधार पर वह यह समाधान करते कि मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की भारतीय जनता पार्टी सरकारें उक्त कार्यवाही और उसके परिणामों से स्वयं को अलग नहीं कर सकती थीं और ये सरकारें, जो उक्त दल द्वारा नियंत्रित थीं, जिसके मुख्य नेता विवादित ढांचे को गिराने का अभियान चला रहे थे, भा० ज० पा० के नेताओं के कार्यों से स्वयं को अलग नहीं कर सकती हैं। उस समय की स्थिति में, भारत संघ ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ सहित, कुछ संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक समझा और इन तीन राज्यों में ऐसी सरकारें थीं, जिनके प्रधान (प्रमुख) ऐसे व्यक्ति थे, जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के मूल्यों और परम्पराओं में निष्ठा रखते थे और सहयुक्त साम्प्रदायिक संगठनों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन दे रहे थे (देखें मध्य प्रदेश के राज्यपाल की रिपोर्ट)। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल ने यह रिपोर्ट दी कि स्वयं मुख्यमन्त्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य हैं। राजस्थान के राज्यपाल ने यह रिपोर्ट दी कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और अन्य संगठनों पर अधिरोपित प्रतिबंध को सरकार के सदस्यों और उक्त संगठनों के सदस्यों के बीच निकट के संबंध होने के कारण लागू नहीं किया जा रहा था।* तीनों राज्यपालों ने सरकार के सदस्यों द्वारा कार-सेवकों को भेजने और वापसी पर उनका स्वागत करने में निभाई गई भूमिका का

* यह तथ्य कि समुचित अधिकरण द्वारा उक्त प्रतिबन्ध बाद में कायम रखे जाने योग्य नहीं माना गया, ढांचे के ध्वंस के पश्चात् वाले दिनों की स्थिति का मूल्यांकन करते समय संगत नहीं है।

भी उल्लेख किया। उन्होंने यह राय भी व्यक्त की कि इन परिस्थितियों में इन सरकारों से विधि और व्यवस्था की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए वस्तुपरक और निष्पक्ष रूप से कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती थी, जिस स्थिति ने साम्प्रदायिक संघर्ष का अशुभ रूप धारण कर लिया था। यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो गया था कि इन भारतीय जनता पार्टी सरकारों का धर्म निरपेक्षता की संकल्पना में विश्वास, इन सरकारों को नियंत्रित करने वाले दल के कार्य और आचरण (व्यवहार) को देखते हुए और उस स्थिति को देखते हुए, संदिग्ध था, जो ढांचा गिराए जाने के पश्चात् उत्पन्न हुई थी, और इन तीनों राज्यों का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था, तो हम यह कहने में समर्थ नहीं हैं कि ऐसी कोई सुसंगत सामग्री नहीं थी, जिसके आधार पर वह इस प्रकार अपना समाधान कर सकते थे। प्रतिशपथपत्रों में वर्णित अनेक तथ्यों और भारत संघ द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत सामग्री को उन प्रयोजनों से असंगत या बाह्य नहीं कहा जा सकता है, जिनके लिए अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति का प्रयोग किया जाना होता है। जैसा कि हमारे द्वारा ऊपर उपदर्शित किया गया है ('न्यायिक पुनर्विलोकन' शीर्षक के अधीन), हम प्रस्तुत सामग्री की शुद्धता को प्रश्नगत नहीं कर सकते हैं और यदि उसका कोई भाग कार्यवाही से संगत न भी हो, तब भी हम हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं, जब तक कार्यवाही को उचित ठहराने के लिए कुछ सुसंगत सामग्री मौजूद है। यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो गया था कि उन सरकारों के बारे में, जो पहले ही संविधान के आधारभूत तत्वों में से एक, अर्थात् धर्म निरपेक्षता, के विरुद्ध कार्य कर चुकी हैं, भविष्य में भी ऐसा नहीं करने का विश्वास नहीं किया जा सकता है, तो यह कहना सम्भव नहीं है कि उस समय की स्थिति में उनका ऐसा विश्वास करना न्यायोचित नहीं था। यह ठीक वैसी ही स्थिति है, जिसका न्यायालय न्यायिक रूप से प्रबंधनीय मानकों के अभाव में निर्धारण नहीं कर सकता है। न्यायालय के लिए ऐसे जटिल प्रश्नों को राष्ट्रपति और संघ मंत्रिपरिषद के लिए छोड़ देना ही उचित होगा। यह ऐसी स्थिति थी जो अनेक अकल्पनीय बातों, विवक्षाओं और जटिलताओं से युक्त थीं। अनेक 'यदि' और 'किन्तु' थे, जो न्यायिक संवीक्षा के अधीन नहीं हैं। उक्त उद्घोषणा को कुछ राज्यों में सत्तारूढ़ अन्य राजनीतिक दल के विरुद्ध केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल द्वारा राजनैतिक बदले की कार्यवाही के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता है। कदाचित् ऐसे मामलों में जनता ही अंतिम मध्यस्थ, (निर्णायक) होती है। अतः लोगों और केवल लोगों से ही अनुरोध (अपील) किया जाना चाहिए। अतः इन तीनों राज्यों से संबंधित उद्घोषणा को दी गई चुनौती असफल रहनी चाहिए।

453. अब हम अपने निष्कर्ष संक्षिप्त में वर्णित करते हैं—

(1) संविधान का अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को ऐसी शक्ति प्रदान करता है जो केवल तब प्रयोग की जा सकती है जब राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन, संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है। हमारे संविधान के अधीन, शक्ति वास्तव में प्रधान मंत्री के नेतृत्व (अध्यक्षता) वाली संघ की मंत्रिपरिषद् में निहित है। अनुच्छेद द्वारा अनुध्यात समाधान की प्रकृति आत्मपरक है।

(2) अनुच्छेद 356 द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गई शक्ति सशर्त शक्ति है।

यह एक आत्यंतिक शक्ति नहीं है। सामग्री की विद्यमानता—जो राज्यपाल की रिपोर्ट (रिपोर्टों) को समाविष्ट या सम्मिलित करती हो, एक पूर्व-शर्त है। समाधान सुसंगत सामग्री पर आधारित होना चाहिए। अनुच्छेद 356 के अधीन शक्ति के प्रयोग के संबंध में सरकारिया आयोग की सिफारिशें सभी संबंधित व्यक्तियों द्वारा गम्भीर विचार किए जाने योग्य हैं।

(3) यद्यपि विधान मण्डल को विघटित करने की शक्ति अनुच्छेद 356 के खण्ड (1) में अंतर्निहित कही जा सकती है, तथापि सम्पूर्ण सांविधानिक स्कीम को देखते हुए यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि राष्ट्रपति खण्ड (3) के अधीन केवल संसद् के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदन किए जाने के पश्चात् ही इसका प्रयोग करेंगे, न कि उससे पूर्व। ऐसा अनुमोदन किए जाने तक, राष्ट्रपति खण्ड (1) के उप-खण्ड (ग) के अधीन विधान सभा से संबंधित संविधान के उपबंधों को निलम्बित करके विधान-सभा को केवल निलम्बित कर सकते हैं। विधानसभा का विघटन सामान्य अनुक्रम में नहीं किया जाना चाहिए। इस शक्ति का प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिए, जब उद्घोषणा के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए ऐसा करना आवश्यक हो।

(4) खण्ड (1) के अधीन उद्घोषणा केवल तब जारी की जा सकती है जब उक्त खण्ड द्वारा अनुध्यात स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में, सरकार खत्म हो जाएगी। यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि राष्ट्रपति, राज्य सरकार को शासन में कायम रखते हुए, राज्य सरकार के कुछ कृत्यों और शक्तियों को हाथ में ले सकते हैं। एक ही क्षेत्र में दो सरकारें नहीं हो सकतीं।

(5क) अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) की परिकल्पना राष्ट्रपति की शक्ति पर नियंत्रण के रूप में और उक्त शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध रक्षोपाय के रूप में भी की गई है। यदि संसद् के दोनों सदन उद्घोषणा को अननुमोदित करते हैं या उसका अनुमोदन नहीं करते हैं तो उद्घोषणा दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी। ऐसे मामलों में, विघटित सरकार पुनरुज्जीवित हो जाती है। विधान सभा जो निलम्बित रखी जाती है, पुनः क्रियाशील हो जाती है। चूंकि उद्घोषणा व्यपगत हो जाती है और भूतलक्षी प्रभाव से अविधिमान्य नहीं की जाती—दो मास की कालावधि के दौरान किए गए कृत्य, किए गए आदेश और पारित किए गए आदेश अवैध या शून्य नहीं हो जाते हैं तथापि, वे सरकार/विधान सभा या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा पुनर्विलोकन, निरसन या उपांतरण किए जाने के अध्यधीन रहते हैं।

(ख) तथापि, यदि उद्घोषणा दो मास के भीतर दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित कर दी जाती है, तो सरकार (जो विघटित की गई थी), उद्घोषणा की कालावधि के समाप्त होने पर या इसके प्रतिसंहरण पर पुनरुज्जीवित नहीं होती। इसी भांति यदि विधान-सभा खण्ड (3) के अधीन अनुमोदन के पश्चात् विघटित की गई है तो, विधान सभा उद्घोषणा की कालावधि के समाप्त होने पर या इसके प्रतिसंहरण पर पुनरुज्जीवित नहीं होती।

(6) अनुच्छेद 74(2) मात्र इस प्रश्न पर जांच की वर्जना करता है कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी और यदि दी तो क्या सलाह दी। इससे न्यायालय संघीय मंत्रिपरिषद् (भारत संघ) से न्यायालय के समक्ष वह सामग्री प्रकट करने को कहने के लिए वर्जित नहीं हो जाता, जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने अपेक्षित समाधान किया था। सामग्री जिसके आधार पर सलाह दी गई थी, सलाह का भाग नहीं हो जाती। यदि राष्ट्रपति सामग्री को देखते हैं या वह उन्हें दिखाई जाती है, तो यह सलाह की प्रकृति के अन्तर्गत नहीं आती। अनुच्छेद 74(2) और साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 की विषय-वस्तु अलग-अलग है। यह हो सकता है कि उद्घोषणा का प्रतिरक्षण करते समय, मंत्री या संबंधित अधिकारी धारा 123 के अधीन विशेषाधिकार का दावा करें। जब कभी, ऐसे विशेषाधिकार का दावा किया जाता है, तो इसका धारा 123 के उपबंधों के अनुसार इसके गुणागुण के आधार पर ही विनिश्चय किया जाएगा।

(7) अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा न्यायिक-पुनर्विलोकन से उन्मुक्त नहीं है। उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय उद्घोषणा को अभिखंडित कर सकते हैं, यदि यह असद्भावी या पूर्ण रूप से असंगत या बाह्य आधारों पर आधारित पाई जाती है। 44वें (संशोधन) अधिनियम द्वारा खण्ड (5) [जो 38वें (संशोधन) अधिनियम द्वारा पुरःस्थापित किया गया था] का विलोपन, कार्रवाई की पुनर्विलोकनीयता पर आवरण को हटाता है। जब अपेक्षा की जाए, भारत संघ को वह सामग्री प्रस्तुत करनी होगी जिसके आधार पर कार्रवाई की गई थी। भारत संघ ऐसा करने से इंकार नहीं कर सकता, यदि यह कार्रवाई का प्रतिरक्षण करने की वांछा करता है। न्यायालय सामग्री की शुद्धता या इसकी पर्याप्तता पर विचार नहीं करेगा। जांच केवल यह देखने तक सीमित है कि क्या सामग्री कार्रवाई से सुसंगत थी। यदि सामग्री का कोई भाग असंगत है, तो भी न्यायालय तब तक हस्तक्षेप नहीं कर सकता, जब तक की गई कार्रवाई से सुसंगत कुछ सामग्री है।

(8) यदि न्यायालय उद्घोषणा को अभिखंडित करता है, तो उसे विघटित सरकार को बहाल करने और विधान-सभा को पुनरुज्जीवित और पुनः सक्रिय बनाने की शक्ति है, जहां कहीं यह विघटित की गई हो या निलम्बनाधीन हो। ऐसे मामले में, न्यायालय को यह घोषणा करने की शक्ति है कि उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने की कालावधि के दौरान किए गए कार्य, पारित किए गए आदेश और बनाए गए कानून, अप्रभावित बने रहेंगे और विधिमान्य माने जाएंगे। तथापि ऐसी घोषणा से, सरकार/विधान-सभा या अन्य सक्षम प्राधिकारी ऐसे कार्यों, आदेशों और विधियों का पुनर्विलोकन करने, निरसन करने या उपांतरित करने से प्रवारित नहीं होगी।

(9) भारत के संविधान के अनुसार केन्द्र के प्रति झुकाव सहित एक परिसंघ सर्जित किया गया है। राज्य उन्हें आबंटित किए गए क्षेत्र में सर्वोच्च हैं।

(10) पंथ निरपेक्षता संविधान की आधारभूत विशिष्टियों में से एक है। जहां भारत में सभी व्यक्तियों को धर्म की स्वतन्त्रता गारंटी की गई है, वही राज्य की दृष्टि से, किसी व्यक्ति का धर्म, विश्वास या निष्ठा तात्विक नहीं है। राज्य के लिए

सभी समान हैं और समान रूप से व्यवहार किए जाने के लिए हकदार हैं राज्य के मामलों में, धर्म का कोई स्थान नहीं है। कोई भी राजनैतिक दल एक साथ ही धार्मिक दल नहीं हो सकता। राजनीति और धर्म मिलाए नहीं जा सकते। कोई भी राज्य सरकार जो पंथ निरपेक्ष नीतियों के विरुद्ध या पंथ निरपेक्ष कार्यों का अनुसरण करती है, सांविधानिक आदेश के प्रतिकूल कृत्य करती है और वह स्वयं को अनुच्छेद 356 के अधीन कार्रवाई के प्रति जवाबदेह बनाती है।

(11) कर्नाटक (1989 की सिविल अपील संख्या 3645) के संबंध में तारीख 21 अप्रैल, 1989 की उद्घोषणा और मेघालय (1992 का अंतरित मामला संख्या 5 और 7) के संबंध में तारीख 11 अक्तूबर, 1991 की उद्घोषणा असंवैधानिक हैं। यदि यह तथ्य न होता कि दोनों राज्यों में नए सिरे से निर्वाचन कराए जा चुके हैं और नयी विधान सभाएं और सरकारें अस्तित्व में आ चुकी हैं, हम उद्घोषणाओं को औपचारिक रूप से विखंडित कर देते और सम्बन्धित सरकारों और विधान सभाओं के पुनरुज्जीवित और बहाल किए जाने का निदेश करते। तदनुसार, 1989 की सिविल अपील संख्या 3645 और 1992 का अंतरित मामला संख्या 5 और 7 मंजूर किए जाते हैं। नागालैण्ड से संबंधित 1989 की सिविल अपील संख्या 193 और 194 को हमारे द्वारा अभिव्यक्त किए गए, संविधान के अनुच्छेद 74(2) के अर्थ और अभिप्राय के अनुसार निपटाया जाता है।

(12) क्रमश: 1993 की सिविल अपील संख्या 1692, 1692-क-1692-ग, 1990 की 4627-4630, 1990 के अंतरित मामला (सिविल) संख्या 9 और 1993 के अंतरित मामला संख्या 8 में संबंधित मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश राज्यों के संबंध में तारीख 15 जनवरी, 1993 की उद्घोषणाएं असंवैधानिक नहीं हैं। सिविल अपीलें मंजूर की जाती हैं और 1993 की (सिविल) याचिका संख्या 237 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त किया जाता है। अंतरित मामले खारिज किए जाते हैं।

454. इसमें ऊपर दिए गए कारणों और अभिलिखित किए गए निष्कर्षों को देखते हुए, हम अपने विद्वान् सहयोगी (मित्र) न्यायमूर्ति सावंत द्वारा स्वयं की ओर से और विद्वान् न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह की ओर से दिए गए निर्णय के निष्कर्ष 1, 2 और 4 से सहमत हैं। हम, उक्त निर्णय के निष्कर्ष संख्या 8 से भी मोटे रूप में सहमत हैं।

455. अंतर्वर्ती आवेदनों पर कोई आदेश नहीं किए जाते हैं।

456. इन मामलों में खर्च की बाबत कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अपील और याचिकाओं का निपटारा किया गया।

न०/मह०/ऋ०/अनु०